ग॰ बोंगार्द-लेविन
अ॰ विगासिन

भारत की छवि

सोवियत संघ में प्राचीन भारतीय सभ्यता का अध्ययन

ग॰ बोंगार्द-लेविन
अ॰ विगासिन

भारत की छवि

सोवियत संघ में प्राचीन भारतीय सभ्यता का अध्ययन

प्रगति प्रकाशन

मास्को

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड
५ ई. रानी झांसी रोड, नई दिल्ली-११००५५

अनुवादक – योगेन्द्र नागपाल
सम्पादक – बुद्धिप्रसाद भट्ट

Г. М. Бонгард-Левин, А. А. Вигасин

ОБРАЗ ИНДИИ
Изучение древнеиндийской цивилизации в СССР

на языке хинди

G. Bongard-Levin and A. Vigasin

THE IMAGE OF INDIA
A Study of Ancient Indian Civilization in the USSR

in Hindi

Б $\frac{0502000000-648}{014(01)-84}$ 404-83

विषय-सूची

अध्याय ६

प्रस्तावना

मोवियत मघ की जातियों के साथ भारत के सम्पर्कों का इतिहास सुदूर अतीत की गहराइयो मे निहित है। सोवियत पुराविदों के नवीनतम अनुसंधानो से यह सिद्ध हो गया है कि हडप्पा सभ्यता के युग में ही मध्य एशिया और भारत के जनगण के बीच घनिष्ठ सांस्कृतिक सम्पर्क थे, जो बाद के युगो में भी बने रहे और विकसित होते रहे। प्राचीन रूस के साहित्य में भारत का, उसके जनगण के रीति-रिवाजों और सस्कृति का उल्लेख मिलता है। शनैः-शनैः यहां भारत की एक निश्चित छवि बनती जा रही थी और यह समृद्धि, विवेक और चमत्कारों के देश की छवि थी।

पश्चिमी और पूर्वी यूरोप, पश्चिमी और मध्य एशिया के भी प्रायः सभी साहित्यों में भारत की ऐसी ही छवि पाई जाती है, तथापि प्राचीन रूस के लिखित साहित्य में और विशेषतः लोक साहित्य में इस छवि में कुछ विशिष्ट, मौलिक लक्षण समाविष्ट हुए।

प्राचीन रूसी साहित्य में भारत के वर्णन दोनों देशों के बीच सीधे सम्पर्कों को ही प्रतिबिम्बित करते हो, ऐसी बात नही है। बहुधा यह लिखित साहित्य की पुरातन काल से चली आ रही परम्परा ही है।

१४७१-१४७४ में अफ़ानासी निकीतिन की प्रसिद्ध भारत यात्रा ने रूस और भारत के बीच सीधे सम्पर्क स्थापित करने में महती भूमिका अदा की। शनैः-शनैः भारत के बारे में जानकारी इस देश से और उसके जनगण की संस्कृति से सीधे परिचय पर आधारित होने लगी। उल्लेखनीय है कि अफ़ानासी निकीतिन ने अपनी भारत यात्रा का जो विवरण लिखा, उसे नोवगोरोद के सोफ़िया मठ में रचित इतिवृत्त मे शामिल किया गया। इससे यह पता चलता है कि रूस मे भारत के प्रति तीव्र रुचि थी और यहां एक रूसी व्यक्ति के भारत हो आने के तथ्य को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया था। न केवल रूसी लोगों, बल्कि बहुजातीय सोवियत राज्य के कई दूसरे जनगण के भी भारत के साथ सांस्कृतिक संबंधों का पुराना इतिहास है।

भारत और ट्रांसकाकेशिया के जनगण के बीच सबंध बहुत पुराने हैं। सुविदित है कि आर्मीनियाई व्यापारी भारत मे व्यवसाय करते थे। प्राचीन जार्जिया में 'पच-तंत्र' बहुत लोकप्रिय था, यहां तक कि वधू के दहेज़ में यह पुस्तक दी जाती थी।

जार्जियावासी रफ़ईल दनिबेगश्वीली ने कई बार भारत की यात्रा की।

बाकू मे, जो अब आजरबैजान की राजधानी है, एक हिंदू मंदिर बनाया गया था, जहां यहां आने वाले भारतीय पूजा करते थे। काकेशिया (कोहकाफ़) में बसने वाली ओसेतिन जाति का वेदों के रचयिता आर्यों मे निकट का रिश्ता है।

मध्य एशिया के सभी जनगण के भारत के साथ संबंधो के तो सभी प्रमुख पहलुओं की गिनती तक कराना कठिन है। ये सबंध कितने गहरे थे इसका ज्वलंत प्रमाण है महान विद्वान बरूनी का कृतित्व। वे संस्कृत के ज्ञाता थे और प्राचीन और आदि मध्ययुगीन भारत की संस्कृति पर उन्होंने एक अमूल्य ग्रंथ की रचना की। पूर्वी साइबेरिया के दक्षिण मे, मंगोलिया की सीमा पर स्थित बुर्यातिया बौद्ध धर्म के माध्यम से भारत से जुडा हुआ है। भारतीय धरोहर के बिना बुर्यात संस्कृति को समझना असम्भव है। साथ ही बुर्यातिया के बौद्ध मठो में सरक्षित तिब्बती और मंगोल ग्रंथ भारतविद्या के लिए अपार महत्त्व रखते हैं। कास्पियन सागर के उत्तर-पश्चिमी तट पर स्थित कल्मीकिया भी भारतीय संस्कृति से जुडा हुआ है। यहां १७वीं शताब्दी मे बौद्ध धर्म का प्रचलन हुआ।

वोल्गा के तट पर बसी जातियां प्राचीन समय से ही रूस और भारत के बीच की कड़ी रही हैं। १७-१६वी सदियो मे अस्त्राखान मे भारतीय व्यापारियों की खासी बडी बस्ती थी। काला सागर के तटवर्ती उत्तरी इलाके (आधुनिक उक्राइना) में अनेक पुराविदों और भाषाविदो ने आर्य क़बीलों के अवशेष पाये हैं, जिनमे ऐसे आर्य क़बीले भी है, जिन्हें भारतीय आर्यो का पूर्वज कहा जा सकता है। कालांतर मे रूस मे बैज़ंतियाई-बुल्गारियाई प्रभाव भी उक्राइना के रास्ते ही फैला। इस प्रभाव के साथ रूस में भारतीय मूल की पुस्तकों और कथानको का भी आविर्भाव हुआ। बाल्टिक-तटीय क्षेत्र के कुछ जनगण (लिथुआनियाई और लाटवियाई) अपने मूल की दृष्टि मे भारतीयो मे संबंधित हैं। एस्तोनियाई नगर तार्तू (पुराना नाम देर्प्त) में पिछली सदी मे सस्कृत अनुसधान का बहुत बड़ा केंद्र था, इत्यादि, इत्यादि।

१८वी सदी मे रूस में विश्व सबधी मध्ययुगीन अवधारणाएं बदल रही थीं, भारत का भी एक नया, यथार्थ के अधिक सन्निकट बिम्ब बन रहा था। महान रूसी वैज्ञानिक मिखाईल लोमोनोसोव ने रूस मे भारत तक उत्तरी समुद्री मार्ग खोलने का प्रस्ताव रखा था। १८वी सदी के अंत मे रूसी पत्रिकाओ मे भारत के बारे मे अनेक लेख छपे जिनमे भारत में ब्रिटिश नीति की भर्त्सना की गई। विलक्षण रूसी क्रांतिकारी अलेक्सान्द्र रदीश्चेव ने ईस्ट इंडिया कपनी के अत्याचारों पर आक्रोशमय विरोध प्रकट किया। उन दिनों के अग्रणी रूसी पत्र-पत्रिकाओ में उपनिवेशवादविरोधी विचार व्यक्त किये जाते थे और भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति दर्शाई जाती थी। भारत मे गहरी रुचि, उसकी प्राचीन सभ्यता के प्रति आदर और जनता के प्रति सद्भावना ही रूस मे भारतविद्या के एक प्रवर्तक गेरासिम लेबेदेव के लिए लाक्षणिक थे।

१७८८ में रूस में भगवद्गीता का रूसी भाषा में अनुवाद छपा। यह अनुवाद यद्यपि अंग्रेजी से किया गया था, तथापि इस प्रकाशन के साथ प्राचीन भारतीय साहित्य से रूसी लोगों का सीधा परिचय आरंभ हुआ। १७९२ में विख्यात रूसी लेखक और इतिहासकार निकोलाई करमज़िन ने कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' का जर्मन से अनुवाद किया। उन्होंने लिखा: "कालिदास मेरे लिए उतने ही महान हैं जितने होमर।" इसके बाद के वर्षों में भी रूसी लेखकों का भारतीय संस्कृति के प्रति रुख इतना ही प्रशंसामय रहा। १८वीं सदी में ही रूस में संस्कृत, या सुविख्यात प्राच्यविद थेओफिल बायर के शब्दों में "ब्राह्मणों की भाषा" का अध्ययन होने लग गया। १९वी सदी के मध्य तक रूस में प्राच्यविद्या की एक स्वतंत्र शाखा – संस्कृतविद्या – गठित होने लगी। फ्रीडरिख़ आडेलुंग, पावेल पेत्रोव और काएतान कोसोविच के कार्य विशेषत: महत्त्वपूर्ण थे। इनके साथ भारत की प्राचीन संस्कृति, साहित्य, भाषाओं और धर्मों के अध्ययन के विकास की सुदृढ़ नींव पड़ी।

रूस में भारतविद्या का विकास प्राचीन रूसी साहित्य के "सोने की चिड़िया भारत" विषयक वर्णनों से तो नहीं हुआ, तो भी आधुनिक युग के वैज्ञानिक इतिहास लेखन में उस परम्परागत बिंब की प्रतिच्छाया देखी जा सकती है, जो "प्राक्वैज्ञानिक काल" में बना था।

विलक्षण भारतविद और बौद्ध धर्म के अध्येता, रूस में भारतविद्या की एक पूरी धारा के प्रवर्तक इवान मिनायेव को उचित ही हमारे यहां वैज्ञानिक भारतविद्या का संस्थापक माना जाता है।

१९वी सदी में रूस के सभी प्रमुख लेखकों और अग्रणी सामाजिक कार्यकर्त्ताओं – अलेक्सान्द्र पुश्किन, विसरिओन बेलीन्स्की, अलेक्सान्द्र हर्ज़ेन, निकोलाई दोब्रोल्यूबोव, मिख़ाईल सल्तिकोव-श्चेद्रिन, आदि ने भारत और उसकी संस्कृति में रुचि दिखाई। उदाहरणत:, बेलीन्स्की ने लिखा: "एशिया मानवजाति की जन्म-स्थली है, यहीं पर सभी धर्मों, सभी मानव समाजों का उद्गम हुआ।"

इस प्रसंग में लेव तोलस्तोय का उल्लेख अलग से किया जाना चाहिए। वे तो जीवन भर भारतीय संस्कृति में रुचि लेते रहे, 'ललितविस्तर', गीता और शंकराचार्य की दार्शनिक रचनाओं का उन्होंने अध्ययन किया। ऋग्वेद पढ़ने पर उन्होंने लिखा: "वेदों में उदात्त भावनाएं निहित हैं।" सुविदित है कि लेव तोलस्तोय इवान मिनायेव से मिले थे और उनके प्रमुख ग्रंथ 'बौद्ध धर्म' से परिचित थे। तोलस्तोय और महात्मा गांधी के दिल में एक दूसरे के लिए गहरा आदर और रुचि थी। महात्मा गांधी तोलस्तोय को अपना गुरु मानते थे। तोलस्तोय की रचनाए सदा भारत में बहुत लोकप्रिय रही हैं और अब भी है, भारत के अनेक लेखकों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है: "तोलस्तोय उन यूरोपीय लेखकों में हैं, जिनका नाम और रचनाएं भारत में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।" भारतीय साहित्य और पूरी संस्कृति से ही रूसी लोगों को परिचित कराने में महान

सर्वहारा लेखक मक्सिम गोर्की ने बडा योगदान किया। १९१२ में ही उन्होंने लिखा था "हमें अपने जनगण को एक दूसरे से परिचित कराना चाहिए, ताकि वे सब लोग, जो न्याय चाहते है, विवेकसम्मत जीवन जीना चाहते हैं, आपस मे एकता बना सकें, अपने ध्येयों और भावो मे समानता ला सकें और संयुक्त प्रयासों से संसार में बुराई पर विजय पा सकें।"

महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद, जिसका भारत पर गहरा प्रभाव पडा, रूस-भारत संबधो के विकास मे नया चरण आरंभ हुआ। प्राच्यविद्या में आमूल परिवर्तन आया, भारतविद्या के विकास को नई प्रेरणा मिली। सोवियत भारतविद्या के गठन मे व्लादीमिर इल्यीच लेनिन ने बहुत बडी भूमिका अदा की। उन दिनों के दस्तावेज़ो मे हम बहुत सी ऐसी सामग्री पाते हैं, जो इस बात की साक्षी है कि सोवियत राज्य ने और स्वयं लेनिन ने भारत तथा पूरब के अन्य देशों के अध्ययन का व्यापक कार्यक्रम शुरू करने मे कितनी मदद की। तीसरे-चौथे दशकों में भारत-विद्या पर कई प्रमुख ग्रंथ प्रकाशित हुए, जिनमें प्राचीन भारत के साहित्य, दर्शन और धर्मो के लब्धप्रतिष्ठ अध्येताओ सेर्गेई ओल्देनबुर्ग और फ्योदोर श्चेर्बात्स्की की रचनाएं उल्लेखनीय हैं। इन दिनो सोवियत विज्ञान अकादमी भारतविद्या संबधी अनुसधानो का प्रमुख केंद्र थी। सोवियत विद्वानों के प्रकाशनों का भारत में उच्च मूल्यांकन हुआ। भारतीय संस्कृति के स्मारकों के संरक्षणार्थ सोवियत विज्ञान अकादमी द्वारा किये जा रहे कार्य के बारे में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने साभार लिखा "अकादमी की भूमिका भारत के लिए अपार है।"

सोवियत भारतविद प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन की अपने देश की परम्पराओ को संजोये हुए हैं और उनका विकास कर रहे हैं। पिछले तीन दशको में प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति पर अनेक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, प्राचीन भारतीय वाङमय के प्रमुख ग्रंथो का रूसी भाषा मे अनुवाद हुआ है। भारतविद्या संबधी अध्ययन न केवल गहन हो रहे हैं, बल्कि संस्कृत और बौद्ध धर्म के अध्ययन के नये केंद्र भी बन रहे हैं। भारतीय वैज्ञानिकों के साथ संबंध सुदृढ हो रहे हैं। भारतविद्या संबंधी अध्ययनो का विस्तार न केवल सोवियत-भारत मैत्री और सहयोग के निरंतर सुदृढ़ीकरण द्वारा सुनिश्चित हो रहा है, बल्कि सोवियत संघ में भारत के प्रति, उसकी प्राचीन और मौलिक संस्कृति में बढ़ती रुचि द्वारा भी।

सोवियत भारतविदो के कार्य मे भारतीय वैज्ञानिक तथा व्यापक भारतीय जनमत भी गहरी रुचि लेता है। सोवियत भारतविदो की पुस्तकें और लेख भारत में प्रकाशित होते हैं और उनका उच्च मूल्यांकन किया जाता है। इन सब बातों से ही हमें यह पुस्तक लिखने की प्रेरणा मिली, जिसमें रूस और सोवियत संघ में प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन का सिंहावलोकन किया गया है। रूसी और सोवियत भारतविद्या का विषय अत्यंत व्यापक और बहुस्तरीय है, यह इस पुस्तक की सीमाओ से कहीं अधिक व्यापक है।

पुस्तक में मध्ययुगीन रूसी साहित्य में तथा सोवियत संघ के दूसरे जनगण के साहित्य मे प्राप्त भारत संबंधी जानकारी का वर्णन किया गया है, भारतविद्या के स्रोत इंगित किये गये हैं और यह दिखाया गया है कि किस प्रकार रूस मे भारत की छवि बनी। संसार भर में भारतविद्या के विकास में मिनायेव, ओल्देनबुर्ग और श्चेर्बात्स्की के कार्यों के महत्त्व को देखते हुए इनके वैज्ञानिक कार्यकलापो पर विशेष अध्याय लिखे गये हैं। सोवियत भारतविद्या के गठन और विकास के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है, प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन में सोवियत भारतविदों की प्रमुख उपलब्धियो के बारे में बताया गया है।

पुस्तक में समसामयिक सोवियत भारतविद्या के बारे में, इसकी अवधारणाओं, उपलब्धियों और विचाराधीन प्रश्नो के बारे में तथा भारतीय वैज्ञानिकों के साथ सोवियत विशेषज्ञों के संबंधो के बारे में विस्तृत जानकारी दी गई है। उन सोवियत अनुसधानो की ओर विशेष ध्यान दिया गया है, जिनसे इस विज्ञान में नई सामग्री का समावेश हुआ है। यह बात सर्वप्रथम मध्य एशिया के पुरातत्वीय स्मारको के अध्ययन तथा सोवियत संघ के पांडुलिपि संग्रहों में विद्यमान भारतीय पांडुलिपियो के प्रकाशन पर लागू होती है।

आजकल इतिहासशास्त्रीय सिंहावलोकनों की आवश्यकता अधिकाधिक तीव्रता मे अनुभव हो रही है। बात केवल यही नहीं कि अनुसंधानकर्त्ताओ, अनुसंधान केंद्रो और प्रकाशनों की संख्या तेज़ी से बढ़ रही है और इसलिए सुसामयिक सूचना प्रदान करना और अनुसंधानो में समन्वय करना आवश्यक है। विज्ञान द्वारा तय किये जा चुके मार्ग का सिंहावलोकन करने वाले ग्रंथ भी कम महत्त्वपूर्ण नही हैं, ताकि परिप्रेक्ष्य अधिक स्पष्ट हो सके। इतिहासशास्त्र से अनुसंधानों की एक ऐसी सामान्य तस्वीर पेश करने में मदद मिलती है, जिसमें विशिष्ट प्रश्नों पर अनुसंधानों का अपना स्थान होना चाहिए। भारतविदों ने इतिहासशास्त्रीय सिंहावलोकनो की इस आवश्यकता को समझा है। यह अकारण नहीं है कि पिछले दशक में अंग्रेज भारतविद फिलिप्स द्वारा सम्पादित 'भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका के इतिहासकार' ग्रंथ तथा इसी विषय पर भारतीय विद्वानों की भी अनेक पुस्तकें और लेख छपे हैं। सुविख्यात भारतीय विद्वान वी० राघवन ने संसार के विभिन्न देशो में संस्कृतविद्या के विकास पर एक पुस्तक तथा आर० एन० दंडेकर ने 'वैदिक संदर्भग्रंथ' नामक पुस्तक छापी है, जिनमे सोवियत भारतविदों के शोधकार्यों का भी उल्लेख किया गया है। भारतीय स्रोतो की विशिष्टता को देखते हुए इतिहासशास्त्र भारतविद्या के लिए विशेषतः महत्त्वपूर्ण है। भारतविद्या में अभी तक बहुत कुछ अनुमानों और प्राक्कल्पनाओं पर ही आधारित है। कुछ कथनों को तथ्यों की भांति दोहराया जाता है और वे हर नई पुस्तक में स्थान पा जाते हैं, हालांकि उन प्राक्कल्पनाओ या सामान्य अवधारणाओ का, जिन पर वे आधारित थे, कब का खंडन किया जा चुका है। विज्ञान को "मिथकों" से अलग करने के लिए निरंतर मूल स्रोतो की ओर उन्मुख

होने तथा इतिहासशास्त्र के विकास की स्पष्टत कल्पना करने की आवश्यकता है।

इतिहासविज्ञान का कोई अलग अस्तित्व नहीं है। यह ज्ञान संचय की प्रक्रिया मात्र ही नही है, बल्कि विचारो का सघर्ष भी है। यह देश के सांस्कृतिक जीवन का अंश है। इतिहासशास्त्र पर भाति-भाति के प्रभाव पड़ते है – दर्शन और राजनीति का भी, साहित्य और कला का भी, तत्संबंधी युग के सामान्य आत्मिक वातावरण और "जनता की चेतना" का भी। विभिन्न देशो मे इतिहासशास्त्र सबंधी धाराओ की इस विज्ञान के अलग-अलग क्षेत्रों मे रुचि, शोध की समस्याओ की प्रस्तुति और कभी-कभी इन समस्याओ के हल के मार्ग भी विभिन्न होते हैं। इन धाराओं की परम्पराए बहुत हद तक चिरस्थायी होती है। कभी-कभी इतिहासशास्त्र के विकास में अनुक्रमिकता भग हो जाती है, लेकिन परम्पराए बनी रहती हैं और उनमें किन्ही समान आधारों पर पुनरुज्जीवित होने की प्रवृत्ति होती है। इस दृष्टि से इतिहासशास्त्र की विभिन्न राष्ट्रीय धाराओ का अध्ययन न केवल रोचक अपितु लाभप्रद भी है।

खेदवश यह कहना पडता है कि रूस मे भारतविद्या के इतिहास के बारे मे भारत मे अभी पर्याप्त जानकारी नहीं है। रूसी भारतविदों के अनेक मूल्यवान ग्रंथ भाषा-बाधा के कारण यूरोप और भारत के विद्वानो को उपलब्ध नहीं हैं, हालांकि इवान मिनायेव की कुछ रचनाए फ्रासीसी में, फ्योदोर श्चेर्बात्स्की और उनके शिष्यों की कुछ रचनाए अंग्रेज़ी मे छपी तथा १९वी सदी के कतिपय रूसी भारतविद जर्मन मे लिखते थे। इसके बावजूद ए० विंडिश द्वारा लिखित 'प्राचीन भारत के अध्ययन और सस्कृतविद्या का इतिहास' नामक सुप्रसिद्ध ग्रथ मे, जो अनेक देशों मे भारतविद्या के विकास के बारे मे बताता है, रूसी भारतविदो के कार्यों पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डाला गया। साथ ही यह पुस्तक काफी पुरानी पड गई है, इसमे भारतविद्या के आरंभिक चरण ही प्रतिबिम्बित हुए हैं। इसमें कोई सदेह नही कि रूसी और सोवियत भारतविद्या पर विस्तार से प्रकाश डालना आवश्यक है। विश्वविज्ञान में रूसी भारत-विद्या का योगदान काफी महत्त्वपूर्ण रहा है। रूसी भारतविद्या का अपना मौलिक स्वरूप है, भारत के प्रति उसका सामान्य दृष्टिकोण पश्चिमी यूरोपीय दृष्टिकोण से कई मामलो में भिन्न है। इसका कारण है रूस के सामाजिक चिंतन के विकास की विशिष्टता। १८वीं सदी के रूसी ज्ञानप्रसारकों के दिनों से ही सभी प्रमुख रूसी सस्कृतिकर्मी देश की सरकारी नीति और विचारधारा के विरोधी रहे थे। १९वी सदी मे रूस मे विज्ञान का विकास उदारतावादी और जनवादी विचारो के अंतर्गत हुआ। सामान्यत रूसी प्राच्यविद्या के लिए औपनिवेशिक विचारो की अभिव्यक्ति लाक्षणिक नही है, नस्लवादी और पुरोहितवादी अवधारणाएं तो इसमे प्राय: पाई ही नहीं जाती। भारतविद्या के अन्य कई विदेशी केंद्रो में जहां यूरोप-केंद्रीयतावाद के विचार प्रबल थे और भारतीय सस्कृति को इस देश के ऐतिहासिक विकास के सामान्य क्रम से अलग करके उसका अध्ययन किया जाता था, उसे यूरोपीय शिक्षा एवं संस्कृति के नज़रिये से ही देखा जाता था, वही रूसी भारतविद्या के लिए सच्चा

मानवतावाद, प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन में ऐतिहासिक दृष्टिकोण, भारत के जनगण के प्रति गहरा आदर, उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारतीय लोगों के स्वतंत्रता संग्राम से सहानुभूति लाक्षणिक थे। इस बात पर खास तौर से ज़ोर दिया जाता था कि भारत का ऐसे देश के नाते अध्ययन किया जाये, जहां भाषा की दृष्टि से और कुछ हद तक संस्कृति के क्षेत्र में भी रूसियों से निकट संबंध रखने वाले लोग रहते हैं। क्लासिकीय रूसी भारतविद्या की श्रेष्ठ परम्पराओं को सोवियत वैज्ञानिको ने अपनाया और विकसित किया है। ये वैज्ञानिक ऐतिहासिक प्रक्रिया के मार्क्सवादी सिद्धांत को मानकर चलते हैं।

आजकल अच्छे पड़ोसीपन और सहयोग के सिद्धांतों पर आधारित सोवियत संघ और भारत के संबध बहुत से मामलों में आदर्श हैं तथा एशिया व समस्त विश्व में शांति व स्थिरता बनाये रखने में सहायक हैं। सोवियत भारतविद मित्र देश की महान सभ्यता के गहन एवं वस्तुगत अध्ययन का उदात्त कार्यभार निभा रहे हैं। दोनो देशों के बीच घनिष्ठ संबंधों को देखते हुए वैज्ञानिक जानकारी का जिसमें इतिहास एवं संस्कृति से संबंधित ज्ञान भी आता है आदान-प्रदान होना स्वाभाविक ही है।

भारतीय पाठको के लिए लिखी गई इस पुस्तक का ध्येय है प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन में रूसी और सोवियत भारतविद्या द्वारा तय किये गये मार्ग का अवलोकन करना। इसमें हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन भारत के इतिहास एवं संस्कृति के अध्ययन के लिए रूस में क्या किया गया तथा सोवियत संघ में क्या किया जा रहा है। हमें आशा है कि सोवियत-भारत सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक संबंधो के सुदृढ़ीकरण में यह पुस्तक विनम्र योगदान सिद्ध होगी।

भारतीय पाठकों के व्यापक दायरे को ध्यान में रखते हुए हमने पुस्तक में अत्यधिक विशेष ब्योरे न भरने और उसे सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है। पुस्तक में चर्चित विभिन्न प्रश्नों पर अतिरिक्त सूचना या तर्क पाने के इच्छुक पाठको के लिए रूसी तथा पश्चिमी यूरोपीय भाषाओं की तत्संबंधी पुस्तकों की संदर्भ-सूची पुस्तक के अंत में दे दी गई है।

* * *

यह पुस्तक लिखते हुए हमने भारतविदों के वैज्ञानिक ग्रंथों के अलावा पत्रिकाओं में छपे लेखो, विश्वविद्यालयों, वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों और अभियानों की अधिकृत रिपोर्टों तथा भारतविद्या संबंधी शोधकार्यों के सिंहावलोकनो का व्यापक उपयोग किया है; अभिलेखागारों में प्राप्त सामग्री का भी उपयोग किया गया है। हम अपने देश में भारतविद्या के इतिहास में पहले भी रुचि लेते रहे हैं और इस विषय पर कुछ सामग्री प्रकाशित कर चुके हैं, जिसका उपयोग प्रस्तुत पुस्तक में भी किया गया है।

अध्याय १

१८वीं सदी के अंत तक सोवियत संघ के जनगण के मानस में भारत की छवि

सोवियत संघ और भारत के बीच बहुविध सम्पर्कों की परम्परा बहुत पुरानी है। महान देश भारत के बारे में धारणाएं और छवि सोवियत संघ के जनगण की आत्मिक धरोहर का अभिन्न अंग बन गई हैं। आइये, अतीत की गहराइयों में झांककर देखें।

अनेक वैज्ञानिकों का, जिनमें सोवियत वैज्ञानिक भी हैं, यह मत है कि भारोपीय लोगों के आरंभिक निवास-स्थलों में वर्तमान सोवियत संघ के कुछ इलाके भी थे। आर्य (भारतीय-ईरानी) समष्टि के निरूपित हो जाने के बाद भी आर्य कबीले उन इलाकों में बसे हुए थे, जो आज सोवियत संघ में शामिल हैं। सोवियत पुराविदों के शोधकार्यों से जनगण के स्थानांतरण की तथा विशेषतः वैदिक आर्यों के उत्तर-पश्चिमी भारत में बसने की समस्याओं पर नया प्रकाश डालने में मदद मिलती है। आजकल वेदों की भाषा तथा स्लाव, बाल्टिक और ईरानी जनगण की भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन बहुत फलप्रद सिद्ध हो रहा है। भारतीय और स्लाव मिथकों में निश्चित सादृश्य का कारण भी उनका समान मूल तथा दीर्घकालीन सहवास बताया जाता है। सोवियत संघ में बसे ईरानी-भाषी जनगण, उदाहरणतः प्राचीन सार्मेशियाइयों के वंशज ओसेतिन लोगों की संस्कृति के अध्ययन से भारतविद को विस्तृत तुलना-सामग्री मिलती है। आधुनिक वैज्ञानिक साहित्य में इस दृष्टिकोण के समर्थन में तर्क पेश किये जा रहे हैं कि काला सागर के उत्तरी तटवर्ती मैदानों में प्राचीन युग में न केवल ईरानीभाषी कबीले, बल्कि वे कबीले भी रहते थे, जो बाद में भारतीय आर्य कहलाये (इसका उदाहरण भाषाविद प्रो० ओलेग त्रुबाच्योव

की रचनाए हैं)। प्रो० त्रुबाच्योव का कहना है कि काला सागर के उत्तरी अचल में प्राचीन काल में प्रचलित नाम भारतीय नामों से काफ़ी मिलते-जुलते हैं (उदाहरणत , क्रीमिया में ख़ेर्सोनेस नगर के पास स्थित स्थान "ददके" और भारतीय "दंडक", शक जाति के लोगों के नाम "बूतो-नातोस" और "महादावा" तथा भारतीय नाम "भूतनाथ" और "महादेव", इत्यादि)। कुछ लेखक तो यह भी मानते हैं कि "हिंदू धर्म की आस्थाओ" का स्रोत "काला सागर अचल मे भारतीय आर्यो के वास-काल" में ढूंढा जा सकता है। ये इतिहासकार अति प्राचीन युग मे काला सागर अंचल और भारत के बीच "घनिष्ठ सास्कृतिक-नृजातीय सबधो" तथा "दोतरफ़े सम्पर्क" की चर्चा भी करते है। जो भी हो, भारतीय आर्यो का मूल लिखित इतिहास के पूर्व के युग मे सोवियत सघ के पूर्वी यूरोपीय भाग मे तथा मध्य एशिया से जुड़ा हुआ है। मध्य एशिया के तो आर्य-पूर्व काल में, यानी हड़प्पा सभ्यता के समय में भी, भारत के साथ सबध थे। इसका प्रमाण दक्षिणी तुर्कमानिस्तान में हुई खुदाइयो से मिला है।

क्लासिकीय पुरायुग में दूसरे देशों के साथ भारत के संबंधों के बारे मे अपेक्षाकृत कम जानकारी उपलब्ध है, तथापि मध्य एशिया के साथ इस देश के घनिष्ठ सम्पर्को के बारे मे कोई सदेह नही है। उस युग के प्रमुख व्यापार मार्ग यहां से गुज़रते थे, कई ऐसे राज्य स्थापित हुए जिनमे भारत और मध्य एशिया दोनो के इलाक़े शामिल थे। ईसवी संवत की पहली सदियो में कुषाण राज्य इनमे सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण था।

उल्लेखनीय है कि इस्लाम विजय के पूर्ववर्ती युग मे मध्य एशिया की भौतिक एवं आत्मिक सस्कृति पर भारत का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। दूसरी ओर, प्राचीन यूनानी एव रोमन सस्कृति के माध्यम से ईसाई देशों–आर्मीनिया, जार्जिया और रूस–मे भारत का एक स्थायी बिम्ब बना, जो इनमें से प्रत्येक जनगण की अनेक मौखिक और लिखित रचनाओ मे प्रतिबिम्बित हुआ। निकट पूर्व के यूनानी और अरब साहित्य के माध्यम से भारतीय कथानक और बिम्ब पूर्वी यूरोप तक पहुचे।

मध्ययुग मे मध्य एशिया और अंशत: ट्रासकाकेशिया के साथ भारत के घनिष्ठ व्यापारिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सबध थे। इस युग के उत्तर काल मे प्राचीन रूस के साथ भी भारत के सबध स्थापित हुए, यहां कुछ भारतीय बस्तिया बनी। ग्यारहवी सदी से भारत और मध्य एशिया के कुछ इलाक़े एक ही राज्य के अंग रहे, इसलिए इन देशो की सस्कृतियो का एक दूसरी पर प्रबल प्रभाव पडा। आर्मी-नियाई सौदागर काफ़ी पहले ही भारत पहुच गये थे, उत्तर मध्ययुग में तो वे न केवल इस देश के आर्थिक जीवन मे, अपितु कभी-कभी राजनीतिक जीवन मे भी उल्लेखनीय भूमिका अदा करते थे। मध्ययुग से ही रूस के विभिन्न जनगण की भाषाओ मे, जिनमें रूसी भी थी, भारत के वर्णन रचे जाने लगे, आरम्भ मे यात्रियो द्वारा और फिर शोधकर्त्ताओं द्वारा। शनैः-शनैः भारत की एक छवि बन रही थी, इस देश के जनगण के प्रति रुचि और गहरी सद्‌भावना बढ़ रही थी।

१. प्राचीन रूस में भारत की छवि

रूस मे भारत के बारे मे जानकारी दो रास्तों से पहुंचती थी – पुस्तकों के माध्यम से तथा पूरब के साथ सीधे सम्पर्कों से। इन सबधों के अस्तित्व की पुष्टि करना कठिन है और केवल परोक्ष और असबद्ध तथ्यों से इन संबंधो के होने का अनुमान लगाया जा सकता है। किंतु लिखित स्रोतो से पहुंचने वाली जानकारी कही अधिक विपुल थी।

प्राचीन रूसी साहित्य के पहले ग्रथों में ही भारत का उल्लेख आता है। ईसाई धर्म ग्रहण करने (ई० ९८८) के पश्चात रूस में यूनानी और बुल्गारियाई पुस्तको की मानो बाढ सी आ गई। अनूदित ईसाई साहित्य की बदौलत रूस में भारतीय नामों, कथानको और साहित्यिक तत्वो का आविर्भाव हुआ और कुछ सदी पूर्व बैज़तिया मे बनी भारत सबधी अवधारणाओ से रूसी लोग परिचित हुए। स्वय बैज़तिया में भारत के बारे में जानकारी ईसाई धर्म के पहले लेखकों की तथा चौथी-पांचवी सदी के उत्तर रोम साम्राज्य के लेखकों की रचनाओ से पाई गई थी। इन रचनाओ मे प्राचीन यूनानी साहित्य में प्रचलित भारत संबंधी किंवदंतियो, सिकंदर महान के साथियों के यात्रा-वृत्तातो तथा रोमन-यूनानी इतिहास के उत्तर पुरायुग के यात्रियो की सूचनाए अंतर्गुफित थी। उस युग के ईसाई लेखकों को भारत के चमत्कार और उसका धर्म ही आकर्षित नही करते थे, भारतीय ब्राह्मणों और श्रमणो के जीवन में तथा ईसा के पट्टशिष्य संत थॉमस द्वारा भारत में ईसाई धर्म के प्रचार की कथाओं में भी उनकी विशेष रुचि थी। प्राचीन यूनान और रोम के साथ भारत के सम्पर्कों के समय मे, सिकंदर महान के दिनो में, कुषाण साम्राज्य के स्वर्णिम दिनों मे तथा अरब सागर और लाल सागर के रास्ते समुद्री व्यापार के दिनों में भारत के बारे मे जो जानकारी यूनान और रोम तक पहुची थी, वह अत्यधिक विकृत होकर बैज़ंतिया तक और फिर रूस तक पहुची।

सुविदित है कि मौलिक प्राचीन रूसी साहित्य भी बैज़तिया के निश्चित प्रभाव मे गठित हुआ था। इसकी एक सबसे पुरानी रचना 'स्लोवो ओ ज़ाकोने ई ब्लागोदाती' (विधान एव कल्याण कथा) ११वी सदी मे कीयेव रूस के धर्माध्यक्ष (मेट्रोपोलिटन) इलारियोन ने लिखी थी, जिन्हे "लेतोपिस" (प्राचीन रूसी इतिवृत्त) मे "अध्येता एवं व्रतधारी सत्पुरुष" कहा गया। इस रचना में ईसा के पट्टशिष्य संत थॉमस द्वारा भारत में ईसाई धर्म के प्रचार का उल्लेख है। "संत थॉमस के कृत्य", संत थॉमस द्वारा भारतीय राजा गोदोफरस के लिए महल बनाया जाना और उसे ईसाई धर्म मे दीक्षित करना – यह सब मगोल-पूर्व काल के रूस में सुविदित था।

प्राचीनतम रूसी इतिवृत्त 'पोवेस्त् व्रेमेन्नीख़ लेत' (काल क्रमिक गाथा) के लेखक ने पृथ्वी पर विभिन्न जातियों के वितरण का उल्लेख करते हुए बाइबल की उस

कथा का हवाला दिया है, जिसके अनुसार नूह के बेटे शेम के वंशजों के हिस्से में पेर्सीदा (फ़ारस) से इदीकी (भारत) तक का राज्य आया। "बाल्त्रीय लोगों, जिन्हें राह्मन या द्वीपवासी भी कहा जाता है" के रीति-रिवाजों का वर्णन करते हुए इतिवृत्तकार बताता है कि वे अपनी धर्मपरायणता के कारण "मांस नहीं खाते, मदिरापान नहीं करते, व्यभिचार नहीं करते और किसी को दुख नहीं पहुंचाते"। "राह्मनों" की तुलना वह उन भारतीयों से करता है, जिनमें ये सब गुण नहीं हैं। ये दोनों अंश प्रत्यक्षतः बैज़ंतियाई मठवासी गेओर्गी अमार्तोल रचित इतिवृत्त से लिये गये हैं। गेओर्गी अमार्तोल के इतिवृत्त का रूस में अनुवाद ११वीं सदी के मध्य में हुआ था। इसमें भारत और ब्राह्मणों के बारे में जो जानकारी है, उसका स्रोत उत्तर पुरायुग में है, जब पल्लाडियस और मीडियोलेनम (मिलान) के संत अम्ब्रोस ने 'भारत की नस्लें और ब्राह्मण' शीर्षक ग्रंथ लिखा था। रूस में उन दिनों सुपरिचित एक दूसरी रचना युहन्ना मलालास रचित 'क्रोनोग्राफ़ी' (इतिवृत्त) में भी ऐसी ही जानकारी थी।

प्रकृति में जो कुछ भी आश्चर्यजनक है – विचित्र जीव-जंतु, पेड़-पौधे और पत्थर – उन सबमें गहरी रुचि बैज़ंतियाई साहित्य के लिए लाक्षणिक थी। चमत्कारों को ऐसा प्रतीक माना जाता था, जिनसे 'पुराने' और 'नये नियम' की पावन पुस्तकों (बाइबल) की टीका करने में सहायता मिलती है, जबकि पशुओं का जीवन "मनुष्य के आत्मिक जगत का प्रतीकात्मक दर्पण" माना जाता था। भारत के चमत्कारों के बारे में पुरायुग के लेखकों की कहानियां, और कभी-कभी अरबी साहित्य की किवदंतियां भी, मध्ययुग में यूरोप में प्रचलित 'फ़िज़ियोलोगस' (पशु-पक्षी कथासंग्रह) का प्रमुख स्रोत बन गईं। इस प्राचीन संग्रह के कई रूपांतर उन दिनों प्रचलित थे – यूनानी, सीरियाई, कोप्टिक, इथियोपियाई, आर्मीनियाई, इत्यादि। द्वितीय-तृतीय शती ई० के लेखक क्लीमेंट रोमन की रचनाओं में भी भारत के पशु-पक्षियों के बारे में कपोलकल्पित कहानियों की प्रतीकात्मक व्याख्या पाई जाती है (फीनिक्स पक्षी की कहानी)। बैज़ंतिया में रची गई 'पुराने नियम' की टीकाओं में तथा बाइबल में दी गई विश्वोत्पत्ति के अनुसार ब्रह्मांड के वर्णन पर लिखी गई पुस्तकों में भारत के विचित्र पशुओं का उल्लेख प्रायः मिलता है। इस तरह की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें, जो एक तरह से ईसाइयों के लिए विश्वकोश रही थीं – बज़ील महान का 'शेस्तोद्नेव' (छह दिन) तथा युहन्ना ऐक्ज़ार्ख बुल्गारियाई का 'शेस्तोद्नेव'। यह रूस में आई ईसाई धर्म की पहली पुस्तकों में थी। 'फ़िज़ियो-लोगस' तथा उसके जैसी अन्य रचनाओं का भारत तथा अन्य दूरवर्ती देशों के बारे में १७वीं सदी तक रूस में प्रचलित विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ा। ये विचार सर्वप्रथम ललित साहित्य में पाये जाते हैं, और कलाकृतियों तथा मौखिक लोक साहित्य में भी।

भारत के आश्चर्यजनक पक्षी फ़ीनिक्स गरुड़ की कहानियां रूस में बहुत लोक-प्रिय थीं। इन कहानियों में कहा जाता था कि फ़ीनिक्स पक्षी "सौर नगर" (हेलियो-

पोलिस) के पास रहता है, कि फ़ीनिक्स "पांच सौ वर्ष तक कुछ भी खाये-पिये बिना लेबनानी देवदारु वृक्ष पर पड़ा रहता है" और फिर "हेलियोपोलिस के पुरोहितों" द्वारा जगाये जाने पर जलकर भस्म हो जाता है। 'फ़िज़ियोलोगस' में फ़ीनिक्स को आत्म-बलिदान करते मुक्तिदाता ईसा मसीह का प्रतीक माना गया है। 'फ़िज़ियोलोगस' में भारतीय "चीटी-सिंह" की (सिर सिंह का और धड़ चीटी का), भारत में "द्रुतप्रसव रत्न" (प्रसव में सहायक रत्न) ढूंढने वाली चील की तथा भारत में पाये जाने वाले रोगहर पत्थर की, जिसकी सहायता से "चतुर चिकित्सक" "अपद्रव निकालते हैं", कहानियां भी हैं। मध्ययुगीन साहित्य में भारत का उल्लेख प्रायः आता है, यद्यपि इसके बारे में जो कुछ बताया जाता है, वह वास्तविकता से काफ़ी दूर है। वैसे कल्पनातीत विचित्रता के आवरण के तले भारत के पशुजगत तथा जड़ी-बूटियों के बारे में सच्ची जानकारी की भी झलक कभी-कभी मिल जाती है।

पाठक के सम्मुख भारत के आश्चर्यजनक पशुजगत का, जिसमें न केवल सचमुच के हाथी और गेंडे बड़ी संख्या में हैं, बल्कि "वराह-हाथी" और "चींटी-सिंह" आदि अजूबे भी हैं – ऐसा दृश्य प्रस्तुत करने में कोस्मस इदिकोप्लेउस्तस द्वारा छठी शताब्दी ईसवी में रचित 'ख्रीस्तीय देशवर्णन' ने भी निश्चित भूमिका अदा की। इस पुस्तक का भी कीयेव काल में ही रूस मे अनुवाद हो गया था और आगे चलकर यह बहुत लोकप्रिय हुई। ब्रह्मांड के बारे मे प्राचीन विचारो के साथ तर्क-वितर्क के रूप में लिखित कोस्मस की इस पुस्तक में विश्वसृष्टि के बारे में ईसाई धर्म के विचारों का विवरण दिया गया था। विभिन्न देशों का इसमें जो वर्णन किया गया है, उसमें कभी-कभी भारत आदि देशों में हो आये यात्रियों की कहानियों का प्रतिबिम्ब भी देखा जा सकता है। 'ख्रीस्तीय देशवर्णन' की कई पांडुलिपियां मिली हैं, जिनमें से कुछ सचित्र भी हैं।

१२वी सदी में रूस में 'वर्लाम और जोआसफ़ की कथा' बहुत लोकप्रिय थी। सुविदित है कि यह कहानी बुद्ध की जीवनी का रूपातरण है और जोआसफ़ नाम भारतीय शब्द बोधिसत्व से (बुदास्फ रूप के माध्यम से) बना है। ईसवी संवत के आरंभ मे बोधिसत्व की कथा मध्य एशिया में बहुत लोकप्रिय थी। प्रथम सहस्राब्दी के मध्य में यह कथा मानीवाद के अनुयायियो में भी बहुत प्रचलित हुई। कथा का पहला उल्लेख छठी-सातवी शताब्दी मे मिलता है, जब ससानिद वंश के विख्यात सम्राट नौशेरवां के आदेश पर इसका पहलवी भाषा में अनुवाद हुआ (सम्राट नौशेरवां भारतीय संस्कृति में गहरी रुचि रखते थे और कहा जाता है कि उन्होंने 'पचतत्र' का अनुवाद कराया और उनके राज मे ही ईरान में भारतीय शतरज का प्रचलन हुआ)। 'वर्लाम और जोआसफ़ की कथा' का पहलवी रूपांतरण कालांतर में खो गया, परतु इसका अरबी रूपातरण उपलब्ध है, जो ८वी सदी में हुआ था। इसके कुछ समय बाद यूनानी भाषा में इसका रूपांतरण हुआ, जो ७वी-८वी सदी के प्रसिद्ध वैज़ंतियाई धर्ममीमांसक युहन्ना दमिश्की द्वारा किया गया बताया जाता है।

इस कथा का अनुवाद लातिनी, इथियोपियाई, स्लाव तथा अनेक पश्चिमी-यूरोपीय भाषाओं में हुआ। कथा में बताया गया है कि भारतीय राजकुमार ने सांसारिक सुखों और प्रलोभनों को त्याग कर अपना ध्यान दूसरे, अधिक श्रेष्ठ लोक की ओर लगाया तथा मरुभूमि में चला गया। सन्यासी बर्लाम तथा भारतीय राजकुमार जोआसफ़ को ईसाई धर्म के पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही चर्चों ने संत स्वीकार किया।

कालांतर में रूस में जोआसफ के बारे में एक सर्वाधिक लोकप्रिय भजन रचा गया। इस भजन के कुछ रूपांतरों में पूरी 'कथा' ही दी गई है, यह बताया गया है कि कैसे भारतीय राजा अवेनीर के पुत्र ने "अंधा, कोढ़ी, दंतहीन बूढ़ा" देखा। "लोगो का दुख सुनकर" स्वयं भी विलाप करने लगा, "लोगो के अभागे जीवन की बाते करने लगा" और फिर वह "स्वयं भिक्षु बन गया स्वेच्छा से स्वयं भी एक श्रमण हो गया।" कुछ दूसरे भजनों में जोआसफ़ का एकांत में वार्तालाप, अर्थात एकांत के लिए विलाप, प्रार्थना या उसकी प्रशंसा ही है। इस प्रश्न का कि "हे, यशस्वी, अपना राज-पाट किसके लिए छोड़ रहे हो?" राजकुमार उत्तर देता है "हे माता, यह मेरा राज तो क्षणिक है, स्वर्ग का राज शाश्वत है।" इस प्रकार रूसी लोक साहित्य का यह एक सर्वश्रेष्ठ भजन 'बर्लाम और जोआसफ़ की कथा' पर आधारित है और अततः बुद्ध की भारतीय कथा को प्रतिबिम्बित करता है। १६८१ में छपे इस 'कथा' के संस्करण के लिए १७वीं सदी के विलक्षण रूसी चित्रकार सीमोन उशाकोव ने उत्कीर्णन चित्र बनाये थे। रूस के शाही थियेटर में सबसे पहले मंचित किये गये नाटकों में से एक इस 'कथा' पर ही आधारित था। इस मूलतः भारतीय कथानक ने वसीली झुकोव्स्की और अपोलोन मायकोव जैसे १९वीं सदी के कवियों को प्रेरित किया।

लोक साहित्य की कतिपय अन्य रचनाओं, विशेषत 'गोलुबीनया क्नीगा' (मर्म ग्रंथ) नामक भजन पर भारतीय साहित्य का निश्चित प्रभाव महसूस होता है। इसमें विश्वोत्पत्ति के प्रश्न उठाये गये हैं. पृथ्वी कहां से प्रकट हुई, आदम की रचना कितने अंशों से हुई, इत्यादि। इन प्रश्नों के उत्तरों में 'फिज़ियोलोगस' और 'स्काज़ानिये ओब इन्दीस्कोम त्सार्स्त्वे' (कथा भारतीय राज की) जैसी रचनाओं का प्रभाव दिखाई देता है। परंतु इस भजन के कुछ रूपांतरों की वे पंक्तियां विशेषत रोचक है, जिनमें लोगों की उत्पत्ति का उल्लेख है "हमारी पृथ्वी पर राजाओं का जन्म आदम के पावन सिर से हुआ; मंत्रियों-बोयारों का जन्म आदम के पवित्र धड़ से हुआ, ईसाई किसानों का आदम के पवित्र चरणों से"। 'गोलुबीनया क्नीगा' की इन पंक्तियों की ओर, जो वर्णों की उत्पत्ति के बारे में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त की याद दिलाती हैं, शोधकर्त्ताओं का ध्यान अनेक बार गया है। आरंभ में यही माना जाता था कि रूसी भजन में सामान्य भारोपीय या सामान्य आर्य मिथक परम्परा सुरक्षित रही है। लेकिन इन भजनों के साहित्यिक मूल को देखते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतीय मिथक अनेक साहित्यिक रूपांतरणों के बाद पश्चिम

से रूस तक पहुंचा। पिछली सदी के रूसी विद्वान अलेक्सान्द्र वेसेलोव्स्की और उनके शिष्यों ने भारतीय साहित्यिक कथानको की यात्राओं और रूस तक उनके पहुंचने के मार्गों का विस्तार से अध्ययन किया है। 'गोलुबीनया क्नीगा' के स्रोत प्रत्यक्षत: बुल्गारियाई एपोक्रिफ़ (अप्रामाणिक) साहित्य में ढूंढ़े जाने चाहिए। यह साहित्य दसवी सदी के आस-पास रूस मे पहुचा था। इस साहित्य की कुछ रचनाओं में बोगोमील (शब्दश: प्रभुप्रिय) पथ के, जो बुल्गारिया मे तब प्रचलित था, विचार व्यक्त हुए थे। रूस मे इस साहित्य की रचनाएं 'तीन धर्माधिकारियो की वार्ता', 'थबोर पर्वत पर धर्मतत्वज्ञ युहन्ना द्वारा प्रभु से पूछे गये प्रश्न' और 'यरूशलम वार्ता' आदि सुज्ञात थी और इनका मुख्य विषय भी विश्वसृष्टि ही था। इनके कुछ विचार 'सत युहन्ना की प्रकाशना' नामक एपोक्रिफ़ रचना तथा ईसाई धर्म के प्रचार की पहली सदियों की अन्य रचनाओ से आये कहे जा सकते हैं, और ये विचार प्रज्ञान-वाद तथा मानीवाद के प्रबल प्रभाव में बने थे। नौवी-दसवी सदियों मे ये विचार बोगोमील पथ मे बहुत फैले।

वर्णों की उत्पत्ति की भारतीय कथा, सभवत., आरभ में ईरानी मानीवादियो तथा ईसवी सवत के आरभ के ईसाई अपधर्मियो के माध्यम से और फिर बैज़ंतियाई साहित्य व बुल्गारियाई बोगोमील पंथियो के माध्यम मे रूस तक पहुची। इस प्रकार भारतीय साहित्यिक विचार दो रास्तों से रूस तक पहुचते थे: पश्चिम से और ईरान से। यह कोई अतिशयोक्ति न होगी कि ससार के बारे में भारतीय लोगों के विचार जिस सहजता से रूस में स्वीकार कर लिये जाते थे, उसके कारण पूर्वी यूरोप की स्लाव-रूसी आबादी तथा आर्य (भारतीय और ईरानी) जनगण के बीच नृवशीय, भाषायी और सांस्कृतिक समीपता तथा पुराने सबंध भी रहे होंगे।

चर्च-स्लावोनिक साहित्य मे प्राय: भारत का उल्लेख मिलता है। ११-१३वी सदियों की बैज़ंतियाई और पुरा बुल्गारियाई कृतियों में ब्राह्मणो का जीवन वर्णन बहुत लोक-प्रिय था। इन्हें संसार से निर्लिप्त, आराधनामग्न लोगो के रूप मे चित्रित किया जाता था। उदाहरणत., 'रोम के मकारिउस का वृत्तात' मे तीन युवको की भारत यात्रा के बारे में बताया गया है। इसके अनुसार ये युवक उन "निर्लिप्त" लोगो–ब्राह्मणों–के देश में गये, जो स्वर्ग के पास ही गुफा मे रहते हैं, "नग्न" रहते हैं और "जटाए" धारण करते हैं। इन "निर्लिप्त" लोगों और उनके पड़ोसी देशो (एक ओर श्वान-शिरी लोगो का देश और दूसरी ओर लौह नगरी जिसके एकदम बाद स्वर्ग स्थित है) का वर्णन उत्तर पुरायुग के साहित्य में ब्राह्मणों के जीवन वृत्तात की याद दिलाता है। यह साहित्य ही उपरोक्त 'वृत्तांत' का स्रोत था।

इस तरह की एक और रचना–'ज़ोसिम द्वारा राह्मनों के देश की यात्रा'–भी रूस में अच्छी तरह ज्ञात थी। पुरायुगीन लेखको से नगे रहने वाले ब्राह्मणो के बारे में प्राप्त जानकारी इस रचना में बड़े विचित्र ढग से यहूदी दरवेशो–रेकाबियो–के बारे में जानकारी से अंतर्गुंथित हुई है। यहा बहुत कुछ इस बात से भी निर्धारित

हुआ कि राह्मनो को पृथ्वी के सिरे पर, पृथ्वी के स्वर्ग के पास बसा माना जाता था, इसलिए उन्हे आदर्श पुरुष माना जाता था। 'स्लोवो मेफ़ोदिया पतार्स्कवा' (पतार्स्क के मेफोदी का वृत्तांत) नामक रचना पर भी सिकंदर महान और "निर्लिप्त" ब्राह्मणों के बारे मे साहित्य का प्रभाव पड़ा। इसमें ब्राह्मणों के देश का स्थान निर्धारण प्राय बिल्कुल विचित्र हुआ है – पृथ्वी के सिरे पर, जहां यरूशलम नगर है – परंतु साथ ही भारतीय पशु-पक्षियों के नाम भी दिये गये हैं। पश्चिमी यूरोप में भी ऐसा साहित्य उन दिनो प्रचलित था।

भारतीय नागा सतो (राह्मनों) के जीवन संबंधी ग्रंथों का प्रचार मध्ययुगीन रूस में धर्मतत्वीय विवाद तथा विचारों के सघर्ष से जुड़ा हुआ था। नोवगोरोद के आर्कबिशप वसीली कलीका ने बिशप फ्योदोर के नाम अपने पत्र में ब्राह्मणों के बारे मे कथाओ का हवाला देते हुए पृथ्वी पर स्वर्ग का अस्तित्व प्रमाणित करना चाहा था। १५वी सदी के रूसी लेखक येफ़ोसिन ने गेओर्गी अमार्तोल के इतिवृत्त तथा अन्य स्रोतो के आधार पर 'राह्मनों और उनके आश्चर्यजनक जीवन का वृत्तांत' लिखा। अपनी इस रचना में उसने "राह्मनो" की धर्मपरायणता पर जोर दिया और कहा कि वे लोभ से मुक्त हैं। रूस में सामाजिक विषयों पर लिखने वालों के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी, क्योंकि पंद्रहवी सदी के अंत और सोलहवी सदी के आरम्भ में रूस में मठों की सम्पत्ति और मठवासियों की "लोलुपता" को लेकर उग्र विवाद चल रहा था। येफ़ोसिन ने राह्मनों के बारे में लिखा कि उनके पास "न लोहा है, न सोना, न मदिर, न मदिरा, वे मांस नही खाते, क्रय-विक्रय नही करते, उनका कोई राजा नही, थोडी सी सब्ज़ी खाकर और मीठा पानी पीकर रहते हैं, सच्चे मन से ईश्वर मे विश्वास करते हैं और निरंतर आराधना करते हैं।" १६वी सदी के विलक्षण धार्मिक लेखक मक्सिम ग्रेक ने इसके विपरीत "राह्मनों" के मिथ्या विवेक के बारे मे लिखा था।

ईसाई लेखकों के प्रभाव मे ब्राह्मणों, या जैसा कि प्राचीन रूसी साहित्यिक कृतियो मे उन्हे कहा जाता था, "राह्मनों" के बारे में कहानियां बहुत प्रचलित हो गईं। रूस के दक्षिण मे और उक्राइना में अरसे तक ईसाई राह्मनो की कहानिया प्रचलित रही, जो सात समुद्र पार और ज़मीन के नीचे भी रहते हैं। इन कहानियो के अनुसार राह्मनो को तिथियो का ज्ञान नही था और वे ईस्टर तभी मनाते थे, जब आर्थोडोक्स ईसाइयो द्वारा नदियो में फेके गये ईस्टर के अडों के छिलके उन तक पहुचते थे। उक्राइनी भाषा मे "रख़्मान", "रख़्मानिन" (राह्मन) शब्द "सच्चा ईसाई" के अर्थ में प्रयुक्त होने लगे, जबकि रूस के कलूगा और स्मोलेंस्क इलाक़ों में इस शब्द से "सीधा-सादा, भोला" अर्थ का विशेषण "रख़्मान्नी" भी बना। रूसी के जादूई क़िस्सों 'ओ बोवे' (बोवा के बारे में) तथा 'ओ येगोरी ख़्राब्रोम' (येगोर बहादुर के बारे मे) मे सल्तान के जिस "रख़्लेइस्कोये" राज्य का ज़िक्र आता है, वह कुछ विद्वानो के मत में आरंभ में "रख़्मान्स्कोये" पढा जाता था।

मध्ययुग में भारत के बारे में सही-सही ज्ञान तो नहीं था, किंतु पुरायुगीन साहित्य के आधार पर मध्ययुगीन लेखको ने भारत की अपनी छवि बनाई। वे एक ऐसे अजीबोगरीब देश के रूप में इसकी कल्पना करते थे, जहां साधु-सन्यासी बसते हैं। एक दिलचस्प बात यह है कि वे भारत के वर्णन में उन लक्षणो को भी शामिल कर लेते थे, जिन्हें वे दूसरे देशों के चमत्कारों और साधु-सन्यासियों के बारे में जानकारी में पाते थे। भारत के बारे में सभी सूचनाओं को वे बाइबल के 'पुराने नियम' के निकट लाते थे और उन्हे ईसाइयत के रग में रगते थे। भारत की ऐसी "ईसाइयत के रग मे रगी" छवि मध्ययुग मे बहुत प्रचलित और स्थायी थी। नवीन युग के साहित्य पर भी इसका आंशिक प्रभाव पडा।

'कथा भारतीय राज की' पुस्तक का रूस में भारत की छवि के निर्माण पर बहुत प्रभाव पडा। यह पुस्तक उस पत्र की कहानी पर आधारित थी, जो भारत के पादरी-राजा (प्रेज़्बिटर) युहन्ना द्वारा यूनान के शासक मनुएल कोम्नेउस को लिखा बताया जाता था। यह "पत्र" १२वी सदी के मध्य मे यूनानी भाषा मे प्रकट हुआ और तभी इसका लातिनी भाषा में अनुवाद हुआ। १२वी सदी में धर्मयुद्धो (क्रूसेडो) के दिनो मे ही इस पत्र का प्रकट होना आकस्मिक नही था। यूरोप में तब पूरब की सम्पदाओ मे गहरी रुचि थी और ऐसी उम्मीदे बहुत फैली हुई थी कि उन दूर-दराज के देशो मे "काफिरों" के बीच एक शक्तिशाली ईसाई राज भी है। इस बात के बावजूद कि मध्ययुगीन इतिवृत्तकारो ने ही (उदाहरणत:, ११६५ ई० के अल्बेरिक रचित इतिवृत्त मे) इस "पत्र" मे कुछ विचित्र असगतिया इगित की थी, यूरोपवासी इस "पत्र" को गभीरता से लेते थे। ११७७ में पोप अलेक्सान्द्र तृतीय ने प्रेज़्बिटर युहन्ना के पास अपने दूत भी भेजे। प्रेज़्बिटर युहन्ना के पत्र का रूसी में रूपांतर १३वीं सदी में हुआ। रूस में इस "पत्र" का नाम यह था 'कथा भारतीय राज की, महान विख्यात देश और उसके सभी चमत्कारो की कितना विशाल इसका क्षेत्र है, कितने यहा चमत्कार और सम्पदाए हैं और कैसे यहा लोग, पक्षी, पशु और भांति-भांति के रत्न हैं'। इस 'कथा' में विपुल सम्पदा वाले सुदूर देश भारत के बारे में सभी दतकथाए समाविष्ट हुई। इसमे भारत को ऐसा देश बताया गया जहा "पद्रह बलूत वृक्षों पर घोसला बुनने वाला पक्षी, हाथी नामक जानवर, एकश्रृगी जानवर, स्वर्ण श्रृग वाले पर्वतीय बकरे, ऊट तथा भांति-भांति के भयानक जानवर रहते हैं।" इस देश में ऐसे लोग रहते है, जिनकी आखे छाती पर होती है, पख होते हैं और छह भुजाए होती हैं (प्रत्यक्षत:, भारतीय मूर्तियो के आधार पर ऐसी बाते गढ़ी गई), वहा सीधे स्वर्ग से उतरी नदिया बहती हैं और "मिर्च उगती है तथा वहा जमुर्रद नाम का रत्न होता है" और "हर वस्तु की प्रचुरता है", लेकिन कोई "चोर नही, लुटेरा नही और ईर्ष्यालु व्यक्ति नही।" और उस सुदूर देश में एक महल है, जो सत थॉमस द्वारा गोदोफरस के लिए निर्मित महल के नमूने पर बनाया गया है। इस 'कथा' में भारत के विचित्र जीवो के बारे में जो सामग्री है, उसका सबध महज

ही 'फ़िज़ियोलोगम' जैसी पुस्तकों से तथा भारत व अन्य पूर्वी देशों के चमत्कारो का वर्णन करने वाले पुरायुगीन साहित्य से जोड़ा जा सकता है। भारत की एक समृद्ध देश के रूप मे प्राचीन काल में जो कल्पना की जाती थी, उसमें इस पुस्तक में कुछ और अतिकाल्पनिक ब्योरे जुड़ गये तथा भारतीय लोगों की न्यायशीलता संबंधी अतीत के लेखको के विचार धर्मपरायण सच्चे लोगों की कहानियो मे और अधिक फैले। इस अतिकाल्पनिक वृत्तांत में सांसारिक सुख-सम्पदा की क्षणभंगुरता और निरर्थकता पर धार्मिक उपदेश भी जुडा हुआ है। यह 'कथा' सुदूर और रहस्यमय भारत को रूसी पाठक के समीप लाती है, क्योंकि इसका शासक इवान (जॉन, युहन्ना) ईसाई निकलता है, और न केवल ईसाई, बल्कि रूसियों जैसा ही आर्थोडोक्स ईसाई।

प्राचीन रूसी साहित्य मे **'अलेक्सान्द्रिया'** नामक कहानी का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस कहानी का स्रोत अरस्तू के भतीजे कैलीस्थेनीज़ के नाम से लिखी गई 'सिकदर की गाथा' है, जो सिकंदर महान के समसामयिको के वृत्तांतों तथा दंतकथाओ के आधार पर ईसवी संवत् की पहली शताब्दियो मे प्रकट हुई। पश्चिमी यूरोप के भी और पूर्वी यूरोप के भी मध्ययुगीन साहित्य की यह एक सर्वाधिक लोकप्रिय रचना थी। हर देश में 'सिकंदर की गाथा' उस देश के जनगण के साहित्य का अभिन्न अग बन गई थी और इस प्रक्रिया में इसका कथानक, इसके बिम्ब और मूलभूत विचार भी बदलते गये थे। इस गाथा में सिकदर महान के भारत-अभियान का विशेष स्थान था। राजा पुरु के साथ सिकदर का युद्ध, भारतीय ब्राह्मणों और ऋषि-मुनियों से सिकंदर की वार्ता – इस सबका विस्तार से वर्णन किया जाता था। इस गाथा में भारत की जो छवि पेश की जाती थी वह उस देश के लोगो के लिए सारे ससार के बारे में उनकी अवधारणा का अभिन्न अंग होती थी। 'अलेक्सान्द्रिया' के विचित्रतापूर्ण कथानकों के आधार में मूलत सच्ची घटनाए तथा सिकदर महान के साथियो ने भारत में जो कुछ देखा-सुना, उसकी जानकारी निहित थी। रूस में 'अलेक्सान्द्रिया' के कई रूपांतर थे। सबसे पुराना रूपांतर ११वी-१२वी सदी का माना जाता है। १३वी सदी में इसे इतिवृत्त संग्रहो मे शामिल किया गया। कालांतर मे 'कथा भारतीय राज की' तथा अन्य रचनाओं के अशों को इसमे शामिल किये जाने के फलस्वरूप 'अलेक्सान्द्रिया' का कलेवर काफ़ी बढ गया। इस विस्तृत रूप मे 'अलेक्सान्द्रिया' को 'येल्लीन्स्की ई रीम्स्की लेतोपिसेत्स' (यूनानी और रोमन इतिवृत्तकार) नामक इतिवृत्त संग्रह में शामिल किया गया। १५वी सदी मे तथाकथित "द्वितीय दक्षिणी-स्लाव प्रभाव" के अंतर्गत रूस में 'अलेक्सान्द्रिया' का दूसरा, "सर्ब" सस्करण प्रकट हुआ, जो १४वी सदी मे यूरोप के दक्षिण मे बना था। इसमे भारत का विस्तृत विवरण था, और इसके चमत्कारो की अनेक कहानियां – पक्षी-लोगो की, चींटियो की, जो घोड़े को खींच ले जा सकती हैं, छह बांहो, छह टागो वाले लोगो की कहानियां, भारत की यात्रा करके आये राजा हर्क्युलिस और रानी सेमिरामिस की कहानियां। मध्ययुगीन 'अलेक्सान्द्रिया' मे राह्मनों (ब्राह्मणो)

के जीवन वृत्तांत को विशेष महत्त्व दिया गया है, इसमें कहा गया है कि वे "किन्हीं पापों का बोझा नहीं ढोते, शांतिपूर्वक देवदूतों के समीप रहते हैं और उन्हे प्रभु से स्वर्गसुख का आशीर्वाद प्राप्त है।" राह्मन महासागर के बीच संतों के द्वीप पर रहते हैं और "नागा संन्यासी कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने अपनी सभी इच्छाओं से मुक्ति पा ली है।" इन वर्णनों और "राह्मनों के देश" की यात्राओं संबंधी ईसाई रचनाओं के बीच, जिन पर हमने ऊपर गौर किया है, घनिष्ठ संबंध देख पाना कठिन नही है। सिकदर से लडे भारतीय राजा पुरु की सम्पदा के वर्णन में भी 'अलेक्सान्द्रिया' और 'कथा भारतीय राज की' के बीच सामीप्य स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है। विपुल सम्पदा, चमत्कारो और धर्मात्मा संतों, नागा संन्यासियों के देश के बारे में 'अलेक्सान्द्रिया' की सूचनाओं का रूसी लिखित साहित्य में भारत के बिम्ब के निर्माण पर निश्चित प्रभाव पड़ा।

'कथा' और 'अलेक्सान्द्रिया' रचनाए मौखिक साहित्य मे भी प्रतिबिम्बित हुई हैं। "समृद्ध भारत" की छवि रूसी लोक साहित्य के वीर काव्यो – बिलीना – का अभिन्न तत्व बन गई। इस प्रसग में सबसे प्रसिद्ध बिलीना वीर ड्यूक स्तेपानोविच के बारे में है, जो कीयेव के प्रिस व्लादीमिर और उसके दरबारियों को अपने देश – भारत – की सम्पदा से वैसे ही आश्चर्यचकित करता है, जैसे भारतीय राजा इवान (युहन्ना) यूनान के शासक मनुएल को अपने 'पत्र' मे करता है। वोल्ख व्सेस्लाव्येविच के बारे में पुरातन बिलीना मे भी, जो प्रत्यक्षत: मगोलपूर्व काल मे (१३वी सदी से पहले) गढ़ा गया, भारत की चर्चा है। नोवगोरोद के बिलीना काव्यो का विख्यात नायक सौदागर सद्को व्यापार करने भारत जाता है। १७वीं-१८वी सदी के बिलीना काव्यो मे वीर मिखाइलो पोतीक भारत जाता है, जबकि एक ऐतिहासिक गीत मे लिथुआनिया के राजा को यह परामर्श दिया जाता है कि वह मास्को नही, "समृद्ध भारत" के अभियान पर जाये। भारत और भारतीय "सौर नगर" (हेलियोपोलिस) का उल्लेख रूसी लोक कथाओ में, उदाहरणत, येरुस्लान लाज़रेविच की कहानी में भी आता है। भारत के बारे में किस्से-कहानियां जन साधारण में अधिकाधिक फैलने लगे। जैसा कि लोक साहित्य की रचनाओ के साथ प्राय: होता है, इनमे कथन का ऐतिहासिक और भौगोलिक आधार अनिश्चित और अस्पष्ट है। बिलीना काव्यों में भारत को प्राय: करेलिया और वोलीनिया (रूस के उत्तर-पश्चिम और पश्चिम मे स्थित इलाक़ो) के पास बताया जाता है, कभी-कभी तो इसे एक देश के रूप में नहीं, बल्कि एक नगर के रूप में चित्रित किया जाता है, जबकि बिलीना के नायकों के नाम प्राय: रूसी ही होते हैं। उदाहरणत, भारत मे आये ड्यूक स्तेपानोविच को "रूसी वीर" कहा गया है। इस प्रकार लोक साहित्य में भारत की छवि रूसी व्यक्ति के लिए करीबी और जानी-पहचानी ही बनती है।

१५वी सदी मे रूस में भारतीय मूल की एक और कथा प्रकट हुई – **'स्तेफ़ानीत और इख्निलात'**। सुविदित है कि यह कथा 'पचतत्र' मे आई है। ससादिन वश के

ईरान के सम्राट खुसरो नौशेरवां के समय 'पंचतंत्र' का संस्कृत से पहलवी में अनुवाद हुआ था और फिर पहलवी से अरबी में। अरबी में इसका नाम 'कलीला-ओ-दमना' पड़ा तथा इसमें कुरान के अंश शामिल किये गये। ११वीं सदी में वैज़ंतिया के सम्राट अलेक्सेई प्रथम कोम्नेउस के आदेश पर उसके दरबारी चिकित्सक सिमेओन साइथोस ने (संभवत: वह सीरियाई मूल का था) इस पुस्तक का यूनानी भाषा में अनुवाद किया। यूनानी रूपांतर एक ओर शीघ्र ही बने लातिनी तथा कतिपय पश्चिमी यूरोपीय रूपांतरों के लिए आधार बना। दूसरी ओर, यूनानी रूपांतर के आधार पर १३वीं सदी में दक्षिणी-स्लाव रूपांतर बना, जो शीघ्र ही रूस में पहुंचा। इस तरह नया अनुवाद, नया संस्करण, नया रूपांतर था। प्राचीन लेखक अपने देश की साहित्यिक परम्परा के अनुसार विदेशी रचना को बदलते थे, उसे विस्तृत करते थे या उसमें कांट-छाट करते थे। 'पंचतंत्र' के यूनानी रूपांतर में ही बाइबल तथा पुरायुगीन लेखकों की रचनाओं के उद्धरण शामिल कर दिये गये थे। मूल भारतीय रचना 'पंचतंत्र' की ही भांति उसके यूरोपीय रूपांतर भी, जिनमें प्राचीन रूसी ग्रंथ 'स्तेफ़ानीत और इख्निलात' भी आता है, "जीवन दर्पण", "मानव जीवन की शिक्षा" माने जाते थे। 'जीवन कार्यों की गाथा, जिसे अपने राजा की प्रेरणा से एक भारतीय दार्शनिक ने आख्यानों के रूप में पेश किया', अर्थात 'स्तेफ़ानीत और इख्निलात' की कहानी मात्र मनोरंजक नहीं, अपितु शिक्षात्मक रचना थी। 'स्तेफ़ानीत और इख्निलात' 'फ़िज़ियोलोगस' जैसे साहित्य से मिलती-जुलती रचना थी (यह अकारण ही नहीं कि इसका उपशीर्षक 'पशुकथाएं' था)। कथा के पाठ में कुछ परिवर्तन किये गये थे और उसमें कतिपय ख्रीस्तीय उपदेश जोड़े गये थे, जिनमें लोभ-मोह की भर्त्सना की गई थी और "ईसा की खातिर कष्ट भोगने वालों" की प्रशंसा की गई थी। 'स्तेफ़ानीत और इख्निलात' कथा बहुत लोकप्रिय हुई। इसकी ४४ हस्तलिखित नकलें मिली हैं। 'पंचतंत्र' के इस रूपांतर की छाप प्राचीन रूसी साहित्य की अनेक रचनाओं पर पाई जाती है। १५८१-१५८२ में मास्को दरबार में पोप ग्रिगोरी तेरहवें के दूत जेसुइट अंटोनियो पोस्सेविनो की तुलना "धूर्त इख्निलात" से की जाती थी। संभव है कि 'स्तेफ़ानीत और इख्निलात' में भारतीय मूल की पशु-पक्षियों संबंधी जो नीति-कथाएं हैं उनका रूसी लोक साहित्य पर प्रभाव पड़ा हो। कालांतर में नवीन रूसी साहित्य में भी उन्होंने स्थान पाया।

१५वीं सदी में पहली बार प्राचीन रूसी साहित्य में भारत यात्रा का वृत्तांत प्रस्तुत किया गया। यह अफ़ानासी निकीतिन की पुस्तक 'तीन समुद्र पार की यात्रा' थी। इस पुस्तक के लेखक ने समुद्र पार के सुदूर देश का सही-सही और ब्योरेवार वर्णन किया। इसकी विस्तार से चर्चा हम आगे करेंगे। अभी केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि रूसी यात्री के वृत्तांत के प्रकाशित होने पर भी भारत की उस छवि में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया, जो बैज़ंतियाई और पश्चिमी यूरोपीय साहित्य के प्रभाव से बनी थी। सुदूर देशों के बारे में जानकारी कठिनाई से ही मध्ययुगीन

रूस के लिखित साहित्य मे स्थान पाती रही थी। तो भी निकीतिन की 'यात्रा' को भारत के प्रति रूसियो के रुख़ में एक नये चरण का अग्रदूत कहा जा सकता है।

सोलहवी और खास तौर पर सत्तरहवी शताब्दी मे जब रूस में दूरवर्ती देशों, विशेषत भारत के प्रति उत्कट रुचि जागी, तो इस देश के विवरण को समर्पित वैज्ञानिक रचनाएं रची गईं। इन्ही दिनो प्राचीन रोमन और यूनानी भूगोलविज्ञानियों की रचनाओं तथा भूगोल पर सामान्य पुस्तकों का रूसी में अनुवाद किया गया। पोलैंड के मार्त्सिन बेल्स्की की 'समस्त विश्व का इतिवृत्त', इतालवी वैज्ञानिक जे० बोतेरो की 'कोस्मोग्राफ़ी' और फ़लांडर्स के गेरार्ड मेर्काटोर की 'कोस्मोग्राफ़ी' ऐसी ही कुछ पुस्तकें थी। मुगल बादशाहों और भारत यात्राओं को समर्पित विशेष रचनाओं का भी अनुवाद किया गया (उदाहरणत 'तीन पोतो के प्रधान गेओर्गी स्पीलबेर्ग द्वारा १६०१ मे ईस्ट इंडिया की यात्रा', आदि पुस्तकें)।

लिखित साहित्य मे कोस्मस इंदिकोप्लेउस्तस, 'फ़िज़ियोलोगस' और 'अलेक्सान्द्रिया' में निहित सूचनाए 'आज्बुकोन्निकी ईलि अल्फ़ावीती इनोस्त्रान्निख़ रेचेइ' (ककहरो यानी विदेशी बोलियो की वर्णमालाओं) में शामिल की गईं। इन पुस्तकों में भारत के चमत्कारो और "स्वर्ग मे निकलने वाली नदी गगा के पार" रहने वाले ब्राह्मणो-साधुओं की कहानियां दोहराई जाती थी। दिलचस्प बात यह है कि इन 'ककहरों' के सकलनकर्ता अपनी सूचना को सत्य माने जाने का आग्रह नहीं करते थे, बल्कि कहते थे "यह सब सच है या झूठ, मैं नही जानता, परंतु चूकि यह सब मैंने पुस्तको में पाया है, इसलिए यहां लिखने का कष्ट किया है। पशुओ और पक्षियों, पेड़-पौधों, जड़ी-बूटियों, मछलियों और रत्नो के बारे मे भी यही बात लागू होती है, जिनके बारे में यहां वर्णमाला के क्रमानुसार बताया गया है।" १७वीं सदी के ऐसे एक ककहरे मे प्राचीन रूसी साहित्य और पश्चिम की 'कोस्मोग्राफ़ी' रचनाओं मे ली गई भारत सबधी जानकारी को इस तरह पेश किया गया है "महान भारत देश प्राचीन युग से सुविख्यात देश है। इस महान भारत का क्षेत्रफल चारों ओर दूर-दूर तक फैला हुआ है। नगर और देहात यहां असख्य हैं, जैसे आकाश पर तारे। यह देश एक ओर चीन देश तक फैला हुआ है, दूसरी ओर पूर्वी सागर तक। यहां धर्म का राज था, प्रभु ईसा के पावन पट्टशिष्यों ने इसका बपतिस्मा किया था, किंतु अब यह सच्चे धर्म से विमुख हो गया है यहां सूर्य और चद्रमा और तारों की, अग्नि और जल की पूजा होती है। इसी महान भारत मे राजकुमार जाओसफ हुआ था, और उसने एकांतवासी संत वर्लाम मे सच्चे धर्म की शिक्षा पाई थी। भारत में रत्नों और सुगंधियों की बहुत प्रचुरता है। वहां के तौर-तरीक़े बर्बर हैं, लेकिन वहा पियक्कड़पन नहीं है।"

इन शब्दो में पुरायुगीन भूगोलविज्ञानियो, मध्ययुगीन दतकथाओ, धार्मिक ग्रथों तथा समसामयिक यात्रियों से प्राप्त जानकारी का निचोड़ देखा जा सकता है।

१७वी सदी की सामान्य रचनाओं मे प्राचीन भूगोलविज्ञानियो, दतकथाओं और

कोस्मस इदिकोप्लेउस्तस की 'ख़्रीस्तीय देशवर्णन' से ली गई किताबी जानकारी प्रत्यक्षदर्शियो – भूगोलविज्ञानियों और यात्रियों – से प्राप्त जानकारी के साथ अतर्गुं-थित होती है। उदाहरणत:, रूसी में छपी '१६७० की कोस्मोग्राफ़ी' में, जो मुख्यत: जेरार्ड मेर्काटोर की 'कोस्मोग्राफ़ी' के रूसी अनुवाद पर आधारित थी, रोमन भूगोल-विज्ञानियों और इतिहासकारों – पोम्पोनियस, डायोडरस, प्लिनी का भी तथा १३वी सदी के यात्री मार्को पोलो का भी और नवीन युग के फ़्रांसीसी भूगोलवेत्ता स्कालिगेर का भी हवाला दिया गया है। इस प्रकार पाठक के सम्मुख भारत का एक कालेतर चित्र बनता है, मानो डेढ़-दो हज़ार वर्षों के दौरान इस देश में कोई परिवर्तन ही न आया हो। ऐसा अनैतिहासिक, कालेतर बोध सारे मध्ययुगीन साहित्य के लिए लाक्षणिक था। ऊपर चर्चित 'अलेक्सान्द्रिया' मे मकदूनिया के सम्राट को उन जातियो के साथ वीरतापूर्वक लडते दिखाया गया है, जो सिकंदर महान की मृत्यु के कई सौ साल बाद ही गठित हुई थी। मध्ययुगीन गाथाओं से 'कोस्मोग्राफ़ी' की एक रोचक भिन्नता यह अवश्य है कि भारत के रीति-रिवाजो और प्रकृति का वर्णन करते हुए वहा के चमत्कारो की ओर नही, वल्कि मसालों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। पुस्तक का ध्येय अपने कथन से पाठकों का मनोरंजन करना या उन्हें उपदेश देना नही, वल्कि उनका ज्ञान बढ़ाना है। 'कोस्मोग्राफ़ी' में भारत के अनेक नगरो की चर्चा की गई है, जिन पर "सिकंदर के सेनापतियों" ने विजय पाई, और इसके साथ ही "प्रधान राजनगरी – कालेखूत नगर" (यानी पुर्तगालियों के प्रधान अड्डे कालिकट) का ज़िक्र किया गया है तथा साथ ही "गुजरात के तट पर" खम्भात नगर का भी ज़िक्र है और इसके लिए स्कालिगेर का हवाला दिया गया है। पुरायुगीन स्रोतो के आधार पर भारत के लोगों, जातों के बारे में बताते हुए 'कोस्मोग्राफ़ी' का लेखक अपनी ओर से इतना और जोड़ता है कि भारत में भाषाएं और रीति-रिवाज भिन्न हैं, वहा "फारसी , अरबी भाषा है, ईसाई और यहूदी हैं, वे ईसाई जो पावन संत थॉमस की शिक्षा का पालन करते हैं।" पुरा और मध्ययुगीन दंतकथाओं को अपने समसामयिक भूगोलवेत्ताओं की जानकारी के साथ जोड़ते हुए 'कोस्मोग्राफी' का संकलनकर्त्ता अपनी रचना मे वैज्ञानिकता का पुट लाने की कोशिश करता है। वह लिखता है "तथा दूसरे भारत के बारे में बहुत सी ऐसी बातें भी लिखते हैं जो सत्य प्रतीत नही होती, किंतु मैं उन बातों पर चुप रहूंगा।"

शनैः-शनैः साहित्य में विद्यमान भारत की छवि का इस देश के बारे में वास्त-विक सूचनाओ के साथ विरोधाभास प्रकट होने लगा और यह छवि लोक-कथाओ के क्षेत्र मे स्थानांतरित होने लगी। १७वीं सदी के अंत मे तथा १८वीं सदी में रूस में भारत के बारे में अवधारणा रूसी और विदेशी यात्रियों की सूचनाओं के आधार पर बनने लगी, न कि पुराने अनूदित साहित्य के आधार पर। १८वीं सदी के आरंभ तक रूस और भारत के बीच सीधे सम्पर्क भी काफ़ी बढ़ गये।

निस्सदेह, १७वी सदी तक के प्राचीन रूस में भारत संबंधी ज्ञान का मूल्यांकन

केवल 'कथा भारतीय राज की' और 'अलेक्सान्द्रिया' जैसी रचनाओं के आधार पर ही करना ग़लत होगा। पुराने ज़माने में वास्तविकता के प्रति साहित्य का रुख़ काफ़ी जटिल था। साहित्य का मूल उद्देश्य तब वास्तविकता को, विशेषतः भौगोलिक वास्तविकता को प्रतिबिम्बित करना नही था। काफ़ी लंबे समय तक सुदूर भारत के बारे में व्यावहारिक जानकारी को साहित्य में स्थान नही मिला, जिसका एक कारण यह भी था कि ऐसी जानकारी "ग़ैरकिताबी" लोगों के पास थी। भारत की साहित्यिक छवि तथा इस देश के बारे मे ठोस जानकारी का समांतर अस्तित्व था और उनके बीच कोई विरोधाभास नही पैदा होता था। नवीन युग की पूर्ववेला में ही प्राचीन साहित्यिक परम्परा का अनुभव के आधार पर आलोचनात्मक मूल्यांकन करने की आवश्यकता अनुभव की गई।

रूसी-भारतीय सबंध, चाहे वे प्रत्यक्ष रहे हो या परोक्ष, स्मरणातीत काल से चले आ रहे हैं। पुरातत्त्वीय सामग्री से यह पता चलता है कि कीयेव रूस और पूरब के बीच काफ़ी व्यापक सबध थे। आठवीं-नौवी सदी की स्थलियो की खुदाई में पूर्वी देशों की वस्तुए और पूर्वी सिक्के भी मिले हैं (जिनमें भारतीय सिक्के भी हैं)। अरब लेखक बहुत पहले ही रूसियों का ज़िक्र करने लगे थे। सभवत: भारत के साथ सम्पर्क वोल्गा के मुहाने मे बसी ख़ज़ार लोगों की राजधानी इतील-ख़ज़ारान के ज़रिए स्थापित थे। अरब स्रोतो मे नौवी-दसवी सदियो मे इस नगर मे रूसियों की ख़ासी बड़ी बस्ती का उल्लेख मिलता है। रूसियों और भारतीयो की भेंटें केवल इतील में ही नही होती थी। अरब भूगोलवेत्ता और यात्री इब्न फ़द्लान ने ९२१-९२२ में वोल्गा की अपनी यात्रा के वृत्तात मे वोल्गा-तटीय बुल्गारिया राज्य के शासक के यहां रह रहे और व्यापार कर रहे एक "सिंधी" का ज़िक्र किया है। इब्न फ़द्लान की पुस्तक मे बुल्गारिया में आने वाले रूसियो का भी विस्तार से उल्लेख किया गया है।

दसवी-ग्यारहवी सदियों मे वोल्गा-कास्पियन व्यापार मार्ग बना, जिसने प्राचीन रूस को मध्य एशिया और उत्तरी भारत से जोडा। प्राचीनतम रूसी ग्रथ 'पोवेस्त व्रेमेन्नीख़ लेत' मे "बुल्गार और ख्वालीस" (यानी ख्वारज़्म) तथा उससे आगे "शेम के राज" तक के मार्ग की चर्चा की गई है। "शेम के राज" में उत्तरी भारत के कुछ इलाक़ों को भी शामिल समझा जाता था। १३वीं सदी के आरंभ के प्रसिद्ध अरबी और फ़ारसी लेखक मुहम्मद औफ़ी ने, जो बुख़ारा में जन्मा और दिल्ली में रहा, बताया है कि किस तरह कीयेव के राजा व्लादीमिर ने ख्वारज़्म के शासक के दरबार में अपने दूत भेजे थे। अरब भूगोलवेत्ताओं की रचनाओ में रूसियो के बारे में अधिकांश जानकारी दसवी-ग्यारहवी सदियो की ही है, हालांकि कभी-कभी बाद के स्रोतो में भी यह जानकारी दी गई है। उल्लेखनीय है कि अरबों ने रूसियों और ख़ज़ारों के बीच घनिष्ठ सबधों का ख़ास ज़िक्र किया है। साथ ही अनेक अरब भूगोलवेत्ता ख़ज़ारों का संबंध किसी न किसी तरह भारतीयों से जोड़ते थे, सभवत: इसका

कारण उनके बीच नियमित व्यापार और अच्छे मार्ग था। कुछ अरब लेखकों, जैसे कि अल-बक्री और इब्न हौकल ने रूमियों और भारतीयों के कुछ रीति-रिवाजो (उदाहरणत , अंतिम सस्कारों) की समानता इंगित की है। अल-बक्री लिखते हैं: " उनके (रूसियों के) रीति-रिवाज हिंदुस्तानियों के रीति-रिवाजों जैसे हैं।" अरबीभाषी लेखकों ने, जिनमे भारत में बसे लेखक भी हैं, अक्सर उन मशहूर फ़ौलादी तलवारों का जिक्र किया है, जो रूस से पूर्वी देशों में लाई जाती थीं। निस्सदेह रूस और पूरब के बीच सबंध व्यापार तक ही सीमित नहीं थे। रूस में शतरंज काफी पहले ही पहुच गई थी और यह खेल यहां काफ़ी फैला था। नोवगोरोद में ११वी सदी के स्तर की खुदाई में प्राय. शतरंज के मोहरे मिलते हैं। बहुत से तथ्य यह इंगित करते है कि रूस मे शतरंज पूरब से लायी गई – इतील और बुल्गार के रास्ते भारत मे ही यह खेल यहा आया। प्राचीन रूस में शतरंज के मोहरों की शक्लें और उनके नाम पश्चिमी यूरोप की अपेक्षा भारत में प्रचलित नामों के अधिक निकट हैं। उदाहरणत . रूस में कुछ मोहरों के यूरोपीय नामों से भिन्न पूर्वी नाम ही इस्तेमाल किये जाते थे "क्वीन" के बजाय "फ़ेर्ज़" (फ़रज़ी), "अफ़सर" के बजाय "स्लोन" (फील) इत्यादि।

मगोल-तातार हमलो (१३वी शती) ने न केवल रूस को, बल्कि मध्य एशिया के बहुत से इलाकों को भी तबाह किया और प्रत्यक्षत: आरंभ में पुराने अतर्राष्ट्रीय सम्पर्क भी तोड दिये। तथापि कुछ समय पश्चात स्वर्ण ओर्दू स्वयं ही रूस और भारत के बीच सम्पर्क की एक कडी बन गया। १४वीं सदी में दिल्ली सल्तनत के सुल्तानो के जूची वश के साथ घनिष्ठ सबंध थे, जबकि कतिपय रूसी रजवाड़े जूची वश के अधीन थे। ओर्दू की दोनो राजधानियां – सराय बतु (पुरानी सराय) और सराय बेर्के (नई सराय) महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केंद्र थीं। विख्यात अरब यात्री इब्न बतूता ने १४वी सदी के चौथे दशक में स्वर्ण ओर्दू की यात्रा के बाद ओर्दू और भारत के बीच व्यापक व्यापार का ज़िक्र किया (जैसे यह कि वहां से छह-छह हज़ार से भी अधिक घोड़ों के रेवड़ भारत को भेजे जाते थे)। काकेशिया-पार (दर्बेंत, बाकू, शेमाहा) और मध्य एशिया से गुज़रने वाले कई रास्ते वोल्गा-अंचल को भारत से जोड़ते थे। इब्न बतूता ने यह बताया है कि मुहम्मद तुग़लक खास तौर पर स्वर्ण ओर्दू के साथ व्यापार को प्रश्रय देता था। इसकी पुष्टि वोल्गा-अंचल मे कई स्थानो पर मिले १४वी सदी के भारतीय सिक्कों से होती है। यह भी सुविदित है कि रूसी सौदागर सराय में भी और मध्य एशिया में भी व्यापार करते थे। उधर भारत के कुछ इलाक़ों के और अफ़गानिस्तान के व्यापारी भी रूस पहुचते थे। उज़्बेक खान द्वारा भेजे गये अधिकारियों के खिलाफ त्वेर नगर मे हुई बग़ावत का वर्णन करते हुए इतिवृत्तकार ने लिखा है कि ओर्दू के अधिकारियों के साथ-साथ "बहुत से मेहमान" भी मारे गये। अल ओमारी का कहना है कि भारत में रूसी कपड़ा बहुत क़ीमती चीज माना जाता था। अनेक स्रोतों से १४वी सदी मे भारत मे रूसियों के होने का पता चलता है। अमीर खुसरो देहलवी ने "बर्फ़ सी ठडी" रूसी

मुदरियों का ज़िक्र किया है। तुग़लक़नामे के अनुसार ग़ियासुद्दीन तुग़लक़ की फ़ौज में रूसी फ़ौजी भी थे।

१४वी-१५वीं सदियों के संधिकाल में तैमूरलंग ने स्वर्ण ओर्दू को पराजित किया और भारत तथा रूस दोनों ही देशो पर चढ़ाइयां करके वहां तबाही मचाई। फिर भी व्यापारिक मार्ग बने रहे। तैमूरलंग के दरबार में कस्तील्ला (स्पेन) के दूत रूय गोज़ालेज़ दे क्लाविहो ने लिखा है कि समरक़ंद में उसने ऐसे व्यापारी देखे, जिनके पास रूसी और भारतीय माल था। "सुदूर देश से, शवूक के राज से" (यानी तैमूर के बेटे शाहरुह के दरबार से) दूत त्वेर आये थे। रूसी इतिवृत्तों में भी कभी-कभार भारत का उल्लेख मिलता है। १३५२ में उत्तरी रूस के कई इतिवृत्त-कारों ने "काली मौत" (प्लेग) के फैलने का जिक्र किया है: "कुछ लोग कहते हैं कि यह महामारी भारत देश मे, सौर-नगर से आई है"। उल्लेखनीय है कि एक ओर तो इतिवृत्तकार अनुश्रुति का हवाला देते हैं, और दूसरी ओर भारत के नाम से ही "सौर-नगर" हेलियोपोलिस की शुद्धत: साहित्यिक संस्मृति सजीव हो उठती है।

स्वर्ग ओर्दू के अवमान के पश्चात कज़ान और मुख्यत: अस्त्राख़ान वोल्गा-अंचल के प्रमुख व्यापारिक केंद्र बन गये। अस्त्राख़ान मध्य एशिया, ईरान और प्रत्यक्षत: उत्तरी भारत से भी जुडा हुआ था। साथ ही अस्त्राख़ान मे रूसी सौदागर भी बसे हुए थे।

१५वी सदी मे रूसी-भारतीय सबंधो की सूचना देने वाले स्रोत थोड़े से ही हैं, किंतु इनमे एक स्रोत अमूल्य है। यह है – रूसी नगर त्वेर के व्यापारी अफ़ानासी निकीतिन की पुस्तक '**तीन समुद्र पार की यात्रा**'। नवीनतम शोधकार्य से यह पता चलता है कि यह यात्रा १४७१ से १४७४ के दौरान हुई (इससे पहले यात्रा काल १४६६-१४७२ माना जाता था)। अफ़ानासी निकीतिन अस्त्राख़ान से जहाज़ द्वारा ईरान गया था। यह रूसी व्यापारियो के लिए पूरब का परिचित मार्ग था। वहां से आगे भारत तक का समुद्र मार्ग रूसियो के लिए नया था, हालांकि ईरान और भारत के बीच यह परम्परागत मार्ग था। समुद्र के रास्ते खम्भात बंदरगाह मे पहुंचकर रूसी यात्री चौल, पाली, उमरी, जुन्नार से गुज़रा, देर तक बीदर मे रहा, पर्वत गया और फिर गुलबर्गा, कोइलकोंड, कल्लूर, अलंद और डबहोल होता हुआ वापस स्वदेश को रवाना हुआ। उन दिनो दूसरे यूरोपीय देशों की ही भांति रूस के साथ भी भारत के नियमित व्यापार-संबंध नही थे। भारत के भीतरी इलाक़ो में अफ़ानासी निकीतिन के पीछे "लोगो की भीड" चलती थी, वे "गोरे आदमी को देखकर चकित होते थे"। अगर हम यह मान भी ले कि अफ़ानासी निकीतिन से पहले रूसी व्यापारी भारत जा सकते थे, तो भी न तो स्वयं अफ़ानासी निकीतिन के वृत्तांत मे और न ही किन्ही अन्य स्रोतो मे ऐसी घटनाओं का कोई उल्लेख मिलता है। लेकिन साथ ही अफ़ानासी निकीतिन भली-भांति यह जानता था कि वह कहां जा रहा है। प्रत्यक्षत:

वह कास्पियन सागर के तटवर्ती इलाक़ों में नियमित रूप से व्यापार करता था और उत्तर-पूर्वी ईरान के खुरासान इलाक़े के व्यापारियों से उसके घनिष्ठ संबंध थे, इसी-लिए वह अपना नाम "बुसुरमानी ढंग से युसूफ़ खुरासानी" बताता था। भारत पहुचने पर निकीतिन को प्रभावशाली खुरासानी हाजी मुहम्मद का समर्थन मिला। यह भी लाक्षणिक है कि 'यात्रा' में लेखक ने कुछ स्थान ऐसी भाषा में लिखे हैं, जो पूर्वी शब्दों की खिचड़ी है, और प्रत्यक्षतः कास्पियन तटवर्ती इलाक़ों व मध्य एशिया में प्रचलित थी। आधुनिक शोधकर्त्ताओं का यह मत है कि इस भाषा में चग़ताई (पुरानी उज़्बेक) भाषा के तत्व ही अधिक थे। उन मुसलमान सौदागरों ने ही, जो रूसी और भारतीय दोनों ही मंडियों से परिचित थे, त्वेर के व्यापारी को भारतीय माल के बारे में बताया था। अफ़ानासी निकीतिन को भारतीय व्यापार के बारे में कुछ भी पता नही था। इसलिए भारत पहुचने पर शुरू मे तो वह निराश ही हुआ: "बुसुर-मान कुत्तो ने मुझे धोखा दे दिया। कहते थे कि यहां बहुत सा माल है, पर हमारे देश के लिए तो कुछ भी नहीं है, बस बुसुरमानी देशों के लिए ठीक माल ही है। मिर्च और रंग सस्ते हैं पर ... महसूल बहुत ज्यादा है।"

अपनी यात्रा के दौरान रूसी व्यापारी ने बड़े ध्यान से यह सब देखा और नोट किया कि भारत मे कहां क्या होता है और किस चीज़ का मोल क्या है (मिर्च और लोबान कहा अधिक होते हैं, घोडे कितने महंगे हैं, इत्यादि)। भारत के जिन भागो और आस-पडोस के जिन देशों में वह स्वय नही जा सका, वहां की सम्पदाओ और भावो का भी पता लगाने की उसने कोशिश की। भारत में हुई कुछ निराशा और कठिनाइयो के बावजूद अफ़ानासी निकीतिन सभवतः भारतीय वस्तुओं के बारे में जानकारी को और रूस व भारत के बीच व्यापार की सभावना को महत्त्वपूर्ण मानता था।

निस्सदेह 'यात्रा' का लेखक काफ़ी पढ़ा-लिखा आदमी था। वह अपने साथ पुस्तके ले गया था, लेकिन वे लुटेरों के हमलों के समय खो गईं। भारत मे देखी एक मूर्ति की तुलना निकीतिन त्सार्‌ग्राद (कुस्तुतुनिया) में स्थित सम्राट जस्टी-नियन के स्मारक से करता है। प्रत्यक्षतः उसने किसी सचित्र पुस्तक मे इस स्मारक का चित्र देखा होगा। अफ़ानासी निकीतिन केवल व्यापार की खातिर नही, जिज्ञासावश भी भारत की यात्रा पर निकला था। बहुत मुमकिन है कि उसने दूसरी यात्रा-पुस्तके पढ़ी हों और उनके प्रभाव से ही भारत में उसने डायरी लिखी और स्वदेश लौटने पर उसे विशेष पुस्तक का रूप दिया। यह भी संभव है कि अफ़ानासी निकीतिन ने कोस्मस इंदिकोप्लेउस्तस की 'ख्रीस्तीय देशवर्णन' पढ़ी हो, जिसने त्वेर के व्यापारी से नौ सौ साल पहले "तीन समुद्र" पार किये थे। निकीतिन की 'यात्रा' का लहजा कहीं-कही उपदेशात्मक है और प्राचीन रूसी साहित्य की दूसरी रचनाओं की याद दिलाता है। लेकिन साथ ही रूस में तीर्थ-स्थानों की यात्राओ या राजदूतों की दूसरे देशों की यात्राओं पर जो यात्रा-पुस्तकें तब लिखी गई थी, उनसे निकीतिन की 'यात्रा'

The Travels
of Rafail
Danibegashvili
Srinagar
Leh
Nurpur
Indus
Lahore
Sutlej
Srinagar
DELHI
Meerut
Ganges
Agra
Farrukhabad
Cawnpore
Motsang (Tsangpo)
Patna
Brahmaputra
Varanasi
Monghyr
Murshidabad
Ganges
Chinsura
Serampore
Calcutta
MOSCOW
Makaryev
Volga
Dnieper
Don
Orenburg
Orsk
Ural
Tobol
Omsk
Ob
Ishim
Irtysh
Semipalatinsk
Astrakhan
Akhaltsikhe
Erzurum
Ergani
TBILISI
Diyarbekir
Mush
Mardin
Mosul
Baghdad
Euphrates
Tigris
Irmak
Bandar Shah
Teheran
Syr Darya
Amu Darya
Bukhara
Lake Balkhash
Ili
Uch Turfan
Aqsu

रफ़ईल देनिबेगश्वीली की यात्राएं

की भिन्नता भी बिल्कुल स्पष्ट है। प्राचीन रूसी साहित्य की परम्पराओं के बावजूद 'यात्रा' की भाषा और शैली पर लेखक के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है। लेखक के विवरण मे साहित्यिक सस्मृतियां भी विरली ही हैं। क्या भारत के भीड़-भड़क्के और घनी आबादी का उल्लेख प्राचीन काल से लिखित साहित्य में चली आ रही जानकारी की पुनरावृत्ति ही है तथा क्या भारतीय सामंतों के वैभव का विवरण भारत के "सोने की चिडिया" होने के परम्परागत मत का प्रतिबिम्ब मात्र है? ये बातें लेखक के प्रत्यक्ष प्रेक्षणो का पणिाम भी हो सकती थी। यह देखते हुए कि 'यात्रा' की कतिपय हस्तलिखित प्रतियां बची रही है, कहा जा सकता है कि यह पुस्तक रूसी शिक्षित जन में लोकप्रिय हुई। लेकिन भारत मे कुछ वर्ष रह आये एक प्रत्यक्षदर्शी द्वारा दिया गया विवरण प्राचीन रूसी साहित्य मे भारत संबधी अवधारणाओं को नहीं बदल सकता था। भारत का साहित्यिक बिम्ब तथा त्वेरवासी व्यापारी द्वारा उसकी प्रकृति और जीवन का वर्णन एक तरह से मध्ययुगीन मानव की चेतना के विभिन्न स्तरों मे रहते थे।

लेखक ने भारत मे जो कुछ देखा उसके प्रति उसका रुख विशेषतः रोचक है। अफानामी निकीतिन भारतीय लोगो के रिवाजो, धार्मिक विश्वासों, उनके अनुभव और तौर-तरीको का वर्णन करता है। कभी-कभी "बुसुरमानो" के प्रति उसकी असहिष्णुता महसूस होती है, जिसका एक कारण यह है कि रूस तब मंगोल-तातार अकुश में ही था। यह कारण भी कम महत्त्वपूर्ण नही था कि निकीतिन को रास्ते में ज़बरदस्ती कलमा पढ़ाने की कोशिशें की गई थी। लेकिन कुल जमा 'यात्रा' में धार्मिक असहिष्णुता नही दिखाई देती है। इसके विपरीत निकीतिन प्रायः विदेशी त्योहारो और रस्मो की तुलना आर्थोडोक्स ईसाई त्योहारों और रस्मों से करता है। निकीतिन को प्राय अपने धर्म की याद आती है, लेकिन यह मात्र उसकी धार्मिकता की नही, बल्कि जन्मभूमि से वियोग के दुख की भी अभिव्यक्ति है। "ईसाई धर्म का, ईसाई बपतिस्मे का" ध्यान करके ही उसने "रूस लौटने का विचार किया।" इस्लाम स्वीकार करने से इंकार करके वह अपना आर्थोडोक्स धर्म बनाये रहा। लेकिन साथ ही निकीतिन के मन मे इस्लाम के प्रति भी कोई धार्मिक विद्वेष नही है। परदेस में समय का हिसाब खोकर रूसी व्यापारी "बुसुरमानो" के साथ ही व्रत रखता था, "पराई ज़बान" में ही प्रार्थना करता था। वह 'यात्रा' के पाठको को बताता है: "पर सच्चा धर्म प्रभु जानता है।" अफ़ानामी निकीतिन लिखता है कि भारतीयों का वह निकट मित्र बन गया, जब उसने उन्हे बताया "मैं ईसाई हूं, बुसुरमान नही और मेरा नाम अफानामी है। वे किसी भी बात मे मुझसे छिपाव नही करते थे, न खाने-पीने में, न व्यापार मे, न पूजा-पाठ में, न दूसरी बातो में, अपनी पत्नियों को भी नही छिपाते थे।" इन शब्दो मे यात्री की अपने अच्छे ज्ञान की श्लाघा देखना शायद ही उचित हो। वह परदेस मे अकेला रह रहा था, उसके पास निर्वाह के लिए अधिक साधन नही थे और हिंदुओं की ही भाति उसे अपना धर्म खोने का

डर था, सो स्वाभाविक ही है कि वह स्थानीय आबादी के साथ दोस्ती करता। उसके शब्दों में इस निकटता पर गर्व का आभास मिलता है, क्योंकि, जैसा कि स्वयं यात्री कहता है, आम तौर पर भारतीय "खाने-पीने में परहेज़ करते हैं, और अपनी पत्नियों को छिपाकर रखते हैं", इत्यादि। जिज्ञासावश ही वह हिंदुओं के धार्मिक पर्व में भाग लेने पर्वत नगर गया, वहां वह दूसरे भारतीयों के साथ ही गया। इस हिंदू पर्व का अफ़ानासी निकीतिन ने काफ़ी विस्तृत वर्णन किया है, हिंदुओं के जुलूस और पूजा का उसने सजीव चित्र उतारा है। यहीं पर निकीतिन ने हिंदुओं के देवताओ का विवरण भी दिया है कि उनमे "हाथी की मूंड लगे आदमी की शकल", "वानर की शकल" तथा अन्य कई शकलों के देवी-देवता हैं।

भारत के धार्मिक विश्वासों के बारे में तथा बहमनी और विजयनगर राज्यों के बारे में अफानासी निकीतिन की कतिपय सूचनाएं ऐतिहासिक महत्त्व की हैं। बहमनी और विजयनगर राज्यों के बारे में इससे पहले किसी भी यूरोपियन ने कुछ नही लिखा था। मध्ययुगीन साहित्य की परम्पराओं का पूर्ण अनुकरण करते हुए 'यात्रा' के लेखक ने "आग उगलने वाले" रहस्यमय पक्षी की कहानियो में ही अधिक दिलचस्पी ली, एक विदेशी के लिए एकदम नये, अपरिचित भारतीय पशु जगत के वास्तविक चमत्कारों में कम। निकीतिन की कुछ सूचनाओं में भारतीय जन-श्रुतियां प्रतिबिम्बित हुई हैं (उदाहरणतः, राजा और उसकी वानर सेना की कहानी, निस्संदेह, निकीतिन ने रामायण की कथाएं सुनकर लिखी है)। 'यात्रा' के लेखक ने भारतीय लोगों के आम जीवन की रस्मो का भी विस्तार मे वर्णन किया है, जैसे कि भोजन करने के नियम, वर्ण प्रतिबंध, नामकरण संस्कार, गोपूजा और दाह-संस्कार, आदि। स्थानीय लोगों की कुछ रीतियां उसे विचित्र लगती थीं, लेकिन 'यात्रा' में विरले ही कही भर्त्सना का कोई शब्द मिलेगा। इसके विपरीत 'यात्रा' में हम परदेसियो के जीवन और उनके धर्म के प्रति गहरी रुचि पाते हैं। लेखक कहता है कि भारतीय लोग "रूसियो की ही भांति प्रार्थना करते हैं" और "मठवासियों की भांति झुककर प्रणाम करते हैं।" भारत के बारे मे एक रूसी के इन पहले नोटों मे स्थानीय लोगो के प्रति वह अवमानना लेशमात्र भी नहीं है, जो पश्चिमी यात्रियों के भारत के वृत्तातो मे प्रायः पाई जाती है और अप्रिय छाप छोड़ती है। मध्ययुग में पूरब की यात्रा पर गये अनेक यूरोपीय लोगों से भिन्न अफ़ानासी निकीतिन एक मिशनरी के तौर पर "सच्चा धर्म" फैलाने और "बुतपरस्ती" मिटाने भारत नहीं आया था। पूर्वी शासको के लिए वह कोई राजनयिक संदेश भी नहीं लाया था। इस रूसी यात्री ने आश्चर्य (और संभवतः किंचित् अतिशयोक्ति) के साथ भारतीय सामंतों के वैभव का वर्णन किया है, लेकिन उसकी दृष्टि ईर्ष्याभरी नही है और वह पूरब तथा उसकी सम्पदाओं को जीतने के मनसूबे नहीं बनाता। इस रूसी यात्री का विश्व-दृष्टिकोण धर्मयुद्धों के प्रभाव में नही बना था, और उसकी 'तीन समुद्र पार की यात्रा' आक्रामक युद्ध की अग्रदूत नहीं थी। कुछेक दशक बाद ही हुई वास्को दा गामा की

यात्रा के अतुलनीय विशाल ऐतिहासिक परिणाम हुए. मार्को पोलो की यात्रा के पश्चात यूरोपीय लोगों द्वारा लिखे गये कुछ वृत्तांतो मे दी गई जानकारी कम महत्त्वपूर्ण नही है, लेकिन फिर भी 'तीन समुद्र पार की यात्रा' के लेखक की जिज्ञासा और मैत्री एवं सद्भावना भरे रुख के फलस्वरूप इस पुस्तक ने मध्ययुगीन साहित्य में भारत के वृत्तांतों के बीच विशिष्ट स्थान पाया है। अफानासी निकीतिन की यह टिप्पणी आश्चर्यजनक है कि भारत में "ग्रामवासी बहुत गरीब हैं, जबकि ऊंचे घरानों के लोग धनी और वैभवसम्पन्न हैं।" लब्धप्रतिष्ठ रूसी भारतविद इवान मिनायेव ने इस प्रसंग में लिखा था: "अफ़ानासी निकीतिन की यह सटीक और अमूल्य टिप्पणी उसकी असाधारण तीक्ष्ण दृष्टि दर्शाती है। वह भारत की वास्तविक स्थिति समझ पाया था ऐश्वर्य और वैभव के पीछे वह भारतीय जीवन के दुखद पहलू देख पाया, यह समझ सका कि तड़क-भडक भरा दरबार विदेशी और स्वदेशी अभिजात वर्ग, उनके घर के और बाहर के योद्धा उन ग्रामवासियों को लूटकर ही मौज करते थे, अपनी धन-दौलत जमा करते थे, जो हमारे यात्री को 'अपार दरिद्र' लगे।" यह अंतः-दृष्टि आकस्मिक नही थी। 'तीन समुद्र पार की यात्रा' मे लेखक का निश्चित जनवादी दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित हुआ है, क्योंकि रूसी अभिजातों की भी वह निंदा करता है। 'यात्रा' मे लेखक की यह कामना व्यक्त हुई है कि "रूसी धरती पर सुव्यवस्था हो" और वहा न्याय हो। अफानासी निकीतिन उस युग की संतान था, जब रूस के एकीकरण की चेतना जाग रही थी. विदेश में वह अपने को त्वेर नगर का निवासी नही, बल्कि सर्वप्रथम एक रूसी अनुभव कर रहा था। स्मोलेंस्क मे निकीतिन की मृत्यु के पश्चात १४७५ मे उसकी हस्तलिपि का मास्को लाया जाना इस बात का प्रमाण है कि पुस्तक की ओर लोगो का ध्यान आकर्षित हुआ था, और 'यात्रा' को इतिवृत्त मे शामिल किया जाना यह सिद्ध करता है कि भारत के यात्रा-वृत्तांत को तब राजकीय महत्त्व की बात माना जाता था।

अफ़ानासी निकीतिन की मृत्यु के कुछ दशक पश्चात पंद्रहवीं-सोलहवीं सदियों के संधिकाल में वास्को दा गामा ने यूरोपीयो के लिए भारत के समुद्री मार्ग की खोज की। पुर्तगालियो ने भारत मे व्यापार पर एकाधिकार कर लिया और उससे कल्पनातीत लाभ कमाने लगे, जो सभी यूरोपीय व्यापारियो और शासकों के लिए ईर्ष्या की वस्तु बन गया। मगोल-तातार अंकुश से मुक्त होकर एकीकृत हुए मास्को राज्य में भी पूर्वी देशों की सम्पदा मे रुचि दिखाई जाने लगी। यहां यह बात भी मानी रखनी थी कि मास्को दरबार मे बहुत से विदेशी रहते थे। इटली वाले अपने पुर्तगाली प्रतिद्वंद्वियों की सफलताओं पर विशेषत. चिंतित थे और फ़ारस व रूस के रास्ते भारत एवं चीन तक नये मार्ग खोजने के स्वप्न देख रहे थे। १५२० मे जेनोआवासी पाओलो चेंतुरिओने ने मास्को दरबार मे इसकी चर्चा की थी, और १५३७ में वेनिसवासी मार्को फ़ोस्कारीनी ने। रूस से होते हुए चीन और ईस्ट इंडिया तक समुद्री मार्ग से जाने की संभावना के बारे में रूसी राजनयज्ञ दमीत्री गेरासिमोव के शब्दों से सारे

यूरोप मे सनसनी फैल गई थी। रोम मे "रूसी राजदूत" के शब्दों के आधार पर ही १५२५ मे पावेल जोवियस ने और फिर इटली के रमूसियो ने उत्तर-पूर्वी मार्ग के बारे मे लिखा। सोलहवीं सदी के आरंभ में उत्तरध्रुवीय महासागर के तट के साथ-साथ और थल मार्ग से रूस मे होते हुए कास्पियन सागर तक और आगे ईरान से भारत तक जाने के सयुक्त ब्रिटिश-स्वीडिश अभियानो की योजनाएं बनाई गईं। प्रत्यक्षत , रूसी अधिकारियो ने इन योजनाओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, शायद इसलिए कि वे ऐसे अभियान की कठिनाइयों की कल्पना भली-भांति करते थे। इस काल मे भारत के साथ सीधे सम्पर्क नही थे और उसके बारे में उपलब्ध सूचना नगण्य थी। नीकोन इतिवृत्त में कहा गया है कि १५३२-३३ के सितंबर मास में "मास्को में सर्व रूस के महाराज वसीली इवानोविच के दरबार में भारत से ख्वाजा हुसैन नाम का दूत आया और भारत देश के शासक बाबर बादशाह का संदेशनामा लाया।" बाबर ने उसमे लिखा था कि "महाराज वसीली इवानोविच उनसे दोस्ती और भाईचारा रखें और उनके देशो के बीच लोग आये-जायें।" इतिवृत्त के अनुसार महाराज ने इसकी स्वीकृति दी कि "लोग उनके देशों के बीच आये-जायें, पर उनके साथ भाईचारे का आदेश नही दिया," क्योंकि "पता नहीं, भारत राज में वह कौन है, बादशाह या यों ही कोई ऐरा-ग़ैरा।" इस दूत के कोई दस्तावेज़ नहीं बचे हैं, इसलिए इसके बारे मे भिन्न-भिन्न मत हैं। एक विचार यह है कि ख्वाजा हुसैन सौदागर था और उसके पास बाबर का साधारण सरक्षण-पत्र था। परंतु एक दूसरा अनुमान यह भी है कि चूंकि बाबर खुद मध्य एशिया से गया था, इसलिए उसे उस सुदूर उत्तरी राज्य में रुचि थी, जिसके मध्य एशिया के देशों के साथ पुराने सबध थे। जो भी हो, रूस और भारत के बीच संबंध स्थापित करना काफ़ी कठिन था। यही उल्लेखनीय है कि ख्वाजा हुसैन की मास्को तक की यात्रा कम से कम तीन साल मे पूरी हुई होगी, क्योंकि बाबर का देहात १५३० मे ही हो गया था।

१६वी सदी के मध्य मे ज़ार इवान भयानक (१५३३-१५८४) के राज मे कज़ान और अस्त्राख़ान पर विजय के बाद, जो लंबे अरसे से पूर्वी व्यापार के केंद्र थे, भारत में बहुत दिलचस्पी दिखाई जाने लगी। मास्को राज और इंगलैंड के बीच व्यापारिक संबंध भी इन्ही दिनों स्थापित हुए। उत्तर-पूर्वी मार्ग से भारत पहुच पाने के लिए प्रयत्नशील अंग्रेज़ सौदागरों ने १६वी सदी के छठे दशक में रूसी मडी की खोज की। यहा व्यापार के लिए उन्होंने एक कंपनी बनाई, जो मास्को या रूसी कंपनी कहलाती थी। १६वीं सदी के सारे उत्तरार्द्ध के दौरान अंग्रेज़ रूस से होते हुए मध्य एशिया, फ़ारस और भारत तक के व्यापारिक मार्गों पर कब्ज़ा करने की निरंतर कोशिशे करते रहे। उन्हे उम्मीद थी कि अर्खांगेल्स्क से यारोस्लाव्ल, मास्को, अस्त्राखान होते हुए फ़ारस तक का और उससे आगे भारत तक का रास्ता खोलकर वे विशाल मुनाफ़ा कमा सकेंगे। इंगलैंड की सरकार ने अनेक बार रूसी ज़ारों से यह अनुरोध किया कि वे मास्को कंपनी को बुखारा, फ़ारस, भारत और चीन के साथ

व्यापार का एकाधिकार दे दें। दूसरे यूरोपीय देश भी पूरब के व्यापारिक मार्गों मे रुचि दर्शा रहे थे। उदाहरणत:, स्वीडन ने इवान भयानक के साथ शाति संधि करते हुए उसमें यह मुद्दा भी शामिल किया कि स्वीडन के व्यापारी रूस से होकर चीन आ-जा सकेगे। इटली के जोवान्नी बोतेरो का कहना था कि भारत का सबसे अच्छा रास्ता रूस से होकर है, लेकिन रूसी ज़ार इसका उपयोग नहीं करने देता। रूसी सरकार पूर्वी व्यापार को प्रोत्साहन देती थी, बस वह इस व्यापार का लाभ अंग्रेज़ो और दूसरे विदेशियों को नही उठाने देना चाहती थी, उसे उम्मीद थी कि वह स्वय पूर्वी देशो के साथ सम्पर्क स्थापित कर लेगी। १५५७-१५५८ में ख़ीवा, बुख़ारा और समरकद के सौदागरो का यह आवेदन स्वीकार किया गया कि उन्हें अस्त्राख़ान में व्यापार करने की अनुमति दी जाये। भारतीय माल मुख्यत फ़ारस के रास्ते ही मास्को पहुचता था, और विदेशियो का यह कहना था कि रूसी लोग बहुत अधिक मसाले, ख़ास तौर पर, मिर्च इस्तेमाल करते हैं। १५५३ के एक इतालवी स्रोत मे भारत के नये मार्ग खोजने में इवान भयानक की विशेष रुचि का उल्लेख किया गया है। १५५७ में फ़ारस की खाड़ी के मुहाने पर स्थित होर्मुज़ नगर को, जो भारत के साथ व्यापार का केंद्र था, मास्को के व्यापारियों की ओर से एक विशेष दूतमंडल भेजा गया था। १५६५ मे ईरान के साथ सधि के मसविदे में यह प्रावधान था कि रूसी लोग ईरान के रास्ते (प्रत्यक्षत:, भारत से) व्यापार कर सकेंगे।

१६वी सदी में भारत के साथ रूस के अधिकृत सबध नही थे। तो भी रूसी व्यापारी भारत पहुच ही जाते थे। नौवें दशक में अंग्रेज़ यात्री राल्फ फिच ने भारत में रूसी व्यापारियो के बारे में सुना था। इस सदी के अंतिम दशक में रूसी सौदागर लेओन्ती यूदिन नौ साल तक बुख़ारा और भारत में "व्यापार के लिए रहा"। भारतीय व्यापारी भी रूस आये और इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि १६वीं-१७वी सदियों के सधिकाल में रूसी ज़ार बोरिस गोदुनोव का सरक्षण उन्हें प्राप्त था। ओर्स्क (दक्षिणी उराल) मे मिला कांसे का बर्तन, जिसपर गुरुमुखी में लेख खुदा हुआ है, संभवत: १६वी शताब्दी का ही है। वह भोलासिंह नाम के किसी सिख का था, जो व्यापार करने इस इलाक़े में आया था। यह भी ज्ञात है कि बगाल का एक व्यापारी रेशम का माल जहाज़ पर लादकर रूस को चला था, मगर उसकी यात्रा असफल रही। सोलहवी शती के अंत में रूसी-भारतीय व्यापारिक सबध मुश्किल से स्थापित हो रहे थे। १७वी सदी में ही ये अधिक सुदृढ़ और स्थायी हो पाये।

१७वी शती के पूर्वार्द्ध में भारतीय माल का कुछ अंश अंग्रेज़ और डच व्यापारियो के ज़रिए रूस पहुचता था, इसे उत्तर मे अर्खांगेल्स्क और ख़ोल्मोगोरी के रास्ते मास्को लाया जाता था। भारतीय कपड़ा, रत्न, लोबान और औषधियां फ़ारस से बड़ी मात्रा मे रूस पहुंचने लगीं। स्वय फारस मे भारतीय व्यापारिक पूंजी का काफ़ी प्रभाव था। इस्फ़हान, कंधार और शीराज़ जैसे बड़े नगरो में भारतीय व्यापारी हज़ारों की तादाद में बसे हुए थे। काकेशिया-पार और कास्पियन सागर से लेकर

उत्तरी भारत तक भारतीय व्यापारियो की बस्तियो का जाल फैला हुआ था। ये व्यापारी न केवल कामकाजी सबधो मे, बल्कि नातेदारी मे भी एक दूसरे मे जुडे हुए थे। १६वीं सदी के अंत और १७वी सदी के आरंभ में अशात काल के युद्धों और बलवो के तुरत बाद १६१५-१६१६ में काकेशिया-पार और ईरान मे भारतीय व्यापारी अस्त्राखान पहुचे। तीसरे दशक के आरंभ तक इनमें मे कुछ ने अस्त्राखान में अच्छी तरह पाव जमा लिये थे। कज़ान, मास्को, यारोस्लाव्ल मे भी भारतीय व्यापारी व्यापार करते थे। रूसी सरकार पूर्वी, विशेषत भारतीय व्यापारियों को अपना माल यहां लाने को प्रोत्साहित करने की चेष्टा करती थी। अस्त्राखान में भारतीय व्यापारी बुखारियो, आर्मीनियाइयो और फ़ारसियों के साथ रहते थे। १६४७ में अस्त्राखान मे स्थायी रूप से रहने वाले भारतीयों की सख्या लगभग २५ थी। इनका व्यापार इतना बडा था कि भारतीयों ने अपनी अलग कोठी बनाने के लिए दरखास्त दी। १६४९ तक यह कोठी तैयार हो गई। अस्त्राखान की भारतीय बस्ती मे सबधित बहुत से दस्तावेज़ आज भी उपलब्ध हैं। इन व्यापारियो के नामों मे यह पता चलता है कि इनमें ज़्यादातर पजाब और सिंध मे आये थे और हिंदू थे। रूसी सरकार अस्त्राखान मे भारतीयो को सरक्षण देती थी और स्थानीय अधिकारियों के साथ उनके मतभेदो को दूर करने की चेष्टा करती थी, उन्हें अपने धार्मिक कृत्य करने और अपनी रस्मो का पालन करने की छूट देती थी। उनकी अपनी पचायतें थी। अस्त्राखान में बसे कुछ भारतीयो ने रूसी नागरिकता स्वीकार करके यहां अपना घर भी बसा लिया। तातार स्त्रियो मे विवाहित भारतीयो की सतानो – अग्रीजों – का एक पूरा वर्ग यहा बन गया। भारतीयों द्वारा आर्थोडोक्स ईसाई धर्म अपनाने के कुछ मामले भी ज्ञात हैं। अस्त्राखान की भारतीय बस्ती के व्यापारी, जो फ़ारस में ऐसी ही बस्तियो के व्यापारियों से घनिष्ठ सबध रखते थे, सर्वप्रथम फारसी और भारतीय माल ही रूस मे लाने का काम करते थे। इसके लिए उन्हे ज़ार का प्रश्रय प्राप्त था। कुछ भारतीय व्यापारियो का लेन-देन काफ़ी अधिक था और राजकीय खज़ाने को कुछ हज़ार रूबल महसूल के तौर पर मिलते थे (स्वय भारतीय तो दसियो हज़ार रूबलो की बात करते थे)। राजकीय खज़ाने द्वारा भारतीय व्यापारियो को अनुदान दिये जाने के मामले भी ज्ञात हैं। उदाहरणत, एक समृद्ध व्यापारी सुतूर (अथवा छूत्र) को खज़ाने से चार हज़ार रूबल मिले थे। भारतीय माल, जैसे कि औषधियो, के लिए राजकीय आर्डर दिये जाते थे। भारतीय व्यापारी रूस मे फुटकर व्यापार भी करते थे और कभी-कभी मास्को मे कई-कई साल तक रहते थे। मास्को की "ग्रनात्नी पेरेऊलोक" गली में भारतीय, आर्मीनियाई और फारसी व्यापारियो के लिए एक खास हवेली थी। एक दस्तावेज़ के अनुसार १७वी सदी के उत्तरार्द्ध मे मास्को मे ३१ भारतीय व्यापारी और तीन साधु रहते थे, जिनमें एक अग्निपूजक था।

अस्त्राखान के भारतीयो की मदद से मास्को सरकार भारतीय कारीगरो – बुनकरो और रंगसाज़ो – को रूस बुलाने की उम्मीद लगाये थी। १७वी सदी के उत्तरार्द्ध

मे विदेशी प्रतिद्वंद्वियों के खिलाफ रूसी व्यापारियों की कई सारी शिकायतो के बाद भारतीय व्यापारियो को दिया जाने वाला सरक्षण काफी कम कर दिया गया। १६६७ मे रूस के आंतरिक और विदेश व्यापार सबधी नया क़ानून जारी होने के बाद भारतीयो का कामकाज अस्त्राखान मे थोक व्यापार तक ही सीमित करने की कोशिश की गई, हालाकि १७वी सदी के अतिम तीन दशको मे भी भारतीय व्यापारी प्राय मास्को आते रहते थे। भारतीय व्यापारियो के लाभ कमाने का एक प्रमुख साधन साहूकारी था। कतिपय दस्तावेज़ो से यह पता चलता है कि उनमे से कुछ ने न केवल स्थानीय तातार लोगों को, बल्कि अपने साथी देशवासियो को भी अपने चंगुल में फंसा लिया था।

ज़ार मिखाईल फ्योदोरोविच (१६१३-१६४५) और ज़ार अलेक्सेई मिखाइलो-विच (१६४५-१६७६) की सरकारें भारत के साथ सीधे राजनयिक सम्पर्क स्थापित करने के भी लगातार प्रयत्न करती रही। १६३२ मे ज़ार के निजी कार्यालय ने भारत के बारे मे ज्ञात सभी तथ्यो का एक सकलन तैयार किया। साथ ही महान मुग़ल साम्राज्य के बारे मे कई पश्चिमी यूरोपीय रचनाओं का अनुवाद भी किया गया। १६४६ मे एक विशेष दूतमंडल महान मुगल सम्राट शाहजहां के दरबार में भेजा गया। कज़ानवासी निकीता सीरोयेझकिन और अस्त्राखान के व्यापारी वसीली तुश्कानोव को, जो अक्सर फारस आता-जाता था, इस दूतमडल का नेतृत्व सौंपा गया। उन्हे रूसी और तातार भाषाओं मे जो पत्र दिया गया उसमें शाहजहां से "भाइचारे, दोस्ती और मोहब्बत" का प्रस्ताव रखा गया था, और यह अभिलाषा व्यक्त की गई थी कि "दोनो महान सम्राटों के देशों के बीच लोग आये-जायें और व्यापार करे।" दूतो को दिये गये विस्तृत आदेशो मे कहा गया था कि वे रूस और भारत के बीच व्यापार मार्गो का, भारतीय वस्तुओ और उनके भावो का पता लगाये तथा रूसी माल की प्रशसा करें। भारत पहुचकर दूतो को देश के बारे में भी जान-कारी हासिल करनी थी, यह पता लगाना था कि उसमे कितने और कैसे नगर हैं, वहा के लोगों का धर्म क्या है और उनके तीर्थ स्थान कहा हैं, तथा जर्मनों के साथ समुद्री व्यापार की स्थिति क्या है। (शायद भारत के धर्म का प्रश्न लिखित साहित्य मे भारत विषयक किवदंतियो से सबधित हो सकता था – कुछेक दशक पश्चात भेजे गये दूतो से भी कहा गया था कि वे न केवल "भांति-भाति के माल और मंडियो" का और "रूसी लोगो के लिए रास्ते" का पता लगायें, बल्कि "राजकुमार जो-आसफ के बारे मे भी मालूम करें कि उसके पुण्य कहा दफन है।") किंतु इन्ही दिनो शाहजहा और फारस के बादशाह के बीच कधार नगर को लेकर लड़ाई छिड़ गई, इसलिए यह दूतमडल भारत नही पहुच सका। मास्को में भारत के प्रति रुचि स्थिर हो गई। १६४६ मे ही मध्य एशिया को भेजे गये अनीसिम ग्रीबोव को यह आदेश दिया गया कि वह अस्त्राखान मे भारत जाने के रास्तो का पता लगाये। १६५१ में मास्को के एक सबसे समृद्ध व्यापारी वसीली शोरिन के कारिंदे रोदिओन पुश्निकोव

और इवान देरेवेन्स्की "व्यापार की खातिर" फ़ारस के रास्ते भारत को रवाना हुए। इन्हें भी वही संदेश-पत्र और कार्य सौंपे गये थे, जो शाहजहां के पास भेजे गये पहले दूतमंडल को। १६६७ में भारत तक एक समुद्री अभियान भेजने की योजना बनी। प्रिंस इवान अफ़ानास्येविच झेल्याबुझस्की ने इस अभियान के लिए जलपोत बनाने की संभावना पर कूरलैंड के चांसलर फ़ेल्केर्साम से वार्ता की। १६६९ में तोबोल्स्क के नगराधीश प्योत्र इवानोविच गोदुनोव के आदेश पर 'चीन देश और अंदरूनी भारत का रजिस्टर' बनाया गया। भारत के बारे में जानकारी उन बुखारियों से मिली होगी, जो तब तक तोबोल्स्क में व्यापार के लिए बस चुके थे और "तोबोल्स्क बुखारी" नामक अपना संगठन बना चुके थे। १६७३ में बुखारा, खीवा और बल्ख से लौटे व्यापारी बोरिस पजूखिन से मास्को दरबार के दूतावास कार्यालय में भारत के सीधे मार्ग के बारे में विस्तार से पूछताछ की गई (प्रत्यक्षतः बुखारा के भारतीय मोहल्ले में बोरिस पजूखिन ने भारत के रास्तों की जानकारी पाने की कोशिश की थी)। दूतावास कार्यालय में पजूखिन से प्राप्त जानकारी की तुलना मास्को में उपस्थित भारतीयों से हासिल जानकारी से की गई। रूसी राजनयज्ञ अर्तामोन सेर्गेयेविच मत्वेयेव ने मास्को में बुखारा के दूत और व्यापारियों से भारत के मार्गों के विषय पर बातचीत की। उन्हीं दिनों रूसी ज़ार की सेवा में लगे मोल्दावियाई सामंत निकोलाई मिलेस्कु स्पाफ़ारी ने साइबेरिया के रास्ते चीन की यात्रा करते हुए भारत के मार्गों और उससे व्यापार के बारे में लिखा।

१६७५ में "अस्त्राखान की बुखारी कोठी के वासी" मुहम्मद यूसुप कसीमोव के नेतृत्व में एक दूतमंडल औरंगज़ेब के पास भेजा गया। दूतों और व्यापारियों से सामान्यतः जो अपेक्षाएं की जाती थीं, उनके अलावा यूसुप कसीमोव को यह आदेश भी दिया गया कि वह "पेड़-पौधों के बीज या छोटे जानवर और चिड़ियां लाये, जो रूसी राज में जी सकें" तथा "पत्थर के पुल बनाने वाले कुशल राज-मिस्त्रियों और दूसरे अच्छे कारीगरों" को रूस बुलाये। भारत के मार्गों के बारे में प्रश्न अब इस तरह उठाया गया था: क्या वहां अस्त्राखान से जाना बेहतर है या साइबेरिया से। यूसुप कसीमोव का दूत कार्य कुल जमा असफल रहा। मुग़ल सम्राट ने सुदूर रूस के साथ संबंध बनाने नहीं चाहे। बीस साल बाद कहीं औरंगज़ेब ने अधिक मेहरबानी दिखाई और व्यापारी सेम्योन मालेन्की के नेतृत्व में पहुंचे रूस के दूतमंडल से मिला।

इस तरह नई १८वीं सदी की पूर्ववेला में रूस-भारत संबंध कठिनाई से स्थापित हो रहे थे। भारत के मार्ग निर्धारित करते हुए १७वीं सदी के रूस में प्रायः पश्चिमी यूरोपीय साहित्य या मौखिक साक्ष्यों का उपयोग किया जाता था और इस तरह भारत के पुराने साहित्यिक बिम्ब के साथ-साथ एक नया बिम्ब उभर रहा था, जो महान भौगोलिक खोजों के युग का परिणाम था।

बेशक, प्राचीन रूस ने भारत की "खोज" नहीं की और रूसी-भारत व्यापार

बहुत सीमित था, जब कि राजनयिक सम्पर्क तो १७वी शती के अंत में जाकर ही स्थापित होने लगे। इसका कारण भौगोलिक और राजनीतिक बाधाएं भी थी तथा रूस का निश्चित सामाजिक-राजनीतिक पिछड़ापन भी। तो भी यह कहना होगा कि रूस-भारत सबंध, जो कि स्मरणातीत काल से चले आ रहे थे, कभी भी पूरी तरह भंग नही हुए। रूसी साहित्य मे और जनश्रुतियों में चिरकाल से भारत की छवि विद्यमान थी। यह छवि मुख्यत: बैज़ंतियाई और प्राचीन बुल्गारियाई साहित्य, एपोक्रिफ़ ईसाई ग्रंथो, 'अलेक्सान्द्रिया', 'कथा भारतीय राज की' तथा उन अनूदित रचनाओं के आधार पर बनी, जो अतत: भारतीय मूल ग्रथों पर आधारित थीं। रूसी लोग भारत की कल्पना एक अत्यत समृद्ध देश के रूप में करते थे, जो पृथ्वी के सिरे पर स्वर्ग के पास ही स्थित है और जहा आश्चर्यजनक, विचित्र पशु-पक्षी रहते हैं। अनेक साहित्यिक मध्यस्थो के जरिए ब्राह्मणो के बारे में किंवदंतिया रूस तक पहुची। असाधारण धर्मपरायणता, न्याय और भक्ति के लिए विख्यात इन लोगों को मध्ययुगीन रूस मे ईसाई या ईसाइयो जैसा ही समझा जाता था। यह माना जाता था कि ब्राह्मण और शायद सभी भारतीय ही बहुत न्यायप्रिय हैं और वे इहलौकिक चिताओ मे मुक्त जीवन व्यतीत करते है।

रूसी लोगो के मस्तिष्क में बनी भारत की छवि मे जो लक्षण पुरायुगीन परम्परा मे चले आ रहे थे उनका स्थान धीरे-धीरे समसामयिक और प्रत्यक्षदर्शी लोगों से प्राप्त सूचनाएं ले रही थी। भारत के प्रति रूसी राज्य की रुचि बाह्य विस्तार की कामना मे नही, बल्कि दोनो पक्षों के लिए लाभदायक व्यापार विकसित करने की अभिलाषा से ही निर्धारित थी। अफ़ानासी निकीतिन जैसे रूसी लोग भारत पहुंचने पर सामान्यत: इस देश और उसके लोगों के प्रति निस्स्वार्थ रुचि, सद्भावना और मैत्रीपूर्ण रुख दर्शाते थे।

२. १८वीं सदी के रूस में भारत संबंधी ज्ञान

प्योत्र प्रथम (पीटर महान) के शासन काल (१६८९-१७२५) में, विशेषत: अठारहवी सदी के पहले दशको मे रूस बड़ी तेज़ी से बदल रहा था। स्वीडन के साथ संघर्ष के फलस्वरूप उसके लिए बाल्टिक का जलमार्ग खुल गया। बाल्टिक तट पर कतिपय क़िलो और नई राजधानी–सेंट-पीटर्सबर्ग (वर्तमान लेनिनग्राद)–का निर्माण किया गया। रूस का अलगाव दूर हुआ तथा पश्चिमी यूरोप के साथ उसके व्यापारिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संबधों का द्रुत विकास हुआ। चर्च और चर्च संस्कृति की भूमिका कम हुई, चर्चो से असलग्न स्कूल खुले और थियेटर बने।

देश मे द्रुत आर्थिक विकास लाने की इच्छा से रूसी सरकार नये उत्साह से पूरब की ओर उन्मुख हुई तथा भारत समेत सभी विशाल पूर्वी राज्यो के साथ व्यापार

के निरापद मार्ग ढूढने लगी। १७१४ मे फ्योदोर सल्तीकोव द्वारा प्रस्तुत की गई 'राज्य के लिए अतिरिक्त आय के बारे मे' योजना मे भारत तक पहुचने के लिए उत्तरी समुद्री मार्ग खोजने और साथ ही साइबेरिया में क़िले बनाने तथा कल्मीको और मगोलों के इलाक़ों के ज़रिए भारत के साथ व्यापार के रास्ते बनाने के प्रस्ताव रखे गये। आशा थी कि इससे "राज्य को अपार लाभ होगा, जैसा कि इगलैंड और हालैंड वहां से पा रहे हैं।" १७१५ मे फ़ारस में रूस के राजदूत अर्तेमी वोलीन्स्की को यह निर्देश दिया गया कि वह भारत के साथ व्यापार के रास्तो का पता लगाये। १७१६ मे स्वय ज़ार प्योत्र प्रथम के आदेश पर प्रिस अलेक्सान्द्र बेकोविच-चेर्कास्स्की का प्रसिद्ध अभियान दल मध्य एशिया के ख़ान-राज्यो को गया। इस दल मे लेफ्टिनेट अलेक्सान्द्र कोझिन के नेतृत्व में कुछ लोग थे, जिन्हे आमू दरिया के रास्ते भारत तक जाना था और "मसालो तथा दूसरे माल के बारे में" जानकारी हासिल करनी थी। अलेक्सान्द्र कोझिन के सम्मुख रखा गया प्रमुख कार्यभार था – भारत तक का जल-मार्ग ढूढना और उसका नक्शा बनाना। भारत के साथ सीधे सम्पर्क स्थापित करने की आशा में मास्को के "पोसोल्स्की प्रिकाज़" (दूत कार्यालय) मे १७वी सदी के दूतो से सबधित पुराने दस्तावेज़ खोजे गये। पुराने कागज़ातो मे मिली जानकारी को महान मुग़ल सम्राटो के बारे में नवीनतम पश्चिमी प्रकाशनो से तथा मास्को में रह रहे पूर्वी सौदागरो की सूचनाओ से मिलाया गया। प्योत्र प्रथम ने भारत की ओर एक समुद्री अभियान भी भेजा। १७२३ में वाइस एडमिरल दवीद विलस्तर का अभियान दल तैयार किया गया, जिसे मेडागास्कर जाना था और फिर "'ईस्ट इंडिया तक, ठीक बंगाल तक" यात्रा करनी थी। दवीद विलस्तर को रूस और महान मुग़ल साम्राज्य के बीच व्यापार सधि करने तथा भडार के लिए लकडी ख़रीदने का काम सौंपा गया। न अलेक्सान्द्र कोझिन और न ही दवीद विलस्तर भारत तक पहुच सके।

प्योत्र प्रथम के निधन के बाद भी भारत के साथ व्यापार की योजनाए बनाई गई। १७२७ की एक अनाम योजना में अस्त्राख़ान से मध्य एशिया होते हुए भारत जाने के कारवा-पथ पर ग़ौर किया गया था। चौथे दशक की योजनाओ मे इवान किरील्लोव ने ओरेनबुर्ग से भारत जाने का मार्ग सुझाया। उसने बुख़ारा से भारतीय व्यापारियो को निमत्रित करके ओरेनबुर्ग में उनकी बस्ती बसाने की कोशिश की। प्रत्यक्षत कुछ भारतीय १८वीं सदी के मध्य में सचमुच ओरेनबुर्ग आ गये थे। सुविदित है कि इन दिनों ओरेनबुर्ग में भाव केवल रूसी रूबलो मे ही नही, भारतीय रुपयो मे भी तय किये जाते थे। भारत के साथ व्यापार के लिए विशेष कपनियां खोलने सबंधी विदेशी व्यवसायियों के प्रस्तावों पर भी समय-समय पर ग़ौर किया जाता था। छठे दशक के आरभ मे ओरेनबुर्ग के गवर्नर इवान नेप्लूयेव ने भारत तथा मध्य एशिया के ख़ान-राज्यो के साथ व्यापार के लिए रूसी व्यापारियों की कपनी बनाने की कोशिश की, लेकिन तत्संबधी सरकारी अपीलों पर रूसी व्यापारियों

ने कोई ध्यान नही दिया। महान रूसी वैज्ञानिक मिखाईल लोमोनोसोव ने सातवें दशक मे भारत पहुचने के उत्तर-पूर्वी मार्ग के प्रश्न पर विचार किया। उन्हीं दिनों मध्य एशिया के खान-राज्यों और साइबेरिया के रास्ते भारत के साथ व्यापार करने की कोशिशें फिर से की गईं। अंततः, इस सदी के अंतिम दशक में भी भारत के साथ थल-मार्ग से और मेडागास्कर होते हुए जल-मार्ग से व्यापार करने के लिए विशेष कपनी स्थापित करने के प्रस्ताव कई बार रखे गये। तब इन योजनाओं को क्रियान्वित होना बदा नही था।

१७वी शताब्दी से अस्त्राखान में बसे भारतीय व्यापारियों के माध्यम से ही भारत के साथ व्यापार बढाने की योजना के सफल होने की कही अधिक आशा की जा सकती थी। प्योत्र प्रथम के दिनों से रूसी सरकार पूर्वी व्यापार को प्रश्रय देने लगी थी। १७२२ में ज़ार प्योत्र प्रथम स्वयं अस्त्राखान गया था और वहां भारतीय व्यापारियों के प्रधान अबाराम से मिला था। प्योत्र प्रथम के नाम से जारी किये गये हुक्मनामे में भारतीय व्यापारियों को अपने संपत्ति संबधी मामलों का निपटारा करने में काफ़ी स्वतत्रता प्रदान की गई थी। उत्तराधिकार के मामले उन्हें स्वयं "अपनी प्रथा, नियमो और अधिकारों के अनुसार" निपटाने को कहा गया था और "गवर्नरो व दूसरे हुक्मरानो को उनके मामलो मे" हस्तक्षेप न करने का आदेश दिया गया था। रूसी अधिकारी सारी अठारहवी सदी के दौरान प्योत्र प्रथम के इस हुक्मनामे का पूरी तरह से पालन करते रहे। भारतीय व्यापारियों को अस्त्राखान के बाहर फुटकर व्यापार करने की अनुमति मिली। उन्होंने न केवल सेंट-पीटर्सबर्ग और आर्खांगेल्स्क में व्यापार करने की, बल्कि इन नगरों के रास्ते "जर्मन राज्यों" मे संबंध स्थापित करने की भी इच्छा व्यक्त की।

१८वी सदी के तीसरे से पांचवे दशक तक के काल में रूस में भारतीय लोगों का व्यापार सर्वाधिक फला-फूला। इस अवधि मे उनका वार्षिक व्यापारिक लेन-देन कभी-कभी एक लाख रूबल से भी अधिक होता था। १८वी सदी के मध्य में अस्त्राखान मे बसे भारतीयो की संख्या १०० तक पहुच गई। तेरेक नदी पर किज़लार नगर में भी भारतीयो की बस्ती थी। रूस मे स्थायी या अस्थायी तौर पर रह रहे भारतीयों की संख्या कुछ वर्षो में ४००-५०० तक पहुच जाती थी। कुछ भारतीय व्यवसायी काफी बड़ी संपत्ति के स्वामी थे। अभिलेखागारो में उपलब्ध दस्तावेज़ों के अनुसार सेंट-पीटर्सबर्ग मे सुखानन्द नामक भारतीय की मृत्यु के पश्चात उसकी संपत्ति का मूल्य तीन लाख रूबल आंका गया था। भारतीय व्यापारियों के कारोबार से सबंधित बहुत से दस्तावेज़ बचे रहे हैं। रूसी भाषा में जो दस्तावेज़ हैं उनमें अधिकाश का प्रकाशन हो गया है, जबकि स्वय भारतीय व्यापारियो के बही खातो का अध्ययन किया जाना शेष है।

अस्त्राखान में स्थायी तौर पर रह रहे भारतीयो के नाम ज्ञात है। प्रायः उनके रिश्तो और व्यापारिक संबंधो, संपन्नता, व्यवसाय तथा पारिवारिक स्थिति, आदि

का भी पता लगाया जा सकता है। वे सघ बनाकर रहते थे और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन्हे अपने आंतरिक मामलों को निपटाने में काफ़ी स्वतत्रता प्राप्त थी। व्यापारियों के अलावा बस्तियो मे विभिन्न परिचारक और सभवत शिल्पी भी रहते थे। अस्त्राखान मे (और केवल इस नगर में ही नही) धार्मिक अनुष्ठान कराने वाले भारतीय भी रहते थे – रूसी स्रोतों में इन्हे पादरी कहा गया है। प्रत्यक्षत ये पुजारी-पुरोहित थे। धनी भारतीय व्यापारी मास्को और सेंट-पीटर्सबर्ग जाते हुए भी ब्राह्मणो को अपने साथ ले जाते थे। बस्तियों में सदा कुछ साधु-सन्यासी भी होते थे, जो अपने धर्म के लोगो से दान व भिक्षा पाकर निर्वाह करते थे। स्थानीय पुलिस अधिकारी कभी-कभी इस बात पर असतोष व्यक्त करते थे कि अस्त्राखान शहर के बीचोबीच भारतीय लोग अपने धार्मिक अनुष्ठान करते हैं, तो भी, प्रत्यक्षत, उनके मार्ग में कोई विशेष अडचनें नही डाली जाती थी। इस लिहाज से रूस मे भारतीय व्यापारियो की स्थिति पड़ोस के फारस की तुलना से कही अधिक अच्छी थी। अस्त्राखान मे भारतीय व्यापारी मुख्यत: फ़ारस से ही आते थे और भारत के नही, बल्कि फारस के माल का ही अधिक व्यापार करते थे। अत: रूसी-भारतीय व्यापार मे अस्त्राखान की भारतीय बस्ती की भूमिका का अतिमूल्याकन नही करना चाहिए। हा, भारत के साथ इस बस्ती के सबंध कभी भी नही टूटते थे। कुछ भारतीय थोडे समय के लिए ही अस्त्राखान में रहते थे और फिर स्वदेश लौट जाते थे। अक्सर भारतीय व्यापारी अल्प-अवधि के लिए ही अस्त्राखान आते थे। अस्त्राखान मे रह रहे भारतीय अपने रीति-रिवाजों का सख्ती से पालन करते थे और भारत में मंदिरों को भेंटे भेजते थे। सोवियत सघ के प्राच्य हस्तलिपि सग्रहो में अस्त्राखान से प्राप्त भारतीय धार्मिक ग्रथ सरक्षित हैं, जिन्हे या तो भारत से लाया गया था, या अस्त्राखान की बस्ती मे ही उनकी नक़ल तैयार की गई थी। कतिपय रूसी और विदेशी यात्रियो ने अस्त्राखान के भारतीयों का वर्णन किया है। इन वर्णनो का एक महत्त्व यह भी है कि ये भारतीयों के रहन-सहन और रस्मो के सच्चे साक्षी हैं।

१८वी सदी के पांचवे दशक के अत मे ही अस्त्राखान मे भारतीय व्यापारी कुछ कठिनाइया महसूस करने लगे। इनका पहला कारण यह था कि अस्त्राखान की बस्ती में व्यापार फारस में भारतीयो की ऐसी ही बस्तियो के साथ घनिष्ठ सबंधों पर फला-फूला था, और फ़ारस में नादिर शाह की हत्या के बाद "भयानक उपद्रव हुए और लूटपाट मची।" एक दस्तावेज़ में कहा गया है "हमारे हिंदुस्तानी भाई-बधु फ़ारस में व्यापार कतई नहीं कर पा रहे हैं।" इसके अलावा रूस मे शनै:-शनै: पूर्वी व्यापार का केंद्र अस्त्राखान से हटकर ओरेनबुर्ग बनता जा रहा था। उधर स्वय भारत मे भी परिवर्तन आ रहे थे, इस देश मे अग्रेज़ो का प्रभाव बढ़ता जा रहा था।

१८वी सदी में रूसी लोग बहुत विरले ही भारत पहुच पाते थे। सातवे दशक में अग्रेज़ो के जहाज़ो पर प्रशिक्षण पा रहे चार रूसी जहाज़ियों ने भारत की यात्रा

की। लदन में रूसी दूत काउंट अ० वोरोन्त्सोव ने उन्हें यह आदेश दिया था कि वे नौचालन की बातों के साथ-साथ वे सब बातें भी नोट करते जाये, जो रूस और भारत के बीच व्यापार में लाभदायक हो सकती हों। वारट अफसर निकीफोर पोलु-बोयारिनोव की डायरी विशेषत: रोचक है। इसमें भारत की जलवायु और उसके नगरो का, भारतीय लोगो के रूप-रग और रीति-रिवाजो का जीवंत वर्णन किया गया है। डायरी में कुछ रेखाचित्र भी है (सभवत: ये किसी रूसी द्वारा भारत में बनाये गये पहले चित्र है)। रूसी जहाजियों की कुछ सूचनाए ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, जैसे कि बंगाल में अंग्रेज़ो के विरुद्ध विद्रोह की, पटना में सेना मे फैले विप्लव की कहानिया। सातवे दशक मे एक छोटे से रूसी नगर त्रुब्चोव्स्क का व्यापारी निकोलाई चेलोबीत्चिकोव भी भारत गया था। आठवें दशक में व्यात्का (वर्तमान कीरोव) नगर का निवासी, ज़ारशाही सेना का जूनियर अफ़सर फ़िलीप्प येफ़ेमोव बुख़ारा में दास बना लिया गया। किंतु वह वहां से भागकर भारत के रास्ते स्वदेश लौटा। १७८६ में फिलीप्प येफ़ेमोव ने अपनी डायरी प्रकाशित की। उसके जीवनकाल मे ही इस पुस्तक के तीन संस्करण निकले। लेखक ने भारत मे जो कुछ देखा, उसका रोचक विवरण दिया है। बहरहाल रूसी लोगों की भारत यात्राए सयोग मात्र ही थी और इन यात्रियो के विवरणों मे विद्वता का दावा नहीं था। भारतीय लोगों का (भारतीय व्यापारी बस्तियो के अलावा) रूस आना भी ऐसा ही सयोग था। उदाहरणत:, १८वी सदी के आरभ में चीन जा रहे रूसी दूत-मडल को बाइकाल-पार क्षेत्र मे सेलेगींस्क इलाके में मद्रास से आया एक भारतीय साधु मिला था। सम्राज्ञी आन्ना इयोआनोव्ना को फ़ारस के शाह द्वारा भेंट किये गये हाथियो की देख-रेख के लिए अठारह भारतीय महावत सेंट-पीटर्सबर्ग में रहते थे। प्राणमूर्ति नामक एक भारतीय द्वारा अस्त्राख़ान, बाकू और मास्को की यात्रा का उल्लेख मिलता है।

१८वी सदी मे रूस में अकादमिक विज्ञान-कार्य शुरू हुआ। ज़ार प्योत्र प्रथम के दिनो मे स्थापित "कुन्स्तकामेरा" (चमत्कारो की कोठी) मे प्राचीन प्राच्य वस्तुएं सग्रहीत की जाने लगी। १७२४ मे सेंट-पीटर्सबर्ग विज्ञान अकादमी की स्थापना हुई। १८वी सदी मे इसके सदस्यो में प्राच्य विषयो के कतिपय विशेषज्ञ भी थे (मुख्यत: जर्मन मूल के)। चौथे दशक मे भारत से सबधित कई वैज्ञानिक कृतियां प्रकाशित हुई। प्योत्र प्रथम के निर्देश पर साइबेरिया के अध्ययन के लिए वहा गये जर्मन विज्ञान दनिएल मेस्सेरश्मीत्त की मुलाकात एक भारतीय व्यापारी से हुई थी, जिससे उसने भारतीय भाषाए सीखी। यह व्यापारी दिल्ली से आकर इर्कूत्स्क में बस गया था। यहा उसने विवाह कर लिया था और आर्थोडोक्स ईसाई धर्म मे दीक्षा ले ली थी। दनिएल मेस्सेरश्मीत्त ने हिंदुस्तानी पढ़नी, लिखनी और थोड़ी-थोड़ी बोलनी भी सीखी। बोलचाल की भाषा के अलावा उसने सस्कृत का भी परिचय पाया। अपने भारतीय शिक्षक के शब्दो से उसने भारतीय भाषाओं मे पौधो, पक्षियों और पशुओं

के नामो की सूचियां बनाईं। इस विद्वान के कागज़ों में न केवल भारतीय आर्य भाषाओं की, बल्कि तमिल भाषा की भी वर्णमालाएं और रूपावलियां मिली हैं।

रूस में भारतीय भाषाओ का अध्ययन करने वाले पहले विद्वानों में एक थे – प्राच्यविद प्रोफेसर **गेओर्ग याकोब केर।** रूस मे आने से पहले ही वे भारतीय भाषाओं और लिपियों में रुचि लेने लगे थे। उस समय तक यूरोपीय भाषाओं में इस विषय पर जितने भी ग्रंथ छपे थे (अथानासियुस कीर्खेर, रेलाद, बर्तोलोमे त्सिगेनबाल्ग, आदि के) उन सब का उन्होंने अध्ययन किया। गे० या० केर के दस्तावेजों में भारत और लका से उन्हें मिले पत्र भी हैं, इनमे यूरोप में भारतविद्या के एक संस्थापक बर्तोलोमे त्सिगेनबाल्ग का एक लबा पत्र भी है। इन कागजों मे कुछ कापिया भी मिली हैं, जिनमे कतिपय भारतीय भाषाओं की लिपिया, शब्दो की सूचिया, सज्ञाओ और क्रियाओं की रूपावलियां, तथा विभिन्न भारतीय भाषाओ (बगला, तमिल, आदि) में किये गये कुछ अनुवाद हैं। १७३३ में इस विद्वान की भेट अस्त्राखान के भारतीय सुगार (सुहार) से हुई, जो तब पीटर्सबर्ग मे रह रहा था। इस भारतीय ने बपतिस्मा ले लिया था और उसे कुलीनो की सामाजिक श्रेणी प्रदान की गई थी (रूसी मे उसका नाम प्योत्र इवानोविच सुगूर लिखा जाता था)। गे० या० केर के कागज़ातो में वह कापी भी मिली है, जिसमे उन्होंने सुगार के पाठ नोट किये थे। सुगार ने केर को देवनागरी के अलावा लंडा लिपि भी सिखाई, जिसमे अस्त्राखान मे बसे भारतीय व्यापारी अपना हिसाब-किताब रखते थे। सुगार के निर्देशन में केर ने भारत की एक बोलचाल की भाषा (प्रत्यक्षत: मुलतानी बोली) के व्याकरण का बारीकी से अध्ययन किया। उन्होंने विभिन्न विषयो पर शब्दो की सूची भी बनाई। उन्होंने कई भारतीय भौगोलिक नामों की भारत के बारे मे यूनानी और रोमन लेखो में पाये जाने वाले नामो से समानता इंगित की और भारतीय तथा प्राचीन यूनानी शब्दावली की समानता भी दर्ज की। सुविदित है कि ऐसे सामीप्य को देखकर ही तुलनात्मक भाषाविज्ञान और संस्कृतविद्या के क्षेत्र मे काम शुरू हुआ था।

गे० या० केर के ज़रिए ही अकादमीशियन **तेओफ़िल ज़ीगफ़्रिद बायेर** का सुगार से परिचय हुआ और उन्होने उससे सस्कृत सीखी। सस्कृत का ज्ञान बायेर की पुस्तक 'यूनानी-बाख़्त्री राज्य का इतिहास' और 'ब्राह्मण, तगूत तथा मगोल लिपिया' लेख मे प्रकट हुआ। यह यूरोप मे प्राच्यविद्या पर पहले ठोस, आधारभूत कार्यो मे से एक था। केंद्रीय एशिया की सभ्यता की ओर इस विद्वान का ध्यान अकारण ही नही गया था, इसका संबंध रूस की एशियाई सीमाओ के फैलने तथा पूर्वी देशो के साथ उसके सबधों के सुदृढ होने से था।

अकादमीशियन **प्योत्र पल्लास** ने भी अस्त्राखान मे भारतीय शब्द नोट किये। भाषाविज्ञान के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात करनेवाली १८वी सदी के अत की रचना – प्योत्र पल्लास रचित विश्व भाषाओ का तुलनात्मक कोश – मे

सस्कृत, हिंदुस्तानी, बंगाली और मुलतानी के बारे में ही नहीं, तेलुगू, तमिल, मलयालम और सिंहल भाषाओं के बारे मे भी जानकारी दी गई है।

रूसी प्रकाशक पश्चिमी यूरोप में भारत पर छपने वाली रचनाओं से रूसी पाठकों को परिचित कराने लगे। उदाहरणत:, १७८६ में 'भारतीयों के रीति-रिवाजों, भाषा, धर्म और दर्शन की सक्षिप्त एव सामान्य व्याख्या तथा विचार' नामक पुस्तक छपी। यह अलेक्सान्द्र डो की पुस्तक के फ्रांसीसी संस्करण का अनुवाद था, जो मुहम्मद कासिम फरिश्ता के १८वीं सदी के इतिवृत्त के आधार पर लिखी गई थी। १८वी सदी के अंत मे अनेक रूसी लेखकों की रचनाओं मे भारत के वर्णन की ओर ध्यान दिया जाता था। ऐसा मुख्यत भारत के साथ रूस का व्यापार बढ़ाने की संभावनाओं के अध्ययन के उद्देश्य से किया जाता था। इन रचनाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी – मिखाईल चुल्कोव की पुस्तक 'रूसी वाणिज्य का ऐतिहासिक वर्णन'। ये रचनाएं मोटे तौर पर विभिन्न स्रोतो से सूचनाएं जमा करके ही लिखी जाती थीं, तथापि ये १८वी सदी के अत के विज्ञान के स्तर के अनुरूप थी।

भारतीय विषयो मे रूसी पत्रकारिता की रुचि १८वी सदी के उत्तरार्द्ध में ही अधिक प्रकट होने लगी। रूसी पत्रिकाएं अंग्रेजो के साथ भारतीयों के संघर्ष, अंग्रेजो और फ्रासीसियो की स्पर्द्धा, इत्यादि के बारे मे लिखती थी। स्वय भारतीय राज्यो के राजनीतिक इतिहास के बारे में सामग्री कही कम होती थी। ऐसा एक लेख १७५६ मे 'अवकाश का सदुपयोग' पत्रिका के १८वें अक मे छपा था, उसका शीर्षक था 'महान मुगल साम्राज्य मे सत्ता का परिवर्तन'। यूरोप की ही भाति रूसी पत्रिकाओ में भी भारतीय विषयो पर कथा-साहित्य प्रकाशित होने लगा। पूरब की विचित्रता रूसी पाठक के लिए रोचक थी।

१८वी सदी के नौवे और अतिम दशकों के पत्र-पत्रिकाओ की भारत के प्रति रुचि कही अधिक गभीर थी। यह रुचि मुख्यत: प्रगतिशील धारा की पत्रिकाओं मे दृष्टिगोचर होती थी। विलक्षण रूसी ज्ञान-प्रसारक निकोलाई नोविकोव अपनी पत्रिका 'मोस्कोव्स्किये वेदोमोस्ती' (मास्को गज़ेट) के परिशिष्ट मे नियमित रूप मे भारत के बारे मे लेख छापते थे। ये सदा मौलिक रचनाएं नही होती थी, प्राय: ये अनूदित (नियमत:, जर्मन भाषा मे) सिंहावलोकनात्मक लेख ही होते थे। रूसी भाषा मे अनुवाद के लिए लेखों का चुनाव स्पष्टत: प्रकाशक के जनवादी दृष्टि-कोण का साक्षी था। लेख मुख्यत: ईस्ट इंडिया कपनी के कार्यकलापों को समर्पित होते थे। भारत मे उसकी नीति का मूल्यांकन नकारात्मक होता था। निकोलाई नोविकोव अंग्रेज़ो द्वारा इस देश को लूटे जाने के बारे मे लिखते और परवश जनता के प्रति सहानुभूति व्यक्त करते थे। "इससे पहले कभी किसी दूसरी जाति ने ऐसे सुसपन्न जनगण को परवश नही किया है, जैसे वास्तव में बगाली हैं," "ऐसा समृद्ध और सुखी राष्ट्र नये शासन मे इतनी शीघ्र अवनति और दरिद्रता को प्राप्त हुआ है कि इसका भी इतिहास में अन्य उदाहरण नही है," निकोलाई नोविकोव

ने लिखा। भारत के प्रति इस रूसी पत्रकार और प्रकाशक का रुख उसके सामान्य राज-नीतिक दृष्टिकोण द्वारा निर्धारित था। रूसी समाज की अग्रणी शक्तियां उन सबकी पक्षधर थी, जो अपनी स्वतत्रता के लिए अग्रेजो से लड रहे थे। इगलैंड द्वारा भारतीय जनता की स्वतत्रता के हरण पर भी उनमे गहरा आक्रोश फैला। नोविकोव की पत्रिका में १८वी सदी के अग्रणी रूसी विचारको, लेखको ने जो उपनिवेशवाद विरोधी रुख अपनाया उसका रूसी भारतविद्या की परम्पराओ के गठन पर प्रभाव पडा।

रूसी मुक्ति आदोलन के अग्रदूत अलेक्सान्द्र रदीश्चेव के लेखन मे यह रुख विशेषत ज्वलत रूप मे प्रकट हुआ। अपने 'ऐतिहासिक गीत' मे रदीश्चेव ने लिखा "विवेकी ब्रामो (ब्राह्मणो) के ये वशज, जो धृष्ट दुष्टो के बदी है, अपने प्राचीन गौरव के अवशेष और पतन के साक्षी प्राचीन सस्कृत मे रचे हुए येजुर्वेदम (यजुर्वेद) मे उल्लिखित अपने पावन विधान को पीढी दर पीढी सुरक्षित रखे हुए है।" इन थोडे से शब्दो मे भारत का एक बिल्कुल निश्चित बिम्ब देखा जा सकता है। मूलत यह १८वी सदी के यूरोप के लिए भारत का एक आम बिम्ब है – भारतीयो के प्राचीन यश तथा रहस्यमय सस्कृत ग्रथो मे निहित विवेक का उल्लेख किया गया है, उन ब्राह्मणो का जो एक पीढी से दूसरी पीढी को अपना ज्ञान, आस्थाए और रीतिया प्रदान करते जाते हैं। साथ ही लेखक ने अपने समसामयिक भारत के प्रति भी निश्चित रुख प्रकट किया है, कभी जो देश महान था, उसके ह्रास का उल्लेख किया है देश अग्रेज़ो का जिन्हें लेखक "धृष्ट दुष्ट" कहता है "बदी" हो गया है। रूसी साहित्य और पत्रकारिता के लिए कुल जमा एशियाई जनगण के प्रति उपेक्षा और तिरस्कारभरा रुख लाक्षणिक नही था और न ही उपनिवेशवादी दृष्टिकोण, जो पश्चिमी यूरोप मे काफी फैला हुआ था।

भारत में अग्रेज़ो के अत्याचारो का पर्दाफ़ाश और इस देश के दरिद्र हो गये जन समूहो के प्रति सहानुभूति तथा स्वय अपने देश में निरकुशता के विरुद्ध रूसी ज्ञानप्रसारको के सघर्ष व रूसी किसानो की दयनीय दशा सुधारने की उनकी अभिलाषा के बीच सीधा सबध था।

१८वी सदी के अत मे भारत में ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो जाने के पश्चात यूरोप प्राचीन भारतीय सस्कृति से अधिक निकट से परिचित हो पाया। एशियेटिक सोसाइटी ऑफ बगाल मे सगठित विद्वानों ने सस्कृत साहित्य के अध्ययन के लिए बहुत काम किया। निस्सदेह, इस सोसाइटी का काम ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन से घनिष्ठ रूप से जुडा हुआ था, वैज्ञानिक अनुसधानो की आवश्यकता बहुत हद तक एक ऐसे विशाल देश का शासन चलाने की आवश्यकता से ही निर्धारित थी, जिसकी अपनी, यूरोपीय लोगों के लिए बिल्कुल नई परम्पराए और अपने नियम थे। जहा एक ओर एशियेटिक सोसाइटी के कार्यकलापो में औपनिवेशिक नीति के तत्व प्रकट हुए बिना नही रह सकते थे, वही दूसरी ओर पूरव में सच्ची रुचि भी थी। यूरोप के सम्मुख पहली बार इतना व्यापक परिप्रेक्ष्य खुला था और अग्रेजो

फ्रांसीसियो, जर्मनो का अब तक प्राय: अज्ञात प्राच्य संस्कृतियों से साक्षात्कार हुआ। एशियेटिक सोसाइटी के संस्थापक विलियम जोन्स और उनके साथी प्राच्य साहित्य, धर्म और दर्शन मे सारी मानवजाति के लिए समान, मानवतावादी विचार ढूंढ़ते थे। संस्कृत से हुए पहले अनुवादो, जैसे कि भगवद्गीता और कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुतलम्' की ओर यूरोप के जानकार लोगो का ध्यान भारत के विवेक के प्रमाण और साहित्यिक परिष्कृति के उदाहरण के रूप मे ही आकर्षित हुआ। ये ग्रंथ मानव-जाति की एकता के विचार की पुष्टि करते थे। अंग्रेज़ी अनुवाद शीघ्र ही दूसरी यूरोपीय भाषाओ में भी प्रकाशित हुए। १७८८ मे भगवद्गीता का रूसी अनुवाद छपा। इसका नाम था 'बगुअत-गेता अर्थात कृष्ण की अर्जुन से वार्ता, टीका सहित। प्राचीन ब्रामिन भाषा, जो संस्कृत कहलाती है, मे लिखित मूलग्रंथ से अंग्रेज़ी में और उससे रूसी भाषा मे अनूदित'। उल्लेखनीय है कि यह ग्रंथ निकोलाई नोविकोव के मुद्रणालय मे ही छपा था। कुछ वर्ष पश्चात १७९२ में 'शकुतला' के भी कुछ अशो का अनुवाद रूसी मे छपा। रूस मे भी कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' ने वैसी ही प्रशंसा लूटी, जैसी पश्चिमी यूरोप में पाई थी। रूसी में इसका अनुवाद अपने समय के सबसे बडे इतिहासकार और लेखक निकोलाई करमज़िन ने किया था। अनुवाद के लिए लिखी भूमिका 'मोस्कोव्स्की भ्रुर्नाल' (मास्को पत्रिका) में छपी थी। इसमें उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि "सृजन की भावना केवल यूरोप मे ही व्याप्त नही है, यह समस्त ब्रह्माड मे व्याप्त है। मनुष्य सर्वत्र मनुष्य ही है; सर्वत्र उसकी छाती में संवेदनशील हृदय धडकता है और अपनी कल्पना के दर्पण में वह धरती और आकाश को समेटता है।" नाटक के प्राय प्रत्येक पृष्ठ पर उनका साक्षात्कार "काव्य के अनुपम सौष्ठव, सूक्ष्मतम भावनाओ, अकथनीय कोमलता ... पावन, अद्वितीय प्रकृति और महानतम कला" मे हुआ। करमज़िन ने कालिदास की तुलना प्राचीन यूनान के महान कवि होमर से की। नाटक के कलात्मक गुणों के अतिरिक्त करमज़िन ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि इससे प्राचीन भारत को, "उसके निवासियो के चरित्रो, रीति-रिवाजो और आचार-व्यवहार" को समझने मे मदद मिलती है।

इस प्रकार प्राचीन भारत के साहित्य रत्नों की ओर प्रमुखतम रूसी लेखकों का ध्यान काफ़ी पहले ही आकर्षित हो गया था। तथापि भारत के साथ निकट सम्पर्क न होने के कारण रूसी समाज को यूरोप से, मुख्यत: अंग्रेज़ी प्रकाशनों से मिलने वाली सूचनाओ पर ही संतोष करना पड़ता था। १८वी सदी के अंत में स्वतंत्र रूप से भारत का अध्ययन करने वाला एकमात्र रूसी व्यक्ति था – **गेरासिम (हेराशिम) लेबेदेव।**

गेरासिम लेबेदेव का जीवन मार्ग असाधारण था। उनका जन्म १७४९ में हुआ। कुछ स्रोतो के अनुसार उनका जन्म-स्थान यारोस्लाव्ल नगर था। उनके पिता पादरी थे और कुछ समय तक पीटर्सबर्ग मे दरबारी समूह-गान मडली मे गायक थे। परिवार

की आर्थिक स्थिति साधारण ही थी, इसलिए पंद्रह वर्ष की आयु में ही बालक अच्छी तरह पढ़ना-लिखना सीख पाया। इस क्षण से वह संगीत सीखने लगा और कुछ समय बाद पेशेवर संगीतकार बन गया। १७७७ में वह सुविख्यात संगीतमर्मज्ञ, काउंट अ० रज़ुमोव्स्की के परिजनों के साथ विदेश गया। कुछ समय तक इटली के नेपल्स नगर में रहने के बाद लेबेदेव यूरोपीय राजधानियों वियेना, पेरिस, लंदन में चेलो वादन के कंसर्ट देने लगे। १७८५ में ईस्ट इंडिया कंपनी के जहाज़ पर वह मद्रास पहुंचे और मद्रास के गवर्नर के साथ हस्ताक्षरित अनुबंध के अंतर्गत कंसर्ट देते हुए दो साल तक वहां रहे। भारत में लेबेदेव की गहरी रुचि हो गयी, अतः उन्होंने यहां दक्षिण भारत की बोलचाल की एक भाषा सीखने की कोशिश की। लेबेदेव ने इसे मालाबार की जन भाषा कहा है, यद्यपि उनका अभिप्राय स्पष्टतः तमिल भाषा से है। अनुबंध की अवधि समाप्त होने पर "वस्तुओं और लोगों के भी बारे में अपना ज्ञान बढ़ाने की इच्छा से प्रेरित" रूसी यात्री कलकत्ता चला आया। यहां काफ़ी देर तक वह ऐसे शिक्षक की असफल खोज करता रहा, जो उसे भारतीय भाषाएं सिखा सके। अंततः १७८९ में गोलकनाथ दास के साथ पढ़ाई शुरू हुई। यह विद्वान लेबेदेव को बंगाली और हिंदुस्तानी भाषाएं सिखाता था तथा संस्कृत के मूल तत्व भी समझाता था। उधर वह स्वयं लेबेदेव से पश्चिमी संगीत सीखता था। बंगाली के पाठों में वे एन० बी० हेलहेड के व्याकरण का उपयोग करते थे, जो इससे कुछ समय पहले ही प्रकाशित हुआ था। भाषाओं के अलावा गोलकनाथ दास और उनके मित्रों ने लेबेदेव को भारतीय अंकगणित भी सिखाया और पंचांग समझना भी। उल्लेखनीय है कि भारतीय विद्वानों और यूरोपीय लोगों के बीच संसर्ग नितांत कठिन था, क्योंकि दोनों ओर से ही पूर्वाग्रह थे। रूसी संगीतकार ने भारतीयों के प्रति अपनी सद्भावना और गहरे आदर की बदौलत उनके साथ परस्पर समझ के संबंध बना लिये, उसके अपने शब्दों में, वह "उनके ज्ञान का समुचित मान करता था।" भारतीयों के साथ लेबेदेव के सम्पर्क काफ़ी घनिष्ठ थे, वह भारत की प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर में ही नहीं, बल्कि अपने समसामयिक लोगों – बंगालियों और उनकी संस्कृति – में भी रुचि लेते थे। उन्होंने बंगला कवि भरतचन्द्र राय की कविताओं का अनुवाद किया और उन पर संगीत भी रचा। भारतीयों के साथ उनके पाठ कई वर्षों तक जारी रहे। १८वीं सदी के अंतिम दशक के मध्य में लेबेदेव को यह धुन सवार हुई कि कलकत्ता में यूरोपीय ढंग का ऐसा थियेटर बनाया जाये, जिसमें बंगला में नाटक हों। भारत में ऐसा थियेटर तब नहीं था। उनका मत था कि ऐसा थियेटर एकसाथ दो महत्त्वपूर्ण ध्येयों की पूर्ति करेगा – एक ओर भारतीयों को यूरोपीय कला से परिचित करायेगा, तो दूसरी ओर भारतीयों और भारतीय भाषाओं को अधिक अच्छी तरह समझने में यूरोपीयों की मदद करेगा, यानी उन्हें "हिंदोस्तानियों के साथ संसर्ग के अवसर प्रदान करेगा।" लेबेदेव बड़े उत्साह से इस काम में जुट गये। उन्होंने स्वयं दो नाटकों का अंग्रेज़ी से बंगला में अनुवाद किया। इन नाटकों में

प्रहसन और स्वांग का प्रबल पुट था और ऐसा अकारण ही नही था – लेबेदेव ने भारतीय दर्शको की पसद को ध्यान में रखा था। इसके अलावा दर्शको के लिए नाटकों को सुबोध बनाने के ध्येय से उनके घटनास्थल कलकत्ता और लखनऊ रखे गये थे, पात्रों के नाम भी बंगाली कर दिये गये थे। भारतीय परम्परा को देखते हुए लेबेदेव ने नाटको के घटनाक्रम मे कुछ नृत्य और गीत भी जोड दिये थे। प्रत्यक्षत: संगीत का बहुत महत्त्व था, चूकि थियेटर का संचालक स्वय सगीतकार था। लेबेदेव ने अपने अनुवाद अपने बगाली मित्रो को सुनाये। वह न केवल अनुवाद के बारे में, बल्कि कलात्मक सौष्ठव के बारे मे भी उनकी राय जानना चाहते थे, क्योंकि थियेटर तो बगाली दर्शको के लिए ही बनाया जाना था।

नाटक दिखाने के लिए ईस्ट इडिया कंपनी के थियेटर की इमारत किराये पर लेने का प्रयास विफल रहा। एक दूसरा भवन किराये पर लेना पडा। लेबेदेव ने इसके पुनर्निर्माण मे अपनी सारी सपत्ति लगा दी। स्वय लेबेदेव के शब्दो मे, थियेटर उनके "देशवासी, यारोस्लाव्ल के फ्योदोर वोल्कोव" की शैली मे बनाया गया था और पर्दे "बगालियो की पसद के" रखे गये थे। इस थियेटर में दो प्रदर्शन हुए – २७ नवबर १७९५ को और २१ मार्च १७९६ को। इनमे मुख्यत: "कलकत्ता नगर और उसके निकटवर्ती भागो के एशियाई निवासी" ही निमंत्रित थे। यह घोषणा की गई थी कि यदि नाटक दर्शको का "अनुमोदन पायेंगे, तो सारा थियेटर पूर्णत: एशियाई भागीदारो को सौप दिया जायेगा।" ३००-४०० सीटो वाला विशाल हाल खचाखच भरा हुआ था। दोनो ही प्रदर्शन अत्यत सफल रहे। सभवत: यह सफलता ही थियेटर और उसके सस्थापक के सिर पर टूटे मुसीबतो के पहाड़ का कारण बनी। ईस्ट इडिया कंपनी के प्रबधक पहले तो रूसी उत्साही का मजाक उडाते रहे कि वह "डान क्विज़ोट" बन रहा है, लेकिन शीघ्र ही वे उसे अपना प्रतिद्वद्वी मानने लगे। और फिर कलकत्ता और आस-पास के इलाके के एशियाई निवासियों के लिए विशेष थियेटर बनाने का विचार ही भारत मे ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन के हितों के अनुकूल नही था। तरह-तरह की चालबाज़ियों मे लेबेदेव का दिवाला निकलवा दिया गया, अभिनेता पलायन कर गये, थियेटर में आग लग गई। इसके स्वामी पर कई मुकदमे दायर किये गये, जो अतत: निराधार माने गये, लेकिन इस सबसे लेबेदेव के स्वास्थ्य की जड खुद गई, मन की शाति जाती रही। इन दिनों के बारे में उन्होंने लिखा है कि "तपता सूरज शरीर को इतना नही झुलसाता था, जितना कि उदासी मन को झुलसाती थी।" अपनी सपत्ति मे वचित, भारत में अपने कार्यकलापों की सभावनाओ मे निराश और ईस्ट इडिया कंपनी के चालबाज़ो तथा बरतानवी न्याय और प्रशासन प्रणाली के प्रति आक्रोश से भरपूर लेबेदेव को १७९७ में कलकत्ता छोड देना पडा।

रास्ते में आई अनेक मुसीबतो के बाद, दक्षिणी अफ्रीका में कुछ समय तक मजबूरन रहने के बाद लेबेदेव लदन मे रूसी दूतावास में पहुंचे। रूसी सगीतकार और

नये ढग के पहले भारतीय थियेटर के संस्थापक का बारह वर्ष का भारत प्रवास समाप्त हो गया। लदन मे लेबेदेव ने भारत पर अपनी रचनाओं के प्रकाशन के प्रयास किये। आरभ मे उनकी योजना 'बगाली और भारतीय गीत सग्रह' छापने की थी। इसकी सूचना १७९९ में 'मोस्कोव्स्किये वेदोमोस्ती' मे छपी। १८०१ मे लेबेदेव 'शुद्ध और मिश्रित पूर्वी भारतीय बोलियो का व्याकरण' प्रकाशित करने मे सफल रहे। यह आधुनिक भारतीय भाषाओं के यूरोप में प्रकाशित पहले व्याकरणो में एक था। १८वी सदी के अत मे कलकत्ता में बोली जाने वाली हिंदुस्तानी का अध्ययन करने वालों के लिए इस रचना का महत्त्व कभी भी कम नही होगा। यह अकारण ही नही कि स्वतत्र भारत में यह पुस्तक पुन. प्रकाशित हुई हैं। १८०१ मे लेबेदेव सेट-पीटर्सबर्ग लौटने में सफल रहे। भारतीय भाषाओ के विशेषज्ञ के नाते उन्हे विदेशी मामलों के बोर्ड के एशियाई विभाग में नियुक्त किया गया। यही नहीं, अपनी कृतियो के प्रकाशन के लिए उन्हे साधन भी मिले। १८०२ में सेट-पीटर्सबर्ग में भारतीय (बगाली) लिपि के टाइप वाला यूरोप का पहला मुद्रणालय खुला। दूसरे यूरोपीय देशो मे ऐसे मुद्रणालय इसके बाद ही खुले थे, उदाहरणत लदन मे चार्ल्स विल्किंस का छापाखाना १८०८ में ही खुला था। सेट-पीटर्सबर्ग के मुद्रणालय में १८०५ में भारत पर लेबेदेव का प्रमुख ग्रथ रूसी में छपा। इसका नाम था 'पूर्वी भारत की प्रणालियो, ब्राह्मणों, उनके अनुष्ठानो और जन रीतियो का निष्पक्ष अवलोकन'। पुस्तक के पहले भाग में भारतीय मिथको, विश्वोत्पत्ति की भारतीय धारणाओ और भारतीय लोगो की आस्थाओ, विश्वासो के बारे मे बताया गया था। दूसरे भाग में भारतीय पचांग और ज्योतिष-विद्या का विशद विवरण था। तीसरे भाग मे मुख्यतः अनुष्ठानो, मदिरों, भारतीय लोगों के रीति-रिवाजो और तीज-त्योहारों की चर्चा थी। यही पर वर्ण और जाति-प्रथा के बारे मे रोचक जानकारी दी गई थी तथा वर्णेतर लोगो की उत्पत्ति दी गई थी। इस पुस्तक की सामग्री का बहुत थोडा सा भाग ही यूरोपीय लेखको की रचनाओं पर आधारित था, अधिकांश सामग्री लेखक ने अपने प्रेक्षणो से तथा अपने बगाली मित्रो से मौखिक रूप मे पाई थी। अनेक वर्ष तक भारत मे रहे व्यक्ति की डायरी के नाते लेबेदेव की पुस्तक का महत्त्व आज भी बना हुआ है।

लेखक ने भारतीय मिथको की अन्योक्तियों के रूप में जो व्याख्याए प्रस्तुत की और निरुक्ति सबंधी जो विचार रखे, उन्हे, निस्संदेह आज गभीरता से नही लिया जा सकता, तथापि यह भी स्मरणीय है कि १८वी शती के अंत के जाने-माने भाषा-विज्ञानियो, जैसे कि विलियम जोन्स, के शोधकार्यों मे भी ऐसी ही कमिया थी। रूसी पाठक के लिए यह हिंदू धर्म से पहला विशद परिचय था। लेकिन लेबेदेव की पुस्तक मात्र सूचनात्मक नही थी, बल्कि उसमें एक महत्त्वपूर्ण विचार लाल सूत्र की तरह पिरोया हुआ था। पुस्तक का नाम ' निष्पक्ष अवलोकन' अकारण ही नही रखा गया था। सारी पुस्तक में लेखक ने हिदुओं की धार्मिक अवधारणाओ की

तुलना ईसाई धर्म की अवधारणाओं से की है। उसके मत मे ईसाइयों की ही भांति हिंदुओं में भी एक सच्चे भगवान की अवधारणा है, जिसे वे ब्रह्म कहते हैं। दूसरे हिंदू देवताओं को लेबेदेव ने देवदूत कहा है। लेखक ने भारत में ईसाई अवधारणा के अनुरूप एक अखण्ड त्रिरूप परमेश्वर (पिता, पुत्र और पावन आत्मा) का विचार भी पाया। कृष्ण को लेखक पुत्र का मूर्तरूप समझता है और उसके नाम कृष्ण की तुलना ख्रीस्त के नाम से करता है। दुर्गा अथवा काली को लेखक ने पावन आत्मा माना है, इस देवी का स्वरूप उसे ईसाइयो की माता मरियम जैसा लगता है। लेबेदेव इनमे केवल एक ही भेद पाते हैं कि काली देवी का चेहरा काला है। पुस्तक मे हिंदू देवी-देवताओं के, मुख्यतः दुर्गा के चित्र दिये गये और उनकी अन्योक्तियो के रूप में व्याख्या की गई। (यहां अनचाहे ही प्राचीन रूसी साहित्य की याद आती है, जिसमे भारतीय राजा "जॉन" अथवा "इवान" और राह्मनो को ईसाई सरीखा माना जाता था।) भारतीय धर्म की तुलना लेबेदेव ईसाइयों की आस्था और "प्रभु के नियम" से करते हैं तथा हिंदुओं के संस्कारों (शास्त्रविहित कृत्यों) की तुलना वह ईसाइयों के पांच अभिषेकों से करते हैं। भारतीय ब्राह्मणो, पुरोहितों के विभिन्न वर्गों को वह रूसी आर्थोडोक्स चर्च के धर्माधिकारी वर्ग के पदानुक्रम के समरूप मानते हैं। भारतीय मंदिर उन्हे आर्थोडोक्स गिरजों की याद दिलाते हैं। यह सब पाठको के लिए अपरिचित विश्वासों और रीतियों को परिचित बातो से तुलना करके समझाने का प्रयास मात्र नही है। लेबेदेव के लिए हिंदू और ईसाई धर्म का सादृश्य गहन है, मात्र सांयोगिक नही। लेखक के इस विश्वास को संत थॉमस द्वारा भारत मे ईसाई धर्म के प्रचार की किंवदंती से उत्पन्न समझना उचित न होगा। लेबेदेव के मत मे सिरजनहार ने दिव्य सत्य ईसाइयों की ही भांति भारतीयो को भी प्रकट किया था, बल्कि उन्हे तो ईसाइयो से पहले किया था, क्योंकि, लेबेदेव के मत में, भारत मानवजाति की जन्मस्थली थी। भारतीयों को ईसाई सरीखा मानकर निष्ठावान ईसाई धार्मिक असहिष्णुता से बच सकता था। लेबेदेव लिखते हैं कि "भारतीय लोग बुतपरस्तो जैसे बिल्कुल नही हैं," कि वे "एक सच्चे परमपिता को मानते है और अनेक यूरोपीयों से पहले ही ख्रीस्तीय नियम का पालन करने लगे हैं, भेद बस इतना है कि यहां बुतपरस्तों के अंधविश्वास न्यूनाधिक बने हुए हैं, जिनसे पूर्णतः शुद्धि पाना, संभवतः, अकेले इस देश में ही शेष नही है।" भारतीय धार्मिक दर्शन की अद्वैतवादी व्याख्या करना और उसे ईसाई धर्म के सन्निकट लाना केवल लेबेदेव के लिए ही नही, बल्कि उस समय की यूरोपीय संस्कृति के अन्य प्रतिनिधियो, जैसे कि विलियम जोन्स, के लिए भी लाक्षणिक था। संभवतः ऐसे विचार बंगाली बुद्धिजीवियों में भी, जिनके साथ रूसी यात्री उठता-बैठता था, फैल रहे थे। कुछ समय पश्चात राजा राममोहन राय की रचनाओं में ये विचार विकसित हुए।

लेबेदेव ने भारतीयों के आचरण और रीति-रिवाजो के बारे मे बहुत कुछ लिखा। लेबेदेव के अनुसार भारतीय लोग बहुत धर्मपरायण है, व्रत रखते हैं, सफाई से रहते

हैं, हिंसा से घृणा करते हैं, मदिरापान और सामिष भोजन से परहेज़ करते हैं, वचन निभाना अपना परम कर्त्तव्य मानते हैं और बच्चों को प्रभु के नियम की शिक्षा देते हैं। इसके साथ ही लेखक ने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि "भारतीयों का आचरण और प्रथाएं किन्हीं अंधविश्वासपूर्ण परम्पराओ द्वारा संचालित नही हैं, अपितु श्रुति तथा विवेकसम्मत नियमों पर आधारित हैं।"

भारतीयो की हिमायत करते हुए लेखक ने भारत के जो मूल्यांकन तथा भारत मे अंग्रेजो की कार्रवाइयो के बारे में जो विचार यूरोपीय पत्र-पत्रिकाओ में प्रकट हो रहे थे उनकी आलोचना की। उसने लिखा कि "भारतीय लोग कदापि वहशी नही हैं, उलटे इसका उलाहना उन लोगों को देना अधिक उचित होगा, जो उनसे हिंस्र से हिंस्र पशुओं से भी अधिक बर्बरता का व्यवहार करते हैं।" लेबेदेव "सौदागरों के राज" के प्रतिनिधि अंग्रेजों का, उन "घमंडी आगतुको" का पर्दा-फाश करते हैं, "जो मानवजाति के दुर्भाग्यवश अपनी अनबुझ धन-लोलुपता की खातिर समूचे राज्यो को हडप जाते हैं।" इसके विपरीत स्वयं भारतीयों का "अंत:-करण अधिक कोमल है और वे अधिक न्यायप्रिय हैं," बस उनके साथ व्यापार कर रहे यूरोपीय ही उन्हें विश्वासघात करना सिखा रहे हैं। भारत में ब्रिटिश आधिपत्य पर लेबेदेव का रुख रूसी साहित्य के श्रेष्ठ प्रतिनिधियों रदीश्चेव और नोविकोव के रुख के समान ही है। लेबेदेव ने भारतीयों को आदर्श रूप में दिखाने का यत्न नही किया। उन्होंने उनके अंधविश्वासों की भी और "अमीर-उमराओ की विलासप्रियता और ऐश्वर्य" की भी चर्चा की। उनका मत था कि अंग्रेज़ भारत में सभ्यता इतनी नहीं ला रहे, जितनी कि बरबादी और पतन। "उन पर (भारतीयो पर) इतने अत्याचार हो रहे हैं, इतने जुल्म ढाये जा रहे हैं, उनके जीवन में इतने प्रलोभन लाये जा रहे हैं, फिर भी वे अपने आचरण में अनुकरणीय अडिगता बनाये हुए हैं।"

लेबेदेव ने इस बात पर ज़ोर दिया कि भारत के अध्ययन में किसी एक देश का एकाधिकार नहीं हो सकता और अंग्रेज "दूसरों की सहायता के बिना उस गूढ़ मर्म में नही पैठ सकते, जो सिरजनहार ने काले लोगों को प्रदान किया है।" अंग्रेज़ों को "स्वयं अपने लिए ही अपमानजनक अपना मूर्खतापूर्ण घमंड" छोड़ देना चाहिए और भारत के अध्ययन के क्षेत्र में "किसी भी जाति के अध्यवसायी को प्रोत्साहन देना चाहिए।"

लेबेदेव के लिए उनके कार्यकलाप का ध्येय उस चीज़ का सृजन करना था, जो "जनगण के बीच वांछनीय हार्दिकता के परस्पर संबंध को सुदृढ़ करती है और सार्विक एवं विश्व कल्याण की पुन:स्थापना की योग्यताओं को मिलाती है।" स्वाभाविक ही है कि इसमें वह अपनी मातृभूमि रूस की ओर विशेष ध्यान देते हैं। भारत और उसकी संस्कृति से अपनी पितृभूमि को निकट से परिचित कराके

यह विद्वान उसकी सेवा करने की चेष्टा करता है। वह उस सामीप्य की ओर विशेष ध्यान दिलाता है, जो रूसियो और भारतीयो की न केवल भाषाओं में, बल्कि उत्पत्ति, धर्म और रीति-रिवाजों मे भी है।

रूसी विद्वान भारत की प्राचीन वस्तुओ और चमत्कारो मे ही आकर्षित नही हुआ। उसे भारत का ज्ञान "केवल पठन-पाठन के लिए ही" आवश्यक नही लगता था। उसने भारत के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने के लिए प्योत्र प्रथम और येकातेरीना द्वितीय द्वारा किये गये प्रयासो को जारी रखने की वांछनीयता का उल्लेख किया। लेबेदेव का यह मत था कि १९वी सदी के आरंभ में "रूस और भारत के बीच संबध अधिक पनप रहे है।" "व्यापक फलते-फूलते रूस के हित के लिए" लेबेदेव ने "भारतीय भाषाए जानने और सीखने की" तथा वहा "भिन्न-भिन्न काल में बसे लोगो" के बारे मे "सच्ची जानकारी" पाने की चेष्टा की। लेबेदेव की रचना 'निष्पक्ष अवलोकन' के अंत में एक छोटा मा अध्याय है, जिममे भारत की सम्पदाओ, वहा की उन वस्तुओ का विवरण है, जो रूस मे यूरोप के रास्ते आती है। इस अध्याय में उन्होने दूसरे देशों के साथ भारत के व्यापार के बारे मे भी बताया है और उन रूसी चीज़ो का भी ज़िक्र किया है, जो यूरोप के रास्ते भारत पहुचती है। लेबेदेव ने अपनी पुस्तक इन शब्दो के साथ समाप्त की "प्रिय देशवासियो, इस सबसे आप सहज ही यह देख सकते है कि हम कितने लाभो से वचित होते है, जब विदेशी इतने चक्करों के बाद हम तक आवश्यक वस्तुए पहुचाते हैं।" भारत के साथ सीधे व्यापारिक सबध स्थापित करने के बारे में लेबेदेव का विचार उन परियोजनाओ को प्रतिबिम्बित करता था, जिन पर रूसी पत्र-पत्रिकाओं मे भी और उच्च राजकीय कार्यालयो मे भी निरंतर बहस होती रहती थी। रूस और भारत के बीच व्यापार की संभावनाओ के बारे मे लेबेदेव ने कलकत्ता मे रहनेवाले "रूस के प्रजाजनों" की सलाहो मे लाभ उठाया था। "रूस के प्रजाजन" से उनका आशय शायद आर्मीनियाई सौदागरो से है।

लेबेदेव की मृत्यु १८१७ मे हुई। हिदुस्तानी-बगाली-रूसी बातचीत कोश, बगला व्याकरण, बगला-रूसी शब्दकोश, भारतीय अकगणित (तथा अंक प्रतीकों) के बारे मे लेख, आदि के लिए उनके द्वारा सकलित बहुत सी सामग्री अप्रकाशित रह गई। लेनिनग्राद के एक सग्रहालय मे सगमरमर का समाधि-पत्थर रखा हुआ है, जिसपर गेरासिम लेबेदेव की स्मृति में ये शब्द अकित है "दूर देश भारत तक गया, भारत के लोगो के रीति-रिवाजों को देख समझकर उनकी भाषा भी सीखी, किन्ही विश्वविद्यालयों में विद्याए नही सीखी, तो भी ज्ञान के नभ में ऊंची उड़ान भरी, भारत के प्राचीन विवेक का मर्म समझ ससार को उससे अवगत कराया – ऐसा था रूस का यह सपूत।" १८३५ मे एशिया सग्रहालय के पुस्तकालय को भारतीय हस्तलिपियों का सग्रह मिला, जिसे गेरासिम लेबेदेव भारत से लाये

थे। यह रूस मे अपने ढंग का पहला संग्रह था। इसमें 'अमरकोश', 'हितोप-देश' आदि संस्कृत के कई ग्रंथ भी थे।

गेरासिम लेबेदेव ने रूस मे भारतविद्या का सूत्रपात नहीं किया। उनकी अनेक रचनाएं अप्रकाशित ही रह गयी। वैज्ञानिक दृष्टि से 'निष्पक्ष अवलोकन' शीघ्र ही दूसरे विद्वानो की रचनाओं की तुलना में पुराना पड़ गया। ये रचनाएं यूरोप में तेजी से विकसित हो रही भारतविद्या का सुपरिणाम थी। १६वीं सदी के आरम्भ मे शिक्षित रूसी भारत के बारे में ज़्यादातर जर्मन में प्रकाशित पुस्तकें ही पढ़ते थे, अतः आश्चर्य नही कि अपने देशवासी की पुस्तक को शीघ्र ही लगभग भुला दिया गया। अफ़ानासी निकीतिन की यात्रा की भांति गेरासिम लेबेदेव के कार्य-कलापों से भी रूस में भारत संबंधी अवधारणाओं मे कोई विशेष परिवर्तन नही आया और न ही ये रूस में भारतविद्या के भाग्य के लिए निर्णायक सिद्ध हुए। बहुत सी बाते लेबेदेव और उनके सुदूर पूर्ववर्ती – निकीतिन – के बीच समान हैं। दोनो मध्यम वर्ग में जन्मे और असाधारण रूप से समृद्ध देश में रहकर भी दोनों मे से कोई अपने को मालामाल नही बना सका। भारत में बिताये वर्षों के दौरान दोनों को अनेक मुसीबतो और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, एक "ख़ुरासा-नियो" से तंग रहा, तो दूसरा ईस्ट इंडिया कंपनी के अफ़सरों और चालबाज़ों से। भारतीयों में ही, सो भी अमीर-उमराओं के बीच नहीं, मध्यम वर्गीय भारती-यो में ही दोनो ने मित्र पाये। स्वदेश लौटने पर दोनो के मन में भारतीय लोगो के प्रति मैत्री भाव बना रहा। दोनों ही बहुत अधिक शिक्षित नहीं थे, लेकिन बहुत जिज्ञासु थे। दोनों ही रूसी यात्रियो ने भारत में सजीव रुचि दिखायी और उसके जनगण के प्रति सद्भावना में पगे संस्मरण छोड़े। उनकी रचनाएं मात्र ऐतिहासिक स्रोतो के नाते ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, वे एक तरह से रूसी-भारतीय सांस्कृतिक सम्पर्कों में सुपरम्परा की प्रतीक हैं। यह अकारण ही नही कि रूस में भी और भारत मे भी इन यशस्वी लोगों और उनकी रचनाओ की ओर अध्ये-ताओ का बारबार ध्यान जाता है।

३. भारत के साथ मध्य एशिया और काकेशिया-पार के जनगण के संबंध

अति प्राचीन काल से ही भारत और मध्य एशिया के बीच बड़े घनिष्ठ संबंध रहे हैं। पुरातत्वीय सामग्रियां इस बात की साक्षी हैं। इन सामग्रियो पर हम प्रस्तुत पुस्तक के एक अलग अध्याय मे विचार करेंगे। प्राचीन काल में मध्य एशिया के साथ भारत के सम्पर्कों का विषय इतना व्यापक है कि उसके निरूपण के लिए एक विशाल ग्रंथ भी पर्याप्त न होगा। अतः यहां हम इन संबंधो के विकास के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरणो को ही इंगित करेंगे।

मध्य एशिया में प्रस्तर और ताम्र युग की कई सभ्यताओं में उत्तर-पश्चिमी भारत की तत्कालीन सभ्यताओं जैसे लक्षण दिखाई देते हैं। पुरातत्व की दृष्टि से मध्य एशिया, ईरान, अफ़गानिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत को एक क्षेत्र माना जा सकता है। दक्षिणी तुर्कमानिस्तान में आद्यभारतीय (हड़प्पा) मोहरों जैसी मोहरों का मिलना यह इंगित करता है कि ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी के अंत मे मध्य एशिया और उत्तर-पश्चिमी भारत के बीच सुदृढ आर्थिक संबंध थे। ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में आर्य कबीलों के दल भारत उपमहाद्वीप में पहुंचे। उत्तरी भारत मे फैलते हुए तथा स्थानीय आबादी को आत्मसात करते हुए उन्होंने प्राचीन भारतीय सभ्यता के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। भारतीय आर्यों का निकट रिश्ता ईरानीभाषी कबीलों से था, जो केवल ईरान में ही नही, बल्कि मध्य एशिया में भी बसे हुए थे। चूंकि ज्ञात है कि ईरान मे आर्य काफ़ी देर से आये थे और उत्तर की ओर से आये थे, इसलिए उनके आद्य इलाक़े को मध्य एशिया के इलाक़े में ढूंढना चाहिए। सोवियत पुरातत्वविदो की नवीनतम खोजे भारतीय-ईरानी क़बीलो की "आद्य जन्मभूमि" और प्राचीनतम देशातरणों के बारे में रोचक सामग्री पेश करती हैं। बाख्त्रीय, ख्वारज़्मी और सोग्दी, आदि मध्य एशिया की ईरानीभाषी जातियों की भौतिक एवं आत्मिक संस्कृति में देर तक वे लक्षण बने रहे जो सभी आर्यो की समान धरोहर थे और इन जातियो को दक्षिण में, भारतीय उपमहाद्वीप में चले गये सबधी क़बीलो के निकट लाते थे। वैदिक आर्यों के अध्ययन के लिए उनसे संबंधित जानकारियो की ईरानी जातियो (मध्य एशिया मे बसी जातियों समेत) से संबंधित जानकारियों से तुलना बहुत महत्त्वपूर्ण है। मध्ययुग मे मध्य एशिया में बहुत बड़े परिवर्तन आये – यहा इस्लाम फैला, ईरानी-भाषी आबादी को अंशत: तुर्कों ने आत्मसात कर लिया। तो भी मध्य एशिया की तुर्कीभाषी और मुस्लिम आबादी में भी, जैसे कि ख्वारज़्म के उज़्बेकों में, ऐसी आस्थाएं और प्रथाएं बनी रही, जो प्राचीन भारतीयों की आस्थाओं और प्रथाओ मे बहुत मिलती थी। ये आस्थाएं और प्रथाएं ख्वारज़्म की आद्य ईरानीभाषी आबादी की संस्कृति की धरोहर थीं। धार्मिक तथा नृजातीय परिवर्तनो के बावजूद मध्य एशिया की आबादी ने बहुत समय तक उन परम्पराओं को बनाये रखा, जो आर्यों के सुदूर अतीत से चली आई थी।

प्राचीन युग के महान राज्यों के गठन के काल में, विशेषत: ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी के मध्य से, उत्तर-पश्चिमी भारत और मध्य एशिया के इलाक़े प्राय: एक ही राज्य के अंतर्गत होते थे। उदाहरणार्थ, अखामनीय साम्राज्य मे मध्य एशियाई प्रांतों – बाख्त्री, सोग्द और ख्वारज़्म – के साथ-साथ भारतीय प्रांत – गाधार और हिंदू – भी शामिल थे। राजनीतिक संगठन आर्थिक संबंधो के सुदृढी-करण और संस्कृतियो के मिलन मे सहायक था। सिकंदर महान के साम्राज्य

और फिर सेल्यूकिद तथा यूनानी-बाख्त्रीय राज्यों की स्थापना भी बाह्य जगत, विशेषत: अफ़ग़ानिस्तान और मध्य एशिया के साथ भारत के सम्पर्क बढ़ाने मे सहायक रही। सीमित जानकारी के बावजूद इस तथ्य पर संदेह करने का कोई आधार नही है कि मौर्य वंश के महान सम्राट अशोक के शासन-काल में भी मध्य एशिया के साथ गहरे संबंध थे – अशोक के साम्राज्य की सीमा इससे जो लगती थी। मौर्य वंश के पतन के काल में मध्य एशिया से आये बहुत से लोग उत्तर-पश्चिमी भारत में बस गये और यहां कई ऐसे राज्य बने, जिनके शासक मध्य एशियाई शक वंशों के थे। ईसवी संवत के आरंभ मे कुषाण साम्राज्य के दिनो मे सम्पर्क विशेषत: सुदृढ़ हुए। इस साम्राज्य में मध्य एशिया, अफगानिस्तान और उत्तरी भारत का बड़ा भाग शामिल था। कुषाण साम्राज्य प्राचीन युग के महान साम्राज्यों में से एक था। इधर कुछ समय से इतिहासकार, पुरातत्वविद, भाषा-विद और कलाविद इसमें विशेष रुचि ले रहे हैं। १९६८ में सोवियत ताजिकिस्तान की राजधानी दुशांबे में कुषाण काल के अध्ययन की समस्याओं पर एक विशाल अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था। कुषाण साम्राज्य में रुचि का कारण केवल यह नही है कि यह प्राचीन युग के सभी विशाल साम्राज्यों में सर्वाधिक रहस्यमय साम्राज्य है, जिसका बहुत कम अध्ययन हुआ है, बल्कि यह भी कि विश्व संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पृष्ठ कुषाणों से संबद्ध हैं। कुषाण वंश का काल सघन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का, विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं, सर्वप्रथम भारतीय, यूनानी और ईरानी संस्कृतियो के व्यापकतम समन्वय का काल है। कुषाण काल मे भारतीय सभ्यता का व्यापक प्रसार हुआ। बौद्ध धर्म, जो विश्व धर्म बन रहा था, केंद्रीय एशिया मे और वहां से चीन में फैला। वर्तमान मध्य एशियाई सोवियत जनतंत्रो में अनेक महत्त्वपूर्ण बौद्ध स्मारक मिले हैं, जिनसे यह पता चलता है कि प्राचीन युग मे एशिया में बौद्ध धर्म के प्रसार में इन प्रदेशो ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। मुस्लिम विजयों के दिनों तक इस इलाक़े में भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव प्रबल था, जिसके साक्षी हैं बौद्ध मठो में मिली वस्तुएं, भारतीय अभिलेख तथा अन्य बहुत सी चीज़ें। इस्लामपूर्व मध्य एशिया मे भारतीय साहित्य की रचनाएं मूल रूप में भी और अनुवाद में भी ज्ञात थी। सोग्दी हस्तलिपियों के ऐसे अंश बचे रहे हैं, जिनमें न केवल बौद्ध ग्रंथों के, बल्कि 'पंचतंत्र' की कथाओं के भी अनुवाद हैं। भित्तिचित्रों की शैली पर भी (उदाहरणत:, पंजीकंद के पास मिले भित्ति-चित्रों पर) भारतीय प्रभाव देखा जा सकता है। ये चित्र इस बात के साक्षी हैं कि चित्रकार और उनसे चित्र बनवाने वाले दोनों ही भारतीय उपदेशात्मक ग्रंथों से भी और महाकाव्यों से भी परिचित थे। यहा यह स्मरणीय है कि मध्य एशिया की प्राचीन संस्कृति का अभी पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है अत: भविष्य में मध्य एशिया और भारत के संबंधो के बारे मे सामग्री बहुत बढ़ने की आशा की जा सकती है।

ARAL SEA
KHOREZM
Syr Darya
Amu Darya (Oxus)
Lake Balkhash
Bukhara
Samarkand
FERGANA
TIEN SHAN MTS
Tarim River
Merv
Kashgar
Bactra
Tormez
PAMIRS
BACTRIA
Yarkand
HINDU KUSH
Herat
Surkh-Kotal
Khotan
Begram
Kabul
Peshawar
Taxila
Indus
Sui Vihar
SIND
Mathura
Ganges
KATHIAWAR
ARABIAN SEA
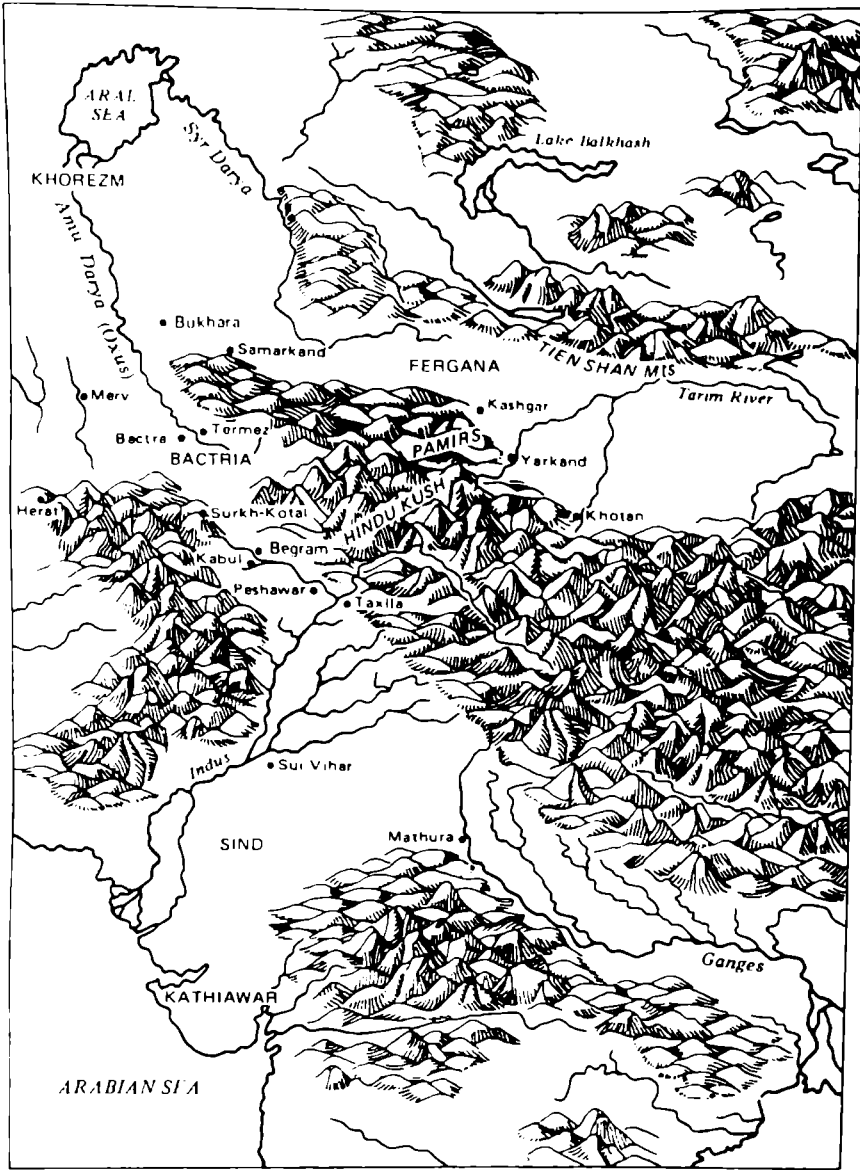
कुषाण साम्राज्य

प्रत्यक्षत , भारत और मध्य एशिया के बीच व्यापार बहुत पहले से हो रहा था। भारतीय शब्द "सार्थ" तो मध्य एशिया की आवासित ईरानीभाषी आबादी का नाम ही बन गया। रूसी विद्वान अकादमीशियन वसीली बर्तोल्द (१८६९-१९३०) का यह मत था कि बुखारा नाम संस्कृत के "विहार " से बना है, जो बौद्ध मठ के लिए प्रयुक्त होता था। बुखारा और समरकंद दोनो ही शहरो मे "नौबहार" नाम का दरवाज़ा था। अकादमीशियन बर्तोल्द यह मानते थे कि इस नाम में भी "विहार" की ओर, किसी ज़माने मे नगर के दरवाज़े के बाहर स्थित बौद्ध विहार की ओर इशारा है। बुखारा मे ऐसे "विहार" के स्थान पर कालांतर मे मुस्लिम धार्मिक स्थल बन गया। मुस्लिम धार्मिक शिक्षालय – मदरसा – को भी वे बौद्ध विहार के नमूने पर बना मानते थे। उनके विचार में यह अकारण ही नही था कि सबसे पहले मदरसे मुस्लिम जगत के पूर्वी इलाको मे ही बने थे। मध्य एशिया मे उन दिनों विकसित हो रही नई मुस्लिम सस्कृति के गर्भ में प्राय भारत से मिलती-जुलती परम्पराए देखी जा सकती हैं, जिनकी व्याख्या या तो समान उत्पत्ति से, या फिर सांस्कृतिक प्रभाव से ही की जा सकती है।

मुस्लिम विजयो के पश्चात मध्य एशिया इस्लामी जगत का अग बन गया। इसका साहित्य मुख्यत अरबी और फारसी में रचा जाने लगा। अरब ख़िलाफ़त की सस्कृति पर भारतीय प्रभाव कुल जमा निर्विवाद है। आदि अरब साहित्य में ही भारत की एक निश्चित छवि बन गई थी, जो लगभग हर रचना मे दोहराई जाती थी। एक ओर, भारत की कल्पना चमत्कारो के देश के रूप मे की जाती थी, जहा यात्री कल्पनातीत अनुभव पाता है और दूसरे जनगण से आगत तथा प्राचीन अरब किंवदंतियो का संबंध भारत से जोड़ा जाता था। दूसरी ओर, अरब साहित्य में काफ़ी पहले से ही भारत के भूगोल के बारे में, व्यापार के मार्गों और भारतीय माल के बारे मे विश्वसनीय जानकारी मिलती है, जोकि प्रत्यक्षत निकट और मध्य पूर्व के साथ भारत के पुराने और काफ़ी सुदृढ सबंधो का प्रतिबिम्ब है। आठवी सदी का उत्तरार्द्ध भारत-अरब संबधो के लिए विशेषत: महत्त्वपूर्ण था। ख़लीफ़ा अल-मंसूर और हारू अल-रशीद के दरबारो में भारत से दूत आते थे। इन दूतमडलो मे प्राय भारतीय विद्वान भी होते थे। आठवी सदी मे ख़िलाफत मे भारतीय साहित्य से व्यापक परिचय हो रहा था। भारतीय साहित्य की रचनाओ का फ़ारसी से या भारतीय विद्वानो की सहायता से सीधे ही अरबी में अनुवाद किया गया। वैज्ञानिक साहित्य में खगोलविद्या पर भारतीय पुस्तकें, जैसे कि ब्रह्मगुप्त का ग्रथ तथा आयुर्वेद और गणित पर पुस्तके प्रसिद्ध हुई। 'कलीला-ओ-दाना' ('पंचतंत्र' का फ़ारसी और अरबी में अनुवाद) जैसी शिक्षात्मक रचनाए बहुत लोकप्रिय हुईं। भारतीय साहित्य से अनेक कथानक उन दिनो अरबी साहित्य में आये। यह भी रोचक है कि "कथा के अंदर कथा" की भारतीय सरचना ही 'अलिफ-लैला' जैसी अमर साहित्यिक कृति का आधार बनी। हारू

अल-रशीद के वज़ीर याहिया इब्न हमीद बरमाकी ने औषधियां लाने और भारतीय वनस्पतियो के बारे में जानकारी जमा करने के लिए अपने दूत भारत भेजे थे। वह अनुवादको को प्रश्रय देता था, जो अरबो को विभिन्न विषयो – ज्योतिष और विष, हस्तरेखाओ और दर्शन, काव्यशास्त्र, आदि – पर भारतीय पुस्तको से परिचित कराते थे। उन दिनो भारतीय विश्वासो, रीति-रिवाजो का वर्णन करने वाले ग्रथ भी रचे गये। इस विशाल कार्य में मध्य एशिया के निवासियों का भी खासा बडा योगदान था, जो बहुत पहले से ही भारत से सबद्ध थे। याहिया इब्न हमीद की भारत मे रुचि का एक कारण शायद यह भी था कि उसके कुटुंब के भारत के साथ पुराने सबंध थे। अनुमान है कि उसका पूर्वज – बरमाक – बल्ख के बौद्ध विहार में सेवक था। मुहम्मद इब्न-मूसा अल-ख्वारज़्मी ने भारत के एक खगोलवैज्ञानिक ग्रथ का अरबी में अनुवाद किया और इस तरह अरबों में भारतीय खगोलविद्या का ज्ञान फैलाया। अल-ख्वारज़्मी ने ही गणित पर एक पुस्तक लिखी, जिसकी सहायता से न केवल अरब जगत, बल्कि मध्ययुगीन यूरोप भी (१२वीं सदी में लातिनी भाषा मे हुए अनुवाद की बदौलत) भारतीय गणना प्रणाली से परिचित हुआ। खिलाफ़त के सांस्कृतिक केंद्र – बग़दाद और दमिश्क – भारत और मध्य एशिया के विद्वानो की भेंटो का स्थान थे।

११वी सदी के आरभ तक अरब विज्ञान में, जिसमें मध्य एशिया में रह रहे विद्वानो का भी योगदान था, भारत के बारे मे काफ़ी जानकारी संचित कर ली गई। उदाहरणत स्वनामधन्य विद्वान इब्न-सीना के 'अल-क़ानून-फ़ीत्तिब' में भारतीय औषधियों और उपचार विधियों का प्राय उल्लेख आता है। इसमें कोई सदेह नही कि वह ८वी सदी मे अरबी में हुए चरक-सहिता के अनुवाद से परिचित थे।

मध्य युग मे मध्य एशिया और भारत के बीच सांस्कृतिक सबंधो का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ **अबुरेहान मुहम्मद अल-बरूनी** (९७३-१०४८) ने लिखा। बरूनी का जन्म ख्वारज्म के मुख्य नगर कात में हुआ। जीवनपर्यंत वे स्वय को ख्वारज़्मी ही मानते रहे, उनका कहना था कि अरबी और फ़ारसी दोनों ही भाषाओं में वे "आगतुक" हैं। छोटी उम्र मे ही बरूनी ने असाधारण जिज्ञासा दर्शाई। उनके विविध ग्रंथों में यह स्पष्टत अनुभव होता है कि उन्हे अनेक भाषाओं के साहित्य का गहरा ज्ञान था – न केवल फ़ारसी और अरबी, बल्कि सोग्दी, शामी, इब्रानी (हिब्रू), संस्कृत और शायद प्राचीन यूनानी भाषाओं में लिखी रचनाओं का।

अल-बरूनी का यौवन ख्वारज़्म मे बीता, यहा उन्होंने राजनीतिक जीवन में भाग लिया और यही उन्होंने एक विद्वान के गुण पाये। सभवत भारत में अल-बरूनी की रुचि काफी जल्दी ही जाग गई थी, क्योंकि अपने पहले विश्वकोशात्मक ग्रथ 'असार-अल-बक़ीयत' मे ही वे भारत के बारे में अरबी साहित्य के विशाद ज्ञान का परिचय दे देते हैं। १०१७ में महमूद ग़ज़नवी की फ़ौजों ने ख्वारज़्म को

सर कर लिया और अल-बरूनी को अपने साथ ग़ज़नी ले गयीं। महमूद ग़ज़नवी ने भारत पर भी कई चढ़ाइयां कीं और वहां के कुछ इलाक़े पर क़ब्ज़ा कर लिया।

प्रत्यक्षतः महमूद ग़ज़नवी की फ़ौजों के साथ महान ख़्वारज़्मी विद्वान काबुल की घाटी, पंजाब और मुल्तान गया। अल-बरूनी काफ़ी समय तक भारत मे रहे। नंदन किले में उन्होंने पृथ्वी के व्यास की आश्चर्यजनक सही गणना की। अल-बरूनी के महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष भारत उपमहाद्वीप के भौगोलिक अतीत के बारे में हमारे आधुनिक विज्ञान की जानकारी के अग्रदूत थे। महमूद ग़ज़नवी की चढ़ाइयों के फलस्वरूप ही अल-बरूनी भारत पहुंचे थे, लेकिन वे विजेता नही थे, बल्कि विजित ख़्वारज़्मी लोगों के प्रतिनिधि थे। महमूद ग़ज़नवी के अधीन अल-बरूनी की स्थिति स्वतत्र नही थी। स्वाभाविक ही है कि अल-बरूनी महमूद ग़ज़नवी के "जिहाद" के प्रति अपना रुख़ अपनी रचनाओ में व्यक्त नही कर सकते थे। लेकिन यह बात निर्विवाद है कि विजित जनगण और उनकी प्राचीन सस्कृति के प्रति उनके मन में गहरा आदर था और वे उनमें गहरी रुचि लेते थे।

अल-बरूनी की सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति 'क़िताबुल-हिंद' है, जिसे सक्षेप मे 'अल-हिद' भी कहा जाता है। १०३० में उन्होंने इसे लिखना पूरा किया। बरूनी से पहले भी अरब विद्वान भारत मे रुचि लेते रहे थे और उनके समसामयिक विद्वानो में भी "भारतीय विद्या के अनेक अध्यवमायी प्रशसक" थे। कुछ रचनाओं मे, जो बची नही रही हैं, कतिपय धार्मिक-दार्शनिक प्रश्नो पर विवाद किया गया था। वैसे बरूनी की टिप्पणियों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन रचनाओ में भारत के धर्म और दर्शन के बारे मे जानकारी प्रामाणिक नही थी। अल-बरूनी अपने स्वभाव के अनुसार पूरी गहराई से इस समस्या के अध्ययन में जुट गये। सुविख्यात रूसी प्राच्यविद अकादमीशियन वीक्तोर रोज़ेन (१८४६-१९०८) ने 'अल-हिद' को "अपने ढंग का एकमात्र ग्रथ" कहा था, जिसके समान ग्रथ "पश्चिम और पूरब के समस्त प्राचीन व मध्ययुगीन साहित्य मे नही है"। 'अल-हिंद' का ऐसा मूल्यांकन वैज्ञानिक साहित्य मे प्रायः देखने को मिलता है। इस ग्रथ का अतर्य बहुत व्यापक है। अल-बरूनी की यह पुस्तक भारतीय धर्म, दर्शन, विज्ञान, साहित्य, रीतियो, प्रथाओं, अनुष्ठानो, रस्मों का विश्वकोश है। कुल जमा यह भारतीय सभ्यता की लाक्षणिक विशिष्टताओं की यथासभव पूर्ण सहिता है। मध्ययुग मे न इससे पहले और न इसके बाद मे ही किसी भी सभ्यता का इतना विस्तृत विवरण किया गया। अपने इस ग्रथ की रचना के लिए अल-बरूनी ने संस्कृत सीखी, भगवद्‌गीता, 'पातंजल' तथा गौड़पाद-कृत सांख्य-कारिका टीका जैसे ग्रथ मूल मे पढे। अपने ग्रंथ में वे प्रायः खगोलविद्या के सिद्धांतों और पुराणों (विष्णुपुराण और विष्णुधर्मोत्तर) का हवाला देते हैं। इस ग्रंथ की रचना के लिए उन्हें अनेक कठिनाइयां लांघनी पड़ी। भाषा सीखने तथा हस्तलिपियों की खोज करने और उन्हें पढ़ने का काम ही काफ़ी कठिन था। अल-बरूनी लिखते हैं

" जहां कही भी भारतीय पुस्तको के होने का अनुमान लगाया जा सकता था, वहा-वहा उन्हे जमा करने के लिए मैंने कजूमी बरते बिना यथासभव अपनी सारी शक्ति और साधन लगाये, उन लोगो की खोज की, जो यह जानते थे कि ये पुस्तकें कहा छिपाई गई है।" एक सबसे गभीर बाधा थी विभिन्न सभ्यताओं के बीच – इस्लाम के प्रतिनिधि और हिंदू विद्वानो के बीच – समझ के अभाव की दीवार। अल-बरूनी के समसामयिक भारतीय विद्वान "अपनी विद्या दूसरो को प्रदान करने में कृपणता दिखाते थे" और "शास्त्रो से सबध न रखने वाले भारतीयो से भी अपनी विद्या को दूर रखते थे, औरो की तो बात ही क्या।" वे तो यह "कल्पना तक नही करते थे कि किसी और जाति की भी कोई विद्या या ज्ञान हो सकता है।"

"भारतीयो और सभी विदेशियो" के बीच विमुखता के कारण राजनीतिक और धार्मिक थे। अल-बरूनी ने इस विमुखता को खत्म करने का ध्येय रखा। अपने पाठको को उन्होंने चेताया कि उनके ग्रथ मे भारतीयो के दृष्टिकोणों की समीक्षा इतनी नही है, जितनी कि उनकी सही-सही प्रस्तुति। यह देखकर आश्चर्य होता है कि अल-बरूनी ने पराये धर्म का वर्णन कितनी निष्पक्षता से किया और भारतीय दार्शनिक सिद्धातो की जटिलतम अवधारणाओ को कितने सही ढग से प्रस्तुत किया।

संस्कृत का उनका ज्ञान कितना विशद और गहन था, इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 'अल-हिंद' मे ढाई हजार से अधिक संस्कृत शब्द आये है। पर अल-बरूनी ने अपनी जानकारी केवल लिखित स्रोतों से ही नही हासिल की थी। भारतीयो के साथ उनका ससर्ग तथा भारत में बिताये दिनों मे उनके निजी प्रेक्षणों का महत्त्व भी कम नही था। अल-बरूनी ने संस्कृत शब्दों का जो लिप्यतरण दिया है, उसमें उनके स्थानीय शिक्षको के उच्चारण का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अल-बरूनी ने अनेक बार इस बात का उल्लेख किया है कि भारतीयो ने उन्हे अपने शास्त्रो या धार्मिक ग्रथो का अनुवाद या पुनर्कथन करके दिया। निस्सदेह अधिकाश सूचना उन्होंने ब्राह्मणो से ही पाई। अल-बरूनी सदा विभिन्न व्यक्तियो और लिखित स्रोतो से प्राप्त जानकारी की तुलना करते थे। उन्हें सस्कृत का इतना ज्ञान था कि वे स्वय ही अनुवाद कर सकते थे। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अल-बरूनी ने संस्कृत के ग्रथो का अरबी में अनुवाद तो किया ही, साथ ही अरबी के ग्रथो का सस्कृत मे अनुवाद भी किया। इस तरह दो महान सांस्कृतिक परम्पराओ के बीच उन्होंने मध्यस्थ का काम किया। 'अल-हिंद' तथा दूसरी रचनाओ मे कही-कही अल-बरूनी ने भारतीय विद्वानों की उनकी अहमन्यता, कूपमडूकता, स्वार्थ, सिद्धात मे आर्ष प्रमाणो के तथा व्यवहार मे अभिचार व मत्रो के दुरुपयोग के लिए आलोचना की है। लेकिन यह आलोचना सदा साधार और लक्ष्यबद्ध है। यह सभी भारतीयो की नही, बल्कि जनता के अधविश्वासो का लाभ उठाने वाले लोभी ब्राह्मणो तथा उन अहकारी सवर्ण विद्वानों

की आलोचना थी, जो भारत की प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर में जो कुछ श्लाघ्य है, उसे कलुषित करते थे। मुस्लिमों के लिए अस्वीकार्य भारतीय रीतियों और दृष्टिकोणों का विवरण देते हुए भी अल-बरूनी आश्चर्यजनक वैज्ञानिक निष्पक्षता तथा भारत के प्रति आदर बनाये रखते हैं। अपने से भिन्न संस्कृति के दोष निकालना या उसकी हंसी उडाना उनका ध्येय नही है, वे तो उसे यथासंभव अधिक गहराई से समझने और उसमें जो सर्वाधिक मूल्यवान है, उसे आत्मसात करने की चेष्टा करते हैं। "मैं सत्य के रत्न को ग्रहण करने मे नहीं हिचकता हू, चाहे किसी भी 'खान' मे वह मुझे मिले," अल-बरूनी कहते हैं। इस संबंध में अल-बरूनी ने अरब विद्वानो के श्रेष्ठ प्रतिनिधियों, जैसे कि ईरान-शहरी, की परम्परा जारी रखी। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह सहिष्णुता कुछ हद तक ख़्वारज़्म के वातावरण से भी विकसित हुई। ख़्वारज़्म मुस्लिम जगत के सीमांत पर स्थित था और यहां विभिन्न सांस्कृतिक परम्पराओं का संगम हुआ।

अल-बरूनी की सभी रचनाओं में भारत के प्रति रुचि और इस देश का ज्ञान प्रकट होता है। "किताब-अल-सईदाना-फ़ीत्तिब्ब' मे बरूनी ने औषधियों, जडी-बूटियों, रोगों के कई सौ भारतीय नाम दिये हैं और भारतीय वैद्यो के प्रति अपना प्रशंसा भाव व्यक्त करते हुए लिखा है कि वे "आश्चर्यजनक सही निदान करते हैं"। किताब-अल-जमाहिर फ़ी म'रिफ़त अलजवाहिर' मे उन्होंने पत्थरों के भारतीय नाम दिये हैं और कहीं-कहीं भारतीयों के आचार-व्यवहार व रीतियों के बारे में महत्त्वपूर्ण जानकारी भी दी है। १०३५ ई० के आसपास अल-बरूनी ने अपनी रचनाओ की जो पूर्ण सूची बनाई उसमे भारत से सीधे-सीधे संबंधित बीस से अधिक रचनाएं थीं – ज्योतिषविद्या के भारतीय सिद्धांतों के बारे में, ब्रह्मसिद्धांत में दी गई गणित पद्धतियों के बारे में, भारतीय खगोलशास्त्रियों और कश्मीरी पंडितों के प्रश्नों के उत्तर, इत्यादि। अल-बरूनी ने रोगों के बारे में भारतीय ग्रंथ का तथा "संसार के बंधनों से मुक्ति" के बारे में दार्शनिक रचना 'पातंजल' का और 'नीलकमल' की भारतीय कथा का अनुवाद किया। 'पंचतंत्र' का नया अनुवाद भी वह तैयार कर रहे थे। खेदवश इनमें से सभी रचनाएं नहीं बची रहीं। कुछ हाल ही में मिली हैं और इनका अध्ययन अभी शुरू ही हुआ है। कालांतर में कुछ अरब ग्रंथों में यह कहा गया कि अल-बरूनी भारत से आये थे। निस्संदेह, ऐसी धारणा इसलिए बनी कि इस देश की संस्कृति और जीवन में अल-बरूनी की रुचि व ज्ञान ने भारत को उनकी दूसरी मातृभूमि बना दिया था।

सोवियत संघ में बरूनी के जीवन और रचनाओं के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उनके बारे मे ग्रंथ और लेख-संग्रह प्रकाशित होते हैं, स्वयं उनकी रचनाएं एक साथ ही रूसी और उज़्बेक भाषाओं में प्रकाशित की जाती हैं। अल-बरूनी विस्तृत मुस्लिम जगत के विज्ञान के प्रतिनिधि थे,

तथापि सोवियत सघ मे उचित ही इस बात पर गर्व किया जाता है कि इस विद्वान की जन्मभूमि ख्वारज़्म थी।

१३वी-१४वी सदियो मे भारत और मध्य एशिया के बीच सक्रिय सम्पर्क स्थापित हो गये थे। दिल्ली सल्तनत के अमीर-उमरा अपने मूल, रिश्तेदारी और धर्म के सूत्रों से मध्य एशिया से बधे हुए थे। १२२१ में ख्वारज़्म का आखिरी शाह जलालुद्दीन मगोल हमले से बचने के लिए भागकर भारत ही गया था। १४वी सदी में भी मध्य एशिया के बहुत से अमीर-उमरा तुग़लक के राज में जा बसे थे। भारतीय सस्कृति के कई उजले सितारे मध्य एशिया में ही उदय हुए थे। १२वी-१३वी सदी के मशहूर लेखक मुहम्मद औफ़ी का जन्म बुखारा मे हुआ और जीवन दिल्ली मे बीता, वही उनका इंतकाल हुआ। उनकी पुस्तक 'जामी-अल-हिकायत वा लवामी-अल-रिवायत' में मावराननहर और भारत के बारे में कहानिया हैं। फारसी के शायरो का जो सकलन उन्होंने तैयार किया, उसमें मध्य एशिया, अफगानिस्तान, ईरान और भारत के शायरों की रचनाएं हैं। सास्कृतिक दृष्टि से ये इलाक़े एक क्षेत्र ही थे। महान भारतीय कवि अमीर ख़ुसरो देहलवी के पूर्वज मध्य एशिया के शहरे सब्ज़ से भारत आकर बसे थे। उज़्बेक साहित्य के कालजयी रचनाकार अलीशेर नवाई पर अमीर ख़ुसरो का प्रभाव सुज्ञात है। १४वी सदी के भारतीय शायर बदरुद्दीन चाची का जन्मस्थल ताशकद था। तैमूरलग की भारत पर चढ़ाइयो के बाद वहा से बहुत से भारतीय कारीगर समरकद लाये गये थे, जिन्होंने बीबी-ख़ानुम जामा मस्जिद के निर्माण मे भाग लिया। मध्य एशिया मे अभी हाल ही तक ऐसी बस्तियां थी, जिनके नामों मे "हिंदवी" शब्द शामिल था। जनश्रुति के अनुसार यहां तैमूर द्वारा लाये गये भारतीय रहते थे। १५वीं सदी में दिल्ली तैमूर के बेटे शाहरुह के अधीन थी। शाहरुह की सरकार के बंगाल, कालिकट और विजयनगर के साथ घनिष्ठ सम्पर्क थे। उन दिनों भारतीय राज्यो को भेजे गये एक दूतमंडल का नेतृत्व अब्दुर्रज़्ज़ाक समरक़दी ने किया था, जिसने भारत के बारे में बहुत रोचक नोट छोड़े – यह 'अल-हिद' के बाद इस विषय पर एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। समरक़ंदी की इस रचना में भारत की सम्पदाओं, वहां के क़िलों, दरबार की प्रथाओ, आबादी की आस्थाओ, मदिरो, त्योहारों आदि के बारे में बहुत सी सामग्री है।

१५वी सदी मे मध्य एशिया के कवियों – नवाई, जामी – और भारतीय कवियो के बीच सम्पर्क बने रहे।

१६वी सदी के आरम्भ में तैमूर वंश के फ़रगना के शासक बाबर ने दिल्ली जीत ली। बाबर ने महान मुग़ल वंश की नींव रखी। 'बाबरनामा' में उसने भारत को "हैरतअंगेज मुल्क" कहा है। वह इस देश पर विमुग्ध था, पर फिर भी अंतिम दिन तक अपनी जन्मभूमि की याद उसे सताती रही। बाबर के वंशजो

ने मध्य एशिया के साथ सम्पर्क बनाये रखे। दूतमडल नियमित रूप से आते-जाते रहते थे और व्यापारियो के क़ाफिले भी। मध्य एशिया के विद्वान, शायर, कलमनवीस और खुशनवीस अकबर और औरगज़ेब के दिनो में भारत आते रहे। मध्य एशिया की शायरी मे "भारतीय शैली" का प्रचलन हुआ। ब्रिटेन द्वारा भारत को जीते जाने के बाद इस देश के बाह्य सम्पर्कों में कमी आई, तो भी १९वी सदी के अत तक मध्य एशिया के साथ न्यूनाधिक घनिष्ठ संबध बने रहे।

* * *

भारत और काकेशिया-पार के इलाक़े के बीच पहले सम्पर्क भी सुदूर अतीत मे स्थापित हुए थे। पुरायुगीन भूगोलवेत्ता स्ट्रेबो ने काकेशियाई अल्बानिया मे गुज़रने वाले व्यापार मार्ग का ज़िक्र किया था, जिसमे भारतीय माल काला सागर तक पहुचता था। स्ट्रेबो की जानकारी का स्रोत ई० पू० तीसरी शताब्दी में कास्पियन सागर के निकटवर्ती प्रदेश के क्षत्रप पेट्रोक्लीज़ की सूचनाए थी। वर्रो का हवाला देते हुए रोमन भूगोलवेत्ता प्लिनी वरिष्ठ ने भी भारत मे आरंभ होकर बाख्त्री राज्य मे गुज़रते कास्पियन सागर और कूरा नदी को पार करते हुए काला सागर के तट पर फ़ासिस (आधुनिक पोती) नगर तक के रास्ते का वर्णन किया था। काकेशिया-पार क्षेत्र में पुरातात्त्विक खुदाई मे मिली भारतीय कौडियों तथा त्बिलिसी नगर के इलाक़े मे द्वितीय शती ई० पू० के बाख्त्रीय सिक्के, आदि वस्तुओ की खोज को इस क्षेत्र और भारत के बीच प्राचीन सबंधो का एक प्रमाण माना जा सकता है।

काकेशिया-पार के जनगण मे से एक – आर्मीनियाई लोगो – के मिथको मे भारतीय मिथको से मिलती-जुलती बहुत सी बातें हैं। यह बात निर्धारित हुए तो काफी समय हो चुका है कि प्राचीन आर्मीनियाइयों का वाहाग्न देवता वैदिक इद्र (वृत्रघ्न – ईरानी वेरेत्रग्न) के समरूप था। आर्मीनिया के ईसाई बनने पर कई पुराने सम्प्रदाय प्रच्छन्न रूप में बने रहे, पुराने देवी-देवताओ के लक्षण ईसाई सतो पर आरोपित कर दिये गये, उदाहरणत, वाहाग्न के लक्षण सत कारापेत के मान लिये गये। प्राचीन आर्मीनियाई और वैदिक मिथकों की समानता कुछ हद तक सामान्य भारोपीय मूल से उत्पन्न हो सकती है, किंतु मुख्यत यह कालातर मे आर्मीनियो पर ईरानी प्रभाव का फल है। द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के खुर्रीनो के ग्रथो में आर्य शब्दावली तथा भारत के वैदिक आर्यो के सहजातीय कुछ क़बीलो के काकेशिया के पार देशांतरण की सभावना विशेष समस्याएं हैं। द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० में काकेशिया-पार मे आर्य संभवत. इस क्षेत्र की प्राचीन सांस्कृतिक परपराओं पर अपनी छाप छोड़ गये हों।

प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य मे आर्मीनिया के, जो अखामनीषी वश के राज्य मे शामिल था, फारस के भारतीय क्षत्रपो के साथ सीधे संबध हो सकते

थे। ये संबध यूनान-प्रभावित काल मे भी बने रहे होगे। प्राचीन आर्मीनियाई साहित्य में आर्मीनिया के तरोन क्षेत्र मे भारतीय बस्ती के होने की दतकथा मिलती है। 'तरोन के इतिहास' में, जो युहन्ना ममिकोन्यान द्वारा लिखित माना जाता है, दो भारतीय राजकुमारो देमेत्र और गिसाने के बारे मे बताया गया है, जो भारत से भागकर पार्थिया के रास्ते आर्मीनिया पहुचे। देमेत्र और गिसाने को देवता मानने वाली "भारतीय बस्ती" चौथी सदी ई० के आरभ तक बनी रही कही जाती है, यानी आर्मीनिया के ईसाई बनने तक। इस जनश्रुति की ऐतिहासिक प्रामाणिकता सदेहास्पद है, क्योकि देमेत्र स्पष्टत यूनानी नाम है और गिसाने नाम के लिए प्राय आर्मीनियाई निरुक्ति पाई जाती है। तो भी जन-परम्परा ममि-कोन्यानो के कुलीन वश का निकास इस बस्ती से ही जोडती है और फ़िलहाल इस सभावना को निश्चित रूप मे नही नकारा जा सकता कि उत्तर-पश्चिमी भारत या उसके समीपवर्ती इलाको, उदाहरणत, बाख्त्री मे कुछ लोग आर्मीनिया आकर बस गये थे।

ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने के पश्चात लिखित आर्मीनियाई साहित्य बना। इसमें भारत के बारे में जो जानकारी है, वह मूलत सीरियाई और यूनानी साहित्य से ली गई है। आर्मीनियाई भाषा में अनूदित पहले ग्रथो मे कैलीस्थेनीज़ के नाम से लिखी गयी 'फिज़ियोलोगस' और 'अलेक्सान्द्रिया' भी हैं, अर्थात वे रचनाए, जो मध्ययुग मे दूसरे ईसाई जनगण मे भी लोकप्रिय थी और जिनमे भारत का उल्लेख था। साथ ही प्राचीन आर्मीनियाई साहित्य की रचनाओं में तत्कालीन भारत के राजनीतिक इतिहास और भूगोल पर भी प्रकाश डाला गया है। इसके लिए यूनानी, सीरियाई और संभवत ईरानी स्रोतो से जानकारी पाई गई। आर्मी-नियाई इतिहासकार मूसा ख़ोरेनी (५वी सदी) ने भारत की सीमाओ के पास ख़ुसरो और अर्दाशेर के सघर्ष के बारे मे तथा चौथी सदी में ससानिद वश के साथ भारत के परस्पर सबधो के बारे मे बताया है। इसी काल के दूसरे इति-हासकार येगिशे ने कुषाणो के बीच और आगे भारत तक ईसाई धर्म के फैलने की बात कही है। कुषाणो के बारे मे जानकारी फ़ौस्तन बैज़तियाई की तथा प्रथम सहस्राब्दी ई० के मध्य के दूसरे आर्मीनियाई लेखको की रचनाओं मे भी पाई जाती है।

बैज़तिया वासियो के साथ काकेशिया-पार के लोग भी भारत जाते थे। भारत के मार्गों के यूनानी विवरणो–'पथदर्शिकाओ'–के जार्जियाई रूपातर बचे रहे हैं। इन पुस्तको में उत्तरपुरायुगीन और आदिबैज़तियाई साहित्य के लिए लाक्षणिक भारत सबधी धारणाए प्रतिबिम्बित हुई हैं। इनमें भारत के रत्नो तथा वहां के लोगो की असाधारण दीर्घायु के बारे मे, फिसोन नदी के तट पर रहने वाले साधु-महात्माओ के बारे मे बताया गया है, जो "न ख्रीस्त के साथ है, न ख्रीस्त के अनुयायी है", "लेकिन सब ईश्वर का भय मानते है और सच्चे हैं।" ७वी

सदी की एक आर्मीनियाई भूगोल पुस्तक में भी, जो अब अनानी शिराकात्सी की लिखी मानी जाती है, ऐसी ही जानकारी दी गई है। भारत के वर्णन मे इस देश के वास्तविक जीव-जतुओ – मगरमच्छों, बदरो, हाथियों – के साथ-साथ कल्पनाजनित जीवों – "सिहचीटी" आदि का भी उल्लेख है, "हिम्नो-सोफिस्टो" (नागा साधुओं) का भी जिक्र है, जो "पाप नही करते और पशुओ का मास नही खाते।" भारत के विवरण में इस 'भूगोल' के लेखक ने पैप्पस सिकदरियाई और कोस्मस इदिकोप्लेउस्तस जैसे पुरायुगीन और आदिबैजंतियाई लेखको का अनुसरण किया। सभवत: सीरियाई लोगों के साथ आर्मीनियाई भी दक्षिण भारत पहुचते रहे होंगे। इस बात का उल्लेख मिलता है कि ८वी सदी में फोमा (थॉमस) नाम का आर्मीनियाई मालाबार मे व्यापार करता था।

प्रथम सहस्राब्दी ई० के अंत तक 'बर्लाम और जोआसफ़ की कथा' के सी-रियाई या अरबी रूपातर के आधार पर इसका जार्जियाई रूपांतर 'बाला-वरियानी' बना। यह कथा बहुत लोकप्रिय हुई, जिसका प्रमाण यह है कि 'बाला-वरियानी' के कतिपय जार्जियाई रूपांतर मिलते हैं। जार्जियाई 'बालावरियानी' विशेषत: रोचक है, क्योंकि कुछ यूनानी हस्तलिपियों के अनुसार इस कथा का यूनानी रूपांतर जार्जियाई से किया गया अनुवाद ही है और यह अनुवाद किया था येफीमी इवेर जार्जियाई ने। यदि इस सूचना को सच माना जाये तो जार्जियाई 'बालावरियानी' ही वह ग्रंथ है, जिसकी बदौलत सभी ईसाई देशों में "भारतीय राजकुमार" (बोधिसत्व) का जीवनचरित फैला। इसकी बदौलत मध्ययुगीन यूरोप ने भारत का अपना बिम्ब बनाया। 'भारतीय राजकुमार जोआसफ का चरित' आर्मीनियाई साहित्य का अग भी बना।

'अलेक्सान्द्रिया', 'बर्लाम और जोआसफ़ की कथा', आदि अनूदित ग्रथों तथा भारत से सबधित अन्य रचनाओ के प्रभाव में आर्मीनियाई और जार्जियाई साहित्य मे इस दूरवर्ती पूर्वी देश का बिम्ब बना। १२वीं सदी के कालजयी कवि शोता रुस्तावेली द्वारा रचित काव्य 'व्याघ्रचर्मधारी वीर' का नायक तरिएल और नायिका नेस्तान दरेजान को काव्य में भारतीय बताया गया है। कवि ने तरिएल के पिता को "हिदुस्तान का एक राजा" और स्वय तरिएल को "हिदो का शहशाह" कहा है। बेशक रुस्तावेली का हिदुस्तान काल्पनिक है, सांकेतिक है, तो भी काव्य मे उसे स्थान दिया जाना यह दर्शाता है कि भारत का बिम्ब पाठको के मन मे कितना गहरा बैठा हुआ था और कितना लोकप्रिय था। रुस्तावेली के काव्य मे भारत और उसके आस-पास के देशो के बारे में कुछ वास्तविक जानकारी भी देखी जा सकती है। काव्य के कुछ भागो पर 'बालावरियानी' का प्रभाव महसूस होता है।

अन्य इलाकों की भांति काकेशिया-पार मे भी 'अलेक्सान्द्रिया' लोकप्रिय थी, जिसमे भारत के बारे में भी बताया गया था। १३वी सदी मे आर्मीनियाई

लेखक खचानुर केचारेत्सी ने 'सिकदर की कथा' लिखी। फारसीभाषी आज़रबै-जानी साहित्य के कालजयी लेखक निज़ामी गजवी ने १३वी सदी मे 'सिकंदर-नामा' मे सिकदर महान के भारत अभियान तथा वहा भारतीय मनीषियो के साथ उसकी वार्ताओं का वर्णन किया। निज़ामी के इस काव्य का निश्चित प्रभाव अमीर खुसरो देहलवी के ऐसे ही काव्य पर पडा।

१५वी सदी तक भारत के साथ काकेशिया-पार के सबंधो के बारे मे जानकारी आंशिक और सांयोगिक है, लेकिन इसमे कोई सदेह नही कि ये सबध कभी भी पूरी तरह भंग नही हुए। इसका एक प्रमाण है मध्ययुगीन आर्मीनियाई साहित्य में भारत के भूगोल के बारे में उपलब्ध जानकारी। उदाहरणत, १२वी सदी मे आर्मीनिया मे भारत की 'मार्गदर्शिका' लिखी गई। व्यापारियो के अलावा मिशनरी भी भारत पहुचते थे। उदाहरणत, १४वी सदी में तिफलिस (आधुनिक त्बिलिसी) नगर मे भारतीय नगर चौल पहुचे एक जार्जियाई मिशनरी का उल्लेख मिलता है। तैमूरलंग ने भारत पर भी और काकेशिया-पार पर भी चढाइयां की थी। जार्जियाई रजवाडो की आबादी के एक भाग को वह पूर्व को ले गया था। बदियो में से कुछ बहुत साल बाद स्वदेश लौटे। १४४६ में तिफलिस में वैज़ंतियाई सम्राट कोन्स्तंतीन ११वे के दूत ने उस जार्जियाई से बातचीत की थी, जो भारत मे कुछ समय तक रहने के बाद स्वदेश लौटा था।

१६वी-१७वी सदियो मे काकेशिया-पार और भारत के बीच सुदृढ व्यापारिक सबध क़ायम हो गये। सभी बडे ईरानी शहरो मे तब तक आर्मीनियाई व्यापारियों की बस्तियां बन चुकी थी। ईरान के रास्ते आर्मीनियाई व्यापारी भारत जाते थे। १७वी सदी में ईस्ट इडिया कपनी के कर्मचारी फ्रांसुआ मार्टिन ने लिखा कि मलाबार मे "आर्मीनियाई सक्रिय हैं, जो प्राचीन काल मे यहा बसे हुए हैं और व्यापार करते हैं यहा लाखो के स्वामी आर्मीनियाई परिवार हैं।" मलाबार मे आर्मीनियाइयो की सख्या काफ़ी थी। और उनके बारे मे १६वी-१७वी सदियों के बहुसंख्य दस्तावेज़ उपलब्ध है। मद्रास में और फिर बम्बई व कलकत्ता में भी आर्मीनियाइयो की खासी बडी बस्तिया बनी। भारत मे आर्मीनियाइयो के कार्यकलापो के स्वर्णिम दिन मुगल साम्राज्य के दौरान आये। अकबर के राज मे आगरा मे आर्मीनियाई व्यापारी बसे, जिन्हें स्वय शहंशाह का प्रश्रय प्राप्त था। आगरा में आर्मीनियाई गिरजा भी बनाया गया। आर्मीनिया के धार्मिक केंद्र एचमियाद्ज़ीन मे आर्कबिशप ज़कारिया इस गिरजे मे पधारे थे। भारत मे आये यूरोपीय यात्रियो और मिशनरियो ने प्राय आर्मीनियाइयो का उल्लेख किया है। इनमें अनेक के नाम भी ज्ञात है। अकबर के दरबार मे सदर काज़ी अब्दुल-हई आर्मीनियाई था और अकबर की एक पत्नी भी आर्मीनियाई थी। यह भी ज्ञात है कि दरबार में आर्मीनियाई हकीम और पुर्तगाली से तर्जुमा करने वाला आर्मीनियाई दुभाषिया, आदि भी थे। आर्मीनियाई व्यापारी याकूब (अकोप) जान

के बेटे जुल-करनैन का लालन-पालन शाहजहां के साथ हुआ था। कालांतर में वह भारत के एक इलाके का सूबेदार बना। कहा जाता है कि जुल-करनैन को अकबर ने गोद लिया था। जुल ने कविताएं और गीत लिखे, जिन्हें 'रागमाला' में शामिल किया।

आर्मीनियाई बस्तियां भारत के अनेक भागों में बनीं – ग्वालियर, लाहौर ढाका, दिल्ली, लखनऊ, उड़ीसा, पांडीचेरी आदि में। प्रत्यक्षत भारत में बसे आर्मीनियाइयों की संख्या दसियों हज़ार थी। १७वीं सदी के मध्य में ईरान में ईसाइयों पर अत्याचार आरंभ होने के बाद वे विशेषत: बड़ी संख्या में भारत जा बसे। भारतीयों की धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप यहां उन्हें दूसरी मातृभूमि मिली। अधिसंख्य आर्मीनियाई व्यापार और कारोबार करते थे, पर उनमें कारीगर, नौकर, मज़दूर, आदि भी थे। आर्मीनियाई व्यापारी दूसरे देशों – ईरान, तुर्की, रूस, आदि – और निस्संदेह आर्मीनिया के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रखते थे। येरेवान नगर के ऐतिहासिक संग्रहालय में भारत में बसे आर्मीनियाई जौहरियों की चीज़ें रखी हुई हैं। मास्को क्रेमलिन में रूसी ज़ारों की सम्पदा के संग्रहालय – ओरुझेइनया पलाता (शस्त्रागार) – में भारत में बनी रत्न-जड़ित सोने-चांदी की वे चीज़ें हैं, जो १७वीं सदी के मध्य में आर्मीनियाई व्यापारियों ने रूसी ज़ार को भेंट की थी।

भारत में रह रहे आर्मीनियाइयों ने पहले तो ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ सक्रिय सहयोग किया। १६६८ में उन्हें भारत में ब्रिटिश नागरिकों के अधिकार और विशेषाधिकार तक दिये गये। लेकिन १८वीं सदी के मध्य से जब ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रभाव बढ़ गया, अंग्रेज़ आर्मीनियाई व्यापारियों को सताने लगे, उनका कारोबार ठप्प करवाने, उनका दिवाला निकलवाने की चालें चलने लगे। इस समय आर्मीनियाई लोग प्राय: अन्य भारतीयों के साथ मिलकर अंग्रेज़ों से जूझे। सुविदित है कि बंगाल, बिहार और उड़ीसा के आख़िरी नवाब का सेनापति ग्रिगोरी अरुतुन्यान था, जो १८वीं सदी के सातवें दशक में लंबे समय तक अंग्रेजों से लड़ता रहा। बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने उसे अपने उपन्यास 'चंद्रशेखर' का नायक बनाया।

१७वीं-१८वीं सदियों में आर्मीनिया में भारत के बारे में बहुत सी पुस्तकें लिखी गईं, लेकिन फ़िलहाल इस साहित्य का पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है। सोवियत संघ में इसके अनुसंधान और प्रकाशन की ओर काफ़ी ध्यान दिया जा रहा है। भारत को समर्पित पुस्तकों में कोस्तांद जुगायेत्सी की 'व्यापारिक शिक्षा की पाठ्यपुस्तक' विशेषत: उल्लेखनीय है। यह १६वीं-१७वीं सदियों में भारत के आर्थिक इतिहास के अध्ययन के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। इस काल के आर्मी-नियाई संदर्भ साहित्य में भी भारत के बारे में बड़े-बड़े अध्याय हैं। इनमें भारत का वर्णन अंशत: प्राचीन ईसाई पुस्तक परम्परा के अनुसार दिया गया है "ब्राह्मण जनता

सदाचारी और ईमानदार है। ये लोग सादगी का जीवन व्यतीत करते हैं, कभी भी मर्यादा की सीमा नही लाघते। ये मुख्यत: प्रकृति के फलो से ही सतोष करते हैं ... भारतीयों को शांतिमय जीवन प्रिय है। वे कभी एक दूसरे को ठेस नहीं पहुंचाते ... उनके शब्दो मे झूठ नही होता।"

साथ ही आर्मीनियाई हस्तलिपियों में नूतन युग के भारत, उसके आर्थिक जीवन, वस्तुओ, धर्म, रीति-रिवाजो और प्रथाओ का विस्तृत विवरण भी दिया गया है। एक हस्तलिपि मे भारतवासियो के बारे मे कहा गया है: "हिंदू लोग सुनिर्मित नगरों और देहातों में रहते हैं। वे बहुत समझदार, बुद्धिमान और सूझ-बूझ रखने वाले लोग हैं, विभिन्न शिल्पो और विद्याओ का उन्हे बहुत अच्छा ज्ञान है।" आर्मीनियाई विद्वानो ओ० गोवेरान और ग० इजीजान ने 'भारत का भूगोल' नामक अपनी पुस्तक में भारत का विशेषत: विस्तृत विवरण दिया है। आर्मीनियाई विद्वानो ने भारत के इतिहास पर भी महत्त्वपूर्ण ग्रथ रचे। १८वीं सदी के आरंभ मे 'भारतीय राजाओ का कालक्रम' लिखा गया। इसके कुछ समय पश्चात तोव्मस (थॉमस) खोजामलन ने मुख्यत: फ़ारसी स्रोतो के आधार पर भारत का इतिहास लिखा। उसने भारत के धर्म, तीर्थस्थानो, मदिरों, रस्मों की ओर विशेष ध्यान दिया। इसके अलावा भारतीय तोलो, मापों, करो, भाषाओं, आदि के बारे मे व्यवहारिक जानकारी भी दो गई थी। पुस्तक मे भारत के राज- ौतिक इतिहास पर प्रकाश डाला गया था और प्राचीन युग से भारत मे ईसाई र्धर्म के प्रसार का इतिहास दिया गया था। खोजामलन ने अंग्रेज़ों द्वारा बगाल और बिहार पर क़ब्ज़ा किये जाने के इतिहास से सबंधित महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है। एक दूसरे इतिहासकार अकोप सिमोन्यान द्वारा रचित हैदर अली का जीवन-चरित भारत पर अंग्रेज़ों की जीत के इतिहास का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। यह रचना लेखक की व्यापक जानकारी की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण नही है, बल्कि इस लिहाज़ से भी कि इसमें दी गई जानकारी से कभी-कभी ब्रिटिश स्रोतो में निहित एकतरफा जानकारी को सशोधित करने मे मदद मिलती है। १८वी सदी के अत मे रूस मे एक आर्मीनियाई बस्ती में आर्मीनियाई भाषा मे संस्कृत की पाठ्यपुस्तक लिखी गई। उल्लेखनीय है कि इस पुस्तक के साथ दी गई शब्दावली मे संस्कृत शब्दों के समानार्थक रूसी शब्द ही नही, लातिनी, यूनानी और जार्जियाई भाषाओं के शब्द भी दिये गये हैं।

१८वी सदी के अंतिम दशक में आर्मीनियाई व्यापारी दनीला अतानासोव मध्य एशिया से अफ़ग़ानिस्तान होते हुए भारत में कलकत्ता तक गया और फिर तिब्बत के रास्ते रूस पहुंचा। जार्जियाई कुलीन **रफ़ईल दनिबेगश्वीली** की भारत यात्राएं और भी अधिक रोचक थीं। उसके परिवार के भारत के साथ पुराने संबंध थे। उसके पिता कई बार अधिकृत यात्राओं पर भारत गये थे। रफ़ईल दनिबेगश्वीली अपनी भारत यात्रा में जार्जिया के राजा इराक्ली का एक अमीर

आर्मीनियाई व्यापारी याकोव शाहमिर्यान के नाम संदेश लेकर गया था। उल्लेखनीय है कि काकेशिया-पार के राजाओं और भारत में आर्मीनियाई व्यापारियों के बीच घनिष्ठ सम्पर्क थे। दनिबेगश्वीली को भारत में ही नहीं, बर्मा में भी प्रभावशाली आर्मीनियाई व्यापारियों का संरक्षण मिला। दनिबेगश्वीली कम से कम पांच बार भारत गया और कुल जमा १८ साल तक वहां रहा। उसकी आखिरी यात्रा जार्जिया के रूस से सम्मिलन के बाद हुई। भारत के बारे में उसकी पुस्तक मास्को में रूसी भाषा में छपी, जिसकी भूमिका में लेखक ने कहा कि वह "अपने हमवतन, रूस-वासियों" को वह सब बताना चाहता है, जो उसने देखा है। रफ़ाईल दनिबेग-श्वीली की रचना में यात्रा वृत्तांत के साथ भारत की धार्मिक प्रथाओं, दाहसंस्कार और सती प्रथा के बारे में भी बताया गया है। लेखक ने भारत के विरले फलों, जैसे अनानास, अद्वितीय कश्मीरी शालों आदि के बारे में बताया है और एक सच्चे ईसाई यात्री के नाते उस स्थान के बारे में भी, जहां संत थॉमस दफन है। लेकिन इन विचित्र, रंग-बिरंगे विवरणों के साथ-साथ यात्री ने समसामयिक घटनाओं का भी उल्लेख किया है, "भारत की साधारण जनता के साथ," जो "उसकी स्वतंत्रता छीनने वालों" की अधीनता स्वीकार नहीं करना चाहती, "संघर्ष में अंग्रेजों की असफलता" के बारे में बताया है। दनिबेगश्वीली ने राजनीतिक मूल्यांकन नहीं दिया, लेकिन इस बात का उल्लेख कि अंग्रेज़ "पवित्र गंगा तक पहुंचने के लिए" भी टैक्स लेते हैं तथा अपने देश की स्वतंत्रता के लिए अंग्रेज़ों के विरुद्ध संघर्ष में भारतीय नारियों की वीरता के विवरण स्पष्टतः यह इंगित करते हैं कि लेखक की सहानुभूति किस ओर है। इस प्रसंग में हम जार्जियाई यात्री को १८वीं सदी के अंत और १९वीं सदी के आरंभ के रूसी वृत्तकारों के साथ पूर्णतः एकमत पाते हैं।

काकेशिया-पार में भारतीयों के बारे में भी कुछ शब्द हम कहना चाहेंगे। वे निस्संदेह बहुत पहले से यहां आते रहे थे। काकेशिया-पार में स्थायी भारतीय बस्तियां भी थीं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण बाकू नगर में थी, जो अब आज़रबैजान जनतंत्र की राजधानी है। यहां सुराखानी नामक स्थान पर अग्निपूजकों का मंदिर "आतिशगाह" है। यह मंदिर प्राचीन व्यापारिक मार्ग पर कास्पियन सागर के तट पर स्थित है। यह मार्ग अस्त्राखान और वोल्गा को जाता है और भारतीय व्यापारी इससे काफ़ी समय से परिचित थे। बाकू में भारतीय बस्ती का पहला उल्लेख १७वीं सदी में मिलता है। इस बस्ती के निवासी मुल्तानी थे, इनका धर्म हिंदू था, शायद इनमें सिख भी थे। अग्नि मंदिर का निर्माण मुख्यतः १८वीं सदी में हुआ। यहां छोटी-छोटी गुफाओं के रूप में साधुओं के रहने और पूजा के स्थान हैं, गोलाकार गुम्बद तले वेदी है। तीर्थयात्रियों के लिए यहां धर्मशाला भी थी। मंदिर के चारों ओर दांतेदार दीवार बनी हुई है। इन इमारतों की दीवारों पर देवनागरी और गुरमुखी लिपि में लेख खुदे हुए हैं। इनमें कुछ संस्कृत के श्लोक

The Travels of Rafail Danibegashvili
Srinagar
Leh
Nurpur
Indus
Lahore
Sutlej
Srinagar
DELHI
Meerut
Ganges
Agra
Farruhabad
Matsang (Tsangpo)
Cawnpore
Patna
Brahmaputra
Varanasi
Monghyr
Murshidabad
Ganges
Chinsura
Serampore
Calcutta
MOSCOW
Makaryev
Volga
Dnieper
Don
Tobol
Ob
Omsk
Ishim
Irtysh
Semipalatinsk
Orenburg
Orsk
Ural
Astrakhan
BLACK SEA
CASPIAN SEA
Irmak
Akhaltsikhe
TBILISI
Erzurum
Ergani
Diyarbekir
Mush
Mardin
Mosul
ARAL
Syr Darya
Amu Darya
Lake Balkhash
Ili
Uch-Turfan
Bukhara
Teheran

रफ़ईल देनिवेगरवीली की यात्राएं

और कुछ अशुद्ध संस्कृत के वाक्य है तथा शेष अन्य भाषाओं मे। प्राय लेख "श्री गणेशाय नम !" शब्दों से आरंभ होते हैं। १८वी सदी के अंत और १९वीं सदी के आरंभ मे बाकू का "अग्नि मंदिर" देखने आये अनेक रूसी और यूरोपीय यात्रियों ने इस मंदिर और उसके निवासियों का विवरण छोड़ा है। १८वी सदी के मध्य में यहां चालीस-पचास साधु स्थायी रूप से रहते थे, जो भांति-भांति की हठयोग-साधनाएं करते थे। उदाहरणत, यात्रियों ने ऐसे साधुओं का ज़िक्र किया है, जो बरसों तक हाथ ऊपर उठाये खड़े रहते थे। बाकू में भारतीय बस्ती के स्थायी निवासियों के अलावा तीर्थयात्री भी प्राय यहां आते थे। इस बस्ती के अस्त्राखान के साथ सम्पर्क थे, १८०६ में बाकू के रूस में सम्मिलन के पश्चात ये संबंध विशेषत घनिष्ठ हुए। अस्त्राखान के व्यापारी बाकू की बस्ती और मंदिर की वित्तीय सहायता करते थे, उदाहरणत अस्त्राखान के बड़े व्यवसायी उत्तमचन्द मोहनदास ने काफी दान दिया था। १९वी सदी के मध्य तक बाकू में भारतीयों की संख्या काफी कम हो गई। १८६० में जब रूसी विज्ञान अकादमी के एशियाई संग्रहालय के डायरेक्टर बर्नार्ड डोर्न का अभियान दल यहां आया, तो मंदिर के सेवादार पांच भारतीय ही यहां थे। १८८३ मे अंतिम पुजारी ने ज्वाला बुझाकर मंदिर छोड़ दिया। आजकल "आतिशगाह" बाकू का एक संग्रहालय है। "अग्नि मंदिर" के धार्मिक ग्रंथों का एक भाग प्राच्यविद्या संस्थान में तथा दूसरे सोवियत संग्रहों मे सरक्षित है।

व्यापार और जातियों का देशांतरण, चढ़ाइयां और यात्राएं, राजनयिक समझौते, साहित्यिक कृतियों का अनुवाद और सांस्कृतिक उपलब्धियों का आदान-प्रदान – ऐसे भांति-भांति के सूत्रों से पुराने ज़माने से ही मध्य एशिया और काकेशिया-पार के इलाके भारत से जुड़े हुए थे। यहां के जनगण के भाग्य के इतिवृत्त में प्राय: "भारत" शब्द आता है।

रूस के जनगण के भारत के साथ घनिष्ठ ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संबंधों की बदौलत ही इस देश के इतिहास मे और इस जनगण की संस्कृति मे रुचि उत्पन्न हुई, भारत संबंधी अनुसंधानों का विकास तथा रूस में भारतविद्या की एक प्रबल और लब्धप्रतिष्ठ धारा का गठन हो पाया।

अध्याय २

रूस में प्राचीन भारतीय सभ्यता का अध्ययन (१९वीं सदी – २०वीं सदी का आरंभ)

१. रूस में संस्कृतविद्या की शुरूआत

१९वी मदी के पहले दशकों में यूरोप मे पूरब के अध्ययन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण खोजे हुईं और वैज्ञानिक प्राच्यविद्या का विकास होने लगा। उन दिनो की प्राच्य-विद्या मे सर्वोपरि स्थान भारत और सर्वप्रथम उसकी भाषा – संस्कृत – के अध्ययन को प्राप्त था। पूरब का वैज्ञानिक अध्ययन भारत मे शुरू हुआ। एशियेटिक सोसाइटी ऑफ बगाल पहला अनुसंधान केंद्र बनी। इस सोसाइटी के सदस्य प्राच्यविदो की रुचियो का क्षेत्र काफी व्यापक था, तथापि इनका ध्यान मुख्यतः संस्कृत और संस्कृत साहित्य पर केंद्रित था। १९वीं सदी के आरभ में अंग्रेज़ होरेस विल्सन और फ्रांसीसी अनुआं-लेओनार शेज़ी जैसे लब्ध-प्रतिष्ठ संस्कृतविद और उनके शिष्य काम कर रहे थे। परंतु संस्कृतविद्या का विशेष विकास जर्मनी में हुआ। यहां इसके प्रवर्तक थे जर्मन स्वच्छदतावादी (रोमांटिसिस्ट), दार्शनिक और कवि फ़्रीडरिख़ और आगस्त श्लेगेल बधु। श्लेगेल बधु प्राचीन भारत की संस्कृति पर विमुग्ध थे, भारतीय सभ्यता की तुलना वे यूनान और रोम की क्ला-सिकीय सभ्यताओं से करते थे तथा उनके बीच निश्चित संबध पाते थे। वे भारतीय संस्कृति की प्राचीनता को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते थे और उसे निकट पूर्व, यूनान व रोम की संस्कृतियो का स्रोत मानते थे। इस प्रसग में फ़्रीडरिख श्लेगेल द्वारा १८०३ मे अपने मित्र और साथी, कवि लुडविग टीक को लिखा पत्र उल्लेखनीय है। फ़्रीडरिख श्लेगेल ने संस्कृत भाषा के बारे मे, जिसका वह अध्ययन करने लगे थे, लिखा : "यही सभी भाषाओ, मानव आत्मा के सभी विचारों और सारे काव्य का स्रोत है। सभी कुछ, निरपवाद रूप से सभी कुछ भारत मे ही उत्पन्न हुआ है। इस स्रोत के सम्पर्क में आने का

अवसर पाने के पश्चात मैं हर वस्तु को दूसरी दृष्टि से देखने लगा हू।" फ्रीडरिख़ का भाई आगस्त-विलहेल्म जर्मनी मे सस्कृतविद्या की एक पूरी धारा का प्रवर्तक बना। उन्ही दिनो उभरी ज्ञान की एक नई शाखा तुलनात्मक भाषाविज्ञान इस विचार पर आधारित थी कि सस्कृत सभी "भाषाओं का उत्स" है। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के संस्थापकों में एक था आगस्त श्लेगेल का शिष्य फ़ाज़ बोप्प। उसे भारोपीय भाषा परिवार का सिद्धात प्रतिपादित करने का, निरुक्ति-विश्लेषण तथा तुलनात्मक व्याकरण की वैज्ञानिक विधि तैयार करने का श्रेय प्राप्त है। भारोपीय भाषाविज्ञान १९वी सदी में सस्कृतविद्या का आधार बना।

भारतविदो की रुचि मुख्यत: सस्कृत साहित्य के प्राचीनतम ग्रथों पर तथा प्राचीनतम भारतीयो की भाषा की आदिअवस्था के पुनर्निर्माण से सबधित समस्याओं, मिथको, सामाजिक रहन-सहन की आदिअवस्था का पता लगाने पर केंद्रित था और वहां से वह अधिक गहराई मे भारोपीय एकता के दिनो तक जाती थी। १९वी सदी के मध्य मे तुलनात्मक भाषाविज्ञान की सफलताओं के प्रभाव से कई नयी ज्ञान-शाखाओं का आविर्भाव हुआ, जैसे तुलनात्मक नृजातिविज्ञान, तुलनात्मक विधिशास्त्र, आदि। लोक साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन के एक सस्थापक थेओडोर बेन्फ़े का मत था कि लोक साहित्य के अधिकाश कथानको की जन्मभूमि भारत ही है। तुलनात्मक मिथकशास्त्र का अध्ययन करने वाले अनेक विद्वान, जैसे कि जर्मन सस्कृतविद मैक्स मूलर और एडल्बर्ट कून प्राय प्राचीन भारतीय मिथको को ही मूल भारोपीय मिथक मानते थे।

पश्चिमी यूरोप के अग्रणी देशों का एशिया में सक्रिय आर्थिक और राजनीतिक विस्तार प्राच्यविद्या के अधिक तीव्र विकास मे सहायक था, तथापि उपनिवेशवाद की विचारधारा का इस क्षेत्र मे हो रहे शोधकार्यों पर नितांत नकारात्मक प्रभाव पड़ा। अनेक अंग्रेज़ सस्कृतविद भारत मे औपनिवेशिक प्रशासन के अधिकारी थे, जिसका उनके अनुसधानो की दिशा और स्वरूप पर प्रभाव पड़े बिना नही रह सकता था। १९वी सदी की भारतविद्या मे, विशेषत इस विषय पर अग्रेज़ो की रचनाओं में, यूरोप और एशिया के पूर्णत: भिन्न, परस्पर विरोधी होने के तथा यूरोपीय सभ्यता की निर्विवाद श्रेष्ठता के विचार प्राय: पाये जाते हैं। पूरब के जनगण और उनकी प्राचीन सस्कृतियो को तब प्राय. हेय दृष्टि से देखा जाता था।

१९वी सदी के आरभ मे पश्चिमी यूरोपीय इतिहासशास्त्र में भारत के प्रति दो प्रमुख दृष्टिकोण स्पष्टत दिखाई देते हैं—एक ओर औपनिवेशिक तथा दूसरी ओर "रोमांटिक" जो सस्कृतविद्या के विकास मे सबधित था। रूस वैज्ञानिक चितन के सामान्य विकास मे पीछे नही रहा, लेकिन यहा निस्सदेह भारत के प्रति "रोमांटिक" रुख़ का ही प्राधान्य था और प्राचीन भारतीय संस्कृति के गुणो का उच्च मूल्यांकन किया जाता था।

१९वी सदी के बिल्कुल आरभ मे ज़ार अलेक्सान्द्र प्रथम के शासनकाल (१८०१-१८२५) में ज्ञानप्रसारात्मक और उदारतावादी प्रवृत्तियां उभरी। इस काल मे देश मे कतिपय नये विश्वविद्यालय खोले गये, विज्ञान अकादमी की नई नियमावली बनाई गई, जिसमें इतिहास के अध्ययन का भी प्रावधान था। प्राच्यविद्या के विकास को भी प्रश्रय दिया गया। १८०४ में मास्को, कज़ान और खार्कोव विश्वविद्यालयो में प्राच्य भाषाओ के विभाग खोलने का निर्णय किया गया। खार्कोव विश्वविद्यालय के पहले रेक्टर ई० रीझस्की प्राच्य भाषाओं और साहित्य के अध्ययन को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। अपने भाषणो और लेखन, आदि मे वे सस्कृत की ओर भी निश्चित ध्यान देते थे।

प्राच्यविद्या के विकास की हितचिंता अंशत रूसी साम्राज्य की व्यावहारिक आवश्यकताओ द्वारा प्रेरित थी, क्योकि तब पूरब के राज्यो, विशेषत निकट पूर्व के देशो के साथ अधिकाधिक घनिष्ठ संबंध स्थापित किये जा रहे थे। यूरोप के साथ सबधो का भी निश्चित महत्त्व था।

अनेक जर्मन विद्वान रूसी विज्ञान अकादमी के सदस्य थे, क्योंकि १८वी-१९वी सदियो में जर्मनी और रूस के बीच न केवल वैज्ञानिक प्रतिष्ठानो के स्तर पर, बल्कि निजी सम्पर्कों द्वारा भी वैज्ञानिक संबध बने रहे थे। अकादमी-शियन पल्लास के शब्दकोश के बाद से रूस में विश्व जनगण की भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की वैज्ञानिक परम्परा बन गई थी। रूसी राज्य के लिए, जहा विभिन्न जातियों के लोग बसे हुए थे, भाषाओ का अध्ययन और तुलना विशेषत महत्त्व रखते थे। पिछली सदी के सुविख्यात जर्मन सस्कृतविद रुडोल्फ़ रोथ ने लिखा था कि इस सबध में किसी भी देश ने इतनी रुचि नहीं दिखाई है, जितनी रूस ने।

१८०६-१८०७ की रूसी पत्रिकाओं में संस्कृत के बारे में जानकारी प्रकट होने लगी। १८०९ मे जर्मनी के विट्टेनबर्ग नगर में प्राच्य भाषाओ के प्रोफ़ेसर, मास्को विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक समाज के मानद सदस्य एंटोन कॉनरड गोट्लिब की एक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित हुई 'रूसी भाषा तथा सस्कृत के साथ उसका समान मूल'। इन्ही दिनों लेफ्टिनेंट-जनरल न० अल्वेर्दोव ने सस्कृत और रूसी का एक छोटा सा तुलनात्मक शब्दकोश बनाया। यह शब्दकोश प्रकाशित नही हुआ, तथापि इसके आधार पर पीटर्सबर्ग के सुविख्यात विद्वान फ़्रीडरिख आडेलुग ने १८११ मे एक पुस्तिका लिखी 'सस्कृत भाषा की रूसी से समानता'। यह पुस्तिका रूसी और फ़ासीसी मे छपी और फिर अंग्रेज़ी मे इसका अनुवाद हुआ। रूसी पत्र-पत्रिकाओं में इसकी काफी चर्चा हुई। तब तक रूस में संस्कृत कोई नहीं जानता था, उसके बारे मे जानकारी दूसरे स्रोतो मे पाई जाती थी और वह सदा सही नही होती थी। तो भी प्राचीन भारत की भाषा के प्रति रूस में जल्दी ही जागी रुचि और इसकी दिशा – संस्कृत का रूसी से सामीप्य – उल्लेखनीय हैं।

१८१० में रूस में एशियाई अकादमी की स्थापना संबंधी परियोजना प्रकाशित हुई, जो काउंट सेर्गेई उवारोव ने तैयार की थी। इस परियोजना में रूस के लिए पूरब के अध्ययन के महत्त्व पर ज़ोर दिया गया था और भावी अकादमी के कार्य-कलापों का व्यापक कार्यक्रम सुझाया गया था। यह परियोजना सेर्गेई उवारोव ने पेरिस में रूसी दूतमंडल के सदस्य के रूप में रहते समय बनाई थी। रूसी विज्ञान अकादमी के सदस्य ह० य० क्लाप्रोथ ने उनकी इस काम में सहायता की। काउंट सेर्गेई उवारोव की परियोजना एक तरह से १८वीं सदी के रूसी अकादमीशियनों याकोव केर और मिखाईल लोमोनोसोव की रूस में पूरब के नियमित अध्ययन संबंधी योजनाओं को ही आगे बढ़ाती थी। उल्लेखनीय है कि सेर्गेई उवारोव की परियोजना में संस्कृतविद्या को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया था और इस क्षेत्र में ठोस कार्यभार निर्धारित किये गये थे – रूस में संस्कृत शब्दकोश का प्रकाशन, वेदों और महाभारत का अनुवाद। तत्कालीन रूस के लिए ये व्यापक परिप्रेक्ष्य यद्यपि हवाई क़िले अधिक थे, मगर कुछ हद तक वे विज्ञान के भावी विकास के सूचक अवश्य बने। सेर्गेई उवारोव की परियोजना में पश्चिमी यूरोप में गहरी रुचि दिखाई गई। रूस में प्राच्य-विद्या के व्यावहारिक विकास के लिए भी इसका निश्चित महत्त्व था। १८१८ में एशियाई संग्रहालय स्थापित किया गया। यह विज्ञान अकादमी के अधीन प्राच्य-विद्या का विशेष प्रतिष्ठान था, यही कालांतर में विकसित होकर प्राच्यविद्या संस्थान बना, जो आज सोवियत विज्ञान अकादमी के अधीन आता है। यहां हम यह इंगित करना चाहेंगे कि एशियाई संग्राहालय यूरोप में प्राच्यविद्या के सबसे पुराने प्रतिष्ठानों में से एक था। तुलना के लिए यह देखिये कि पेरिस में एशियाई समाज की स्थापना १८२२ में हुई थी, ब्रिटिश एशियेटिक सोसाइटी की १८२९ में और जर्मन प्राच्य-विद्या समाज की १९वीं सदी के पांचवें दशक में हुई। १८१८ में ही प्रमुख अध्यापन-शिक्षण संस्थान में, जो शीघ्र ही पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय बना, प्राच्य भाषाओं का अध्यापन आरंभ हुआ। प्राच्य भाषाओं के पाठ्यक्रम के उद्घाटन समारोह में सेर्गेई उवारोव ने भाषण दिया, जो तब पीटर्सबर्ग शैक्षिक क्षेत्र के संरक्षक और विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष के पद पर आसीन थे। उन्होंने "सारी विश्व संस्कृति के गहवारा" पूरब के अध्ययन के महत्त्व की चर्चा की और इस बात पर ज़ोर दिया कि संस्कृति को समझने के लिए सर्वप्रथम उसके स्रोत की ओर उन्मुख होना चाहिए। उनका कहना था कि "सभी धर्म, सभी विद्याएं, सारा दर्शन" एशिया से ही निकले हैं, कि अकेले एशिया ने ही "नैतिक जगत की सभी विशाल परिघटनाओं के उद्भव की क्षमता बनाये रखी है।"

एशियाई देशों में भारत को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। यह मत प्रचलित था कि यूनानी दर्शन और बाबुलवासियों की खगोलविद्या का स्रोत भारत में ही खोजना चाहिए। सेर्गेई उवारोव कहते थे "निस्संदेह संस्कृत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है," वह "संसार की सभी ज्ञात भाषाओं में श्रेष्ठ है।" "भारत का साहित्य

पूरब के सभी साहित्यों मे सर्वप्रथम, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और व्यापकतम है।" वेदों, मनुस्मृति, महाभारत और रामायण जैसे भारतीय साहित्य के रत्नो का सर्वेक्षण करते हुए सेर्गेई उवारोव ने भारतीय काव्य की भूरि-भूरि प्रशसा की, जिस पर "सौम्यता तथा सौष्ठव की और साथ ही बुद्धि एवं आत्मा की पूर्ण परिपक्वता की छाप है।" उनका मत था कि भारतीय "एशिया में सर्वाधिक शिक्षित लोग" थे और यह कि सस्कृत साहित्य से परिचय का रूसी साहित्य की कृतियों पर सुप्रभाव पड़ेगा। "इस नवीन स्रोत के सम्पर्क से नूतन रूसी वाङ्मय का नवीकरण हो सकता है," उनका यह विश्वास था। पूरब के अध्ययन को सेर्गेई उवारोव सर्वप्रथम एक वैज्ञानिक, सास्कृतिक, ज्ञानप्रसारात्मक कार्यभार ही मानते थे। तथापि उन्होंने रूस मे प्राच्यविद्या सबधी अनुसधानों के राजनीतिक औचित्य की भी चर्चा की: "राजनीतिक दृष्टि से रूस के मानचित्र पर एक नज़र ही यह स्पष्टतः सिद्ध कर देती है कि यह ज्ञान हमारे लिए कितना महत्त्वपूर्ण और यहा तक कि आवश्यक भी है।"

सेर्गेई उवारोव ने अपने भाषण में सस्कृत और भारत के अध्ययन के महत्त्व की चर्चा भले ही की, लेकिन १९वी सदी के आरभ में रूस में वैज्ञानिक रूप से भारत का अध्ययन नही हो रहा था और भारतीय भाषाए भी नही पढाई जाती थीं। एशियाई सग्रहालय के वैज्ञानिक कार्यकलाप मुख्यतः मुस्लिम देशों तक ही सीमित थे।

सस्कृत और स्लाव भाषाओ के सामीप्य के अलावा रूस को भारत से जोडने वाला एक और सूत्र भी था – बौद्ध धर्म। रूसी साम्राज्य के क्षेत्र मे या उसकी सीमाओ पर रह रही कुछ पूर्वी जातिया बौद्ध धर्म की अनुयायी थीं। कल्मीक, मगोल और बुर्यात लोगो से बौद्ध धर्म के बारे मे निश्चित जानकारी पाई जा सकती थी। इन जातियो के जीवन के अध्ययन के लिए बौद्ध धर्म का, उसके धार्मिक ग्रंथों, विशेषतः सस्कृत मे लिखे गये ग्रथो का ज्ञान नितात आवश्यक था। रूस में बौद्ध धर्म के पहले विशेषज्ञो मे एक थे अकादमीशियन याकोव (जैकब) श्मीद्त (१७७९–१८४७) जो मगोलिया और तिब्बत के सुविख्यात अध्येता थे। अपने वैज्ञानिक कार्य के लिए उन्होंने सस्कृत के क्षेत्र मे भी निश्चित प्रशिक्षण पाया।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में फ्रीडरिख आडेलुग (१७६८–१८४३) ने सराहनीय कार्य किया। वे विदेश मंत्रालय के एशियाई विभाग में प्राच्य भाषाओ के शैक्षिक उपविभाग के अध्यक्ष और विज्ञान अकादमी के सह-सदस्य थे। १८२० मे उन्होंने 'सभी भाषाओं और बोलियो का सर्वेक्षण' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की। इसकी भूमिका मे कहा गया था कि शीघ्र ही लेखक सस्कृत भाषा के साहित्य पर विशेष रचना पेश करेगा। १८३० में जर्मन भाषा मे यह पुस्तक छपी। इसका नाम था 'सस्कृत भाषा के साहित्य की विवेचना' और इसमें संस्कृत भाषा, उसकी उत्पत्ति, प्राचीनता तथा दूसरी भाषाओ के साथ संबंध पर अलग-अलग अध्याय थे। फ्रीडरिख आडेलुग ने १७० भारतीय लेखको का हवाला देते हुए सस्कृत की ३५० रचनाओं का वर्णन किया। यह पुस्तक १९वी सदी के पहले दशको तक यूरो-

पीय संस्कृतविदों को ज्ञात और तब तक प्रकाशित संस्कृत की लगभग सभी पुस्तकों की बडे परिश्रम से तैयार की गई प्रणालीबद्ध और पहली सूची है। आडेलुंग की इस पुस्तक का शीघ्र ही अंग्रेजी मे अनुवाद किया गया, जो १८३२ में आक्सफ़ोर्ड में छपा। इसका दूसरा संस्करण १८३७ में 'सस्कृत ग्रथागार। संस्कृत भाषा का साहित्य' नाम से प्रकाशित हुआ। कई दशको तक यह संस्कृतविदो के लिए अद्वितीय पुस्तक रही।

संस्कृतविद्या की अमूल्य सेवा फ्रीडरिख आडेलुग ने अवश्य की, किंतु स्वयं वे मस्कृत भाषा के विशेषज्ञ नही थे। विज्ञान अकादमी ने विदेश से संस्कृतविद को निमंत्रित करना आवश्यक समझा। १८वी सदी के आरभ मे ही पश्चिमी यूरोप, मुख्यत जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वानो को रूस बुलाया जाने लगा था। रूस मे निमंत्रित जर्मन मूल के कुछ विद्वान जीवन भर यही रहे और उन्होंने अपनी दूसरी मातृभूमि के लिए बहुत कुछ किया। ऐसे विद्वानो में एक थे एशियाई संग्रहालय के पहले डायरेक्टर, अकादमीशियन क्रिश्चियन फ्रेन। उनके परामर्श पर ही १८२७ में प्रतिभावान युवा प्राच्यविद **बर्नार्ड (बोरिस) डोर्न** (१८०५-१८८१) को खार्कोव विश्वविद्यालय मे अध्यापन के लिए निमत्रित किया गया। खार्कोव आने से पहले ही इथियोपियाई भजन-सहिता पर शोधकार्य के लिए उन्होंने डाक्टरेट (डी० फिल०) की डिग्री पा ली थी, सादी के 'गुलिस्तान' का फ़ारसी मे अनुवाद किया था और 'ओरिएन्टल ट्रान्स्लेशन कमेटी' के लिए अनुवाद माला पर कार्य करने की सोच रहे थे। खार्कोव मे डोर्न प्रोफ़ेसर बने और १८२९ से १८३५ तक इब्रानी, इथियोपियाई, अरबी, फारसी और सस्कृत भाषाए पढायी। यह रूस मे सस्कृत के अध्यापन का पहला अनुभव था। एक रोचक बात यह है कि प्रो० डोर्न अपने लेक्चर लातिनी भाषा में देते थे। अपने समय के अन्य अनेक प्रमुख प्राच्यविदो की ही भाति प्रो० डोर्न अत्यंत व्यापक ज्ञान और दृष्टिकोण के स्वामी थे। १८२९ मे लंदन मे 'अफ़ग़ानों के इतिहास' का पहला खंड प्रकाशित हुआ, जो १७वी सदी मे भारत मे सकलित इतिवृत्त था। इसके मुख पृष्ठ पर लिखा था 'खार्कोव के प्रो० बी० डोर्न द्वारा अनूदित'। 'इतिहास' का दूसरा खण्ड १८३६ में प्रकाशित हुआ।

१८३३ मे प्रो० डोर्न ने खार्कोव में 'स्लाव भाषा और सस्कृत का संबंध' शीर्षक मे लातिनी मे एक पुस्तक प्रकाशित की, जो रूस मे सस्कृत पर पहला स्वतंत्र शोधकार्य था। यह ग्रंथ प्रो० डोर्न द्वारा १८३२ मे खार्कोव विश्वविद्यालय में दिये गये लेक्चरो पर आधारित था। पुस्तक मे दो महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया था। एक थी – भारोपीय परिवार की भाषाओ के सबंध की यानी तुलनात्मक भाषाविज्ञान की समस्या, जिसमे उन दिनों पश्चिमी यूरोप के सभी संस्कृतविद और भाषाविद रुचि ले रहे थे। दूसरी समस्या थी स्लावो की उत्पत्ति की, जो स्लाव देशो के वैज्ञानिकों को बहुत उद्विग्न किये हुए थी। १८१६ में ही पोलिश विद्वान वलेन्तीन मयेव्स्की ने 'स्लाव और उनके बंधु' नामक रचना लिखी थी, इसमे भी

प्राचीन भारतीयों के साथ स्लावों के संबंधों का सवाल उठाया गया था। पोलैंड तब रूसी साम्राज्य में शामिल था और पोलिश प्राच्यविद्या रूसी प्राच्यविद्या से संबंधित थी। कुछ पोलिश प्राच्यविद रूसी विश्वविद्यालयों में पढ़ाते थे ; रूस में, विशेषत उक्राइना में पोलिश रचनाओं का अनुवाद किया जाता था। उदाहरणत , सुप्रसिद्ध लेखक और खार्कोव विश्वविद्यालय के प्राफेसर प्योत्र गुलाक-अर्तेमोव्स्की ने १९वीं सदी के आरंभ में भारतीय पचांग और ब्रह्माडविद्या पर पोलिश भाषा में लिखी रचना का रूसी में अनुवाद किया था। विभिन्न स्लाव देशों के शोधकर्ता स्लावों की उत्पत्ति की समस्या पर काम कर रहे थे। क्रोएशिया के मिखानोविच ने १८२३ में 'संस्कृत और स्लाव भाषाओं के अर्थ व उच्चारण में मिलते-जुलते शब्द' शीर्षक रचना लिखी। १८२६ में एंटोन युगमन ने संस्कृत की तुलना चेक भाषा से की (यह लेख रूसी में छपा)। प्रसिद्ध चेक स्लावविद पावेल शाफ़रिक, रूसी इतिहासकार निकोलाई करमजिन और निकोलाई पोलेवोई भी स्लावों की उत्पत्ति में रुचि लेते थे और उनकी आदि-मातृभूमि एशिया में ही खोजते थे। उदाहरणत , पावेल शाफ़रिक ने लिखा कि स्लावों का मूलस्थान भारत है।

सो प्रो० डोर्न की पुस्तक 'स्लाव भाषा और संस्कृत का संबंध' रूसी और स्लाव लोगो की वैज्ञानिक रुचियों की मुख्य धारा में ही आती थी। निस्संदेह , प्रो० डोर्न को इस बात का श्रेय है कि अपनी पुस्तक में उन्होंने पूर्णत वैज्ञानिक विधि से काम लिया। उन्होंने यह दिखाया कि शब्दों की ध्वनियां एक सी हो सकती हैं, उनके अर्थ मिलते-जुलते हो सकते हैं, तो भी वे परस्परसंबंधित हों, यह आवश्यक नहीं। प्रो० डोर्न मुख्यत भाषाओं की व्याकरण पद्धतियों की तुलना की ओर ही ध्यान देते थे, उन्होंने सस्कृत और स्लाव भाषाओं में विभक्तियों की विस्तार से तुलना की। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि किसी जमाने में एक ऐसी भाषा थी, जो सस्कृत और स्लाव भाषाओं तथा दूसरी भारोपीय भाषाओं के लिए आधार बनी। इस प्रकार, अपने समय के अनेक लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी भाषाविदों से भिन्न प्रो० डोर्न संस्कृत को ही मूल भारोपीय भाषा नहीं मानते थे। अपनी तुलनाएं प्रो० डोर्न ने कई स्लाव भाषाओं के आधार पर की, ये थी – रूसी, चर्च-स्लाव, पोलिश और चेक भाषाएं। रूस आने से पहले वे स्लाव भाषाएं नहीं जानते थे, लेकिन अपने असाधारण अध्यवसाय और भाषा-अध्ययन योग्यता के बल पर शीघ्र ही ये भाषाएं सीख गये। प्रो० डोर्न स्लाव भाषाओं पर विमुग्ध थे, उन्होंने लिखा कि इनकी समृद्ध अभिव्यजनात्मकता की दृष्टि से इनकी तुलना सस्कृत से की जा सकती है। प्रो० डोर्न स्लाव भाषाओं और संस्कृत की तुलना एक प्रबल वृक्ष के दो विशाल तनों से करते थे।

मुख्यत जर्मनी में काम कर रहे भाषाविद प्राय सस्कृत और जर्मन वर्ग की भाषाओं तथा क्लासिकीय भाषाओं लातिनी और यूनानी के बीच संबधों का विश्लेषण करते थे। यूरोपीय विज्ञान में प्रो० डोर्न का एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह था कि उन्होंने तुलनात्मक भाषाविज्ञान की अध्ययन सामग्री में स्लाव भाषाओं को भी शामिल

किया। प्रो० डोर्न की पुस्तक इस प्रश्न पर फ्रांज़ बोप्प की प्रसिद्ध रचना से पहले ही प्रकाशित हो गई थी। पिछली सदी मे यह इंगित किया गया था कि संस्कृत और स्लाव भाषाओं के बीच उत्पत्तिमूलक सबंधों की खोज का श्रेय बोप्प को नहीं डोर्न को है, यद्यपि यह भी निर्विवाद है कि डोर्न का शोधकार्य रास्मुस रास्क, फ्रांज़ बोप्प और दूसरे पश्चिमी यूरोपीय विद्वानों द्वारा तैयार की गई सामान्य वैज्ञानिक विधि पर आधारित था।

१८३८ मे प्रो० डोर्न खार्कोव से पीटर्सबर्ग चले आये, जहा १८४२ तक एशियाई विभाग में उन्होंने संस्कृत तथा पूरब का भूगोल पढाये। उन्हें अकादमीशियन की उपाधि प्रदान की गई और कालातर मे उन्होंने क्रिश्चियन फ्रेन के स्थान पर एशियाई सग्रहालय के डायरेक्टर का दायित्व सभाला। अपने सारे वैज्ञानिक कार्य-कलापों मे डोर्न "पूरब के प्रति रूस के रुख़ को स्पष्ट करने" की चेष्टा करते रहे। पीटर्सबर्ग मे वे शनै-शनै सस्कृत के अध्ययन से दूर होते गये, मुस्लिम संस्कृतियों के अध्ययन पर ही उनका सारा ध्यान केंद्रित हो गया। उनके बाद के कार्यों में भारतविद्या के लिए महत्त्वपूर्ण एकमात्र कार्य बाकू मे भारतीय मदिर मे आलेखों का अध्ययन था, जिसकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं।

चौथे दशक के आरंभ से पीटर्सबर्ग में स्थित विज्ञान अकादमी प्राच्यविद्या की ओर विशेष ध्यान देने लगी। १८३० में यहां प्राच्य साहित्य और पुरावशेषों का विभाग खोला गया। इसके सम्मुख अकादमी के लिए एक सस्कृतविद तैयार करने कार्यभार रखा गया। देर्प्त (वर्तमान तार्तू) विश्वविद्यालय के युवा स्नातक **राबर्ट लेंज़** (१८०८-१८३६) को इसके लिए चुना गया। राबर्ट लेज़ रूसी अकादमीशियन, सुप्रसिद्ध भौतिकविज्ञानी एमिल लेंज़ के छोटे भाई थे। क्रिश्चियन फ्रेन के निवेदन पर, जिसका विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष और भावी शिक्षा मंत्री सेर्गेई उवारोव ने समर्थन किया, राबर्ट लेंज़ को सस्कृत सीखने के लिए विलक्षण जर्मन संस्कृतविद फ्राज़ बोप्प के पास बर्लिन भेजा गया। बोप्प के साथ कार्य के फलस्वरूप लेंज़ ने १८३३ में कालिदास का नाटक 'विक्रमोर्वशी' प्रकाशित किया। यह प्रकाशन क्लासिकीय पाठविद्या की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओ के अनुसार किया गया था, इसमें लातिनी अनुवाद और टीका भी दी गई थी। लेंज़ के इस अनुवाद का बाद मे हुए 'उर्वशी' के अनुवादो पर बहुत प्रभाव पड़ा। क्रिश्चियन फ्रेन को लिखे पत्र में फ्रांज़ बोप्प ने संस्कृत और तुलनात्मक व्याकरण के अध्ययन मे लेंज़ की सफलताओ को सराहा। बोप्प ने लिखा कि यह विद्वान "इन विषयो के अध्ययन मे अपनी द्रुत और गहरी सफलताओं के फलस्वरूप बहुत आगे निकल गया है।" इसका प्रमाण है "उसके द्वारा कालिदास के नाटक 'उर्वशी' का प्रकाशन, जो यूरोप में निकली दूसरी भारतीय नाटक रचना और पहली ऐसी रचना है, जिसमें मूल पाठ को समझना आसान बनाने के लिए इतनी अच्छी टिप्पणिया दी गई है, कि कम अनुभवी लोग भी महान भारतीय कवि की इस अनुपम रचना का रसास्वादन कर सकेंगे।" बोप्प का कहना था कि

लेज़ को अपने कार्य में रूसी सरकार और विज्ञान अकादमी का समर्थन मिलना चाहिए।

लेंज़ का दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रकाशन था विज्ञान अकादमी के एशियाई संग्रहालय में संरक्षित सस्कृत पांडुलिपियों का सूचीपत्र। यह १८३३ में छपा था। इसके आधार पर लेज़ ने शोधप्रबंध लिखा और उसी वर्ष उसका मण्डन किया। बोप्प के परामर्श और फ्रेन के समर्थन से लेंज़ ने लंदन, आक्सफ़ोर्ड और पेरिस की यात्रा की। यहां इस युवा विद्वान के विशाल फलप्रद कार्य की साक्षी हैं 'जन शिक्षा मंत्रालय की पत्रिका' में छपी रिपोर्टें तथा सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान में सरक्षित हस्तलिपियां।

पीटर्सबर्ग मे ही लेंज़ को बौद्ध धर्म पर ऐतिहासिक ग्रंथ ढूंढने और उनका अध्ययन करने का काम भी सौंपा गया था। प्रत्यक्षत:, इस कामना का कारण यह था कि रूस मे बौद्ध धर्म का जितना गहरा परिचय पाना आवश्यक समझा जाता था, उतना मगोल और तिब्बती स्रोतो से पाना संभव नहीं था। उल्लेखनीय है कि उन दिनों बौद्ध धर्म के इतिहास पर पश्चिम में लिखी कोई पुस्तक भी उपलब्ध नही थी। बौद्ध धर्म के इतिहास और सिद्धांतों पर पहली सुव्यवस्थित रचना लेंज़ की मृत्यु के कुछ वर्ष पश्चात उनके मित्र, फ्रांसीसी भारतविद यूजीन बुर्नूफ़ ने तैयार की थी। स्वय लेंज़ ईस्ट इंडिया कंपनी के पुस्तकालय, ब्रिटिश म्यूज़ियम और रॉयल एशियेटिक सोसाइटी के पांडुलिपि संग्रहो में आवश्यक सामग्री नहीं पा सके और उन्हें अपनी योजना बदलनी पडी। 'उर्वशी' की पांडुलिपियों पर काम जारी रखते हुए १८३४ मे लेज़ ने पहले प्रकाशित सस्करण का एक अलग परिशिष्ट छापा, जिसमें टीका सामग्री दी गई थी। भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन, जो संस्कृत के नाटकों के प्रकाशन कार्य से घनिष्ठ रूप से सबंधित था, लेज़ के वैज्ञानिक कार्यकलापों की मुख्य दिशा बन गया। अंग्रेज़ भारतविद हेनरी थॉमस कोलब्रुक और दूसरे यूरोपीय विद्वानो की इस विषय पर रचनाओं का गहराई मे अध्ययन करने के पश्चात लेंज़ स्वतत्र रूप से काव्यशास्त्र और संगीत पर सस्कृत रचनाओं (शारंगदेव कृत 'संगीतरत्नाकर') का विश्लेषण करने में जुट गये। संस्कृत और पाली की छंद प्रणाली पर रचनाओं– रविकर और विश्वनाथ की टीकाओं सहित पिंगल कृत 'छंदशास्त्र', केदार कृत 'वृत्तिरत्नाकर', आदि–की ओर उनका ध्यान विशेषत गया। वे 'प्राकृतपिंगल' के टीका सहित प्रकाशन पर काम कर रहे थे और भारतीय काव्यशास्त्र पर एक ग्रथ लिखने की सोच रहे थे।

आक्सफोर्ड मे युवा विद्वान का परिचय विलक्षण संस्कृतविद होरेस विल्सन से हुआ और उनके पुस्तकालय में काम करने का अवसर मिला। लेंज़ की अभिरुचि सस्कृत तक ही सीमित नही थी। संस्कृत के अध्ययन से खाली सारा समय वे साहित्यिक हिंदी और बोलचाल की हिंदुस्तानी को समर्पित करते थे। उनकी कापियों से यह पता चलता है कि उन्होंने हिंदी के सभी यूरोपीय व्याकरणों का अध्ययन किया था।

लेंज की हस्तलिपियों में संस्कृत और नूतन भारतीय भाषाओं की स्वतंत्र तुलना मिलती है। उन्होंने बंगला, प्राकृत और उपनिषदों पर, 'अवेस्ता' और तिब्बती साहित्य पर काम किया। 'पृथ्वीराजरासो' के अध्ययन में उन्होंने बहुत समय लगाया। आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में वे 'ललितविस्तर' की पांडुलिपि ढूंढ़ने में सफल रहे। बौद्ध धर्म के इस एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ में बौद्ध धर्म के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। 'पृथ्वीराजरासो' के साथ-साथ लेंज़ छह पांडुलिपियों के आधार पर भट्टनारायण के संस्कृत नाटक 'वेणिसंहार' के टीका सहित प्रकाशन की भी तैयारी कर रहे थे। इंगलैंड में डेढ़ साल के प्रवास के दौरान लेंज़ ने भारत-विद्या पर असंख्य पुस्तकें पढ़ीं। उनके नोट उनकी व्यापक रुचि और भगीरथ परिश्रम के साक्षी हैं। १८३५ में पीटर्सबर्ग लौटने पर अकादमीशियन क्रिश्चियन फ्रेन और याकोव श्मीद्त के परामर्श पर लेंज़ विज्ञान अकादमी में अवर विज्ञानकर्मी बने। वह संस्कृत ही नहीं, हिंदी के भी विशेषज्ञ थे। विदेश में वह बहुत बड़ी संख्या में वैज्ञानिक सामग्री लाये थे। उनकी बनाई सूची के अनुसार यूरोप में भारतविद्या संबंधी पुस्तकें और देवनागरी का टाइप भी खरीदा गया। १८३६ के आरंभ में लेंज़ संस्कृत और तुलनात्मक भाषाविज्ञान पर लेक्चर देने लगे। उन्होंने 'ललित-विस्तर पुराण' पर लेख छापा और भारतीय विद्वान राधाकांत देव के शब्दकोश 'शब्दकल्पद्रुम' पर समीक्षा छापी। वैज्ञानिक कार्य की उनकी योजनाएं विशाल थीं और विज्ञान अकादमी को उनसे बहुत आशाएं थीं। लेकिन दिन-रात के परिश्रम ने उनके स्वास्थ्य की जड़ खोद दी थी, उनकी योजनाओं का पूर्ण होना नहीं बदा था। १८३६ में २८ वर्ष की आयु में ही रोबर्ट लेंज़ का देहांत हो गया।

१९वीं सदी की पहली तिहाई में रोबर्ट लेंज़, बर्नार्ड डोर्न और फ्रीडरिख आडेलुंग की रचनाओं की बदौलत संस्कृतविद्या विज्ञान की एक स्वतंत्र शाखा के रूप में गठित होने लगी। लेकिन इस काल में भारतविद्या की अपनी धारा, व्यवस्थाबद्ध अध्ययन और शोधकार्य की परम्परा देश में अभी नहीं बनी थी। इस दिशा में केवल पहले क़दम ही उठाये गये थे।

रूस में संस्कृत का नियमित अध्यापन प्रो० **पावेल याकोव्लेविच पेत्रोव** (१८१४-१८७५) के नाम के साथ जुड़ा हुआ है। पेत्रोव कुछ समय तक रोबर्ट लेंज़ के शिष्य थे। मास्को विश्वविद्यालय में उन्होंने प्राच्य भाषाओं की शिक्षा पानी शुरू की थी। उन्होंने अरबी और फ़ारसी भाषाएं सीखीं और कालांतर में मास्को विश्वविद्यालय में ये भाषाएं पढ़ाने लगे। विसारिओन बेलीन्स्की, जो आगे चलकर सुविख्यात साहित्यिक समीक्षक, जनवादी विचारक बने, विश्वविद्यालय में पावेल पेत्रोव के सहपाठी थे। दोनों प्रगाढ़ मित्र थे। एक-दूसरे को लिखे उनके पत्र सुरक्षित हैं, बेलीन्स्की अपने संबंधियों और मित्रों के नाम पत्रों में प्रायः अपने साथी पेत्रोव के बारे में बताते थे। १८२९ में एक पत्र में बेलीन्स्की ने लिखा: "पावेल पेत्रोव से मेरी दोस्ती हो गई है। यह वह दोस्ती है, जिस पर मैं सचमुच गर्व कर सकता हूं... क्या आदमी

है ! कितना ज्ञान है उसे !" बेलीन्स्की ने लिखा कि उनके मित्र का न केवल आधुनिक भाषाओ – फ्रांसीसी, जर्मन, अंग्रेज़ी, इतालवी, और प्राचीन भाषाओं – लातिनी और यूनानी पर अधिकार है, बल्कि प्राच्य भाषाओं – अरबी और फ़ारसी – पर भी, तथा वह बहुत अच्छी कविता भी करता है। "भाषाओं और विज्ञान के अध्ययन में वह अथक है भाषाए सीखने की उसमें अद्भुत अनबुझ पिपासा है – संस्कृत और तुर्की भाषाए भी सीखना चाहता है। प्राच्य भाषाओं से उसे विशेष अनुराग है।" उल्लेखनीय है कि पेत्रोव की आयु तब केवल पंद्रह वर्ष थी और वह विश्वविद्यालय के द्वितीय वर्ष का छात्र था।

बेलीन्स्की, पेत्रोव और दूसरे विद्यार्थियो ने साहित्य मे तथा अग्रणी सामाजिक विचारो में रुचि रखने वाले युवाजन की मंडली गठित की। इन लोगों ने इतालवी क्रांतिकारी उगो फ़ोस्कोलो की पुस्तक 'याकोव ओर्तिम के चुने हुए पत्र' का अनुवाद किया। १८३१ में इसका अनाम प्रकाशन हुआ। मिल्टन के 'खोया स्वर्ग' (पैराडाइज लॉस्ट) के कुछ अंशो का पेत्रोव ने रूपातर किया, जो चौथे दशक के आरभ मे प्रकाशित हुए। १८३२ में पेत्रोव ने विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी की और वाङ्मीमांसा के कैंडीडेट (पी-एच० डी० के समतुल्य) की डिग्री पाई। शिक्षा आगे जारी रखने के लिए पेत्रोव राजधानी (पीटर्सबर्ग) गये। यहां १८३४ मे क्रिश्चियन फ्रेन के निवेदन पर शिक्षा मत्री सेर्गेई उवारोव ने पावेल पेत्रोव को पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय मे शोधकार्य के लिए स्थान दिया। लेकिन इससे पहले युवा विद्वान को अरबी और फ़ारसी की तथा सस्कृत की भी परीक्षा देनी पडी। सस्कृत की परीक्षा याकोव श्मीद्त ने ली। पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय मे पेत्रोव ने अरबी और फ़ारसी का अध्ययन जारी रखा तथा तुर्की और चीनी भाषाए भी सीखी। पेत्रोव ने लिखा "कही भी पढ़ू, बस पढ़ता रहू – यही मेरा ध्येय है।" अपना सारा समय प्राच्य भाषाओ के अध्ययन मे लगाते हुए पेत्रोव "उस यौवनसुलभ उन्माद के वशीभूत हो गये, जो सभी नौजवानो, विशेषत रूसी नौजवानो के लिए लाक्षणिक होता है और जिसके कारण वे अपनी शक्ति का अनुमान लगाये बिना ही एकसाथ सभी कामों का बीडा उठा लेते हैं।" सभी प्रमुख प्राच्य भाषाओ का अध्ययन करने की लालसा युवा विद्वान के अथाह उत्साह की द्योतक है।

पेत्रोव का चरित्र, विज्ञान के प्रति उनकी निस्वार्थ भावना बेलीन्स्की के साथ पत्र-व्यवहार में विशेषत: स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हैं। अपने एक पत्र मे पेत्रोव ने लिखा "हां, मित्र, ससार के खोखले सुखो को त्यागकर, भौतिक आवश्यकताओ में न्यूनतम से ही संतोष पाकर और आत्मिक जगत को समेटने की अनबुझ प्यास जगाकर ही मनुष्य सुखी हो सकता है। यह महासागर बहुत गहरा है, लेकिन इसमें डूब पाना परम सुख है, मानवोचित है। भाषाओं के नीरस अध्ययन मे भी दिव्य सुख मिलता है, यदि तुम इसे एक निर्जीव विषय के रूप में नही, बल्कि मानववाणी के सभी रूपो के सजीव ज्ञान की शक्ल में देखो।" पीटर्सबर्ग मे अध्ययन के वर्षो

में संस्कृत ही पेत्रोव की रुचि का प्रमुख विषय बन गई। पीटर्सबर्ग पहुचने पर उन्हें कुस्तुंतुनिया में बहुत अच्छे पद के लिए प्रस्ताव मिला था, लेकिन उन्होंने उसे अस्वीकार कर दिया। अपने एक पत्र मे उन्होने इसके कारण के बारे मे लिखा : "मुझे धन का लोभ नही है मैं तो अपना जीवन सस्कृत को अर्पित कर रहा हू।" युवा विद्वान को सस्कृत स्वय ही सीखनी पडी, फ्रीडरिख आडेलुग और क्रिश्चियन फ्रेन ने उन्हें आवश्यक पुस्तके अवश्य दिलाई और अपने परामर्श भी दिये। पीटर्सवर्ग मे रह रहे एक जर्मन विद्वान, गेटिंगन नगर के डाक्टर ने, जो सभवत फ्रीडरिख बोल्लेन्ज़ेन थे, कुछ समय तक संस्कृत सीखने में पेत्रोव की मदद की, पेत्रोव ने उन्हें फारसी सिखाई। पाठ व्याकरण के अध्ययन से आरभ होते थे, फिर सस्कृत की पुस्तके पढते और अतत पांडुलिपियो से परिचित होते। पेत्रोव बडी अधीरता से राबर्ट लेंज़ के विदेश से लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे। १८३३ मे उन्होंने संस्कृत का अध्ययन शुरू किया। पेत्रोव ने लिखा "कितनी उत्कृष्ट भाषा है! इसकी संरचना और व्यापक साहित्य पर मै विस्मित हू।" प्राकृते उन्हे मनमोहक और काव्यमय लगती हैं। सस्कृत उन्हें अपनी मातृभाषा से मिलती-जुलती लगती है, "इसे सीखना रूसी आदमी के लिए बाये हाथ का खेल है।" १८३५ में वेलीन्स्की के सहयोग से पेत्रोव ने नल-दमयती की कथा के एक अंश का प्रकाशन किया। यह सीधे सस्कृत से रूसी मे किया गया पहला अनुवाद था। १८३६ मे पेत्रोव ने लेंज़ के सूचीपत्र ा परिशिष्ट तैयार किया। १८३७ मे उन्होंने उपनिषदों के प्रकाशन पर समीक्षा ापी तथा मास्को विश्वविद्यालय के संग्रह मे रखी अरबी, फारसी और तुर्की की स्तलिखित रचनाओ का विवरण दिया।

एक सस्कृतविद के नाते पेत्रोव की परीक्षा थी – रामायण के 'सीताहरण' अंश का अनुवाद, पेत्रोव ने हस्तलिपियो के आधार पर यह अनुवाद किया और इसके साथ शब्दावली तथा विस्तृत व्याकरणिक विश्लेषण भी दिया। क्रिश्चियन फ्रेन और कतिपय प्राच्यविदो द्वारा इस कार्य को अनुमोदित कर दिये जाने पर पेत्रोव को बर्लिन मे बोप्प से शिक्षा पाने भेजा गया। इसके अलावा बोन में उन्हें प्रसिद्ध संस्कृतविद क्रिश्चियन लास्सेन से, पेरिस मे यूजीन बुर्नूफ़ से और फिर लदन में भी शिक्षा पानी थी। पेत्रोव को सस्कृत के नाटको तथा कश्मीर के इतिहास का अध्ययन करने और तब तक अप्रकाशित संस्कृत ग्रथो के आधार पर शैक्षिक शब्दावली समेत एक पाठ्यपुस्तक (रीडर) तैयार करने का कार्यभार सौंपा गया। इसके लिए उन्हें ब्राह्मण धर्म के ही नही, बौद्ध धर्म के भी ग्रथो को चुनना था। इस प्रकार पेत्रोव के वैज्ञानिक कार्यकलाप एक तरह से लेंज द्वारा आरभ किये गये कार्य को ही आगे बढ़ाते थे। बोप्प ने युवा रूसी प्राच्यविद की योग्यता की भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए फ्रेन को लिखा "मुझे इसमें कोई सदेह कि व्यापक और गूढ ज्ञान का धनी यह प्रतिभावान युवा विद्वान भारतीय वाङमीमांसा की कीर्त्ति बढ़ायेगा और मेरे मित्र तथा भूतपूर्व शिष्य लेंज़ का, जिससे दुर्भाग्यवश विज्ञान इतनी जल्दी ही वंचित हो

गया है, योग्य उत्तराधिकारी होगा।" विदेश में पेत्रोव ने 'पद्मपुराण' और कल्हण की 'राजतरंगिणी' जैसी संस्कृत की पुस्तकों का ही नहीं, अपितु 'अवेस्ता' की भाषा (ज़ेंद) और समसामयिक बंगला का भी अध्ययन किया। लेकिन १८४० में रूस लौटने पर इस प्रतिभावान और अपार ज्ञान के स्वामी विद्वान को कोई काम नहीं मिला, भयानक गरीबी का मुंह उसे देखना पड़ा, "भगवान जाने कैसे, क्या खाकर" वह जिया, ट्यूशनें देकर और पत्रिकाओं में लेख लिखकर जैसे-तैसे रोटी-पानी का बंदोबस्त हो पाता। इन्हीं दिनों पेत्रोव ने महाभारत से सावित्री की और द्रौपदी-चीरहरण की कथाओं के अनुवाद छापे। पाली भाषा तथा दक्षिणपूर्वी एशिया के बौद्ध साहित्य के बारे में इन्हीं दिनों लिखा उनका लेख भी उल्लेखनीय है।

१८४१ में पेत्रोव को रूस के एक प्राचीनतम और सबसे बड़े विश्वविद्यालय – कज़ान विश्वविद्यालय – में संस्कृत पढ़ाने के लिए बुलाया गया। उन दिनों इस विश्वविद्यालय के रेक्टर महान रूसी गणितज्ञ निकोलाई लोबाचेव्स्की थे। विश्व-विद्यालय की "प्राच्य शाखा" का काफ़ी विस्तार किया गया। लोबाचेव्स्की के दिनों में कज़ान नगर रूस में प्राच्यविद्या का प्रमुखतम केंद्र बन गया। कज़ान विश्वविद्यालय पहला विश्वविद्यालय था, जिसने सीधे भारत के साथ वैज्ञानिक सम्पर्क स्थापित किये। १८२७ में विश्वविद्यालय की परिषद ने पेशावर के मुहम्मद खलील इब्न गफ़रानुल्ला को अपना संवादी चुना। भारतीय विद्वान ने संस्कृत और अरबी की कतिपय पाडु-लिपियां कज़ान भेजीं। एशियेटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल के साथ संबंधों की बदौलत कज़ान विश्वविद्यालय कलकत्ता में प्रकाशित सामग्री पाता था। १८४२ में लोबाचेव्स्की और मंगोलिया व बौद्ध धर्म के विशेषज्ञ ओसिप कोवालेव्स्की की पहलक़दमी पर विश्वविद्यालय में संस्कृत का विशेष विभाग खोला गया और पेत्रोव ने इसका दायित्व संभाला। यह रूस में संस्कृत का पहला विभाग था।

कज़ान में पेत्रोव को विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में संस्कृत की पांडुलिपियां और भारतविद्या पर पुस्तकों का बहुत अच्छा संग्रह मिला। संस्कृत के अध्यापन के लिए नींव बनाई जा चुकी थी। आरंभ में केवल विश्वविद्यालय में ही नहीं, अपितु उच्च माध्यमिक विद्यालय में भी संस्कृत पढ़ाने की योजना थी। पावेल पेत्रोव ने इन पाठों के कार्यक्रम तैयार और प्रकाशित भी किये। विश्वविद्यालय में संस्कृत का पाठ्यक्रम तीन वर्ष का था। यह बोप्प और लास्सेन की पाठ्यपुस्तकों पर आधारित था। विद्यार्थियों को संस्कृत भाषा ही नहीं, साहित्य भी पढ़ाया जाता था। कार्यक्रम के अनुसार पाठों का दायरा बहुत व्यापक था। पाठ्यक्रम भारतीय भाषाओं और लिपियों की उत्पत्ति, स्वन प्रणाली, वर्णमाला और सुलेख के अध्ययन से आरंभ होता था। व्याकरण का सैद्धांतिक पक्ष से नहीं, बल्कि मुख्यतः पाठों के विश्लेषण के आधार पर अध्ययन किया जाता था। इस प्रकार, भाषा का अध्यापन व्यावहारिक था, जो कि कुल जमा कज़ान में प्राच्यविद्या के लिए लाक्षणिक था। संस्कृत के अलावा पाली, हिंदुस्तानी, बंगाली और भारत की दूसरी जीवित भाषाओं में भी विद्यार्थियों को

परिचित कराने का प्रावधान था। पेत्रोव प्राचीन और नूतन भारतीय भाषाओं के बीच घनिष्ठ संबंध की ओर विद्यार्थियों का ध्यान दिलाते हुए कहते थे कि "संस्कृत की सहायता के बिना (नूतन भाषाएं) जानना असंभव है, बशर्ते छात्र केवल बोलचाल की भाषा तक ही सीमित न रहना चाहता हो," उधर "संस्कृत के लिए हिंदू बोलियों के अध्ययन के महत्त्व की तो हम बात ही नहीं करते क्योंकि यह स्वतः स्पष्ट है; ये दोनों एक दूसरे की पूरक हैं।" इस प्रकार, कालांतर के प्रमुख रूसी भारतविद इवान मिनायेव की ही भांति पेत्रोव भी प्राचीन और नूतन भाषाओं को प्रत्यास्थापना नहीं करते थे, उनके मन में समसामयिक भारतीय भाषाओं के प्रति किसी तरह का हेय भाव नहीं था। भाषा के अध्ययन के साथ-साथ विद्यार्थियों को भारत के लौकिक और धार्मिक साहित्य से भी परिचित कराया जाता था, जिनमें इतिहास, आयुर्विज्ञान, दर्शन और संगीत, आदि विषयों पर रचनाएं भी होती थीं। संस्कृत ग्रंथों को पढ़ पाने के लिए भारतीय मिथकों को जानना आवश्यक था। विश्वविद्यालय के कार्यक्रम के अनुसार मंगोल-तातार और चीनी विभागों के विद्यार्थियों के लिए भी संस्कृत सीखना अनिवार्य था। दूसरी विशिष्टताओं के प्राच्यविद भी संस्कृत के लेक्चर सुनते थे। विश्वविद्यालय में पहले बुर्यात विद्वान दोर्जी बंज़ारोव ने भी पेत्रोव से संस्कृत सीखी थी।

कज़ान में अपने काम के पहले वर्षों में पेत्रोव बड़े उत्साह से वैज्ञानिक कार्य-कलापों में रत रहे। हर साल उनकी रचनाएं प्रकाशित होती थीं – जयदेव कृत 'गीतगोविंद' के अंशों का अनुवाद तथा 'घटखर्परम' काव्य का संस्कृत पाठ, हिंदुओं के साहित्य का सर्वेक्षण और 'संस्कृत संग्रह'। 'संग्रह' (१८४६) में महाभारत और रामायण, हितोपदेश और कथासरितसागर से, ब्रह्मांडपुराण, राजतरंगिणी, आदि से लिये गये अंश शामिल थे। इस संग्रह का मुद्रण बड़ी कठिनाई से हुआ। देवनागरी का टाइप बर्लिन से मंगाना पड़ा और स्वयं पेत्रोव को कम्पोज़िंग का काम करना पड़ा। इसका टीका और शब्दावली सहित दूसरा संस्करण नहीं निकाला जा सका। समय बीतने के साथ-साथ पेत्रोव अपने पत्रों में "बौद्धिक एकाकीपन" की शिकायत करने लगे, उनकी रचनाएं कम प्रकाशित होने लगीं। १८५२ में जब मास्को में संस्कृत विभाग खोलने का फैसला किया गया, तो पेत्रोव ने कज़ान छोड़ दिया। वे मास्को विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर हो गये और यहां अपने जीवन के लगभग अंतिम दिनों तक संस्कृत तथा अरबी व फ़ारसी भाषाएं पढ़ाते रहे।

पेत्रोव पूरब की प्राचीन और नूतन दोनों ही तरह की भाषाओं को जीवित मानते थे, उन्होंने न केवल हाफ़िज़ की कविताओं का अनुवाद किया, बल्कि स्वयं भी हाफ़िज़ के अंदाज़ में फ़ारसी में शायरी की। पेत्रोव के एक समसामयिक ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि पेत्रोव एक जीवित भाषा के रूप में संस्कृत बोलते और लिखते थे। उन्होंने बायरन का संस्कृत में अनुवाद किया, इसके लिए उन्होंने संस्कृत के ऐसे छंद ढूंढ़ने और कभी-कभी स्वयं रचने की कोशिश की, जो आधुनिक कवि

की रचनाओ को हमारे सुदूर पूर्वजो की भाषा मे अनुवाद करने के लिए उपयुक्त होते। पेत्रोव पूरब के जिन रचनाकारों का अध्ययन कर रहे होते थे, उनकी शैली और अदाज़ का अनुकरण करने की कोशिश करते थे। भाषा के अध्यापन की उनकी विधि मूल पाठों के आधार पर व्याकरण की व्यावहारिक शिक्षा पाने की ओर लक्षित थी। पेत्रोव के व्यापक ज्ञान का साक्षी था उनका पुस्तकालय, जिसकी वसीयत उन्होंने मास्को विश्वविद्यालय के नाम की। इसमें ससार की सौ भाषाओं मे लगभग दो हज़ार पुस्तके थी। अधिकांश पुस्तको पर पेत्रोव के हाथ की लिखी टिप्पणिया है। सुविख्यात रूसी सस्कृतविदो और भाषाविज्ञानियो – फ़िलीप्प फ़ोर्तुनातोव, व्सेवोलोद मिल्लेर, फ्योदोर कोर्श, आदि – ने पेत्रोव से प्राचीन भारतीय भाषाए सीखीं।

खेदवश, पावेल पेत्रोव ने अपना कोई ऐसा शिष्य प्रशिक्षित नहीं किया, जो उनके बाद विभाग का काम सभाल सकता। लब्धप्रतिष्ठ ईरानविद अकादमीशियन कार्ल ज़ालेमन का कहना था कि चहुंमुखी प्रतिभा के धनी इस भाषाविद, अध्यापक और मननशील शोधकर्त्ता का "विज्ञान की सफलताओं पर आगे कोई प्रभाव नही पडा. उनके बाद कुछ छोटे-मोटे लेख ही रह गये, जिनका स्वरूप सायोगिक ही था और जो विज्ञान पर अपनी कोई छाप छोड़े बिना ही विस्मृति के गर्भ में समा गये।" मास्को मे प्राय. पच्चीस वर्ष के वैज्ञानिक कार्यकलापो के दौरान पेत्रोव ने बहुत ही कम रचनाएं प्रकाशित की. उन सामग्रियों पर, जो उन्होंने यौवन के दिनो मे ही फ्रेन के निर्देश पर एकत्रित की थी, एक लेख – 'पूर्वी शब्दो के सजातीय या समान कतिपय रूसी शब्दो की सूची', प्राच्य लिपियों का सर्वेक्षण, कल्हण कृत 'राजतरगिणी' के कुछ अशो के अनुवाद। अपने जीवन के अतिम वर्षो में इस विद्वान ने उत्तरी भारत की प्रमुख भाषाओं – बंगला, हिंदुस्तानी, मराठी – का सर्वेक्षण कुछ लेखो के रूप मे छापा। इन लेखो मे नूतन भारतीय भाषाओं के व्याकरण और सस्कृत से उनके सबध के बारे मे जानकारी दी गई थी, इन भाषाओ के साहित्य पर लेख दिया गया था तथा कुछ रचनाओ के अशो का अनुवाद और कुछ का साराश दिया गया था। उर्दू गद्य मे से पावेल पेत्रोव ने मीर अम्मन के 'बागोबहार' के तथा हिंदी के 'प्रेमसागर' के कुछ अशो का अनुवाद दिया था। उन्होंने "ब्रिटिश उपनिवेशो मे शिक्षा के आधुनिक आदोलन" की ओर ध्यान दिलाया था और यह मत व्यक्त किया था कि "प्राचीन हिंदू विद्या और यूरोपीय विद्या के संगम से बहुसख्यक भारत के लिए प्रचुर लाभ होगा।" पावेल पेत्रोव की वैज्ञानिक धरोहर मे बहुत कुछ रोचक है, किंतु फिर भी अकादमीशियन ज़ालेमन की निर्मम टिप्पणी सही है। यहां हम ज़ारशाही रूस मे एक विद्वान की त्रासदी पाते हैं। उनके शिष्य वसीली ग्रिगोर्येव ने पुरानी रूसी प्राच्यविद्या के भाग्य का मूल्यांकन करते हुए लिखा था कि "समाज मे विज्ञान के प्रसार का निश्चित स्तर, उसमें विज्ञान की माग के विकास का निश्चित स्तर होना आवश्यक है" जबकि तत्कालीन रूस में, उनके विचार मे, विज्ञान "समाज की महत्त्वपूर्ण आवश्यकता नही, बल्कि वैभव था, सरकारी चिता से उत्पन्न मरियल

फल था।" १९वी सदी के मध्य में सामाजिक और राजनीतिक विकास में रूस के पिछड़ेपन के कारण "शुद्ध विज्ञान" के क्षेत्र में भी पिछडेपन फैला हुआ था। ज़ार निकोलाई प्रथम के शासनकाल (१८२५-१८५५) के कठोर दशक भी घातक सिद्ध हो रहे थे। उस काल के प्रतिभावान रूसी संस्कृतविद पावेल पेत्रोव अन्य अनेक रूसी प्राच्यविदों की ही भांति "बौद्धिक एकाकीपन" अनुभव कर रहे थे और वस्तुत: उन्होंने लिखना छोड़ दिया था।

रूस मे संस्कृतविद्या के एक दूसरे मेधावी प्रवर्तक **काएतान कोसोविच** (१८१५-१८८३) का भाग्य भी ऐसा ही रहा। उपरोक्त ग्रिगोर्येव ने ही यह भी लिखा था कि कोसोविच "रूसी विज्ञान के इतिहास में एक विलक्षण व्यक्ति है... विज्ञान की सेवा में लगे ऐसे उदात्त कर्मठ व्यक्ति का विरला उदाहरण है, जिसने अपना ज्ञान इतनी अधिक प्रतिकूल परिस्थितियों मे प्राप्त किया हो।" बेलोरूसी पादरी के पुत्र कोसोविच ने लड़कपन मे ही "भूखे रहते हुए अटारी मे ठंड सहते हुए लातिनी के अध्ययन की धुन पकड ली थी," और इसमें इतने सफल रहे थे कि वीतेब्स्क नगर के उच्च माध्यमिक विद्यालय ने उन्हें वहां की शिक्षा पूरी करने से पहले ही मास्को विश्वविद्यालय में पढ़ने भेज दिया था। मास्को मे वे विसरिओन बेलीन्स्की और निकोलाई स्तान्केविच जैसे विलक्षण रूसी साहित्यकारों और प्रगतिशील चिंतकों के सम्पर्क में आये। १८३६ मे दर्शनशास्त्र सकाय से स्नातक होने के पश्चात युवा विद्वान को तब तक छोटे-मोटे कामो से ही आजीविका का प्रबंध करना पड़ा, जब तक कि अंतत त्वेर (वर्तमान कलीनिन) नगर के उच्च माध्यमिक विद्यालय में उन्हे प्राचीन यूनानी भाषा के अध्यापक की नौकरी नही मिल गई। कोसोविच "यूनानी के दीवाने" थे, प्राचीन यूनानी और लातिनी भाषाओ एवं साहित्य के वे प्रेमी व मर्मज्ञ थे। अपने भाई इग्नाती कोसोविच के साथ मिलकर उन्होंने यूनानी-रूसी शब्दकोश बनाया। काएतान कोसोविच ने यूनानी भाषा के व्याकरण का रूसी में अनुवाद भी किया, यूनानी गद्य-पद्य संग्रह तथा छोटे यूनानी-रूसी और रूसी-यूनानी शब्दकोश संकलित किये।

१८४३ मे कोसोविच मास्को के एक उच्च माध्यमिक विद्यालय मे प्राचीन यूनानी भाषा पढ़ाने लगे। इन्ही दिनो जाने-माने साहित्यकार, दार्शनिक और सार्वजनिक कार्यकर्त्ता अलेक्सेई खोम्याकोव से उनका निकट परिचय हुआ और उन्होंने स्वतंत्र रूप से संस्कृत सीखनी शुरू की। १८४४ मे ही संस्कृत मे उनके पहले अनुवाद छपने लगे जीमूतवाहन 'विद्याधर की कथा', महाभारत से सुंद-उपसुंद की कथा, भागवतपुराण का एक अंश (ध्रुव की कथा), आदि। भागवतपुराण का अनुवाद कोसोविच ने यूजीन बुर्नूफ के प्रकाशन से किया था और मूल पाठ के कुछ स्थानों की व्याख्या फ्रांसीसी संस्कृतविद की व्याख्या से भिन्न की थी। शूद्रक के 'मृच्छ-कटिकम्' के पहले अंक का अनुवाद भी उन्होंने छापा और नायिका के नाम पर रूसी में इसका शीर्षक 'वसंतसेना' रखा। संस्कृविद्या के क्षेत्र में कोसोविच का सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण कार्य था कृष्णमिश्र के 'प्रबोधचन्द्रोदय' का अनुवाद, जो उन्होंने ब्रोकहाउम के १८४५ के प्रकाशन के आधार पर किया था। यह सस्कृत साहित्य की पहली रचना थी, जिसे पूरा का पूरा रूसी में रूपांतरित किया गया था। रूस में यह नाटक १८४७ मे छपा, अर्थात यूरोप में इसके ज्ञात होने के तुरंत पश्चात ही। कृष्णमिश्र का नाटक धार्मिक-दार्शनिक समस्याओं को समर्पित है, इसमें दिगम्बर जैनो, कापालिको, चार्वाको, बौद्धो तथा दूसरे भारतीय धार्मिक और दार्शनिक मतों पर प्रकाश डाला गया है। रूसी अनुवादक के विचार में इसका दार्शनिक अंतर्य समसामयिक रूसी समाज के लिए न केवल रोचक, अपितु तात्कालिक भी था, क्योंकि रूसी समाज मे तब उग्र विचारधारात्मक संघर्ष चल रहा था। कोसोविच के सम्मुख एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी – अनुवाद की भाषा और शैली की समस्या। यह अनुवाद उन्होंने रूसी नाटक साहित्य की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओ का पालन करते हुए किया। अनुवाद मूल रचना के पूर्णतः अनुरूप था, समसामयिक लोगों के मत में यह सौष्ठवमय था। नाटक के जटिल स्थानों को स्पष्ट करने के लिए कोसोविच ने संस्कृत साहित्य पर विशेष टिप्पणियां लिखीं। इसके अलावा उन्होंने संस्कृत के दार्शनिक शब्दों की भी व्याख्या दी। संस्कृत शब्द छापने के लिए कोसोविच के आर्डर पर मास्को विश्वविद्यालय के मुद्रणालय में विशेष टाइप गढ़ा गया। खेदवश रूसी साहित्य में इस प्रकाशन की ओर प्रायः ध्यान नही दिया गया। कृष्णमिश्र के नाटक के प्रकाशन का मूल्यांकन करते हुए सुविख्यात लेखक और विद्वान, पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के रेक्टर प्योत्र प्लेत्न्योव ने अनुवादक को लिखा: "यह ऐसा पराक्रम है, जो रूसी समीक्षकों की समझ से बाहर है।" उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि वह समय आयेगा जब कोसोविच का नाम "रूस में संस्कृत वाङमय के अध्ययन के संस्थापक के नाते आदर और कृतज्ञता से लिया जायेगा।"

१८५० से कोसोविच पीटर्सबर्ग में जन पुस्तकालय (पब्लिक लाइब्रेरी) में वैज्ञानिक रचनाओ के सम्पादक का काम करने लगे। पुस्तकालय की प्राच्य पुस्तको और पांडुलिपियो का विभाग भी उनके अधीन था और उन्होंने इनकी संदर्भसूची बनाने पर काम किया। पुस्तकालय की भारतीय पांडुलिपियों को मिलाने के लिए १८५१ मे कोसोविच विदेश गये और वहां पश्चिमी यूरोप के प्रमुखतम भारतविदों से मिले। छठे दशक के मध्य में कोसोविच ने भाषाविज्ञान विषयक कुछ रचनाए लिखी। उन्होंने संस्कृत और रूसी की शब्दावली की तुलना पर अलेक्सान्द्र हिल्फेर्डिंग के कार्य का स्वागत किया। १८५४ में विज्ञान अकादमी के प्रस्ताव पर कोसोविच संस्कृत-रूसी शब्दकोश छापने लगे। उन्हें आशा थी कि इस तरह वे अपने देश के विद्वानों के लिए "संसार की एक प्राचीनतम और सर्वाधिक सौष्ठवमय भाषा के अध्ययन का द्वार" खोल सकेंगे। कोसोविच का शब्दकोश रूसी वर्णमाला पर आधारित था, वह पूरा नही हो पाया। १८५६ तक उसके तीन भाग ही प्रकाशित हुए।

१८५५ में राजधानी के पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय मे प्राच्य भाषा संकाय स्थापित

किया गया। १८५८ में यहां संस्कृत के अध्यापन का काम कोसोविच को सौंपा गया। शैक्षिक ध्येय से उन्होंने कुछ कृतियों का प्रकाशन किया, जिनमे महाभारत की आखेटक और कपोत-युग्म की कथा भी थी, पाठों का लातिनी अनुवाद और शब्दावली भी साथ में दी गई थी। १८५९ मे प्राच्य भाषा संकाय की संस्कृत-फ़ारसी शाखा के उद्घाटन के समय संस्कृत भाषा एव साहित्य पर परिचयात्मक व्याख्यान में कोसोविच ने रूस मे सस्कृतविद्या को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने कहा: "सस्कृत पूर्णतम रूपो और सर्वाधिक परिष्कृत गठन वाली भाषा का उदाहरण है, मानव वाङमय की चरम परिष्कृति का उदाहरण है।" वाङमीमांसक के लिए संस्कृत का वैज्ञानिक महत्त्व निर्विवाद है, क्योंकि सस्कृत "उसकी विद्या की नीव" है। सस्कृत ही "जातियो की भाषाओ मे उनकी बंधुत्वपूर्ण एकता" सिद्ध करती है। कोसोविच ने "स्लाव भाषा के साथ सस्कृत के घनिष्ठ सबंध" की याद दिलाई। लेकिन संस्कृत का महत्त्व इतने तक ही सीमित नहीं है। संस्कृत "एक तिहाई मानवजाति के लिए पावन भाषा है।" एशिया के लिए उसकी भूमिका वही है जो यूरोप के लिए यूनान और रोम की क्लासिकीय भाषाओं की। एशिया में सस्कृत का महत्त्व एक विशालतम विश्व धर्म – बौद्ध धर्म – के विस्तार से संबंधित है। संस्कृत साहित्य का सिंहावलोकन करते हुए कोसोविच ने यह इंगित किया कि "भारतीय नाटक शेक्सपियर के और यूनानी नाटकों से अधिक विविधतापूर्ण है," और "तथाकथित शुद्ध विद्याओं के संस्कृत ग्रथ प्रायः ऐसे परिणाम दर्शाते हैं, जिन पर जिज्ञासु यूरोपीय विज्ञान हाल ही मे पहुच पाया है।" अत में कोसोविच ने यह निष्कर्ष व्यक्त किया कि "रूस को संस्कृतविद की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी गणितज्ञ की, इतिहासविद की।"

इस प्रकार प्राचीन भारतीय संस्कृति का उच्चतम मूल्यांकन किया गया, लेकिन साथ ही भारतविद्या को मात्र संस्कृतविद्या तक ही सीमित माना गया।

अपने वैज्ञानिक कार्य के अंतिम चरण मे कोसोविच ने संस्कृतविद्या संबंधी शोधकार्य और अनुवाद बहुत थोड़े ही प्रकाशित किये। उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतः ईरानविद्या तक सीमित था। यहा 'अवेस्ता' के कुछ श्लोको का लातिनी अनुवाद, वाङमीमांसात्मक और आलोचनात्मक टिप्पणियों सहित प्रकाशन तथा अखामनीष युग के कीलाक्षर अभिलेखों का प्रकाशन उल्लेखनीय है।

चौथाई सदी तक कोसोविच पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाते रहे। आरंभ में विद्यार्थी अडोल्फ फ्रीडरिख श्तेत्सलेर की पुस्तक में से पाठ पढ़ते, फिर मनुस्मृति, कालिदास के 'मेघदूत' और जयदेव के 'गीतगोविंद' के अंश। भाषा के पाठों के अलावा कोसोविच विद्यार्थियो को भारतीय जीवन और संस्कृति के स्वरूप के बारे मे, प्राकृतों की विशिष्टताओ, संस्कृत के दार्शनिक शब्दों, आदि के बारे में बताते थे। कोसोविच की रचनाओ की ही भांति उनके अध्यापन कार्य मे सुघड वैज्ञानिक विधि का अभाव, निस्संदेह, महसूस होता था। भारतविद्या के इतिहास

मे कोसोविच का प्राय. कोई शिष्य उल्लेखनीय नहीं है, सिवाय एक अपवाद के– यह थे महान रूसी भारतविद इवान मिनायेव।

पांचवे-छठे दशकों में संस्कृत के प्रति रूसी लोगों की रुचि स्लावप्रेमियो की कुछ रचनाओ से भी सबंधित थी। स्लावप्रेम पिछली सदी के मध्य में रूस में सामाजिक चिंतन की एक धारा था। स्लावप्रेमी पश्चिमी यूरोप के अनुकरण का विरोध करते थे, रूस के विकास की राष्ट्रीय मौलिकता के कट्टर समर्थक थे। लोक गीतो और रीति-रिवाजो का, रूस के प्राचीन इतिहास का बारीकी से अध्ययन और सर्वस्लाव बधुत्व के विचार की रक्षा–यह स्लावप्रेमियों के लिए लाक्षणिक था। वैसे एक धारा के नाते स्लावप्रेम का सामाजिक अंतर्य विविधतापूर्ण था, एक ओर यह धारा रूढिवादी और सरकारी हलक़ों के समीप थी, तो दूसरी ओर कुछ मामलो मे उदारतावादी और सरकार की नीति की विरोधी भी। विज्ञान के विकास में स्लावप्रेम ने स्लाव संस्कृति के प्राचीनतम स्रोतों के प्रति तथा मातृभाषा की श्रेष्ठता के प्रति रुचि जगाने का काम किया। स्लावप्रेम धारा के एक संस्थापक और इसके प्रमुखतम प्रतिनिधि, सार्वजनिक कार्यकर्त्ता, चिंतक और कवि अ० ख़ोम्याकोव की सस्कृत मे रुचि थी और उन्होंने इसका अध्ययन भी किया। उनके प्रभाव मे ही एक दूसरे स्लावप्रेमी लोक गीतो के प्रसिद्ध सग्रहकर्त्ता **अ० हिल्फ़ेर्डिंग** भी संस्कृत की ओर उन्मुख हुए। अ० ख़ोम्याकोव कोसोविच के 'मित्र और शिक्षक' थे, जबकि हिल्फ़ेर्डिंग ने कोसोविच से ही संस्कृत सीखी। १८५३ में हिल्फ़ेर्डिंग ने 'स्लाव भाषा और उसकी सबधी भाषाए' नामक शोधकृति प्रकाशित की और इसके साल भर बाद एक विशद ग्रंथ–'संस्कृत भाषा के साथ स्लाव भाषा का सबंध'। हिल्फ़ेर्डिंग की रचनाओं मे निहित प्रमुख विचार निम्न थे–भारोपीय भाषाओ का अध्ययन कर रहे जर्मन भाषाविद स्लाव भाषाओ के महत्त्व का उचित मूल्यांकन नहीं करते हैं। "स्लावो की भाषा ने अपनी सभी बोलियो में वे धातुए और शब्द बनाये रखे हैं, जो संस्कृत मे हैं।" "इस दृष्टि से... भाषाओं का सामीप्य... आसाधारण है।... अन्य किसी भी यूरोपीय भाषा में संस्कृत से संबंधित इतने शब्द नही मिलेंगे, जितने.. स्लाव भाषा में।" इस विद्वान का कहना था कि रूसी भाषा में एक-दो दर्जन ही ऐसे शब्द होगे, जिनसे सबंधित शब्द संस्कृत में न हों। वह यह सिद्ध करते थे कि सारी स्लाव भाषा में मूल भारोपीय तत्व ही हैं और उसकी एक भी ऐसी विशिष्टता नहीं है, जो सस्कृत में भी न हो। शब्दावली की तुलना करते हुए हिल्फ़ेर्डिंग इस निष्कर्ष पर पहुचे कि संस्कृत और स्लाव भाषा से निकट का संबंध केवल लिथुआनियाई भाषा का ही है और वे भारोपीय समष्टि में एक तरह से एक अलग परिवार ही हैं। उनका मत था कि स्लाव, संस्कृत और लिथुआनियाई भाषाओं का अपना विशिष्ट सबंध है, जो प्रागैतिहासिक काल से चला आया है। अंत मे पुस्तक के लेखक ने यह विचार व्यक्त किया. "स्लावों को अपनी भाषा पर गर्व होना चाहिए अकेले उन्होंने ही चिंतन की वह नूतनता और वह सृजन भाव बनाये रखा है, जो भारो-

पीय मूल की धरोहर है।" १८५५ मे प्रकाशित अ० खोम्याकोव की पुस्तक 'संस्कृत के साथ रूसी शब्दो की तुलना' भी इसी भाव-प्रवाह मे लिखी गई। लेखक के मत में मानवजाति के शैशवकाल के अनुपम दिनो से "हिंदू चिंतन और स्लाव जीवनचर्या ही शेष रहे है।" भारतीय और स्लाव "बधु हैं, जिनका बधुत्व शब्द रूपों की पूर्ण समानता तथा समान मूल से उनके तर्कसगत सुघड विकास में प्रकट होता है।" "रूसी के लिए संस्कृत शब्दो की ध्वनि परिचित है, हमे आश्चर्य इस पर नहीं कि अनेक परिचित शब्द है, अपितु इस पर है कि संस्कृत में अपरिचित शब्द भी हैं।" खोम्याकोव और हिल्फेर्डिंग अपने भाव-प्रवाह मे इतने बह गये कि उन्होंने संस्कृत और स्लाव को अलग-अलग भाषाए नही, बल्कि एक ही भाषा की बोलियां घोषित कर दिया।

उपरोक्त लेखकों की रचनाओं के लिए अतिशयोक्ति और एकतरफापन लाक्षणिक थे। भाषा की शब्दावली मे व्यापक समानता का आधार बहुत खुली और सतही तुलनाएं थी। वैसे कुछ तुलनाओ को कतिपय लब्धप्रतिष्ठ भाषाविद, उदाहरणत: प्रसिद्ध स्लावविद और संस्कृतविद इग्नाती यागिच, उचित मानते हैं। यूरोपीय विद्वानो द्वारा स्लावो और स्लाव भाषाओं की ऐतिहासिक भूमिका का उचित मूल्याकन न किये जाने संबधी विचार भी सही है। (उदाहरणत:, सुविदित है कि पिछली सदी मे जर्मन विद्वान भारोपीय भाषाओ को भारतीय-जर्मन भाषाए ही कहते थे।) खोम्याकोव और हिल्फेर्डिंग के भाषाविज्ञान सबधी शोधकार्य आज कुल जमा पुराने पड गये हैं, १९वी सदी के मध्य मे ही इन्हे सुवैज्ञानिक कार्य कहना कठिन था। वैसे विज्ञान के इतिहास की दृष्टि से ये कार्य रोचक अवश्य हैं, क्योंकि इनमें वह सामाजिक वातावरण स्पष्टत देखा जा सकता है, जिसमे तुलनात्मक भाषाविज्ञान और संस्कृतविद्या के क्षेत्र मे तब काम हो रहा था। साथ ही इनमें प्राचीन भारतीय सभ्यता के प्रति रुचि भी प्रतिबिम्बित हुई है।

१९वी सदी के मध्य में रूस मे संस्कृतविद्या के प्रवर्तको मे हम विज्ञान की निष्काम सेवा मे रत उत्साही लोगो को देखते हैं, जिन्होंने अपने वैज्ञानिक कार्य में अपार कठिनाइयो को पार किया। इनमें सर्वप्रथम वे विद्वान थे, जिन्होंने स्वयं ही संस्कृत का अध्ययन किया, जिन्हे इसकी विधिवत शिक्षा नही मिली। प्राचीन भारत की भाषा की संपन्नता और स्लाव भाषाओं से इसकी समीपता ने ही रूसी अनुसंधानकर्ताओं का ध्यान आकर्षित किया। इन विद्वानो की रुचि प्राय: शुद्धत: वैज्ञानिक ही थी और भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियो के प्रति उनके मन मे जागी प्रशंसा से ही निर्धारित होती थी। उन्होंने रूसी लोगो को प्राचीन भारतीय वाङमय की कालजयी रचनाओं से परिचित कराने की चेष्टा की, तथापि संस्कृतविद्या एक अमूर्त विद्या ही रही, जो रूसी समाज की आकांक्षाओं और अभिरुचियों से बहुत दूर प्रतीत होती थी।

संस्कृत काव्य की केवल एक कृति ने रूसी साहित्य में अपना अभिन्न स्थान बनाया। यह रचना थी – 'नल-दमयंती' उपाख्यान का अनुवाद, जो वसीली झुकोव्स्की

ने किया (१८४४ में यह प्रकाशित हुआ)। यह अनुवाद सीधे संस्कृत से नहीं, बल्कि फ्रीडरिख रुक्कर्ट के जर्मन अनुवाद से किया गया था। रूसी कवि जर्मन स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज़्म) से प्रभावित थे और भारत में उनकी रुचि तथा 'नलदमयती' का उनका बोध भारतीय काव्य के प्रति स्वच्छंदतावादियों के रुख के समान था। आ० श्लेगेल का उद्धरण देते हुए झुकोव्स्की ने इस कथा के "आद्य, अकलुष सौंदर्य, विचारों और कोमल भावनाओं की उदात्तता" का उल्लेख किया। वसीली झुकोव्स्की का 'नल-दमयती' १९वी सदी के पूर्वार्ध में रूसी काव्य की एक विलक्षण और सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है। कालांतर में स्वरकार अन्तोन अरेन्स्की ने इसे संगीतबद्ध किया और रूसी रंगमंच पर 'नल-दमयती' ओपेरा मंचित हुआ। वसीली झुकोव्स्की ने रुक्कर्ट के अनुवाद को "अधिक काव्यमय" मानकर चुना था, हालांकि वैज्ञानिक सटीकता की दृष्टि से बोप्प का अनुवाद मूल के अधिक निकट था। अपनी 'भारतीय कथा' में झुकोव्स्की ने मूल के प्रति निष्ठा की अधिक परवाह नही की, शाब्दिक अनुवाद देने के बजाय रुक्कर्ट का अनुकरण अधिक किया। उनके 'नल-दमयती' को महाभारत के एक अंश के अनुवाद की अपेक्षा भारतीय कथा पर आधारित रूसी काव्य कहना अधिक सही होगा।

कुछ वर्ष पश्चात 'नल-दमयती' उपाख्यान का सीधे संस्कृत से भी रूसी में अनुवाद हुआ। रूसी पाठकों को पसंद आई रचना को सुविख्यात संस्कृतविद कायेतान कोसोविच के भाई इ० कोसोविच ने वाङमीमांसा की दृष्टि से अधिक सही रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इ० कोसोविच क्ल्याज़्मा नदी के तट पर बसे प्रांतीय नगर व्लादीमिर में रहते थे।

रूसी काउंट अ० सल्तिकोव के यात्रा-संस्मरणों में भारत की छवि रोमांटिक रंगों में रंजित थी। उनके 'भारत के पत्र' रूसी और फ्रांसीसी भाषाओं में छपे थे, इनके साथ लेखक द्वारा बनाये गये रेखाचित्र भी थे। यह पुस्तक यूरोप में सुज्ञात थी। उदाहरणतः, कार्ल मार्क्स ने अपने एक लेख में भारतीय जनता के प्रतिभासंपन्न होने के बारे में अ० सल्तिकोव के शब्द उद्धृत किये थे।

रूसी विश्वविद्यालयों में लेक्चरों और पाठ्यपुस्तकों में प्राचीन भारत के इतिहास पर प्रकाश डाला जाता था। मास्को विश्वविद्यालय के मशहूर प्रो० तिमोफेई ग्रानोव्स्की, जिनके लेक्चर पांचवें-छठे दशकों में रूस के वैज्ञानिक और सामाजिक जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना होते थे, प्राचीन भारत की ओर बहुत ध्यान देते थे। अपने विद्यार्थियों को वे यूरोप के प्रमुख संस्कृतविदों – लास्सेन, बुर्नूफ, आदि – के कार्यों के परिणामों के बारे में बताते थे। प्रो० मिखाईल लूनिन को "खार्कोव का ग्रानोव्स्की" कहा जाता था, वे प्राचीन इतिहास पर अपने लेक्चर भारत से आरंभ करते थे। प्राचीन भारत में प्रो० लूनिन विशेष रुचि लेते थे। १८३७ में उन्होंने 'भारतीय उपमहाद्वीप की जनता के जीवन पर दृष्टिपात' नाम से एक विशेष ग्रंथ छापा और इसके कुछ वर्ष पश्चात प्राचीन पूरब के इतिहास पर अपने लेक्चरों के कोर्स में भारत

ओट्टो बोटलिंग

को विशेष स्थान दिया। खार्कोव के ही प्रो० रोस्लाव्स्की-पेत्रोव्स्की के 'प्राचीन विश्व इतिहास का सिंहावलोकन' ग्रंथ में तथा अन्य रचनाओं में प्राचीन भारत के लोगों के रहन-सहन, सामाजिक जीवन, दर्शन, धर्म, आदि का विवरण दिया गया था। तुलनात्मक नृजातिविज्ञान और विधिशास्त्र के अध्येता प्रायः भारतीय सामग्री की ओर उन्मुख होते थे और उसका काफी विस्तृत विवरण देते थे। ये विद्वान संस्कृतविद नहीं थे, सो संस्कृत ग्रंथों का स्वयं गहन विश्लेषण नहीं कर सकते थे, लेकिन ये यूरोप के भारतविद्या संबंधी नवीनतम साहित्य का उपयोग अपनी रचनाओं में करते थे और रूसी लोगों को इस क्षेत्र की उपलब्धियों से परिचित कराते थे। यहां यह उल्लेखनीय है कि भारतविद्या के बारे में रूसी लोगों के ज्ञान का अनुमान केवल रूसी भाषा के प्रकाशनों से नहीं लगाया जाना चाहिए। मौलिक पश्चिमी साहित्य, विशेषतः फ़्रांसीसी और जर्मन भाषाओं में लिखित पुस्तकें रूस के शिक्षित जन पढ़ सकते थे।

रूसी इतिहासविद्या की एक विशिष्टता रोचक है: रूस में विश्व इतिहास के पाठ्यक्रमों में भारत तथा अन्य पूर्वी देशों का अभिन्न स्थान था, जबकि पिछली सदी में (और कहीं-कहीं तो आज भी) यूरोप में सुदूर पूर्व और दक्षिणी एशिया के देशों को पूर्णतः पृथक सभ्यताएं ही माना जाता था। प्रसिद्ध जर्मन प्रो० लेओपोल्ड रांके जैसे प्रमुख यूरोपीय इतिहासवेत्ता भारत को विश्व इतिहास के क्रम से अलग

रखने के लिए सैद्धांतिक आधार तक पेश करते थे। इंगलैंड के विश्वविद्यालयों में स्वीकृत पाठ्यक्रमों के यूरोप-केंद्रीयतावादी, और कभी-कभी तो नस्लवादी, उपनिवेश-वादी सिद्धांत सुज्ञात हैं। रूस के वैज्ञानिक जगत में ऐसे दृष्टिकोण नहीं फैले। रूसी शोधकर्त्ता प्रायः पश्चिमी इतिहासविद्या की इस बात के लिए आलोचना करते थे कि विश्व इतिहास का वर्णन उसमें "प्रायः पूर्णतः यूरोप के जनगण पर ही केंद्रित होता है, जबकि दूसरे जनगण के हजारों वर्षों के और महान जीवन को पृष्ठभूमि में धकेल दिया जाता है और उसका यूरोप के एक तरह से विशेषाधिकारप्राप्त जनगण के साथ कोई संबंध नहीं स्थापित किया जाता" (अ० खोम्याकोव)। इस बात की ओर ध्यान दिलाया जाता था कि पूरब के और स्लावों के इतिहास के बिना इतिहास को विश्व इतिहास नहीं माना जा सकता। यूरोप-केंद्रीयतावाद का अभाव रूस में विज्ञान का एक विशेष लक्षण था और निश्चित हद तक इसी से रूस में प्राच्यविद्या की सफलताएं सुनिश्चित हुईं।

पीटर्सबर्ग विज्ञान अकादमी में पिछली सदी के मध्य में संस्कृत पर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य हुआ। इस कार्य का संबंध सर्वप्रथम **ओट्टो निकोलायेविच बोटलिंग** (१८१५-१९०४) के नाम से है।

ओट्टो बोटलिंग का जन्म पीटर्सबर्ग में ही हुआ था, देर्प्त नगर के उच्च माध्यमिक विद्यालय और फिर पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में वे पढ़े। प्राच्यविद्या की व्यापक शिक्षा पाने के ध्येय से उन्होंने प्रो० ओसिप सेन्कोव्स्की और फ० शर्मुआ से अरबी व फ़ारसी भाषाएं सीखीं। इन्हीं प्रोफेसरों से पावेल पेत्रोव ने भी शिक्षा पाई थी। जर्मन संस्कृत-विद जार्ज ऐवाल्ड के शिष्य फ्रीडरिख़ बोल्लेन्ज़ेन के साथ, जो रूस में रहते और काम करते थे, परिचय होने पर ओट्टो बोटलिंग को भारतीय भाषाएं सीखने की प्रेरणा मिली। रूस में तब संस्कृत सिखाने वाला कोई नहीं था, सो बोटलिंग जर्मनी चले गये। १८३५ से बर्लिन में बोप्प से और बोन में आगस्त श्लेगेल व लास्सेन से संस्कृत सीखने लगे। १८३८ में हेल्सेन में उन्होंने डी० फिल० की डिग्री पाई। ओट्टो बोटलिंग ऐसे भारतविद थे जो सर्वप्रथम "भाषा के गहनतम और पूर्णतम अध्ययन" के लिए प्रयत्नशील थे, इसी को वे "कालांतर में उस जटिल और मौलिक जगत के अध्ययन का एकमात्र विश्वसनीय साधन मानते थे, जिसको समझने की कुंजी संस्कृत थी।" इस विद्वान का पहला बड़ा कार्य था, १८३९-१८४० में बोन में पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का प्रकाशन। यह प्रकाशन यूरोप में संस्कृत के अध्ययन में एक युगांतरकारी घटना थी, इसके साथ प्राचीन भारत के व्याकरण साहित्य के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ। बोटलिंग ऐसे पहले विद्वान थे, जिन्होंने 'अष्टाध्यायी' की रचना का अनुमानित काल निर्धारित किया और इसके प्रकाशन में वैज्ञानिक टीका भी दी। समीक्षकों ने बोटलिंग के कार्य को आदर्श माना। १८४२ में उन्हें रूसी विज्ञान अकादमी का अवर विज्ञानकर्मी (एडजक्ट) और फिर सदस्य चुना गया। कुछ वर्षों में ही बोटलिंग ने कालिदास के नाटक 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' की

प्राचीनतम पाडुलिपि का अनुवाद और टीका सहित प्रकाशन किया और संस्कृत मे वलाघात के प्रश्न पर एक पुस्तक लिखी, जिससे भाषाविज्ञान के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर कार्य शुरू हुआ। भारतीय व्याकरण परम्परा के आधार पर बोटलिंग ने संस्कृत के प्रत्ययों पर भी एक लेख लिखा। १८४५ में पीटर्सबर्ग में सस्कृत का एक अनुपम सकलन छपा, जिसमे पहली बार ऋग्वेद के श्लोक शामिल किये गये थे। भारतीय व्याकरण और शब्दविज्ञान पर काम जारी रखते हुए बोटलिंग ने पीटर्सबर्ग में बोपदेव कृत व्याकरण (१८४६) और हेमचन्द्र रचित शब्दकोश 'अभिधान चिन्तामणि' (१८४७) प्रकाशित किया। सस्कृत के विशद शब्दकोश के सकलन का काम शुरू हुआ। इस विद्वान की वैज्ञानिक रुचियों और ज्ञान की व्यापकता तथा असाधारण कर्मठता देखकर आश्चर्य होता है। पाचवें दशक के अत मे उन्होंने याकूत भाषा पर व्यापक ग्रथ तैयार किया। इस विषय पर यह पहला गभीर और विशद शोधकार्य था और इसका महत्त्व आज तक बना हुआ है। १९६४ में हेग (हालैंड) में इस ग्रंथ का पुनः मुद्रण हुआ। वर्तमान सदी के सातवें दशक के अत में याकूत्स्क नगर मे बोटलिंग की स्मृति में वैज्ञानिक सम्मेलन हुआ। इसमे इस बात पर जोर दिया गया कि याकूत भाषा की लिपि का आधार बोटलिंग द्वारा तैयार की गई वर्णमाला मे ही बना। १८५२ मे उनकी पुस्तक 'रूस मे जिप्सियो की भाषा' (रूसी प्राच्यविद व० ग्रिगोर्येव द्वारा एकत्रित सामग्री के आधार पर) छपी। रूसी व्याकरण और स्वनविज्ञान पर भी बोटलिंग ने लेख लिखे, जिनमे बहुत से गूढ़ विचार, प्रेक्षण और मूल्याकन थे। लेकिन बोटलिंग का सबसे बडा कार्य सस्कृत का शब्दकोश ही था, जो "बृहद पीटर्सबर्ग कोश" के नाम से जाना जाता है। १८५२ से १८७५ तक सात विशाल खण्डो मे यह कोश प्रकाशित हुआ। ओट्टो बोटलिंग ने प्रो० रुडोल्फ़ रोथ के साथ मिलकर इस शब्दकोश पर कार्य किया। अनेक जाने-माने संस्कृतविदों— बर्लिन के प्रोफेसर एल्ब्रेख्ट वेबेर, अमरीकी सस्कृतविद विलियम विटनी, लीडन के डा० हेड्रिक केर्न, पीटर्सबर्ग के अकादमीशियन अन्तोन शिफ्नेर, आदि ने उनकी सहायता की। यह कोई अतिशयोक्ति नही कि बोटलिंग और रोथ के शब्दकोश के साथ सस्कृत के अध्ययन में एक नए युग का पदार्पण हुआ। इस शब्दकोश का कार्यभार था यथासभव अधिक व्यापक शब्द-सामग्री एकत्रित करना, जो मध्ययुगीन भारतीय कोशकारो और टीकाकारो की व्याख्याओ मे स्वतत्र हो (यानी सस्कृत की मूल पुस्तकों के स्वतंत्र अध्ययन के आधार पर जमा की गई हो)। शब्दो के अर्थ उनके ऐतिहासिक क्रम में दिये गये। बडे अध्यवसाय से, बहुत बारीकी से और पूर्ण रूप से तैयार किया गया यह शब्दकोश उस समय तक ज्ञात सस्कृत के सारे मुद्रित और पांडुलिपियों के रूप में उपलब्ध साहित्य पर आधारित था। यहा यह भी उल्लेखनीय है कि उन दिनों ही यह साहित्य असीम था और इस बात के बावजूद कि इस शब्दकोश को छपे सौ साल से अधिक बीत चुके हैं तथा इस बीच सस्कृत के अनेक नये मूल ग्रंथ तथा कई नये शब्दकोश छपे है, 'पीटर्सबर्ग शब्दकोश' आज भी अद्वितीय है। भाषाविज्ञान के

इतिहासकार, भाषाविद और संस्कृतविद मेर्गेई बूलिच ने "मनुष्य के मनोबल, लौह कर्मठता और अपार ज्ञान के बल पर रचित इस आश्चर्यजनक ग्रथ द्वारा इस क्षेत्र मे आई क्रांति" की चर्चा की और कहा कि "बोटलिंग और रोथ के शब्दकोश के फलस्वरूप ही अनेक भारतीय ग्रंथो को सही-सही समझना संभव हुआ और उनका सच्चा अर्थ प्रकट हुआ।" इस शब्दकोश में रोथ ने वैदिक संस्कृत की शब्दावली पर काम किया था, जबकि बोटलिंग ने लौकिक संस्कृत के शब्दों की व्याख्या करते हुए अधिकांश काम किया। (बेर्टोल्ड डेल्ब्रुक का अनुमान था कि शब्दकोश का ६/१० भाग बोटलिंग ने ही तैयार किया।) यद्यपि पिछले सौ वर्षों में अनेक नये ग्रंथो और पाठभेदों की खोज और उनका प्रकाशन हुआ है, तथापि बोटलिंग द्वारा इस शब्दकोश में किया गया कार्य ही सब से कम पुराना पडा है।

'बृहद पीटर्सबर्ग शब्दकोश' पर कार्य सपन्न होने के पश्चात बोटलिंग ने अकेले ही एक और भव्य कार्य – 'लघु पीटर्सबर्ग शब्दकोश' के प्रकाशन – का बीडा उठाया। यह भी बड़े आकार के सात खण्डों में १८७६ से १८८६ के दौरान प्रकाशित हुआ। इसमे संस्कृत ग्रंथो से उद्धरण नहीं दिये गये थे, परंतु नये मिले ग्रंथों से शब्दावली परिवर्द्धित की गई थी। ये पीटर्सबर्ग शब्दकोश आने वाले अनेक दशको के लिए न केवल संस्कृतविद्या के, बल्कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान के भी आधार बने।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि शब्दकोशों पर कार्य के साथ-साथ बोटलिंग ने कई दूसरे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन भी तैयार किया। १८६३-१८६५ में 'भारतीय सूक्तियों' (जर्मन अनुवाद सहित) के तीन विशाल खण्ड निकले। इस पुस्तक के दूसरे संस्करण मे लगभग ८ हज़ार सूक्तिया थी। इसमें बोटलिंग ने पहली बार संस्कृत के सूक्ति और सुभाषित काव्य की समृद्धि और विविधता दर्शाई। उन्होंने शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' का जर्मन अनुवाद छापा, बृहदारण्यक और छांदोग्य उपनिषदों के अनुवाद प्रकाशित किये तथा पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' का दूसरा संस्करण निकाला (इस बार इसमे जर्मन अनुवाद भी दिया गया था), संस्कृत पाठ-सकलनो और 'भारतीय सूक्तियों' के परिवर्द्धित संस्करण तैयार किये और दडी कृत काव्यशास्त्र का अनुवाद सहित प्रकाशन किया। बोटलिंग के प्रकाशनों की विशिष्टता है – अधिकतम शुद्धता और सटीकता। उन "रूढिवादियो" के विपरीत, जो किताबों की गलतियो में "भाषा की विशिष्टताएं" देखते थे, पाठ-अनुशीलन मे बोटलिंग "प्रामाणिक सस्कृत व्याकरण का कठोरता से अनुकरण करते थे।" संस्कृतविद्या की अनेक समस्याओं पर बोटलिंग ने अपने समय मे प्रचलित विचारों से भिन्न विचार व्यक्त किये। उनका एक विचार यह था कि प्राचीन भारत में रचनाओ के सप्रेषण में मौखिक परम्परा के प्रभुत्व को बहुत बढा-चढाकर नहीं देखना चाहिए, कि वैदिक संहिताओं के बाद का सारा भारतीय साहित्य लिखित साहित्य है।

अपने जीवन के अंतिम वर्ष बोटलिंग ने जर्मनी में बिताये, किंतु रूस की विज्ञान अकादमी और रूसी संस्कृतविदों के साथ उन्होंने सम्पर्क बनाये रखे। वैज्ञानिक की

मुख्य रचनाएं पीटर्सबर्ग में ही छपती थी। विज्ञान अकादमी अपने इस विलक्षण सह-सदस्य के वैज्ञानिक कार्य के लिए भारी अनुदान देती थी। उनकी रचनाओं के प्रकाशन के लिए विशेष मुद्रणालय खोला गया था, वैज्ञानिक साहित्य मंगाया जाता था। 'बृहद पीटर्सबर्ग शब्दकोश' की रचना के दिनो को याद करते हुए रुडोल्फ़ रोथ ने लिखा था कि रूस की विज्ञान अकादमी ही वह "ज़मीन थी, जिस पर यह वृक्ष उगा," उसके प्रभाव, साधनों और रूसी विद्वानो की सहायता के बिना यह शब्दकोश न बन पाया होता। पीटर्सबर्ग शब्दकोश विज्ञान अकादमी के गौरव की वस्तु है। ये भारत में भी सुविदित है। १९२३ मे कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनुरोध पर सोवियत विज्ञान अकादमी ने उन्हें 'बृहद पीटर्सबर्ग शब्दकोश' की एक प्रति भेजी थी। आधुनिक भारतीय संस्कृतविद शब्दार्थ विषयक अपने कार्य में पीटर्सबर्ग शब्दकोश का सक्रिय उपयोग करते हैं।

१९वी सदी के मध्य के दूसरे संस्कृतविदों, भाषाविदों में फ्रीडरिख़ (फ्योदोर) बोल्लेन्ज़ेन (१८०९-१८९६) का नाम उल्लेखनीय है। र० लेंज़ की सामग्री का उपयोग करते हुए बोल्लेन्ज़ेन ने १८४६ में पीटर्सबर्ग में कालिदास के नाटक 'विक्रमोर्वशी' का संस्कृत पाठ, जर्मन अनुवाद और टीका सहित प्रकाशित किया और छठे दशक में प० पेत्रोव के मास्को चले जाने के बाद कुछ समय तक कज़ान में संस्कृत पढ़ाई।

ओट्टो बोटलिंग, फ्रीडरिख़ बोल्लेन्ज़ेन ने यूरोप मे सस्कृतविद्या में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। उनके नाम वैज्ञानिक जगत में सुज्ञात है। यूरोप के, विशेषत: जर्मनी जाने-माने विशेषज्ञों के साथ उनके घनिष्ठ सम्पर्क थे। रूसी विज्ञान अकादमी उनके वैज्ञानिक कार्यकलापो मे सक्रिय सहयोग प्रदान करती थी। तो भी रूस में अपनी सस्कृतविद्या के विकास पर उनका प्रभाव नगण्य रहा, रूसी समाज के साथ उनका सम्पर्क क्षीण था, विशेषत: इसलिए भी कि उनका मुख्य कार्य संस्कृत ग्रंथों का प्रकाशन ही था और उनके शोधकार्य जर्मन भाषा मे छपते थे।

रूस के वैज्ञानिक जगत की भारत और उसकी सांस्कृतिक धरोहर में रुचि कतिपय वस्तुगत कारको पर आधारित थी। रूस में बौद्ध धर्म की अनुयायी जातियां भी रहती हैं, सो यहा बौद्ध धर्म के अध्ययन का विकास होना स्वाभाविक ही था और इस कार्य के लिए बौद्ध धर्म के भारतीय स्रोतों तथा प्राचीन भारतीय भाषाओं में लिखित साहित्य की ओर उन्मुख होना आवश्यक था। १८वी सदी के अंत और १९वी के आरभ मे ही याकोव श्मीद्त बौद्ध धर्म के अध्ययन मे प्रवृत्त हो गये थे।

प्रो० **ओसिप कोवालेव्स्की** (१८०१-१८७८) का शोधकार्य विशेषत: रोचक है। प्रो० कोवालेव्स्की जन्म से पोलिश थे और वील्नो नगर (वर्तमान वीलन्युस, लिथुआनिया जनतत्र की राजधानी) मे लातिनी भाषा के अध्यापक थे। पोलिश कवि आदम मित्स्केविच द्वारा सस्थापित गुप्त समाज में भाग लेने के अपराध मे उन्हे १८२४ मे कज़ान में निष्कासित कर दिया गया। यहा वे मंगोल भाषा और

सम्कृति का तथा तिब्बत और बौद्ध धर्म का अध्ययन करने लगे। संस्कृत से भी उनका परिचय हुआ। चौथे दशक में उन्होंने 'बौद्ध ब्रह्मांड-मीमांसा' नामक पुस्तक छापी, जो बौद्ध धर्म पर यूरोप में प्रकाशित पहली पुस्तकों में से एक है। इस विद्वान की कई अप्रकाशित रचनाएं भी बौद्ध धर्म पर ही हैं 'बौद्ध इतिवृत्त के क्षेत्र में शोधकार्य', 'बौद्ध धर्म का इतिहाम', आदि। प्रो० कोवालेव्स्की के कार्य की एक विशिष्टता यह थी कि उन्होंने प्राच्यविद्या मबधी शोधकार्यों मे स्रोतो के आलोचनात्मक विश्लेषण की उस विधि का प्रयोग किया, जो यूरोप मे प्राचीन यूनानी और रोमन साहित्य के लिए प्रयुक्त होती थी।

मंगोलिया और तिब्बत के एक और विशेषज्ञ **अन्तोन शिफ्नेर** (१८१७-१८७९) पीटर्सबर्ग मे काम करते थे। उन्होंने पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में ही शिक्षा पाई, १८४०-१८४२ मे बर्लिन मे सस्कृत सीखी। अ० शिफ्नेर तिब्बत और मगोलिया की बौद्ध परम्परा के भारतीय जातको एवं अवदानों का अध्ययन करते थे। उन्होंने कतिपय ग्रथो की रचना की, जो प्राच्य भाषाओं और बौद्ध धर्म के उनके व्यापक ज्ञान की साक्षी हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं 'बौद्ध शब्दावली का संस्कृत-तिब्बती-मंगोल शब्दकोश' (१८५९) तथा तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के 'भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास' का जर्मन भाषा में अनुवाद (१८६९)। यह दूसरा कार्य उन्होंने वसीली वसील्येव के साथ घनिष्ठ सहयोग मे किया था।

प्रोफ़ेसर **वसीली वसील्येव** (१८१८-१९००) १९वी सदी के मध्य मे रूस मे बौद्ध धर्म और चीन के सबसे बड़े जानकार थे। उन्होंने कज़ान विश्वविद्यालय मे प्रो० कोवालेव्स्की से शिक्षा पाई थी और अपने शिक्षक से बौद्ध धर्म में रुचि लेना तथा स्रोतों के प्रति आलोचनात्मक रुख अपनाना सीखा था। उनकी पहली रचना बौद्ध दर्शन के मूलभूत सिद्धांत शून्यवाद के विषय मे थी। प्रो० वसील्येव की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक है 'बौद्ध धर्म। उसके सिद्धांत, इतिहास और साहित्य', जो तीन खण्डो में है और १८५७-१८६९ में प्रकाशित हुई थी। प्रो० वसील्येव संस्कृत भाषा और साहित्य से परिचित थे, किंतु उन्होंने अपने कार्य का स्रोत मुख्यत चीनी और तिब्बती ग्रंथों को ही बनाया। बौद्ध धर्म के तत्कालीन पश्चिमी यूरोपीय अध्येताओ की तुलना मे प्रो० वसील्येव इस मामले में कही अधिक श्रेष्ठ स्थिति मे थे कि उन्हे चीनी और तिब्बती भाषाओं का ज्ञान था। इसके अलावा उनके पास बहुत बड़ी सख्या मे बौद्ध पुस्तकें थी, जो वे पीकिंग से लाये थे और जो यूरोप के विद्वानो को उपलब्ध नही थीं। प्रो० वसील्येव ने लंबे अरसे तक पीकिंग मे रूसी धार्मिक मिशन मे काम किया, जो तब रूसी प्राच्यविद्या का एक प्रमुख केंद्र था। प्रो० वसील्येव मे परम्परागत विद्वता के साथ निष्पक्ष आलोचनात्मक दृष्टि थी। रूसी विद्वान का यह आग्रह था कि स्रोतों के साक्ष्यों को "संदेह की दृष्टि से" देखा जाना चाहिए, अर्थात प्रथम दृष्टि में ही सत्य नही मान लेना चाहिए। बौद्ध धर्म के आरंभिक इतिहास के बारे में उपलब्ध जानकारी का विश्लेषण करते हुए उन्होंने पहली सगीतियो की
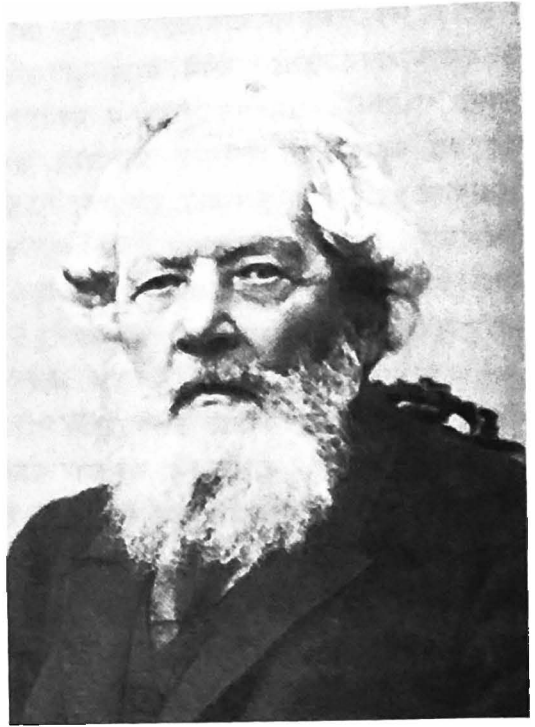
वसीली वसील्येव

प्रामाणिकता का प्रश्न उठाया था। उनके सामने दूसरी समस्याएं भी आईं, जिन पर आज तक विवाद चल रहा है। बौद्ध धर्म पर उनके ग्रंथ मे हीनयान और महायान का इतिहास, वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार व माध्यमिक सप्रदायों के दर्शन का सिंहावलोकन तथा अश्वघोष से वसुबंधु तक प्रमुख बौद्ध विद्वानों की जीवनियों का विवरण दिया गया है। इस ग्रंथ का जर्मन और फ़्रांसीसी भाषाओं में अनुवाद हुआ तथा बुर्नूफ की प्रसिद्ध रचना के साथ १९वी सदी के मध्य में बौद्ध धर्म के अध्ययन मे एक प्रमुख चरण बना।

स्वय प्रो० वसील्येव इस रचना को अपनी दूसरी पुस्तकों की भूमिका ही मानते थे, जिनकी पांडुलिपिया उन्होंने तैयार कर ली थी। पांचवें दशक के आरभ में ही उन्होंने ह्वेन त्सांग की भारत यात्रा सबंधी पुस्तक का चीनी भाषा मे अनुवाद कर लिया था। इस तरह उन्होंने यह काम फ्रांसीसी चीनविद स्तानिस्लाव जूल्येन से, जिन्होंने १८५६ में यूरोप को इस महत्त्वपूर्ण स्रोत से परिचित कराया, दस से भी अधिक साल पहले संपन्न कर लिया था। उन्होंने बौद्ध साहित्य का विशद सर्वेक्षण तथा महाव्युत्पत्ति के अनुसार बौद्ध धर्मसिद्धांतों का विवरण भी तैयार किया था। इन शोधकार्यों और अनुवादों को प्रकाशित होना बदा नही था। पांडुलिपियों का एक

अंश नष्ट हो गया। प्रो० वसील्येव प्रायः इस बात की शिकायत करते थे कि उनके देशवासी उनके कार्य के प्रति उदासीन हैं, कि "वैज्ञानिक का पृथक पड़ा कार्य अज्ञात ही व्यर्थ जा रहा है।"

विलक्षण रूसी भारतविद और बौद्ध धर्म के अध्येता अकादमीशियन सेर्गेई ओल्देन-बुर्ग ने प्रो० वसील्येव से शिक्षा पाई थी और वे यह मानते थे कि संसार भर में बौद्ध धर्म के अध्येताओं में किसी का भी ज्ञान प्रो० वसील्येव जितना व्यापक नहीं था। उनका कहना था कि प्रो० वसील्येव की रचनाओं का सुसामयिक प्रकाशन न होने के कारण यूरोप में बौद्ध धर्म का अध्ययन कई दशाब्दी पिछड़ गया था। प्रो० वसील्येव के निधन पर उन्होंने लिखा "रूस में विज्ञान के इतिहास का अध्ययन करने वाला गहरा विषाद अनुभव करता है – एक ओर, साहसपूर्ण पहलक़दमियां, गूढ़ विचार, यहां तक कि अथक अध्यवसाय और भगीरथ परिश्रम, इस सब के अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं और, दूसरी ओर, हम देखते हैं कि कैसे यह सब अधूरा ही रह जाता है – 'प्रथम खण्डों' का लंबा सिलसिला, विस्तृत योजनाएं, अप्रकाशित हस्तलिपियां, पहलकदमियां, जो सिरे नहीं चढ़ पाईं, सपने, जो अधूरे रह गये।" व० वसील्येव के भाग्य में प० पेत्रोव और उन दूसरे विलक्षण रूसी विद्वानों के भाग्य में बहुत समानता है, जो विज्ञान के क्षेत्र में वह सब नहीं कर पाये, जो करना चाहते थे और जो करने की योग्यता रखते थे।

पूरब के प्रति व० वसील्येव का सामान्य रुख भी रोचक है। वह यह मानते थे कि विज्ञान का ध्येय मनुष्य का संज्ञान, उसे जानना-समझना ही है, कि यह ध्येय प्रकृति के संज्ञान के ध्येय से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य का "सर्वांगीण, सम्पूर्ण" अध्ययन पूरब के अध्ययन के बिना असंभव है। व० वसील्येव ने लिखा "दूरवर्ती पूरब में हमारे भाई-बंधु बसते हैं। उनका अपना इतिहास, अपना विकास, अपना दृष्टिकोण है।" वे यूरोपीय विद्वानों के दृष्टिकोण की सीमितता का विरोध करते थे और प्राच्य सभ्यता के लोगों का नज़रिया अपनाने की कोशिश करते थे। यह सामान्य रुख आगे चलकर रूसी प्राच्यविद्या के अनेक प्रमुख प्रतिनिधियों, यथा चीनविद अकादमीशियन वसीली अलेक्सेयेव और बौद्ध धर्म के अध्येता अकादमीशियन सेर्गेई ओल्देनबुर्ग, के लिए लाक्षणिक रहा। व० वसील्येव का मत था कि पूरब का वर्तमान पिछड़ापन एक अस्थाई परिघटना है "जब संसार एक होगा तो पूरब न केवल ज्ञान का रक्षक, बल्कि उसका प्रचारक भी बनेगा।"

कई दशकों तक पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या संकाय के डीन के पद पर काम करते हुए व० वसील्येव ने रूस में प्राच्यविद्या के विकास के लिए बहुत कुछ किया। न केवल प्राचीन, अपितु अर्वाचीन पूरब में भी वे गहरी रुचि लेते थे। इस सिलसिले में उन्होंने शिक्षा मंत्रालय में कई बार यह सवाल उठाया कि नूतन भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया जाना चाहिए। बौद्ध धर्म के अध्ययन के क्षेत्र में व० वसील्येव के शिष्य इवान मिनायेव ने उनके काम को आगे बढ़ाया। इवान

मिनायेव ने मुख्यत भारत मे बौद्ध धर्म के इतिहास का अध्ययन किया। अपने शिक्षक से उनकी भिन्नता यह रही कि उन्होंने मुख्यत पाली और संस्कृत ग्रंथो पर काम किया। लेकिन रूस मे बौद्ध धर्म के अध्येताओ की उत्तरी बौद्ध धर्म के ग्रंथों में रुचि व० वसील्येव की ही याद दिलाती है। स्रोतो व मूल ग्रथो के प्रति इवान मिनायेव का आलोचनात्मक रुख, प्राचीन युग से लेकर अर्वाचीन युग तक भारत के इतिहास को अखंड रूप मे देखने की उनकी चेष्टा तथा भविष्य मे पूरब के महत्त्व के बारे मे विचार – यह सब व० वसील्येव के विचारों से मेल खाता है।

पाचवें-छठे दशक मे रूसी पत्र-पत्रिकाओ की आधुनिक भारत मे रुचि जागी। इनमें भारतीय ज्ञान-प्रसारको राममोहन राय और द्वारकानाथ ठाकुर के बारे में लेख छपे, जिन्होंने "अपने देशवासियो के सुख और प्रगति" के लिए बहुत कुछ किया था। इनके बारे मे जानकारी यूरोपीय साहित्य मे और कभी-कभी भारतीय पत्र-पत्रिकाओ से भी ली जाती थी। भारत मे ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति का पर्दाफ़ाश करने वाले भी कई लेख छपे। इनमे ब्रिटिश शासन प्रणाली के विरुद्ध भारतीयो के संघर्ष के प्रति सहानुभूति दर्शाई जाती थी। भारत के १८५७-१८५६ के महान राष्ट्रीय विद्रोह मे रूसी जनमत ने गहरी रुचि ली। रूसी पत्र-पत्रिकाओ मे विभिन्न दृष्टिकोणों से इस पर विस्तार से प्रकाश डाला गया। रूस मे भूदासता प्रथा समाप्त किये जाने (१८६१) की पूर्ववेला मे क्रातिकारी स्थिति बनी हुई थी। रूसी क्रांतिकारी और जनवादी भारत में विद्रोह की ओर ध्यान दे रहे थे, क्योंकि वे रूस और भारत के बीच निश्चित समानता पाते थे, मुक्ति के लिए जनता के सशस्त्र संघर्ष से संबंधित सामान्य समस्याओ पर विचार करते थे। सुप्रसिद्ध रूसी क्रांतिकारी-जनवादी, पत्रकार और समीक्षक निकोलाई दोब्रोल्यूबोव ने भारतीय विद्रोह पर एक बड़ा लेख लिखा। उन्होंने यह प्रमाणित किया कि भारत मे अंग्रेज़ो की औपनिवेशिक लूट के कारण विद्रोह भडकना अनिवार्य था। भारत के इतिहास, वहां के प्रमुख सामाजिक संबंधों और वर्ण प्रथा परम्पराओ का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह मत व्यक्त किया कि इस विद्रोह के दौरान भारत विदेशी प्रभुत्व से मुक्त नही हो पायेगा। औपनिवेशिक शासन से मुक्त होने के लिए देश का और आगे आर्थिक व सामाजिक विकास होना ज़रूरी था, तो भी विद्रोह इस बात का साक्षी था कि भारत मे जागृति आने लगी है। रूसी पत्रकार ने ब्रिटिश प्रेस मे दिये गये इस विद्रोह के मूल्याकन से अपनी असहमति व्यक्त की। उनका कहना था कि यह "सभ्यता के विरुद्ध आक्रोश नहीं है, बल्कि यह तो इस सभ्यता को भारत पर थोपने की अंग्रेज़ों की विधि के विरुद्ध ही अधिक लक्षित है, इसके पीछे जो प्रेरक शक्ति है, वह अंग्रेज़ों की कल्पना से कही अधिक वर्तमान युग की ज्ञानोदय की अभिलाषाओं के समीप है।"

१६वीं सदी के मध्य मे संस्कृतविद्या और तुलनात्मक भाषाविज्ञान, रूस में बौद्ध धर्म के अध्ययन की अपनी धारा का गठन, राष्ट्रीय मुक्ति के लिए भारतीय जनता के

संघर्ष के प्रति अग्रणी रूसी जनमत की सहानुभूति – इन सभी बातों का अंतर्ग्रंथन १९वीं सदी के अंतिम तीन दशकों के प्रमुखतम रूसी संस्कृतविद और बौद्ध धर्म के अध्येता इवान मिनायेव के कार्यकलापों में देखने को मिलता है। इवान मिनायेव को रूस में भारतविद्या का संस्थापक माना जाता है। उनको सही-सही समझने के लिए उस वातावरण को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए, जिसमें न केवल उनकी वैज्ञानिक अभिरुचियां गठित हुई, बल्कि उनका जनवादी सामाजिक दृष्टिकोण, प्राचीन और अर्वाचीन पूरब की ओर उनका रुख बना।

२. इवान मिनायेव – रूस में भारतविद्या के संस्थापक

रूसी प्राच्यविद्या के इतिहास में इवान पाव्लोविच मिनायेव को उचित ही विशेषतः सम्मानित स्थान प्राप्त है। रूस में भारतविद्या और बौद्ध धर्म के अध्ययन की एक पूरी धारा गठित करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। अपना सारा अल्प जीवन (१८४०-१८९०) उन्होंने पूरब के, सर्वप्रथम भारत और भारतीय संस्कृति के अध्ययन को समर्पित किया। भारतीय जनता की उपलब्धियों के प्रति उनके मन में गहरा आदर था। वे अग्रणी विद्वान थे, जनगण की समानता के उच्च आदर्शों में उनकी आस्था थी। वे ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के संघर्ष का समर्थन करते थे, उन्हें विश्वास था कि भारत शीघ्र ही स्वतंत्रता पायेगा। इवान मिनायेव के वैज्ञानिक कार्यकलाप भी इन्हीं उदात्त मनोरथों को समर्पित थे।

इवान मिनायेव ने पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में प्राच्यविद्या की अत्युत्तम शिक्षा पाई। प्रो० व० वसील्येव से उन्होंने चीनी और तिब्बती भाषाएं सीखी, फिर संस्कृत और पाली का भी ज्ञान पाया। सुविख्यात संस्कृतविद प्रो० कोसोविच भी उनके शिक्षक थे। विश्वविद्यालय में पढ़ते हुए ही मिनायेव ने यह दर्शा दिया कि वे न केवल स्वतंत्र और गहन अध्येता हैं, अपितु प्रगतिशील दृष्टिकोण भी रखते हैं। विश्वविद्यालय के अग्रणी अध्यापकों और प्रोफ़ेसरों से उनका निकट सम्पर्क बना। उनके शिक्षकों में इज़्माईल स्रेज़्नेव्स्की जैसे सुविख्यात और प्रगतिशील विद्वान भी थे, जिनके कार्यों में गहन वैज्ञानिक विश्लेषण और विश्व संस्कृति की परिघटनाओं के प्रति व्यापक दृष्टिकोण होता था। मिनायेव ने निस्संकोच प्रगतिशील विचारों वाले विद्वानों के जगत में प्रवेश किया और ज़ारशाही द्वारा थोपे जाने वाले प्रतिक्रियावादी और रूढ़िवादी विचारों का विरोध किया, शिक्षा के अग्रणी सिद्धांतों का समर्थन किया।

पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में पढ़ाई पूरी करने के पश्चात इवान मिनायेव ने जर्मनी, इंगलैंड और फ़्रांस में भारतविद्या संबंधी शिक्षा जारी रखी। यहां उन्होंने

इवान मिनायेव

ए० वेबेर, थ० बेन्फे, फ० बोप्प जैसे प्रसिद्ध भारतविदों से परामर्श लिये। यूरोप मे वैज्ञानिक कार्य के लिए जाने मे पहले ही इवान मिनायेव ने सम्कृत और पाली भाषाओ पर अधिकार पा लिया था। उल्लेखनीय है कि पेरिस में उन्होंने राष्ट्रीय पुस्तकालय मे रखी पाली की हस्तलिपियो की ओर विशेष ध्यान दिया। इन अमूल्य ग्रंथों की पहली सदर्भसूची मिनायेव ने ही बनाई।

मिनायेव के वैज्ञानिक कार्यो का क्षेत्र बहुत व्यापक था। यद्यपि सर्वप्रथम संस्कृत और बौद्ध धर्म का अध्ययन ही उनका क्षेत्र था, तथापि नृजातिवर्णन और भूगोल में, रूस और भारत के बीच संबधो के इतिहास में भी उन्होंने गहरी रुचि ली और फलप्रद कार्य किया। अपने मुख्य कार्य-क्षेत्र प्राचीन भारत के अध्ययन में भी उनकी वैज्ञानिक अभिरुचिया अत्यत विविध थी – उन्होंने वैदिक साहित्य और अशोक के शिलालेखों का अध्ययन किया, जैन ग्रथो पर काम किया, पाली भाषा का व्याकरण लिखा और प्रकाशित कराया, भारोपीय भाषाओ के तुलनात्मक व्याकरण पर काम किया। मिनायेव पहले ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने रूस में (पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय मे) मध्ययुगीन भारतीय भाषाओ (प्राकृतो) का अध्यापन शुरू किया।

प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति की सामान्य समस्याओं के अध्ययन की तैयारी करते हुए इवान मिनायेव ने सर्वप्रथम ऋग्वेद का गहन मनन किया।

१८६२ की अपनी डायरी मे (यानी जब मिनायेव केवल २२ वर्ष के थे) उन्होंने आदिवैदिक साहित्य की ओर उन्मुख होने का यह कारण बताया है "भारत के इतिहास के अध्ययन मे कालानुक्रम का अनुसरण करते हुए मुझे इस आदि ग्रथ मे ही काम शुरू करना पडा। इसके अलावा मेरे इस निर्णय का औचित्य यह भी है कि आदि ऐतिहासिक स्रोत के नाते इस ग्रंथ का भारतीय जीवन और विज्ञान मे अपार महत्त्व है, और, अतत , मैंने यह ग्रथ इसलिए चुना है कि भारतीय इतिहास के प्रथम काल पर यूरोपीय विद्वानों की रचनाओ का स्वतंत्र मूल्यांकन कर सकू। साथ ही मुझे आशा है कि ऋग्वेद में मैं उन अनेक प्रश्नो का उत्तर पा सकूगा, जो आजकल मेरे मन में उठ रहे हैं।"

अपने वैज्ञानिक कार्यों के आरंभिक चरण में ही भारतीय संस्कृति का अध्ययन करते हुए इवान मिनायेव सर्वप्रथम इतिहासकार के नाते सामने आते हैं। उनकी सभी रचनाओ में हम ऐतिहासिक रुख पाते हैं। जीवन के अंतिम वर्षों में भी जब इवान मिनायेव ने बौद्ध धर्म पर विशाल ग्रंथ रचे और प्राचीन भारत के धर्मो के अध्ययन पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया, तब भी इतिहासपरक उपागम ने उनका साथ नही छोडा, बल्कि वह वैज्ञानिक खोज की अधिकाधिक आवश्यक अपेक्षा बन गया। मिनायेव के ये शब्द आज भी वैज्ञानिक कार्यों के लिए उतने ही सच्चे उतरते हैं, जितने तब थे "धर्म के भाग्य का विवेचन करते हुए हमे उन नियमो का पता लगाना चाहिए, जो इसका विकास सुनिश्चित करते हैं", "किसी भी आत्मिक विकास का मर्म हम उसके ऐतिहासिक विकास की संपूर्णता में ही देख सकते हैं और उसे केवल तभी समझ सकते हैं, जबकि इस विकास प्रक्रिया पर हम इसकी भ्रूणावस्था तक दृष्टिपात करते हैं और जब इस तरह इसके स्रोत प्रकट होते हैं।"

भारत के आत्मिक जीवन के अध्ययन में इवान मिनायेव इतिहासपरकता के जिस सिद्धात का अनुसरण करते थे, उसका उनके शिष्यो पर उल्लेखनीय प्रभाव पडा और वह रूसी भारतविदो की सभी श्रेष्ठ रचनाओ के लिए लाक्षणिक हो गया।

इवान मिनायेव ने वैदिक, बौद्ध और जैन धर्मो का अध्ययन उन्हे एक दूसरे से अलग करके नहीं किया। इसके विपरीत, विभिन्न धार्मिक और धार्मिक-दार्शनिक धाराओ के अनुपम ज्ञान की बदौलत वे प्रत्येक धारा की विशिष्टता को असाधारण गहराई से समझ पाये और सामान्य निष्कर्ष निकाल पाये। उन्होंने लिखा "यदि शोधकर्त्ता विभिन्न धार्मिक मतो के बीच आनुवंशिक सबध की ओर तथा उनके पारस्परिक ऐतिहासिक संबधो की ओर, जिन्होने विभिन्न धाराओ का सूत्रपात किया, उचित ध्यान नही देगा, तो धर्म का इतिहास एकतरफा ही रहेगा।"

इसके साथ ही प्राचीन भारत के आत्मिक जीवन के अध्ययन की ओर इवान मिनायेव का रुख संकीर्ण विशेषज्ञ का रुख नही था। वे अपने समसामयिक युग के

अध्ययन के लिए इस विषय के महत्त्व को समझते थे और इस बात पर ज़ोर देते थे कि "प्राच्य धर्मों का ज्ञान न केवल ऐसे प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक और नितांत महत्त्वपूर्ण है, जिसे समय आने पर पूरब में काम करना होगा, अपितु धर्मों का अध्ययन समसामयिक चिंतनशील व्यक्ति के लिए भी अपार महत्त्व रखता है।"

मिनायेव एक ऐसे विद्वान थे, जो प्राचीन और अर्वाचीन युगों के बीच कोई सीमा नहीं खींचते थे, उनके लिए ये अध्ययन के एक विषय – जनगण की आत्मिक और भौतिक संस्कृति – के दो पहलू थे। मिनायेव भली-भांति समझते थे कि प्राचीन इतिहास में ही समसामयिक युग के अनेक प्रश्नों के उत्तर पाये जा सकते हैं। उन्होंने यह अकारण ही नहीं लिखा "प्राचीन और अर्वाचीन भारत का बहुमुखी अध्ययन एक नितांत आवश्यक कार्य है।"

१८८४ में मिनायेव ने पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में 'रूस के विश्वविद्यालयों में भारत का अध्ययन' विषय पर भाषण दिया। यह भाषण रूस में भारतविद्या संबंधी वैज्ञानिक कार्यों के विकास के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा। इसमें लब्धप्रतिष्ठ विद्वान ने यह दिखाया कि रूस में न केवल प्राचीन, अपितु अर्वाचीन भारत का भी अध्ययन करना आवश्यक है। इवान मिनायेव ने विश्व सभ्यता में भारत के और समूचे पूरब के विशाल योगदान की चर्चा की। "हर बार जब हम अपनी वर्तमान सभ्यता की उत्पत्ति के बारे में, उसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के मूल के बारे में चिंतन-मनन करते हैं, तो पूरब हमें अपनी याद दिलाता है, और उसके अतीत में हम जितना गहरा पैठते हैं, पूरब और पश्चिम का घनिष्ठ ऐतिहासिक संबंध उतना ही अधिक स्पष्ट हो जाता है।" उल्लेखनीय है कि ये शब्द तब कहे गये थे जब यूरोप के वैज्ञानिक जगत में यूरोप-केंद्रीयतावाद का बोलबाला था। पश्चिमी यूरोप के अनेक शोधकर्त्ता प्राच्य संस्कृति की "गौणता" पर बल देते थे, कहते थे कि इसकी उत्पत्ति प्राचीन यूनानी और रोमन सभ्यताओं के बहुत बाद में हुई। यूरोप केंद्रीयतावाद की अवधारणाओं के विरुद्ध संघर्ष न केवल मिनायेव, अपितु दूसरे रूसी विद्वानों के लिए भी लाक्षणिक था। "उसके (भारत के – ले०) सुदूर अतीत का जितना अधिक पूर्ण और बहुमुखी अध्ययन हो रहा है, उतना ही अधिक यह स्पष्ट होता जा रहा है कि प्राचीन विश्व के भाग्य में इस दूरवर्ती पूर्वी देश ने कितनी बड़ी भूमिका अदा की। प्राचीन मानव के लिए यह एक समृद्ध देश मात्र ही नहीं था, जहां से वह सोना, हाथी दांत और रत्न ले जाता था, बल्कि विवेक का देश भी था।" विश्व सभ्यता में प्राचीन भारत का असाधारणतः विशाल योगदान दर्शाते हुए मिनायेव रूस में भारत के प्रति किसी अमूर्त नहीं, बल्कि व्यावहारिक रुचि पर बल देते थे। उनका कहना था: "प्राचीन भारत के अध्ययन के सामने समसामयिक भारत के जीवन की परिघटनाओं के वैज्ञानिक और व्यावहारिक महत्त्व को उपेक्षणीय नहीं समझना चाहिए।" इसके साथ ही उन्होंने उचित ही यह भी इंगित किया कि भारतीय इतिहास में गहरी रुचि

का कारण हमारी संस्कृतियों का सामीप्य है, तथा वह भूमिका भी जो भारत ने विश्व इतिहास मे अदा की, कि यह रुचि किन्हीं स्वार्थपूर्ण ध्येयो से प्रेरित नहीं है। "हम सच्चे मन मे यह कह सकते हैं कि रूस में भारत पर चढाई का या भारत विजय का कोई गंभीर विचार कभी नहीं रहा।" भारत के प्रति रूस के सद्भावनापूर्ण रुख की तुलना मिनायेव ने ब्रिटेने की औपनिवेशिक नीति से की और इस नीति की तीव्र भर्त्सना की। अपनी अनेक रचनाओं मे उन्होंने इस बात का उल्लेख किया कि भारतीय लोगों में राजनीतिक चेतना जाग रही है और दो शत्रु खेमों – मुट्ठी भर आगंतुको और कोटि-कोटि भारतीय जन – मे टक्कर अवश्यभावी है।

मिनायेव के दृष्टिकोण की व्यापकता और अग्रणी स्वरूप को पूरी तरह जान पाने के लिए उनकी वे डायरियां देखनी चाहिए, जो उन्होंने भारत यात्राओ के दौरान लिखी। पूरब की (भारत, नेपाल और श्रीलंका की) पहली यात्रा उन्होंने १८७४-१८७५ में की। लगभग दो वर्ष वे इन देशों में रहे, यहां के लोगों के जीवन और संस्कृति का गूढ अध्ययन किया। अपनी छापों का विवरण उन्होंने 'श्रीलंका और भारत के शब्दचित्र। एक रूसी के यात्रा संस्मरण' नामक पुस्तक मे दिया, जो १८७८ मे पीटर्सबर्ग में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक का छपना रूस मे ही नही, पश्चिमी यूरोप मे भी भारतविद्या की एक महत्त्वपूर्ण घटना बन गया। यह पुस्तक रूस के व्यापक जनमत मे भारत के प्रति रुचि जगाने में सहायक बनी। प्राचीन भारतीय संस्कृति का अनुपम ज्ञान तो मिनायेव को था ही, अपनी यात्रा मे उन्होंने भारत के धर्मों, इतिहास और नृजातिवर्णन पर अमूल्य जानकारी जमा की। इसके साथ ही पुस्तक मे उन्होंने भारतविद्या की अनेक वैज्ञानिक समस्याओं पर मौलिक विचार पेश किये। लेकिन इस प्रकाशन का महत्त्व इस सबसे कही अधिक व्यापक था मिनायेव ने अपने समसामयिक भारत में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन देखे। वे यूरोप के उन पहले विद्वानों में थे, जिन्होंने ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति का निष्पक्ष मूल्यांकन किया, भारत पर उसका घातक प्रभाव दिखाया। मिनायेव के कुछ वैज्ञानिक कथनो का महत्त्व आज भी कम नही हुआ है, सो यह सहज ही समझा जा सकता है कि सौ साल पहले भारतविद्या संबंधी उनके प्रेक्षण क्या अर्थ रखते थे। 'शब्दचित्रो' मे एक शोधकर्त्ता के नाते मिनायेव का एक और गुण प्रकट हुआ प्राचीन संस्कृति के ग्रंथो का अध्ययन और उनकी व्याख्या करने के साथ-साथ वे इन अमूल्य रत्नों को संरक्षित करने में भी प्रयत्नरत रहे। फरवरी १८७५ में वे बिहार गये, जहां उन्होंने प्राचीन बौद्ध, जैन और हिन्दू स्मारक देखे। जिज्ञासु प्रेक्षक ने यहां गुप्त सम्राट स्कंदगुप्त के शिलालेख वाला स्तंभ पाया, अन्य शिलालेखो का अध्ययन किया और प्राचीन भारत के इतिहास में मगध की अद्वितीय भूमिका के निष्कर्ष पर पहुंचे। उनका ध्यान स्थानीय संग्रहालय की ओर आकर्षित हुआ, जो सर्वथा उपेक्षित अवस्था मे था, हालांकि मिनायेव के शब्दो मे वहां प्राचीन अभिलेखो, स्तंभो, मूर्तियो,

आदि का बहुत अच्छा संग्रह था। मिनायेव ने इन स्मारकों के भविष्य पर चिंता व्यक्त की। अपनी डायरी में उन्होंने लिखा "इस संग्रह मे अनेक रोचक वस्तुएं हैं, जिनका अधिक अच्छा रख-रखाव होना चाहिए और फ़ोटो छपने चाहिए। सभी वस्तुएं बाग़ में रखी हुई हैं, इस तरह धूप-पानी से बिगड रही हैं; और कुछ वर्ष बीतने पर इस सग्रह मे से बहुत कुछ विज्ञान के लिए सदा-सदा के लिए खो जायेगा।"

अपनी पहली यात्रा में ही मिनायेव ने प्राचीन संस्कृति के अमोल रत्न देखे। "बिहार में और भारत के दूसरे प्राचीन स्थानों में प्रायः सर्वत्र ही प्राचीनतम युग के अवशेष अकस्मात देखने को मिल जाते हैं।" मिनायेव ने प्राचीन शिलालेखों का बारीकी से अध्ययन किया, बौद्ध धर्म के इतिहास का सही ज्ञान पाने और बौद्ध धर्म की अवनति के दिनो मे उसका स्वरूप निर्धारित करने के लिए इन लेखों की अद्वितीय भूमिका इंगित की। मिनायेव नालंदा गये, महायान की अभिपुष्टि और विस्तार में इस केंद्र के महत्त्व पर उन्होंने उचित ही बल दिया। नालंदा में मिनायेव ने "प्राचीन युग का एक अत्यंत रोचक अवशेष" सोनभंडार गुफ़ा देखी। प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति के, मूल संस्कृत ग्रंथों के अपने ज्ञान के बल पर मिनायेव ने स्थानीय पुराविदों से इस स्मारक के काल के बारे में विवाद किया।

मथुरा पहुंचकर उन्होंने कृष्ण संप्रदाय के इतिहास मे रुचि ली और फिर इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुंचे कि कृष्ण पूजा ख्रीस्त पूजा से स्वतंत्र मत है (उन दिनों यूरोप में यह विचार बहुत प्रचलित था कि कृष्ण पूजा ख्रीस्त पूजा का ही एक रूप है)। जेम्स प्रिंसेप और अलैक्ज़ेंडर कनिंघम जैसे जाने-माने ब्रिटिश भारतविदों के साथ मथुरा कला के स्वरूप पर मिनायेव का वादानुवाद वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण था। अधिकांश यूरोपीय विद्वान प्राचीन भारतीय कला की मथुरा शैली को उत्पत्ति की दृष्टि से यूनानी मानते थे, जबकि रूसी भारतविद ने सामग्री का बारीकी से अध्ययन करके अलग मत व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि मथुरा की प्राचीन कला का आधार स्थानीय ही है और उस पर उत्तर-पश्चिमी भारत में भारतीय-यूनानी राज्य के दिनो में बनी परम्पराओं का प्रभाव पड़ा है। मिनायेव उन पहले लोगो में से थे, जिन्होंने मथुरा के कुषाण अभिलेखों की ओर ध्यान दिया तथा क्षत्रपों के अभिलेखों को अलग वर्ग में रखा।

मिनायेव जहां भी गये, किन्हीं भी प्राचीन स्मारको और ग्रंथों का अध्ययन उन्होंने किया, कहीं पर भी और कभी भी उन्होंने अपने को समसामयिक भारत के जीवन से अलग नही किया। इस देश की अपनी पहली यात्रा के दौरान ही वे भारतीयों और अंग्रेज़ो के संबधो का अध्ययन करने लगे, जिसके फलस्वरूप वे भारत में जन्म ले रही नई प्रक्रियाओं – भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना के जागरण, उनकी उपनिवेशविरोधी भावनाओं – को देख पाये। रूसी विद्वान ने सदा भारतीय जनता

का समर्थन किया। अपनी डायरी मे उन्होंने लिखा: "भारतीय विदेशियों के प्रभुत्व को नही सहते अंग्रेजो ने भारत में गहरी जडे नही फैलाई हैं; वे यहां एक तरह से सतही तत्त्व हैं।" "नैतिक दृष्टि से विभाजित, एक दूसरे को हेय दृष्टि से देखते अंग्रेज और भारतीय एक शहर में रहते हुए भी एक दूसरे से दूर हैं; उनके घर एक दूसरे से उतने ही दूर हैं, जितने कि उनके जीवन हित। भारतीय प्रश्नों में अंग्रेजों की दिलचस्पी उसी हद तक होती है, जिस हद तक उनका वास्ता उनके निजी जीवन से होता है, अक्सर यह दिलचस्पी मुनाफ़े की मात्रा से तय होती है।"

मिनायेव स्वयं एक अच्छे ज्ञान-प्रसारक थे और भली-भांति समझते थे कि स्थानीय भारतीय पत्र-पत्रिकाएं भारत के जनगण की राष्ट्रीय चेतना जगाने में, विदेशी राज के विरुद्ध उनके संघर्ष में कितनी बड़ी भूमिका अदा कर सकते हैं। अपनी पहली यात्रा के दौरान ही मिनायेव ने अपनी डायरी में लिखा: "प्रेस ने भारत में भाषा के संबंध में वही किया है, जो इटली मे दांते और जर्मनी में लूथर ने किया था।" प्रचुर साक्षियां, उनके चुनाव और मूल्यांकन में निष्पक्षता तथा रूसी विद्वान का उच्च नागरिक आदर्शों वाला रुख़ – यह सब मिनायेव की डायरियों को १६ वीं सदी के आठवें-नौवें दशक मे ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारतीय जनता के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के इतिहास का मूल्यवान स्रोत बनाता है। साथ ही ये डायरियां रूस में प्रगतिशील सामाजिक दृष्टिकोण को, भारतीयों के मुक्ति संघर्ष के प्रति रूसियो की गहरी सहानुभूति को प्रतिबिम्बित करती हैं। १८८० में और १८८५-१८८६ में मिनायेव की पूरब की दूसरी और तीसरी यात्राओं के दौरान उनका अग्रणी राजनीतिक दृष्टिकोण और भी ज्वलंत रूप से प्रकट हुआ।

पूरब की अंतिम यात्रा के दौरान मिनायेव बर्मा भी गये। १८८६ में पीटर्सबर्ग लौटकर वे पूरी तरह से वैज्ञानिक और अध्यापन कार्य में जुट गये। उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रकाशन के लिए तैयार कीं और प्रकाशित करवाईं, लेकिन असामयिक निधन के कारण उनके शोधकार्य अधूरे रह गये, विशाल सृजनात्मक योजनाएं पूरी न सकीं। बौद्ध धर्म पर उनका प्रमुख ग्रंथ भी उनके जीवनकाल मे पूरी तरह प्रकाशित नहीं हो पाया, मिनायेव के जीते-जी उसका केवल पहला खण्ड ही निकला। कालांतर मे उनके शिष्य सेर्गेई ओल्देनबुर्ग ने अपने शिक्षक के बौद्ध धर्म विषयक कार्यों के अपूर्ण रह गये अलग-अलग अंश प्रकाशित किये। इवान मिनायेव भारत की दूसरी और तीसरी यात्राओं की डायरियां छपवाना चाहते थे, लेकिन वे प्रकाशन के लिए तैयार नहीं थी और उनके लेखागार में हस्तलिपियों के रूप में ही रह गईं। इन डायरियो का प्रकाशन १९५५ में ही हो पाया, हालांकि इन्हें मुद्रण के लिए तैयार करने का काम काफ़ी पहले ही शुरू हो गया था। वर्तमान सदी के तीसरे दशक के अंत मे रूस के भूगोल समाज की पहलक़दमी पर इवान मिनायेव

की भतीजी अ० श्नाइदेर ने इन पर बहुत काम किया। उन्होंने डायरियों मे लिखे नोट, जो मिनायेव अपने लिए लिखते थे, पढ़े और उनकी नकल तैयार की। मिनायेव प्रायः जल्दी में शब्दों को संक्षिप्त करते हुए लिखते थे।

इवान मिनायेव की डायरियो के प्रकाशन की तैयारियां पांचवें दशक के अंत में फिर से शुरू हुई। सोवियत भारतविद तब अपने देश मे भारतविद्या के संस्थापक के जन्म की ११० वी जयंती मनाने की तैयारी कर रहे थे। अकादमीशियन अ० बरान्निकोव ने यह प्रस्ताव रखा कि इ० मिनायेव की डायरियो का प्रकाशन पुनः आरंभ किया जाये। उन्होंने इवान मिनायेव की जीवनी लिखी और आवश्यक टिप्पणियां तैयार करने लगे, लेकिन वे यह काम पूरा न कर पाये। उनकी मृत्यु के पश्चात न० गोल्दबेर्ग और ग० कोतोव्स्की ने डायरियों को मुद्रण के लिए तैयार किया। विद्वानो और पाठकों को विलक्षण रूसी भारतविद की एक नई रचना से परिचित होने का अवसर मिला। भारतीय विद्वानों ने इस प्रकाशन में गहरी रुचि दिखाई और इसका अंग्रेज़ी अनुवाद १९६० में कलकत्ता में प्रकाशित कराया।

'श्रीलंका और भारत के शब्दचित्रों' की ही भाति इवान मिनायेव की दूसरी और तीसरी भारतीय यात्राओं की डायरियां इस रूसी विद्वान के सृजनात्मक कार्यों के अध्ययन के लिए ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। ये १९ वी सदी के अंत में रूस और भारत के बीच संबंधो के सुदृढीकरण का जीता-जागता प्रमाण है, भारत के जनगण प्रति गहरे आदर भाव से तथा ब्रिटिश राज से मुक्ति के लिए भारतीय जनता के संघर्ष के सच्चे समर्थन की भावना से ओत-प्रोत हैं।

निस्संदेह, इवान मिनायेव की डायरियो के विशिष्ट स्वरूप को नहीं भुलाया जाना चाहिए, जो इनके लेखक की मृत्यु के ६५ वर्ष पश्चात ही प्रकाशित हुईं। भारत की पहली यात्रा की डायरियां तो स्वय मिनायेव ने प्रकाशन के लिए तैयार की थीं, उनमें आवश्यक स्पष्टीकरण दिये गये थे। मिनायेव ने वे बाते चुनी थीं, जिनमे वे पाठकों को परिचित कराना चाहते थे, लेकिन दूसरी और तीसरी यात्रा की डायरियां लेखक द्वारा सुव्यवस्थित की हुई सामग्री नही हैं, बल्कि उनके निजी प्रेक्षणों का, उन्होंने अपनी पूर्वी यात्राओं के दौरान जो देखा, उसका "उद्धरण" मात्र हैं। वैसे इस विशिष्टता की अपनी श्रेष्ठताएं भी हो सकती हैं, रूसी विद्वान ने घटना स्थल पर ही जो बातें नोट की, वे उनकी सीधी, प्रत्यक्ष छापें प्रतिबिम्बित करती हैं, उन पर कई साल बाद दूसरे वातावरण में – पीटर्सबर्ग के अध्ययन कक्ष में – लेखक ने दुबारा दृष्टिपात करके क़लम नहीं चलायी।

इवान मिनायेव की दूसरी और तीसरी यात्राओ का मुख्य प्रयोजन था – प्राचीन भारतीय संस्कृति के और सर्वप्रथम बौद्ध धर्म से संबंध रखने वाले स्मारक देखना, प्राचीन पांडुलिपियों का अध्ययन और संग्रह करना। वे अजंता और एलोरा गये, नासिक के पास स्थित कार्ले और कन्हेरी गुफाएं और उज्जैन के निकट भर्तृहरि गुफा – जिसका संबंध परम्परानुसार सुविख्यात कवि भर्तृहरि से जोड़ा जाता है,

देखी। मिनायेव के शब्दो में अजंता के भित्ति चित्र उनके अनुमान से कहीं अधिक श्रेष्ठ निकले। एलोरा देखते हुए उन्होंने अपनी डायरी में लिखा : "मैंने दो गुफाएं देखी है कैलाश और देवावतार। पहला (मदिर) अपनी योजना और मूर्तियो की प्रचुरता की दृष्टि मे आश्चर्यजनक है . . दूसरा भी लाजवाब है पहली गुफा मे इतनी मूर्तियां हैं कि इसे भारतीय मिथको की पुस्तक कहा जा सकता है। बेशक, स्थानीय ब्राह्मण इनके बारे मे जो बताते हैं, उन सब बातो को सही नहीं माना जा सकता।" यहां हम प्राचीन भारतीय स्मारकों के सम्मुख प्रशसा भाव ही नही, बल्कि गाइडो और स्थानीय पंडितो के स्पष्टीकरणों के प्रति आलोचनात्मक रुख भी देखते हैं। मिनायेव कहीं-कहीं अपनी डायरी में इन स्मारकों का विस्तृत विवरण देते हैं, जिनका उपयोग बाद में उन्होंने अपनी वैज्ञानिक रचनाए तैयार करते समय किया। कलकत्ता में रूसी भारतविद ने वहां इंडियन म्यूजियम में भरहुत की निम्न-उद्भृत मूर्तियो का (अपने ग्रंथ 'बौद्ध धर्म' में मिनायेव ने इस बौद्ध स्मारक का विशेषत: विस्तारपूर्वक उल्लेख किया) और गांधार मूर्तियों का अध्ययन किया, एशियेटिक सोसाइटी में काम किया और प्राचीन हस्तलिपियों का संग्रह देखा। बम्बई मे उनका परिचय विलक्षण भारतीय इतिहासविद रामकृष्ण गोपाल भंडारकर तथा जाने-माने पुरालेख-अध्येता और इतिहासविद भगवानलाल इंद्राजी से हुआ। इंद्राजी के साथ मिनायेव के मैत्री संबंध वर्षों तक बने रहे। मिनायेव ने उनके साथ भारतीय पुरालेखो के अध्ययन की समस्याओ पर विचार-विमर्श किया, शिलालेखों के छायाचित्रो का अध्ययन किया और कनिघम द्वारा प्रकाशित छायाचित्रो के साथ उनकी तुलना की। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि "कनिंघम द्वारा दिये गये पुरालेखो के पाठ सही नहीं हैं, विशेषत: खालसी लेखो के पाठ" (प्रत्यक्षत: चर्चा कालसी में प्राप्त अशोक के शिलालेख के पाठभेद की है)। १८८० में इद्राजी ने रूसी विद्वान को कुषाण सम्राट हुविष्क के नये पुरालेखों से, जो उन्हे मथुरा में मिले थे, तथा क्षत्रपो की मुद्राओ (सिक्कों) से परिचित कराया। इसके ६ साल बाद मिनायेव फिर से इंद्राजी से मिले और उन्होंने मुद्राशास्त्र के प्रश्नों पर विचार किया। उन वर्षों मे जब मिनायेव भारत में थे, भारत में इतिहासविद्या का गठन ही हो रहा था और अंग्रेज़ इतिहासविद इसके विकास को रोक रहे थे। इस बात को देखते हुए यह उल्लेखनीय है कि रूसी भारतविद ने भारतीय विद्वानों के साथ ही विशेषत घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित किये, उनके साथ ही उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास और सस्कृति की मूलभूत समस्याओं पर विचार किया। इन भेंटों से ही रूसी और भारतीय भारतविदो के बीच वैज्ञानिक संबंधों की नींव पड़ी। दोनों पक्षों के लिए ही ये भेंटें अत्यंत लाभदायक रहीं। मिनायेव बौद्ध धर्म और भारतीय पुरालेखों के प्रमुखतम जानकार थे, सो यह अकारण ही नहीं कि भारतीय विद्वान उनका गहरा आदर और उन पर पूरा विश्वास करते थे। रूसी विद्वान के लिए भारतीय विद्वानो से वार्ताएं और शास्त्रार्थ अत्यंत रोचक थे। नये स्रोतों से परिचय के फलस्वरूप उनका

वैज्ञानिक दृष्टिकोण अधिक व्यापक होता था, प्रमुख भारतीय विद्वानो के साथ भेंटों मे मिनायेव अपने वैज्ञानिक निष्कर्ष परखते थे, उनके पास जो तथ्य थे उन्हे भारतीय विद्वानों की सहायता से जाचते थे। उदाहरणतः, अशोक के शिलालेखो की विवेचना पर उन्होंने इंद्राजी के साथ मिलकर जो काम किया, संभवतः उसी के फलस्वरूप मिनायेव ने बौद्ध धर्म पर अपने मुख्य ग्रंथ में इन स्रोतों को इतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। कुषाण पुरालेखो पर मिनायेव और इंद्राजी के बीच हुए वाद-विवादों का महत्त्व विशेषतः उल्लेखनीय है। पिछली सदी के नौवें दशक के आरंभ में कुषाण युग का अध्ययन शुरू ही हो रहा था, कुषाण पुरालेखों की प्रमुख खोजें अभी आगे चलकर ही होनी थी, लेकिन उन दिनो ही मिनायेव ने इंद्राजी की खोजो को बहुत ऊंचा आंका। रूसी और भारतीय विद्वान की भेट तथा उनके द्वारा कुषाण युग के अध्ययन की समस्याओ पर विचार किया जाना प्रतीकात्मक महत्त्व भी रखता था: इसके साथ कुषाण युग पर उन भावी अतर्राष्ट्रीय सगोष्ठियो और सम्मेलनों की नींव पडी, जिनमें सोवियत और भारतीय विशेषज्ञों ने भाग लिया। आजकल इस विषय पर दोनों देशों के विद्वानों के सम्पर्क विशेषतः फलप्रद हैं।

अपनी तीसरी भारत यात्रा के दौरान मिनायेव बम्बई गये और यहा फिर से अपने मित्र व सहयोगी इंद्राजी से मिले। "वे मुझे देखकर प्रसन्न हुए," मिनायेव अपनी डायरी में लिखा। दोनों विद्वानो ने पुरातत्त्व और संस्कृतविद्या की समस्याओं पर विचार किया और भारत में अंग्रेज़ो की नीति पर भी (उनकी बातचीत संस्कृत में हुई)। इंद्राजी देश में अंग्रेज़ों के अत्याचारों से बहुत चिंतित थे। वे समझते थे कि भारतीयों के पास अभी इतनी शक्ति नही है कि वे सगीनो और तोपों के बल पर टिकी विदेशी सत्ता का सक्रिय विरोध करे। इंद्राजी भारत मे फैल रहे "पश्चिमी सभ्यता के रोगों"—मदिरापान, लूटपाट, व्यभिचार की तीव्र भर्त्सना करते थे, हालांकि मिनायेव के शब्दों में वे "पुरानी व्यवस्था के समर्थक नही थे।"

अपनी भारत यात्राओं के दौरान मिनायेव ने भारतीय संस्कृतविदों से काफ़ी घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लिये। बम्बई में वे सुप्रसिद्ध मराठी विद्वान महादेव महेश्वर कुन्त से कई बार मिले, उनके साथ बौद्ध धर्म के अध्ययन की समस्याओ पर विचार-विमर्श किया, विशेषतः महायान की एक प्रमुखतम रचना 'ललितविस्तर' पर। भारतीय संस्कृतविद गट्टूलालजी के साथ मिनायेव ने संस्कृत में बातचीत की। अपनी डायरी में रूसी विद्वान ने लिखा कि उन्होंने कई बार भारतीय विद्वानो, ब्राह्मणों और जिन मंदिरो मे वे गये, उनके पुरोहितों से संस्कृत में वार्ताएं कीं। उनकी विद्वता देखकर भारतीयों के मन मे गहरा आदर जागा। ७फ़रवरी १८९० को 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' ने लिखा कि मिनायेव बम्बई मे जाने-माने संस्कृतविदो से मिले, संस्कृत भाषा में सहज ही बात करते रूसी विद्वान के व्यापक ज्ञान से भारतीय विद्वान बहुत प्रभावित हुए।

भारत और बर्मा की यात्राओं के दौरान मिनायेव की वैज्ञानिक अभिरुचियों

की व्यापकता विशेषत: प्रकट हुई। पुरालेखों और बौद्ध धर्म के अध्ययन के साथ-साथ उन्होंने जैन धर्म में भी रुचि दिखाई। मिनायेव अनेक जैन मंदिरों में गये और जैन प्रवचनों में उपस्थित रहे। अपनी डायरी में मिनायेव ने यह बताया है कि कैसे वे पूना के दक्खिन कालेज गये थे वहां उन्होंने जैन हस्तलिपियां देखीं। उन्होंने दक्खिन कालेन की अपनी यात्रा का विस्तृत विवरण अकारण ही नहीं दिया है। उनकी डायरी इन जैन पांडुलिपियों की कहानी ही नहीं बताती, बल्कि भारतीय विद्वानों के प्रति एक रूसी के रुख की भी साक्षी है। "मैंने जैन पांडुलिपियां देखी, एक चुनी, उसकी नक़ल पाना चाहता था और इस बात को लेकर कालेज के प्रिंसिपल से मेरी दिलचस्प बातचीत हुई ; उसका आग्रह था कि मैं जैनों के बारे में जानकारी डा० ब्यूलर से पाऊं। जब मैंने कहा कि वही जानकारी मुझे स्थानीय विद्वान भी दे सकते हैं, तो प्रिंसिपल इसे मानने को तैयार नहीं हुए। हमारी बातचीत के समय उपस्थित दस्तूर को यह टिप्पणी बहुत अखरी। जब हम प्रिंसिपल के कमरे से बाहर निकले, तो दस्तूर ने कहा : 'ये अंग्रेज़ कुछ नहीं समझते'।" मिनायेव द्वारा इस प्रसंग को डायरी में दर्ज किया जाना उल्लेखनीय है : दक्खिन कालेज के प्रिंसिपल आर० जे० ऑक्सनहेम प्राचीन हस्तलिपियों के प्रश्न पर भारतीय विद्वानों की योग्यता को स्वीकार नहीं करते थे, जबकि मिनायेव उनके ज्ञान का स्तर ऊंचा मानते थे। मिनायेव प्राचीन भारत के धार्मिक ग्रंथों के विश्वप्रसिद्ध अध्येताओं में गिने जाते थे और इसमें कोई संदेह नहीं कि जॉर्ज ब्यूलर की रचनाओं से वे अच्छी तरह परिचित थे। दिलचस्प बात यह है कि मिनायेव के विचार प्राय: भारतीय विद्वानों के विचारों के समान ही होते थे, सो यह अकारण ही नहीं कि दक्खिन कालेज के अध्यापक हुसानजी जमशेदजी दस्तूर ने मिनायेव को ही क़रीबी दोस्त के नाते अपने मन की वह बात कही, जो तब भारतीय जनमत के प्रगतिशील हलक़ों को उद्वेलित कर रही थी : "ये अंग्रेज़ कुछ नहीं समझते।"

कलकत्ता में भी मिनायेव के अनेक अच्छे मित्र बने। जनवरी १८८६ में मिनायेव वहां गये थे। उन दिनों बंगाल ब्रिटिशविरोधी भावनाओं का केंद्र था, भारतीयो में राष्ट्रीय स्वतंत्रता की चेतना बढ़ रही थी। रूसी विद्वान ने भारतीयों की आकांक्षाओं और उनके दृष्टिकोण की गहरी समझ दिखाई, उनकी ओर बहुत ध्यान दिया और उनके प्रति सद्भावना का परिचय दिया। मिनायेव की डायरियों में हम उन्हें एक विद्वान के रूप में ही नहीं, बल्कि प्रगतिशील राजनीतिक विचारों वाले व्यक्ति के रूप मे, भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के समर्थक के रूप में भी देखते हैं। वैज्ञानिक विषयों पर उनकी वार्ताएं प्राय: सदा ही देश की राजनीतिक स्थिति के मूल्यांकन के साथ समाप्त होती थीं। राजनीतिक विषयों पर वार्ताओं में मिनायेव श्रोता मात्र नहीं रहते थे, बल्कि सक्रिय और निष्पक्ष रूप से वाद-विवाद में भाग लेते थे। उच्च वैज्ञानिक प्रतिष्ठा और प्रगतिशील राजनीतिक दृष्टिकोण से ही उन्होंने भारतीय विद्वानो का सौहार्द पाया। भारतीय समाज के विभिन्न सामाजिक वर्गों के प्रतिनिधि

भी उनका आदर करते थे। कलकत्ता प्रवास के दौरान मिनायेव की अनेक जाने-माने भारतीय विद्वानों से भेंटें हुईं। इनमें उनके लिए सबसे अधिक स्मरणीय थीं – सुविख्यात वाङ्मीमांसक, संस्कृतविद, बंगला साहित्य के एक प्रमुखतम जानकार महेशचन्द्र न्यायरत्न, लेखक, इतिहासकार और बौद्ध धर्म के अध्येता हरप्रसाद शास्त्री, पाली साहित्य के प्रसिद्ध अध्येता हरिदास शास्त्री, प्रमुखतम संस्कृतविद, विशाल संस्कृत शब्दकोश के प्रकाशक जीवानन्द विद्यासागर तथा तिब्बती-अंग्रेज़ी शब्दकोश के संकलनकर्त्ता, तिब्बत की यात्राओं के लिए प्रसिद्ध शरतचन्द्र दास के साथ भेंटें।

४ मार्च १८८६ को मिनायेव को एशियेटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल की सभा में निमंत्रित किया गया था। भारतीय विद्वानो ने मिनायेव का हार्दिक स्वागत किया। उन्होंने अपनी डायरी में लिखा: "सभा में मेरा अभिवादन किया गया। मुझे सदा इस बात पर आश्चर्य होता है कि बंगाली लोग मेरे साथ कितना सौहार्दपूर्ण वर्ताव करते हैं, उनका यह सौहार्द रूसियों के प्रति है, मात्र मेरे प्रति ही नही।" हरिदास शास्त्री के साथ भेंट के बाद उन्होंने अपनी डायरी मे लिखा: बंगाली लोग "मेरे प्रति बड़ा सौहार्द दिखाते हैं। मैं सोचता हूं कि हर रूसी के साथ उनका व्यवहार इतना ही सौहार्दमय होगा।"

भारतीय विद्वानों के साथ भेंटों के दौरान मिनायेव उनकी राष्ट्रीय स्वतंत्रता की भावना का समर्थन करते थे, उनका आह्वान करते थे कि वे स्वयं अपने देश में विद्याओं का विकास करें। हरिदास शास्त्री और शरतचन्द्र दास से मिलने के बाद उन्होंने अपनी डायरी में लिखा: " हरिदास शास्त्री के यहां भी और उसके पहले दास दा के यहां भी बातचीत में यूरोपीय विद्वानों के प्रति अविश्वास झलका था – यह शुभ लक्षण है!" भारत में स्वतंत्र इतिहासविद्या के विकास का समर्थक होने के साथ-साथ मिनायेव भली-भांति यह समझते थे कि उन दिनों भारत में काम कर रहे यूरोपीय विद्वानों में अपने विषय में निष्ठा रखने वाले विशेषज्ञ भी कई थे, जो भारत की सांस्कृतिक धरोहर का वस्तुगत मूल्यांकन करने की चेष्टा करते थे। कतिपय प्रमुख भारतविदों, उदाहरणत:, रुडोल्फ़ होर्नले से मिनायेव की भेंट भारत में ही हुई। लेकिन साथ ही उनकी डायरी में हम उन अंग्रेज़ भारतविदों की कटु आलोचना भी पाते हैं, जो ब्रिटिश प्रशासन के अधिकारी होने के नाते ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रणाली के हित व्यक्त करते थे। पश्चिम में भारतविद्या के विज्ञानसम्मत विकास पर एल्फ्रेड लायल के कार्यों का नकारात्मक प्रभाव पड़ा। एल्फ्रेड लायल का दृष्टिकोण नितांत रूढ़िवादी था। मिनायेव की तीसरी भारत यात्रा के समय वे आगरा और अवध के गवर्नर थे। मिनायेव एल्फ्रेड लायल की रचनाओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते थे, वह जानते थे कि भारतीय विद्वानों का लायल के प्रति रुख़ नकारात्मक है। अपनी डायरी में उन्होंने लिखा: "यहां के उदार विचारों वाले विद्वानों को सर लायल पसंद नहीं हैं।" यह ब्रिटिश अधिकारी देश में मरणोन्मुख परम्पराओं को बनाये रखने के हक में था और यह बात ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति

के हित में थी। मिनायेव ने लिखा कि एल्फ्रेड लायल के लेख "रूढ़िवादी हिंदुओ" के प्रति उनकी सहभावना के साक्षी हैं।

बौद्ध धर्म के अध्येता के नाते मिनायेव की रुचि न केवल भारत, अपितु तिब्बत, नेपाल, सिक्किम मे भी बौद्ध धर्म के भाग्य मे थी। शरतचन्द्र दास ने मिनायेव को तिब्बत के बारे में और संस्कृत की पाडुलिपियो के बारे में, जिनमें ताड़पत्र ग्रथ भी थे, बताया। तिब्बती संस्कृति की प्राचीन परम्पराओं से परिचित होने के लिए मिनायेव दार्जिलिंग की यात्रा पर गये। उन्होंने तिब्बती विद्यालय, बौद्ध मठ और स्तूप देखे, लेकिन सबसे अधिक रुचि उन्होंने "स्थानीय नृजाति वर्णन" में ली। उनकी डायरी मे हम पढते हैं: "इन सभी जातियों का, जो यहां क़दम-क़दम पर पाई जाती है, बहुत कम अध्ययन हुआ है और इनका कोई संतोषजनक विवरण उपलब्ध नहीं है।" मिनायेव संसार भर के भारतविदों में से उन पहले लोगों में थे, जिन्होंने एशिया के इस इलाके का नृजातिवर्णन की दृष्टि से अध्ययन करने की आवश्यकता की ओर ध्यान दिलाया। इस सिलसिले में मिनायेव की एक उल्लेखनीय पुस्तक है '१८७५ में कुमायू में एकत्रित भारतीय लोककथाए और किंवदंतियां'। १८८६ में कलकत्ता में मिनायेव का परिचय सुविख्यात बंगला लेखक बकिमचद्र चट्टोपाध्याय से हुआ। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या संकाय के पुस्तकालय मे बगला लेखक द्वारा मिनायेव को भेंट की गयी पुस्तकें संरक्षित हैं।

भारतीय संस्कृति के अग्रणी कर्मियों तथा राष्ट्रीय आंदोलन के प्रतिनिधियों, जैसे कि के० टी० तेलंग और डब्ल्यू० सी० बैनर्जी, से सम्पर्क में आने पर रूसी विद्वान को एक बार फिर इस बात का यक़ीन हुआ कि उसका ब्रिटिशविरोधी रुख सही है। मिनायेव की डायरियों से यह पता चलता है कि वासुदेव बलवत फड़के के नेतृत्व में फैले किसान आंदोलन के भाग्य में वे गहरी रुचि लेते रहे थे। ३१ जनवरी १८८० को के० टी० तेलंग से मिलने के बाद उन्होंने फड़के की जीवनी से संबधित तथ्य अपनी डायरी में नोट किये। मिनायेव अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ मराठों के सघर्ष का उच्च मूल्यांकन करते थे। उन्होंने लिखा: "फड़के का ध्येय पवित्र और उदात्त था, उसकी असफलता की भविष्यवाणी कर पाना कठिन नहीं था।" ये शब्द तब लिखे गये थे, जब औपनिवेशिक शासन विद्रोहियो का निर्मम दमन कर रहा था, जब फड़के को पकड़कर उन्हें उम्र क़ैद की सज़ा सुनाई जा चुकी थी।

पूना मे बाल गंगाधर तिलक द्वारा स्थापित पाठशाला के अध्यापकों से मिनायेव की भेंट भी उल्लेखनीय थी।

भारत से मिनायेव बर्मा की यात्रा पर गये। बौद्ध धर्म के अध्येता के नाते उनके लिए "जीवित" बौद्ध धर्म से परिचित होना आवश्यक था। वे उन बौद्ध ग्रथों की जानकारी पाना चाहते थे, जो बर्मा के बौद्ध मंदिरों, पुस्तकालयो तथा निजी संग्रहों मे बड़ी संख्या में थे। रूसी विद्वान ने बर्मा की यात्रा १८८५ के अंत – १८८६ के शुरू में की। यह इस देश के लिए कठिन समय था, अंग्रेज़ों से इसकी तीसरी

लड़ाई चल रही थी। भारत की ही भाति यहां भी मिनायेव पूर्वी जनगण के पक्ष में थे, अंग्रेज़ों की दासता से बचने के लिए बर्मा के लोगों के संघर्ष का वे पूरी तरह समर्थन करते थे। १८८७ में प्रकाशित 'बर्मा में अंग्रेज' शीर्षक अपने लेख में उन्होंने बर्मा में अंग्रेज़ों की नीति के सच्चे लक्ष्यों का पर्दाफ़ाश किया और बर्मी लोगो का आह्वान किया कि वे विदेशियो के ख़िलाफ सघर्ष जारी रखे।

मिनायेव के बौद्ध धर्म से संबंधित अध्ययनों के लिए बर्मा में बिताया अल्प समय (कुल ५० दिन) भी अत्यत लाभदायक और फलप्रद रहा। उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में पाली ग्रथ जमा किये। इस काम में बर्मी विद्वानो और बौद्ध भिक्षुओं से उन्हें बहुत सहायता मिली। मिनायेव के इस संग्रह का महत्त्व असाधारण है, क्योंकि वे अद्वितीय बौद्ध ग्रंथों को बचाने मे सफल रहे। इस देश में जटिल राजनीतिक स्थिति का परिणाम यह हो रहा था कि अनेक प्राचीन ग्रथ नष्ट किये जा रहे थे। इस बर्बरता पर मिनायेव ने सख्त विरोध प्रकट किया और तब अग्रेज़ अधिकारियों को हस्तलिखित सग्रहों का हिसाब-किताब रखने की दिशा में क़दम उठाने पड़े। इस मामले में रूसी प्राच्यविद ने न केवल एक विलक्षण विशेषज्ञ के रूप में, बल्कि पूरब के जनगण की सांस्कृतिक धरोहर के रक्षक के रूप मे भी काम किया।

बर्मा में मिनायेव ने मठों की पाठशालाओं तथा अन्य पाठशालाओं में शिक्षा प्रणाली का भी परिचय पाया। वे इस बात मे विशेष रुचि लेते थे कि वहां किन ग्रंथों का अध्ययन होता है, प्राचीन संस्कृति की परम्पराओं को कैसे संजोया जाता है। उन्हें यह देखकर चिंता हुई कि इस देश मे बौद्ध धर्म और पाली साहित्य का अध्ययन नही हो रहा। स्थानीय विद्वानों और बौद्ध भिक्षुओं से भेटों में वे पाली और संस्कृत मे वार्तालाप करते थे। बौद्ध धर्म के इतिहास एवं सिद्धांतों के अध्ययन के लिए आवश्यक विरले ग्रंथों की उन्होंने खोज की। उन्होंने हस्तलिखित ग्रंथों के निजी और राजकीय सग्रह देखे (खेदवश, उस समय तक अनेक अद्वितीय ग्रंथ या तो नष्ट हो चुके थे या खो गये थे)। तो भी मिनायेव ने पाली व्याकरण और काव्यशास्त्र, आदि पर कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें खोज ली।

मिनायेव से जो कोई भी मिला, वह उनकी विद्वता से प्रभावित हुए बिना न रह सका। २६ जनवरी १८८६ को अपनी डायरी में मिनायेव ने लिखा: "इन पुस्तकों (अर्थात राजमहल के पुस्तकालय में पाली ग्रंथों) की मेरी विवेचना से सभी प्रभावित हुए। अंग्रेज़ हड़बड़ा गये। वे लज्जित हैं कि उनके साथ ऐसा विद्वान नही, जो पाली समझ सके।" रूसी विद्वान का कार्य काफ़ी कठिन था – हस्तलिपियां संदूकों में बेतरतीब भरी हुई थी, उनकी कोई सूची नही थी। सौभाग्य ने मिनायेव का साथ दिया और वे कुछ अमूल्य ग्रंथ ढूंढ़ पाने में सफल रहे। हस्तलिखित ग्रंथों का एक संग्रह देखते हुए उन्होंने लिखा "एक स्थान पर इतनी बड़ी संख्या में जमा पाली ग्रंथ मैंने यूरोप के एक भी पुस्तकालय में नही देखे हैं।" "यदि इस संग्रह को अधिक विस्तार मे देखने पर इसमे ऐसे ग्रथ निकल आयें, जिनका यूरोप के

विद्वानों ने नाम तक नही सुना है, तो मुझे जरा भी आश्चर्य नहीं होगा।" मिनायेव यहां पाली के जो ग्रथ हासिल करने में सफल रहे, उनमें से कुछ उन्होंने स्वदेश लौटकर प्रकाशित किये। मिनायेव ने पाली और संस्कृत के हस्तलिखित ग्रथों का जो संग्रह जमा किया, उससे रूसी भारतविदो द्वारा मूल पाठ सबंधी अध्ययनों की नींव पडी।

मिनायेव की असाधारणत: विविध वैज्ञानिक धरोहर पर गौर करते हुए, रूस मे तथा विश्व भर में भारतविद्या में उनके योगदान का मूल्यांकन करते हुए उनकी सर्वप्रथम बौद्ध धर्म के अध्येता के रूप में चर्चा की जानी चाहिए। इसका कारण केवल यही नही कि मिनायेव अपने समय के प्रमुखतम प्राच्यविद और रूस में भारत-विद्या के संस्थापक थे, उनकी रचनाओं में से अधिकांश एशिया में प्राचीन और समसामयिक बौद्ध धर्म के विभिन्न पहलुओं के अध्ययन को समर्पित थीं, बल्कि यह भी कि वे पूरब के सांस्कृतिक-ऐतिहासिक विकास में बौद्ध धर्म की विशाल भूमिका को समझते और उस पर निरतर बल देते थे, लोक कला, साहित्य, धर्मों और भाषाओ पर अपने शोधकार्यों में बौद्ध सामग्री का व्यापक उपयोग करते थे। मिनायेव को रूस में बौद्ध धर्म के अध्ययन का एक संस्थापक कहना सर्वथा उचित है, जिसका विश्व भर में इन अध्ययनों में महत्त्वपूर्ण योगदान है। सेर्गेई ओल्देनबुर्ग और फ्योदोर श्चेर्बात्स्की जैसे विलक्षण विद्वानों ने, जिनकी चर्चा हम अगले अध्यायों में करेंगे मिनायेव से शिक्षा पायी और उनके निदेशन में ही बौद्ध ग्रंथों पर चिंतन-मनन किया। इस बात का उनके वैज्ञानिक कार्यकलापों की दिशा निर्धारित करने पर बहुत प्रभाव पड़ा।

मिनायेव ने बौद्ध धर्म पर शोधकार्य पिछली सदी के आठवें और नौवें दशकों मे किया। यह वह समय था, जब पश्चिमी जगत निरतर बढ़ते ध्यान के साथ पूरब की आत्मिक संस्कृति की गहराइयों मे पैठने के, उसके दार्शनिक और धार्मिक मतो को समझने के प्रयत्न कर रहा था, जब विश्व सभ्यता में पूरब के जनगण के योगदान को नई दृष्टि से देखा और समझा जा रहा था। इन्हीं दिनो तब तक अज्ञात अनेक बौद्ध ग्रथ प्रकाश में आये, बौद्ध मत के इतिहास पर पहली विशद रचनाएं लिखी गईं। बौद्ध धर्म के अध्येताओं का ध्यान मुख्यत: दक्षिणी संप्रदाय के थेरवादियो के पाली ग्रंथों पर ही केंद्रित था।

१८३७ में सुविख्यात ब्रिटिश भारतविद जे० टर्नर ने श्रीलंका के प्राचीन पाली इतिवृत्त 'महावंश' का प्रकाशन किया। १८५५ में डेनमार्क के लब्धप्रतिष्ठ संस्कृतविद वी० फ़ौसबेल ने बौद्ध मत का एक सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ 'धम्मपद' प्रकाशित किया और दो साल बाद उन्होंने पाली जातको का, शाक्यमुनि बुद्ध के बारे मे लोक रचनाओं का प्रकाशन शुरू किया। जर्मन विद्वान हेर्मन ओल्डनबर्ग ने १८७९में अनेक खण्डों में 'विनयपिटक' प्रकाशित किया। पाली साहित्य में असाधारण रुचि को देखते हुए पाली भाषा एव साहित्य अध्ययन समाज की स्थापना की गयी।

शनैः-शनैः न केवल हीनयान के पाली ग्रथ, जिनका विद्वज्जगत आदी हो रहा था, बल्कि महायान के ग्रंथ भी वैज्ञानिक कार्य के क्षेत्र में लाये जाने लगे। बौद्ध धर्म के विलक्षण अंग्रेज़ अध्येता और हस्तलिखित ग्रंथो के जानकार ब्रायन एच० हॉजसन के प्रयासो से नेपाल में बौद्ध ग्रथों के विशाल सग्रहों का पता चला। हंगेरियाई शोधकर्त्ता चोमा दे क्योरोश उन पहले विद्वानो मे थे, जिन्होंने तिब्बत के धार्मिक और ऐतिहासिक साहित्य की ओर अनुसधानकर्त्ताओं का ध्यान दिलाया, जबकि जापानी शोधकर्त्ता बुन्यू नान्जो द्वारा बनाई गई त्रिपिटक से संबधित चीनी ग्रंथों की सूची से चीन के अनूदित और मौलिक बौद्ध साहित्य का अध्ययन शुरू हुआ।

महायान के ग्रंथो के अध्ययन के फलस्वरूप विद्वानो को कतिपय परम्परागत अवधारणाओं पर पुनर्विचार करना पड़ा, उनके सम्मुख कई नई समस्याएं प्रस्तुत हुई, जैसे कि बुद्ध की आदि शिक्षा का स्वरूप, बौद्ध मत के सिद्धात-ग्रंथो के बनने का काल और पथ, बौद्ध मत की जन्म भूमि भारत मे तथा उसके बाहर भी इस मत के विभिन्न संप्रदायो के दार्शनिक और धार्मिक चिंतन का विकास।

बौद्ध मत के अध्ययन के सभी उपरोक्त पक्षों पर मिनायेव ने कार्य किया। फ्रास के बुर्नूफ, जर्मनी के ओल्डनबर्ग, इंगलैंड के रीस डेविड्स, हालैंड के केर्न, फ़ास के सेनार के साथ ही रूस के मिनायेव का नाम भी १६वी सदी में बौद्ध धर्म के विश्वविख्यात अध्येताओं में गिना जाता है।

बौद्ध मत से सबधित मिनायेव की विशाल धरोहर में हम बौद्ध ग्रंथों के प्रकाशन और अनुवाद से सबंधित रचनाएं भी पाते हैं तथा बौद्ध शिक्षा के और उसके विकास के चरणों के अध्ययन को समर्पित सैद्धांतिक रचनाएं भी।

मिनायेव की सर्वप्रमुख रचना, जिसमे पूर्व उन्होंने कुछ लेख तथा मूल बौद्ध ग्रथ प्रकाशित किये, 'बौद्ध धर्म। अनुसंधान और सामग्रियां' थी, जो १८८७ मे छपी। खेदवश, अपने असामयिक निधन के कारण मिनायेव यह शोध ग्रथ पूरा नहीं कर सके, हालांकि इसके प्रथम खण्ड का प्रकाशन ही बौद्ध धर्म के अध्ययन में विश्व-व्यापी महत्त्व की घटना बन गया था। इसका एक प्रमाण है इसका तुरंत ही फ़्रांसीसी अनुवाद छापा जाना। फ़्रांसीसी संस्करण की भूमिका लब्धप्रतिष्ठ भारतविद एमील सेनार ने लिखी। उन्होंने रूसी विद्वान की रचना की मौलिकता तथा अपार वैज्ञानिक महत्त्व पर ज़ोर दिया।

स्वय मिनायेव ने अपने ग्रथ की भूमिका में लिखा कि उनके कार्य का ध्येय "सम-सामयिक विद्वानो में प्रचलित प्रस्थापनाओं और निष्कर्षों को परखना" था।

बात यह है कि मिनायेव के जीवन काल मे बौद्ध धर्म के अध्येताओ का यह दृष्टिकोण बन गया था कि यह मत एक ही समय पर प्रकट हुई धार्मिक-नैतिक शिक्षा है, जिसमें इसके अस्तित्व के दीर्घकाल में प्रायः कोई परिवर्तन नही आया। इसके साथ ही 'त्रिपिटक' को प्राचीनतम बौद्ध शिक्षा का पूर्ण और सुव्यवस्थित पाठ माना

जाता था। १९वी सदी के अधिसंख्य शोधकर्त्ता दक्षिणी सम्प्रदाय के इस ग्रथ में तथा इसके बाद के भाष्यो मे दी गई बौद्ध धर्म के इतिहास की घटनाओं के बारे मे जानकारी को यथावत् ही, आलोचनात्मक दृष्टि मे देखे विना स्वीकार कर लेते थे। विभिन्न बौद्ध ग्रथों का रचना काल तथा बौद्ध समुदाय के इतिहास का कालक्रम तय करते हुए ये विद्वान पाली ग्रथों की परम्परा का ही पूर्णत अनुकरण करते थे। विद्वज्जनों को जिन प्रस्थापनाओं पर कोई सदेह नही होता था, उनका विरोध करने के लिए बौद्ध स्रोतों का चहुमुखी और गहनतम ज्ञान, वैज्ञानिक साहस और सूक्ष्म अंतर्ज्ञान होना चाहिए था।

मिनायेव का कहना था कि बौद्ध मत का चहुमुखी अध्ययन किया जाना चाहिए। वे इसे एक व्यापक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक और सामाजिक परिघटना मानते थे, जिसका पूरब के जनगण के जीवन के विभिन्न पहलुओं पर गहरा प्रभाव पडा। वे उन पहले लोगों में थे, जिन्होंने बौद्ध धर्म के इतिहास की ठोस घटनाओ का भारत के राजनीतिक इतिहास के निश्चित मोडो के साथ सहसबध स्थापित करने का प्रयत्न किया। मिनायेव प्राय इस बात पर ज़ोर देते थे कि बौद्ध धर्म के मर्म को केवल तभी समझा जा सकता है, जबकि भारत के आत्मिक जीवन का समग्र रूप में अध्ययन किया जाये, ब्राह्मण, जैन और हिंदू, आदि धर्मों का भी साथ-साथ अध्ययन किया जाये।

अपनी पुस्तक में मिनायेव ने बौद्ध सगीतियो और उनसे सबद्ध पाली ग्रथो (त्रिपिटक) की रचना के इतिहास की ओर विशेष ध्यान दिया। पाली, सस्कृत, चीनी और तिब्बती रचनाओं का विश्लेषण करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि बौद्ध सगीतियां, जिन्हें कि सार्विक, अखिल भारतीय माना जाता था, वास्तव मे विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायो की ही सगीतियां थीं। मिनायेव का यह निष्कर्ष कि सगीतियो का सबध अलग-अलग सम्प्रदायों से था तथा यह कि परवर्ती बौद्ध सम्प्रदायों मे इससे संबंधित सूचनाएं परिवर्तित कर दी गईं, बौद्ध धर्म के अध्येताओ में बहुत ज़ोरदार और बरसों तक चली बहस का विषय बने। कुछ शोधकर्त्ता हेर्मन ओल्डनबर्ग के इस मत को ही सही मानते थे कि आदि बौद्ध संगीतियां वास्तव में हुई थी। बहुत बाद में ही फ़ांसीसी विद्वान लुई दे ला वाले-पुसे ने आदि बौद्ध मत के इतिहास पर अपनी रचनाओं मे यह सिद्ध कर दिखाया कि मिनायेव के निष्कर्ष सही थे।

मिनायेव ने यह सर्वथा उचित अनुमान भी व्यक्त किया था कि ये सगीतियां समुदाय के मामलों का निबटारा करने का काम करती थीं, न कि साहित्यिक-धार्मिक कार्यकलाप। इस निष्कर्ष के आधार पर उन्होंने उन दिनो 'त्रिपिटक' का जो काल-क्रम सर्वमान्य था, उस पर पुनर्विचार किया। उनका विचार यह था कि न 'विनयपिटक' ही और न ही 'सूत्रपिटक' उस रूप में जिसमे यूरोपीय विद्वानो ने उन्हें पाया, पहली सगीति के दिनो मे ही नही, जैसा कि परम्परा के अनुसार माना जाता था, बल्कि उससे कई सदी बाद तक भी नही बन पाये थे। इस निष्कर्ष

की पुष्टि के लिए साहित्यिक रचनाओ से उपलब्ध जानकारी का ही नहीं, बल्कि अशोक के वैराट शिलालेख का तथा मशहूर भरहुत स्तूप के उद्भृत चित्रों का भी विश्लेषण किया। मिनायेव के शब्दों में ग्रेनाइट पर उत्कीर्णित बौद्ध धर्म का यह सार-संग्रह, कतिपय शोधकर्त्ताओं के मत के विपरीत, न केवल इस बात की पुष्टि नही करता कि उन दिनों पाली सिद्धांत ग्रंथ 'त्रिपिटक' रचा जा चुका था, बल्कि यह तो इस बात के ही अधिक प्रमाण प्रस्तुत करता है कि पाली सिद्धांत-ग्रंथ मे भिन्न कोई अन्य आचार संहिता तब विद्यमान थी। थेरवादियों के पाली ग्रंथ से भिन्न ऐसी आचार संहिताए, मिनायेव के विचार मे, कई एक थी प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक धारा का अपना सिद्धांत ग्रंथ, अपनी रचनाएं थीं, जिन्हे वे बुद्ध की सच्ची, आदि शिक्षा घोषित करते थे। मिनायेव के शब्दो में, "विभिन्न बौद्ध सम्प्रदायों की रचनाओं के आधार पर किन्ही निश्चित सिद्धांतों का उनके क्रमिक विकास में तुलनात्मक अध्ययन करते हुए ही हम सिद्धांत-ग्रंथ के इतिहास का पता लगा सकते हैं।" उन्होंने लिखा "इस कार्य मे सफलता पाने के लिए हमें इस अत्यत प्रचलित, किंतु सर्वथा मिथ्या और पूर्वाग्रहपूर्ण मान्यता मे बिल्कुल विमुख होना होगा कि पाली सिद्धांत-ग्रंथ ही प्राचीनतम है।"

इस प्रकार मिनायेव उन पहले लोगो मे थे, जिन्होंने यह कहा और अपनी रचनाओ में सिद्ध कर दिखाया कि पाली त्रिपिटक का अतिम पाठभेद बहुत बाद में बना। इस प्रसंग में मिनायेव महायान की रचनाओं को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनका विचार था कि इन रचनाओं में बौद्धों के प्राचीनतम विश्वासों को पाया जा सकता है, जो कि हीनयान के पाली ग्रंथो में नही बने रहे। मिनायेव आज से सौ साल पहले इस निष्कर्ष पर पहुचे थे कि श्रीलंका में पाली मे ग्रंथ बाद में रचे गये, कि विभिन्न सम्प्रदायों के अपने ग्रंथ थे और यह कि बौद्ध धर्म के आदि स्वरूप का पता लगाने के लिए महायान साहित्य अपार महत्त्व रखता है, लेकिन आज भी इन निष्कर्षो का वैज्ञानिक महत्त्व कम नहीं हुआ है। मिनायेव ने जो सवाल उठाये थे, वे आज खास तौर पर महत्त्वपूर्ण हैं, जब विद्वानों को महायान और हीनयान के विविधतम ग्रंथ कही अधिक बड़ी संख्या मे उपलब्ध हैं। इन स्रोतों के आधार पर सिद्धांत ग्रंथों के लेखन के पूर्व की परम्परा का पता लगाने के प्रश्न को नये दृष्टिकोण मे देखा जा सकता है। हीनयान और महायान के स्रोतों की भूमिका तथा बुद्ध की आदि शिक्षाओं से उनके संबंध के प्रश्न पर आज भी विवाद चल रहा है। अपने दिनों मे वसीली वसील्येव और इवान मिनायेव ने और हालैंड के हेंड्रिक केर्न ने इस विवाद में भाग लिया, बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक में लुई दे ला वाले-पुसें, फ्योदोर श्चेर्बात्स्की, जर्मन भारतविद हेनरिख लुडेर्स ने और फिर आस्ट्रियाई विद्वान एरिख फ़ाउवाल्नर, फ्रांस के ए० बरो ने तथा नीलकंठ दत्त, पांडे, आदि अनेक जाने-माने भारतीय विद्वानों ने यह विवाद जारी रखा है।

बौद्ध धर्म के इतिहास की मूलभूत समस्याओ का विश्लेषण मिनायेव ने विभिन्न

स्रोतो – लिखित दस्तावेज़ों, किंवदतियो, कलाकृतियों, आदि – में निहित तथ्य-सामग्री की पूर्ण जानकारी के आधार पर किया।

अपनी सूक्ष्म अतर्दृष्टि के बल पर वे उस विशाल सामग्री मे से जिसका अध्ययन कम हुआ होता या बिल्कुल ही नहीं, शोध की आवश्यक वस्तु ढूंढ लेते थे। उदाहरणत: मिनायेव उन पहले लोगों मे मे थे, जिन्होंने जातकों जैसी रोचक रचना की ओर ध्यान दिया। उन दिनों इनका प्रकाशन नही हुआ था और मिनायेव ने जातक कथाए विभिन्न हस्तलिखित ग्रथो मे ही पढ़ी। जातक कथाओं के बारे मे लेख-माला मे बौद्ध धर्म और उसके साहित्य के अध्ययन के प्रति मिनायेव का सामान्य ऐतिहासिक-सांस्कृतिक रुख़ विशेषत: स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हुआ। मिनायेव जातक कथाओं को सर्वप्रथम लोक सृजन के नमूनों के रूप में देखते थे, जो लोक साहित्य की रचनाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, न कि केवल बौद्ध मत के नैतिक सिद्धातो का सारतत्व पेश करने वाली रचनाओं के रूप में ही। उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म, साहित्य और कला के इतिहास का अध्ययन करते हुए मिनायेव इस सास्कृतिक सम्पदा के निर्माण में जन समूहो की भूमिका को विशेषत: महत्त्वपूर्ण मानते थे। उन्होने "प्राय बीस से अधिक सदियो तक जन सृजन के विलक्षण इतिहास" की चर्चा की। साहित्यिक और कलाकृतियों का अध्ययन करते हुए वे "प्राचीन जनता के बौद्धिक एव आत्मिक जीवन की जीती-जागती गाथा" पढ़ते थे।

मिनायेव पाठ-विश्लेषण के विलक्षण जानकार थे। उन्हें कतिपय अमूल्य बौद्ध ग्रथो के प्रकाशन का श्रेय प्राप्त है, जिनमें कुछ तो अद्वितीय हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, पूरबी देशों की अपनी यात्राओ के दौरान मिनायेव ने भारत, श्रीलंका, नेपाल, बर्मा के हस्तलिखित संग्रह बहुत बडी सख्या में जमा किये, जो लेनिनग्राद के सल्तिकोव-श्चेद्रिन पुस्तकालय की हस्तलिपि निधि मे सरक्षित है। श्रीलका और बर्मा मे मिनायेव द्वारा जमा किये गये पाली ग्रंथों का सग्रह विशेषत: समृद्ध है। अपने जीवन मे वे अपने संग्रह मे से कुछेक ग्रथ ही प्रकाशित कर सके, जैसे कि 'अनागतवंश' तथा कुछ अन्य। लेकिन हस्तलिखित ग्रंथों की इस अमूल्य निधि का बड़ा भाग आज भी अपने शोधकर्त्ता और प्रकाशक की प्रतीक्षा मे है। अपने वैज्ञानिक जीवन के आरभ में ही हस्तलिखित ग्रंथों पर काम करने, प्राचीन ग्रंथों का पाठ विश्लेषण और पुरालिपि अध्ययन का कार्य करने में मिनायेव की रुचि जाग गई थी।

एम० ए० की डिग्री पाने के लिए मिनायेव ने "विनयपिटक' के प्रमुख भाग 'प्रतिमोक्षसूत्र' ('पतिमोक्खसुत्त') का विश्लेषण, अनुवाद और प्रकाशन किया। अपने शोधकार्य के लिए इस ग्रंथ को उन्होंने अकारण ही नहीं चुना, बल्कि इस बात को देखते हुए कि बौद्ध समुदाय के गठन के तथा विभिन्न सम्प्रदायो और धाराओ के बीच संघर्ष के इतिहास के अध्ययन के लिए बौद्ध मत का यह एक प्राचीनतम धर्म-ग्रंथ अपार महत्त्व रखता है। इस प्रकाशन के फलस्वरूप वैज्ञानिक जगत बौद्ध

आचार नियम संहिता के पाली पाठ से परिचित हो पाया, जबकि इससे पहले इन नियमों के अनुवाद ही ज्ञात थे। कुछेक हस्तलिखित ग्रंथो के आधार पर किया गया 'प्रतिमोक्षसूत्र' का प्रकाशन वस्तुतः रूमी भारतविद्या का पहला वैज्ञानिक पाठ-विश्लेषणात्मक कार्य माना जा सकता है, जो मिनायेव के शिष्यो अकादमीशियन फ़्योदोर श्चेर्बात्स्की और अकादमीशियन सेर्गेई ओल्देनबुर्ग द्वारा चालू की गई 'बिब्लिओतेका बुद्दीका' (बौद्ध पुस्तकमाला) के प्रकाशनों का अग्रदूत बना।

मिनायेव द्वारा प्रकाशित पाली ग्रंथों मे सर्वाधिक रोचक है 'कथावथुपकरण'। यह बौद्ध दर्शन के विवादास्पद प्रश्नो को तथा विभिन्न अनधिकृत सम्प्रदायों के प्रतिनिधियो के साथ अधिकृत मत के बौद्धों के सघर्ष को समर्पित रचना है। श्रीलंका के बौद्ध यह मानते थे कि 'कथावथु' के रचयिता तिस्स मोग्गलिपुत्त हैं; जिन्होंने पाटलिपुत्र मे हुई तीसरी संगीति में इसे प्रस्तुत किया था। इस रचना का ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए मिनायेव इस निष्कर्ष पर पहुचे कि इसकी रचना बहुत बाद में हुई, लेकिन उनका कहना था कि इसके बावजूद अनेक सदियो तक बौद्ध मत के विभिन्न सम्प्रदायों के बीच चले सघर्ष के साक्षित्व के नाते इस रचना का महत्त्व ज़रा भी कम नही होता। यहां यह भी कहा जाना चाहिए कि मिनायेव उन पहले यूरोपीय विद्वानो में से थे, जिन्होंने बौद्ध मत में फूट और अनधिकृत सम्प्रदायो के इतिहास का गहन अध्ययन शुरू किया।

अपने प्रमुख ग्रंथ 'बौद्ध धर्म। अध्ययन और सामग्रियां' के दूसरे अक में मिनायेव ने बौद्ध शब्दों का कोश – 'महाव्युत्पत्ति' – प्रकाशित किया। नौवी सदी के आरंभ में लिखी गई यह पुस्तक बौद्ध जगत मे बहुत लोकप्रिय थी और इसके तिब्बती, चीनी, मगोल और मचूरियाई भाषाओ में अनुवाद मिले हैं।

अपने प्रकाशन के लिए मिनायेव ने उपरोक्त सभी रूपांतरो का उपयोग किया। कालांतर मे, १९१०-१९११ में 'बौद्ध पुस्तकमाला' के १३वे खण्ड में 'महाव्युत्पत्ति' पुनः प्रकाशित की गई। आज तक यह बौद्ध ग्रंथों की मिश्र संस्कृत के शब्द-विवेचन के लिए अद्वितीय स्रोत है।

१८८९ मे मिनायेव ने महायान की एक सर्वोत्कृष्ट कृति, सातवीं सदी के भिक्षु-दार्शनिक शांतिदेव द्वारा रचित काव्य 'बोधिचर्या-अवतार' का प्रकाशन किया। यह ग्रंथ इस दृष्टि मे उल्लेखनीय है कि यह महायान की दार्शनिक प्रस्थापनाओ का सार-सग्रह है। इसे महायान की किसी एक धारा-विशेष का नही माना जा सकता, क्योंकि सर्वास्तिवादियो से लेकर योगाचारों तक विभिन्नतम धाराओं के प्रतिनिधि इस काव्य को अपनी एक प्रमुख रचना मानते थे। यह कहा जा सकता है कि 'बोधिचर्या-अवतार' जैसे स्रोत का प्रकाशन मिनायेव के बौद्ध मत संबंधी शोधकार्यों में अगले चरण की शुरूआत था। अपने वैज्ञानिक कार्य के पहले चरण में मिनायेव की रुचि मुख्यतः बौद्ध धर्म के और बौद्ध समुदायों – सघो – के इतिहास में, संगीतियों, फूट और अनधिकृत सम्प्रदायों में थी। लेकिन कालांतर मे वे शांतिदेव की रचना की

ओर उन्मुख हुए, जो भारत में महायान के विचारों के विकास की उत्तरावस्था प्रतिबिम्बित करने वाला दार्शनिक ग्रंथ है। यह तथ्य इस बात का साक्षी है कि मिनायेव अब बौद्ध धर्म के दूसरे पक्ष – उसके दार्शनिक अंतर्य – में रुचि लेने लगे।

मिनायेव की वैज्ञानिक धरोहर में पाली भाषा और साहित्य पर उनकी रचनाओं का अपना विशिष्ट स्थान है। १८७२ में प्रकाशित उनका डाक्टरेट का शोध ग्रंथ 'पाली भाषा के स्वनविचार और रूपविचार की रूपरेखा' विज्ञान में उनका अपार योगदान था। इससे पहले लिखे गये पाली के व्याकरणों से यह रचना इस बात में भिन्न थी कि यह पाली पाठों के वर्षों के अध्ययन के आधार पर लिखा गया था और इसमें स्वनविज्ञान की रूपरेखा दी गई थी, जिसमें प्राचीन भारतीय रूप और उनके पाली समरूप दिये गये थे। १८७४ में इस पुस्तक का फ़्रांसीसी में और १८७५ में अंग्रेज़ी में अनुवाद हुआ। यह व्याकरण इतने उच्च वैज्ञानिक स्तर पर लिखा गया था कि भारत और बर्मा में पाली के अध्ययन के लिए प्रमुख पाठ्य-पुस्तक बन गया।

पाली ग्रंथों पर शोधकार्य के साथ-साथ मिनायेव संस्कृत साहित्य के अध्ययन की ओर भी बहुत ध्यान देते थे। उन्होंने संस्कृत साहित्य की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचनाओं पर सिंहावलोकनात्मक पुस्तक लिखी, जो रूसी में प्राचीन भारतीय साहित्य पर पहली इतनी विस्तृत संदर्भ रचना था। इस पुस्तक में मिनायेव ने वैदिक, बौद्ध और महाकाव्य साहित्य का, शास्त्रीय काव्य, लोक साहित्य और नाटक का विषय-सार दिया।

भारतीय वाङ्मय के अध्ययन के प्रति मिनायेव के चहुंमुखी रुख से रूसी और सोवियत संस्कृतविदों के लिए भारतविद्या के इस क्षेत्र में फलप्रद कार्य का आधार बना।

१८९० में मिनायेव का देहांत हो गया। हम नहीं जानते कि किन भावी शोध-कार्यों की योजनाएं उनके साथ चली गईं। हां, उनके काग़ज़ातों से यह पता चलता है कि योजनाएं बहुत विशाल थीं। मिनायेव की कुछ रचनाएं उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित हुईं। इन्हें उनके शिष्य सेर्गेई ओल्देनबुर्ग ने प्रकाशन के लिए तैयार किया था। इनमें पाली ग्रंथों 'पेतवत्थु', 'सुत्तनिपात' और 'महावग्ग' के अनुवाद भी थे। गुरु और शिष्य में प्रगाढ़ मैत्री बंधन थे। मिनायेव के काग़ज़ातों में लगभग ५० पत्र हैं, जो विदेश में अध्ययन के लिए गये ओल्देनबुर्ग ने अपने गुरु को लिखे थे। मिनायेव ओल्देनबुर्ग की प्रतिभा की क़द्र करते थे। बौद्ध धर्म के अध्ययन में भी तथा पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्ययन में भी अकादमीशियन फ़्योदोर श्चेर्बात्स्की ने मिनायेव का कार्य जारी रखा।

रूस में भारतविद्या की प्रबल परम्परा का सूत्रपात करने का श्रेय इवान मिनायेव को ही है।

३.१९वीं सदी के अंत और २०वीं सदी के आरंभ में रूस में भारतविद्या संबंधी अनुसंधान

१९वीं सदी के अत और २०वी सदी के आरभ मे रूस में भारतविद्या संबंधी अनुसंधान कई दिशाओ में हो रहे थे। प्राचीन भारतीय सस्कृति के बौद्ध धर्म से संबद्ध क्षेत्र में अनुसधान कार्यों का प्रमुख केंद्र तब पीटर्सबर्ग था, जहां एशियाई संग्रहालय में और पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में मिनायेव के विलक्षण शिष्य ओल्देन-बुर्ग और श्चेर्बात्स्की काम कर रहे थे। उनके कार्य को, जो सोवियत काल में भी जारी रहा, समर्पित विशेष अध्याय इस पुस्तक मे आगे दिये गये है। संस्कृतविद्या के क्षेत्र में कार्य मुख्यत भाषाविदो ने, तुलनात्मक भाषाविज्ञान के विशेषज्ञो ने ही किया, जो देश के कई विश्वविद्यालयों में काम कर रहे थे।

मास्को में पावेल पेत्रोव के कुछ शिष्य वैज्ञानिक कार्यों में रत थे। इनमे सर्वाधिक उल्लेखनीय योगदान रूस के एक सबसे बड़े भाषाविद अकादमीशियन **फ़िलीप्प फ़ोर्तुनातोव** (१८४८-१९१४) का है। मास्को विश्वविद्यालय की पढ़ाई पूरी करने के पश्चात १८७२-७३ में उन्होंने यूरोप के जाने-माने संस्कृतविदों – ट्यूबिगन में रोथ, बर्लिन में वेबेर, पेरिस में बेर्गेन – से शिक्षा पाई। मध्ययुगीन भारतीय भाषाओ का भी उन्होंने अध्ययन किया। १८७५ मे प्रकाशित उनका शोधकार्य 'सामवेद-आरण्यक-संहिता' के पाठ का प्रकाशन था, जिसके साथ रूसी अनुवाद, व्यापक टिप्पणियां, अनुसंधान कार्य तथा भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक व्याकरण की कुछ समस्याओं पर परिशिष्ट भी था। यूरोप मे 'सामवेद' सदा उसके 'आरण्यकों' के बिना छापा जाता था। इस प्रकार फ़ोर्तुनातोव 'सामवेद' के 'आरण्यको' के पहले प्रकाशक थे। रूसी विद्वान की पुस्तक ठोस, गहन अनुसंधान कार्य थी, जिसमें वैदिक साहित्य का सिंहावलोकन तथा इसके इतिहास के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर ग़ौर किया गया था, विशेषत: वैदिक साहित्य, यजुओ और यज्ञ-कृत्यों के बीच सहसबंध के प्रश्न पर। लेखक ने यह विचार व्यक्त किया कि यज्ञ-कृत्य सदा ही उच्चारित मंत्रों से अधिक पुराने नहीं होते थे, उलटे कतिपय कृत्यों की व्याख्या वैदिक पाठों के आधार पर ही की जा सकती है। लेखक ने 'सामवेद' की टीकाओ और उसके भाष्यों की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने यह इगित किया कि कुछ मामलो में 'सामवेद' के मंत्र (पाठभेद) ऋग्वेद के मत्रो से अधिक पुराने हैं। व्यापक तुलनात्मक सामग्री के आधार पर फ़ोर्तुनातोव ने पारिभाषिक शब्दों के अर्थों का विश्लेषण किया। ऐसा करते हुए उन्होंने संस्कृत शब्दकोशों में दी गई व्याख्या में संशोधन किये। उनके पाठ-विश्लेषण संबंधी कार्य के सिद्धांत रोचक हैं। रोथ तथा अन्य अधिकांश जर्मन विद्वानों के विपरीत फ़ोर्तुनातोव संस्कृत शब्दों के अर्थो में एकरूपता लाने की कोशिश कर रहे थे। वे मूल पाठों मे संस्कृत के प्रामाणिक व्याकरण के मानकों के अनुसार

अपेक्षित संशोधन करने मे बचते थे, कतिपय हस्तलिपियो मे पाई जाने वाली नक़ल-नवीसो की गलतियो और सभी हस्तलिपियो मे पाई जाने वाली व स्वय मूल पाठ मे निहित "गलतियो" के बीच भेद करते थे। फ़ोर्तुनातोव ने यह सिद्धात निम्न शब्दो में निरूपित किया "वर्तमान समय मे वैदिक ग्रथो के प्रकाशक का कार्यभार उस पाठ को प्रस्तुत करना है, जो वास्तव में है और जहा तक हम पता लगा सकते हैं, प्राचीन युग में भी अस्तित्व मे था।" पाठ विश्लेषण की फ़ोर्तुनातोव की विधि रोथ और उनके अनुयायियो की उग्र सुधारवादी विधि की अपेक्षा आधुनिक विधि के कहीं अधिक समीप थी। फ़ोर्तुनातोव के समसामयिको मे से यह विधि फ्रासीसी सस्कृतविद बेर्गेन की विधि के समीप थी, लेकिन इस विद्वान की पुस्तक तब तक प्रकाशित नही हुई थी।

इसके विपरीत फ़ोर्तुनातोव वैदिक पाठो की व्याख्या मे विल्सन और गोल्दश्तुकर के विचारो को न मानते हुए, यह मानते थे कि स्वय वैदिक परम्परा को, मध्ययुगीन भाष्यकार सायण की टीकाओं को प्रस्थान बिंदु नही मानना चाहिए, बल्कि पाठो मे समान स्थानो की तुलना और वैज्ञानिक निरुक्ति को ही। फोर्तुनातोव ने लिखा "बेशक भाष्यकारो को नज़रदाज नही करना चाहिए और उनकी रचनाओ का सहायक ग्रथो में से एक के नाते आवश्यक उपयोग करना चाहिए। हा, यह हमारा अधिकार रहता है कि उनकी रचनाओं को भी हम वैसे ही आलोचनात्मक दृष्टि से देखें, जैसे कि यूरोपीय विद्वानो की व्याख्याओ को देखते हैं।" रूसी सस्कृतविद ने अपना शोधकार्य उच्चतम स्तर पर किया। भारोपीय भाषाओ के तुलनात्मक स्वन-विज्ञान और रूपविज्ञान पर उनकी रचनाओ में प्राचीन भारतीय भाषाओ की ओर बहुत ध्यान दिया गया। फ़ोर्तुनातोव ने प्राचीन भारतीय भाषाओं की स्वनप्रणाली पर विशेष कृति भी लिखी, जिसका जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ और यूरोपीय सस्कृत-विदों ने इसमें गहरी रुचि दिखाई।

अकादमीशियन **व्सेवोलोद मिल्लेर** (१८४८-१९१३) भी पेत्रोव के शिष्य थे। उन्होंने अपनी शिक्षा बर्लिन मे वेबेर के और ट्यूबिंगन में रोथ के निदेशन मे वेदों और 'अवेस्ता' का अध्ययन करते हुए जारी रखी। प्राग मे काम कर रहे ऋग्वेद के प्रसिद्ध विशेषज्ञ अल्फ्रेड लुडविग के साथ उनके विशेषत घनिष्ठ सबंध बने। १८७६ में मिल्लेर का शोधप्रबंध छपा, इसका शीर्षक था : 'आर्य मिथक और प्राचीन-तम संस्कृति के साथ उनका सबंध। एक रूपरेखा। भाग १। अश्विनीकुमार-डायास्कूरी'। इस ग्रथ की योजना बहुत व्यापक थी। इसमे न केवल वैदिक साहित्य और मिथको पर, बल्कि वैदिक समाज पर भी सामग्री थी। कुछ हद तक मिल्लेर का यह ग्रथ जर्मन विद्वान हेनरिख़ ज़ीम्मर की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्राचीन भारतीय जीवन' की पूर्वगामी थी। रूसी विद्वान ने वैदिक पाठो के आधार पर आर्यों के सामाजिक जीवन का, उनके परिवार, शिल्पो, शस्त्रास्त्रों, आदि का विवरण दिया। वेदो मे प्रतिबिम्बित अवधारणाओ पर उन्होंने यूनानी, रोमन और ईरानी मिथकों से तुलना

करते हुए गौर किया। लेखक ने प्राचीन रूस में ईसाई धर्म अपनाये जाने के पूर्व के मिथकों से संबंधित जो सामग्री अपनी पुस्तक में प्रयुक्त की, वह विशेषत रोचक और मौलिक थी। मिल्लेर ने उन दिनों वैज्ञानिक साहित्य में प्रचलित मैक्स मूलर और एडल्बर्ट कून की अवधारणाओ की इस बात के लिए आलोचना की कि वे मिथक प्रणालियों की सारी विविधता को सूर्य और वज्र देवों की उपासना तक ही सीमित करते हैं। मिल्लेर का मत था कि इन सिद्धातो के पक्षधर अपनी धारणाओं की पुष्टि के लिए विभिन्न जनगण से और विभिन्न काल में ली गई सामग्री का उपयोग आलोचनात्मक ढंग से नही करते हैं। उन्होंने मिथकों के तुलनात्मक अध्ययन की अधिक कड़ी ऐतिहासिक विधि ढूढने की कोशिश की। पुस्तक में इस बात को विस्तार-पूर्वक प्रमाणित किया गया कि भारोपीय जातियों में उनके दूर देशों मे फैलने से पूर्व युग्म-देव पूजा प्रचलित थी। मिल्लेर ने इस पूजा का आरंभिक अर्थ समझने की चेष्टा की। इस विषय पर आज भी वैज्ञानिक बहुत ध्यान दे रहे हैं।

मिल्लेर के ग्रंथ में कतिपय वैदिक श्लोकों का अनुवाद और विवेचना दी गई थी; दूसरे प्रकाशनों में भी उनके अनुवाद छपे थे। संस्कृत पर उन्होंने कतिपय भाषा-वैज्ञानिक रचनाएं भी लिखी। अनेक वर्षो तक मिल्लेर मास्को विश्वविद्यालय में संस्कृत पढाते रहे। फ्योदोर क्नौएर के साथ मिलकर उन्होंने संस्कृत की पाठ्य-पुस्तक लिखी। मास्को विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग खुलवाने के मिल्लेर के प्रयास सफल नही हुए, तथापि नौवें दशक में संस्कृत भाषा एवं साहित्य के सभी विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य विषय बन गई। मिल्लेर के निदेशन में भावी भाषाविद संस्कृत ही नहीं, प्राकृत भी पढ़ते थे।

मिल्लेर ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य लोक साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन तथा साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र मे किया। इस प्रसग मे ओसेतियाई भाषा और लोक साहित्य पर उनका अनुसंधान कार्य उल्लेखनीय है। उत्तरी काकेशिया के चेचेन इलाक़े में उन्हें एक ऐसी लोक कथा मिली, जिसका मूल भारत की वेताल कथाओं से सबंधित है। तब एक विशेष लेख में उन्होंने इस भारतीय लोक कथा के देश-देश में फैलने की समस्या पर प्रकाश डाला, इसके लिए भारतीय कथा की तातार, कबरदी और मंगोल रूपांतरों मे तुलना की। अकादमीशियन मिल्लेर के कार्यकलापों की इस दिशा को सेर्गेई ओल्देनबुर्ग, बोरीस व्लादीमिर्त्सोव, गेज़ालिया शोर तथा अन्य रूसी प्राच्यविदों ने अपने अनुसंधानों से जारी रखा।

मास्को विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर, अकादमीशियन फ्योदोर कोर्श (१८४३-१९१५) बहुमुखी प्रतिभा के धनी भाषाविद थे, जिन्हें अनेक प्राच्य भाषाओं और बोलियों का ज्ञान था। इस दृष्टि से वे अपने शिक्षक पेत्रोव की सबसे अधिक याद दिलाते थे, यद्यपि सैद्धांतिक प्रशिक्षण इन्होंने उनसे भी अधिक गहरा पाया था। कोर्श का संस्कृत पर पूरा अधिकार था और वे इस भाषा में कविता भी करते थे। उनके समसामयिकों के संस्मरणों से हम यह जानते हैं कि पूरब की मृत भाषाओं

मे बोलते हुए वे असाधारण वाक्पटुता का परिचय देते थे। भारतविद्या संबंधी सामग्री का उपयोग उन्होंने सामान्य वाङमीमांसा पर अपनी रचनाओं में किया। भारतीय छंद पद्धति पर उन्होंने एक विशद रचना तैयार की थी, जिसका प्रकाशन नही हो पाया। इसका एक अंश – श्लोको के छंद पर शोधकार्य – एक रूसी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।

पिछली सदी में रूस के विश्वविद्यालयो में प्राय: तुलनात्मक भाषाविज्ञान और संस्कृत का विभाग होता था। सो सभी प्रमुख रूसी भाषाविद, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के विशेषज्ञ साथ ही संस्कृतविद भी होते थे। उनमे से कुछ संस्कृत का अधिक गहराई मे अध्ययन करते थे और विशेष शोधकृतिया प्रकाशित करते थे। विलक्षण उक्राइनी भाषाविद अफ़नासी पोतेब्न्या ने सातवें दशक के आरंभ में बर्लिन मे संस्कृत का अध्ययन किया। उन्ही दिनों पेत्रोव के शिष्य भाषाविद अलेक्सान्द्र दुवेर्नुआ ने संस्कृत पर विशेष लेख तथा 'मुंडक उपनिषद' का अनुवाद प्रकाशित किया। सुविख्यात स्लावविद इ० यागिच ओदेस्सा में संस्कृत पढ़ाते थे, जबकि कज़ान और देर्प्त में लब्धप्रतिष्ठ भाषाविद इवान बोदुएन दे कुर्तेने ने संस्कृत पढ़ाई। बोदुएन दे कुर्तेने के एक शिष्य और साथी, युवा प्रतिभावान विद्वान निकोलाई क्रुशेव्स्की ने ऋग्वेद के कुछ मंत्रो का अनुवाद छापा और संस्कृत के स्वनों पर कुछ लेख तैयार किये। भाषाविद के सुयोग्य कार्य के लिए, विशेषत: तुलनात्मक भाषाविज्ञान के क्षेत्र मे काम कर रहे विशेषज्ञ के लिए संस्कृत का ज्ञान अनिवार्य माना जाता था। रूसी भाषाविदो के लिए प्राय: यह वैज्ञानिक प्रशिक्षण का पहला चरण होता था। फ़ोर्तुनातोव, बोदुएन दे कुर्तेने और पोतेब्न्या की प्रमुख उपलब्धियां संस्कृतविद्या के क्षेत्र में नहीं हैं, यद्यपि संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन करते हुए उन्होंने वैज्ञानिक शिक्षा पाई। इसके अलावा इससे भाषाविज्ञान और संस्कृतविद्या के क्षेत्रो में उच्चस्तरीय कार्य की परम्परा बनी, जो अनेक दशको तक क़ायम रही।

खार्कोव विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर **विकेन्ती शेर्त्सल** (१८४३-१९०६) ने संस्कृत-विद्या के क्षेत्र मे अधिक गहन शोधकार्य किया। संस्कृत और ज़ेंद भाषाओ की आरंभिक शिक्षा उन्होंने पीटर्सबर्ग में कोसोविच से पाई, फिर लंदन में भारतीय भाषाओ तथा चीनी और जापानी का अध्ययन किया। १८७२-१८७३ में खार्कोव मे शेर्त्सल ने संस्कृत पाठो का संकलन प्रकाशित किया। उन्होंने इस प्राचीन भारतीय भाषा के वाक्य-विन्यास पर शोध रचना लिखी और पुरुषवाचक सर्वनामो पर लेख तैयार किया। उनके भाई रोबर्ट शेर्त्सल (१८५५-१८८०) ने भी संस्कृत पर काम किया। व० शेर्त्सल के शिष्य युवा संस्कृतविद अ० पोपोव (१८५५-१८८०) थे। वे छोटी उम्र में ही चल बसे, लेकिन विशेषज्ञों के अनुसार संस्कृत के वाक्य-विन्यास पर उनका कार्य उनके असाधारणत: व्यापक ज्ञान, कर्मठता और वैज्ञानिक कार्य के प्रति निष्ठा का साक्षी था। १९वीं सदी के अंत में उक्राइना का एक और नगर – कीयेव – भी जहां फ्योदोर क्नौएर पढ़ाते थे, संस्कृतविद्या का केंद्र बना।

तुलनात्मक भाषाविज्ञान और संस्कृतविद्या का एक पुराना केंद्र देर्प्त नगर (तार्तू) भी था। यहां संस्कृत का अध्यापन १८३७ से ही शुरू हो गया था। कार्ल केडल (१८१२-१८६५) यहा संस्कृत पढाते थे। १८६५ से १८९८ तक क्लासिकीय वाङ्मीमांसा और तुलनात्मक व्याकरण के विशेषज्ञ लेओ मेयेर ने संस्कृत पढाई। उनके सर्वाधिक सफल शिष्य थे **लेओपोल्ड वान श्रेडेर** (१८५१-१९२०)।

श्रेडेर का जन्म १८५१ में देर्प्त में हुआ। यही उन्होंने माध्यमिक और उच्च शिक्षा पाई। १८७३ में देर्प्त विश्वविद्यालय की पढाई पूरी करके उन्होंने लाइपज़िग में हेनरिख ब्रोकहाउस और एडल्बर्ट कून से, येना मे डेल्ब्रुक और कपेलेर से, ट्यूबिगेन में रोथ से संस्कृत की शिक्षा पाई। ओट्टो बोटलिग ने भी युवा संस्कृतविद की सहायता की। १८७७ मे श्रेडेर ने होमेर की भाषा मे बलाघात की वैदिक भाषा से तुलना के विषय पर पी-एच० डी० के शोधप्रबध का मण्डन किया और १८७९ में देर्प्त मे डी० फिल० के लिए वैदिक साहित्य की महत्त्वपूर्ण रचना 'मैत्रायणीय-सहिता' पर शोधप्रबंध का मण्डन किया। रूसी विज्ञान अकादमी ने श्रेडेर से 'मैत्रायणीय-संहिता' प्रकाशित करने का अनुरोध किया और इसके लिए साधन प्रदान किये (हाल ही मे श्रेडेर के इस प्रकाशन का जर्मन संघात्मक गणराज्य मे नया सस्करण निकला है)। श्रेडेर को रूसी विज्ञान अकादमी से सदा पूर्ण समर्थन और सहायता मिलती रही। श्रेडेर के वैज्ञानिक और अध्यापन कार्य का पहला चरण देर्प्त से ही संबधित है। १८९४ मे वे वियेना मे रहने लगे, जहां उन्होंने सुविख्यात विद्वान जार्ज ब्यूलर के कार्य को आगे बढाया। अपने दीर्घ जीवन मे श्रेडेर ने प्राचीन भारत की भाषाओं, साहित्य और धर्मों पर अनेक ग्रंथ लिखे। रूस से उनके संबंध कभी नहीं टूटे। बाल्टिक तटीय क्षेत्र के विभिन्न वैज्ञानिक समाजो (एस्तोनियाई वैज्ञानिक समाज, रीगा नगर वैज्ञानिक समाज, आदि) के वे सदस्य थे। इस क्षेत्र से संबंधों का उनकी वैज्ञानिक अभिरुचियो पर भी प्रभाव पड़ा। उन्होंने एस्त जाति के तथा दूसरी यूग्रियाई-फ़िन जातियों के रीति-रिवाजों, विशेषत: विवाह की रस्मों का अध्ययन किया और सुदूर अतीत मे भारोपीय, आर्य क़बीलों के साथ इनके सम्पर्कों के प्रमाण पाये। मेयेर और श्रेडेर के शिष्यों में कीयेव विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर फ्योदोर क्नौएर भी थे।

फ्योदोर क्नौएर (१८४९-१९१७) का जन्म वेस्सारावियां में आ बसे एक जर्मन परिवार में हुआ था। वेर्द्यान्स्क नगर मे उन्होंने काम किया। जीवन की विभिन्न कठिनाइयो को पार करते हुए अतत: वे देर्प्त विश्वविद्यालय के इतिहास एव वाङ्मय संकाय में दाखिला पाने मे सफल रहे। यहां उन्होंने मेयेर और श्रेडेर से संस्कृत सीखी। ऋग्वेद और यूनानी भाषा में बलाघात पर क्नौएर के पहले लेख में श्रेडेर का प्रभाव स्पष्टत: दिखाई देता है। युवा विद्वान ने संस्कृत का अध्ययन येना में बेर्टोल्ड डेल्ब्रुक और कार्ल कपेलेर के यहां जारी रखा। डेल्ब्रुक के परामर्श पर क्नौएर ने संस्कृत शब्दो के आघातन पर विशाल शोधकार्य किया, जिससे पीटर्सबर्ग शब्दकोशों में कतिपय संशोधन किये जा सके। ट्यूबिंगेन में रोथ के निदेशन में क्नौएर ने वेदों और 'अवेस्ता'

का अध्ययन किया। रोथ ने उन्हे गोभिल-गृह्यसूत्र पर काम करने का परामर्श दिया। १८८२ मे देर्प्त विश्वविद्यालय मे क्नौएर ने इस ग्रंथ के प्रकाशन और जर्मन अनुवाद को शोधकार्य के रूप मे प्रस्तुत किया। १८८४ मे उन्होंने देर्प्त में अध्ययन कार्य किया और फिर उन्हे कीयेव विश्वविद्यालय में निमंत्रित किया गया। यहां अनेक वर्षों तक क्नौएर ने अत्यत रोचक और जटिल ग्रथों मानव गृह्यसूत्र और मानव श्रौतसूत्र के प्रकाशन पर काम किया। रूस में प्रकाशित ये ग्रंथ उत्तरवैदिक पाठो और कर्मकाण्ड मे रुचि लेने वाले सभी संस्कृतविदों के लिए अद्वितीय सहायक पुस्तकें है। क्नौएर द्वारा मिल्लेर के साथ मिलकर लिखी गई संस्कृत की पाठ्य-पुस्तक का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। क्नौएर ने सस्कृत की एक और पाठ्य-पुस्तक रूसी भाषा मे भी लिखी, जो १९०८ मे लाइपजिग में प्रकाशित हुई। इसके साथ दिये गये पाठ-सकलन मे गृह्य और श्रौत सूत्र भी थे। क्नौएर से शिक्षा पाने वालो मे अलेक्सेई बरान्निकोव, बोरिस लारिन, गेओर्गी अख़्लेदियानी भी थे, जो कालांतर मे जाने-माने सोवियत भारतविद और भाषाविद बने।

नौवे दशक मे रूसी भाषाविद, समीक्षक, साहित्य के इतिहासकार और सामाजिक कार्यकर्त्ता **द्मीत्री ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की** (१८५३-१९२०) ने वैदिक साहित्य के क्षेत्र में काम किया। ओदेस्सा में इ० यागिच से और कुछ समय के लिए पीटर्सबर्ग मे मिनायेव से तथा तदुपरांत पेरिस में बेर्गेन से उन्होंने सस्कृत सीखी। यूरोप में उन्होंने 'अवेस्ता' का भी अध्ययन किया। ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की खार्कोव विश्व-विद्यालय में संस्कृत पढ़ाते थे। उनकी पहली पुस्तक के रूप में एक छोटा सा शोध-कार्य छपा, जिसका शीर्षक था 'सोम पुष्प लाने वाले गरुड का वैदिक मिथक : वाणी और उन्माद की अवधारणा के प्रसंग में'। अपनी अगली पुस्तक में लेखक ने अपने विचारों को अधिक पूर्ण रूप में प्रस्तुत किया। यह पुस्तक थी – 'भारोपीय युग के सुरादेवोपासना पंथों के अध्ययन का प्रयास, समाज के विकास के आरंभिक चरणो में उन्माद की भूमिका के प्रसंग में', भाग १, 'प्राचीन भारत में वैदिक युग मे सोमदेव की उपासना', ओदेस्सा, १८८४। इस पुस्तक मे वैदिक सोमदेव की ईरानी पंथों के हओम (होम) और यूनानी डायोनिशस की उपासना से व्यापक तुलना की गई थी तथा मिथकों के अध्ययन में सौर तथा ऋतु संबधी धाराओं के प्रमुख प्रतिनिधियों के दृष्टिकोणों की आलोचना की गई थी। इस दृष्टि से यह पुस्तक मिल्लेर की पुस्तक की याद दिलाती थी। रूसी विद्वान का मत था कि प्रकृति के दैवीकरण से सबंधित पथो तथा मुख्यत सामाजिक उत्पत्ति के पथो मे सिद्धांतत भेद किया जाना चाहिए। उनका विचार था कि इन अंतिम तरह के पथों मे ही सोम की उपासना भी आती है, जिसका स्वरूप उन्मादमूलक था। लेखक की रुचि उन्मादजन्य पंथो के सामाजिक-मानसिक सार मे थी। वे धार्मिक उन्माद को अत्यत महत्त्वपूर्ण मानते थे, उसे मानव समुदाय को "एक सूत्र में बांधने वाला नया तत्व" मानते थे, "जिसने चिंतन के कार्य को, कल्पना की उड़ान को, मानसिक

कार्यशीलता के विकास को सशक्त आवेग प्रदान किया।" ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की के मत में मानव समाज का विकास ही मनुष्य के लिए आवश्यक तीव्र उन्माद से शुरू हुआ। उन्होंने ऋचाओं की रचना और पाठ के बारे में तथा सोमपान के बारे मे वेदो में निहित जानकारी का विश्लेषण किया। वे यह मानते थे कि सोमपान तथा ऋचाओं का पाठ एक दूसरे से संबंधित थे, और सोमपान मे उत्पन्न उन्माद लयबद्ध पाठ द्वारा श्रोताओ तक पहुचता था। सगीत, अनुष्ठान और पुरोधा की वाणी एक अटूट समग्रता थे। वैदिक ऋचाओ में वाणी अपनी लयबद्धता के कारण द्रव सी प्रवाहित होती थी। लयबद्ध वाणी का आदिम मानव के मानस पर प्रबल प्रभाव पड़ता था और इससे उसका चितन व सृजनशक्ति जागते थे। आद्य धार्मिक उन्माद मे ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की कालांतर के धार्मिक रहस्यवाद और ऐहिक उन्माद का स्रोत ढूंढ़ते थे। उनका कहना था कि इसी आधार पर ही सदियां बीतने पर मिथक तथा धार्मिक-रहस्यवादी प्रणालियां बनी। ऋग्वेद की ऋचाओं के भाषावैज्ञानिक विश्लेषण की सहायता से उन्होंने पुरातन भाषा और चितन की विशिष्टताओ का पता लगाने की चेष्टा की। इस समस्या पर कार्य में उनका दृष्टिकोण अपने समसामयिक फ्रांसीसी नृजातिविज्ञानियो के समीप था। आद्य चिंतन और प्राचीन मानव के मानस के तथा कविता, वाणी और अनुष्ठान के सबध के सामान्य प्रश्नो का महत्त्व भी विज्ञान मे कम नही हुआ है।

१८८७ में ओदेस्सा मे ही ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की की एक और पुस्तक प्रकाशित , जिसका शीर्षक था: 'वैदिक युग मे हिंदुओं की अग्निपूजा के इतिहास पर कुछ विचार'। उन्होंने वेदों मे अग्नि के तीन रूप निर्धारित किये. गृहपति, विशपति और वैश्वानर। उनके विचार मे यह विभेदन केवल मिथकीय लक्षणों के अनुसार नहीं हुआ, बल्कि इसका सामाजिक आधार था – गृहपति एक अलग परिवार के गृह का अग्निदेव था, विशपति – ग्राम का, समुदाय का और वैश्वानर समुदायों के संघ का। वैदिक शब्दावली के जाने-माने अध्येता, जर्मन भारतविद हेर्मन ग्रासमन के साथ तर्क-वितर्क करते हुए रूसी संस्कृतविद ने आश्वस्तकारी ढंग से यह सिद्ध किया कि "विश" शब्द का अर्थ "समुदाय" ही समझा जाना चाहिए (ग्रासमन ने इसका अर्थ "गृह" बताया है)। पुस्तक का जो भाग तीन अग्नियों की पूजा को समर्पित है, उसका मुख्य निष्कर्ष यह है कि पंथो और धार्मिक अवधारणाओं का विकास आर्यों के नागरिक गठन के विकास के साथ-साथ ही हुआ। सामाजिक पहलू में तथा धर्म पर सामाजिक संस्थाओ के विकास के प्रभाव की समस्या में रुचि का संबंध प्रत्यक्षत: ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की के सामाजिक दृष्टिकोण और कार्यकलापो मे है। युवावस्था में उन्होंने समाजवादी मंडलियो मे सक्रिय रूप से भाग लिया, अवैध पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे, मार्क्स और उनके अनुयायियों की रचनाओं का अध्ययन किया।

ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की की पुस्तक के दूसरे भाग में वैदिक साहित्य में अग्नि

की उपमाओं की सूची दी गई है। लेखक ने ८०० ऐसी उपमाएं संकलित कीं। उनके साथ सही-सही उद्धरण, ईरानी सामग्री के साथ तुलना तथा निरुक्ति और मिथक संबंधी व्याख्याएं भी दी। इस व्यापक सामग्री की बदौलत वैदिक धर्म और साहित्य में अग्नि के महत्त्व, कार्यों और लक्षणो का सही-सही पता लगाया जा सकता है। रूसी संस्कृतविद के इस ग्रंथ का फ्रांसीसी अनुवाद पेरिस मे छपा।

ओल्देनबुर्ग-कुलिकोव्स्की के शिष्य थे **पावेल रित्तेर** (१८७२-१९३९), जिन्होंने खार्कोव विश्वविद्यालय के स्लाव-रूसी संकाय में शिक्षा पाई। संस्कृतविद्या के क्षेत्र में उनका पहला कार्य था विष्णु को समर्पित ऋग्वेद की ऋचाओं का अध्ययन। रित्तेर ने जर्मनी में ऋग्वेद के प्रसिद्ध ज्ञाता कार्ल गेल्डनर से आगे शिक्षा पाई। संस्कृत के अलावा उन्होंने पाली और बंगला भी सीखी। रित्तेर की वैज्ञानिक रुचि मुख्यतः संस्कृत साहित्य के अध्ययन पर ही केंद्रित थी। विदेश में अध्ययन के परिणाम के रूप में उन्होंने दंडी कृत 'दशकुमारचरित' के एक अंश का अनुवाद तथा इस कृति पर अपना लेख प्रस्तुत किये। यह लेख १८९८ मे प्रकाशित हुआ था। दंडी की विशिष्टताओं की चर्चा करते हुए उन्होंने इस रचनाकार के "प्रत्यक्ष यथार्थ-वाद" की ओर विशेष ध्यान दिलाया। शीघ्र ही रित्तेर ने 'दशकुमारचरित' का पूरा अनुवाद भी तैयार कर लिया, लेकिन वह सोवियत काल में ही प्रकाशित हो पाया। यह अनुवाद १९०३ में प्रकाशित जोहान्न जैकब मेयेर के जर्मन अनुवाद से पहले ही कर लिया गया था। रित्तेर खार्कोव विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाते थे। क्रांतिपूर्व वर्षों में उनका 'संक्षिप्त संस्कृत व्याकरण' चार बार छपा। उन्होंने का-लिदास के 'मेघदूत' का भी रूसी में अनुवाद किया। १९१७ की अक्तूबर क्रांति के बाद उन्होंने 'मेघदूत' और 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' का उक्राइनी भाषा में अनुवाद छापा और इस तरह संस्कृत से उक्राइनी भाषा में अनुवादों की परम्परा का सूत्रपात किया।

बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक में रित्तेर ने सोवियत उक्राइना में प्राच्यविद्या संबंधी कार्यों के संगठन में सक्रिय भाग लिया, संस्कृत साहित्य की रचनाओं के अनुवाद प्रकाशित किये, लेख छापे और व्याख्यान दिये। नूतन भारतीय साहित्य में उनकी रुचि विशेषतः उल्लेखनीय है। उन्होंने संस्कृत, पाली और बंगला भाषाओं की रचनाओ से भारतीय साहित्य का संकलन तैयार किया। इसमे ऋग्वेद से लेकर बीसवीं सदी के बंगला कवियों तक की रचनाओं का अनुवाद था। उन्होंने इस सारे भारतीय साहित्य को एक श्रृंखला में जोडने वाले सूत्र खोजे, उदाहरणतः, यह दिखाया कि किस तरह रवीन्द्रनाथ ठाकुर का सृजन प्राचीन भारतीय शास्त्रीय काव्य से संबंधित है। इस दिशा में उन्होंने दूसरे सोवियत भारतविदो और साहित्य विशेषज्ञों (अकाद-मीशियन बरान्निकोव, अकादमीशियन बेलेत्स्की, आदि) से सहयोग किया। क्रांति के बाद के वर्षों में न केवल लेनिनग्राद* में, जहां ओल्देनबुर्ग, श्चेर्बात्स्की और उनके

---

* १८(३१) अगस्त १९१४ तक यह नगर सेंट पीटर्सबर्ग (या पीटर्सबर्ग) कहलाता था और २६ जनवरी १९२४ तक इसका नाम पेत्रोग्राद रहा।

शिष्य काम कर रहे थे, बल्कि मास्को, खार्कोव, कज़ान तथा अन्य कुछ विश्व-विद्यालयों में भी जहां संस्कृत और भारतीय संस्कृति का अध्ययन हो रहा था, वैज्ञानिक और शैक्षिक कार्य की परम्पराओं का नैरंतर्य बना रहा।

पीटर्सबर्ग में संस्कृतविद्या के क्षेत्र में काम कर रहे मिनायेव के शिष्यों में एक थे निकोलाई मिरोनोव। उनकी प्रकाशित कृतियों मे सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं – एशियाई संग्रहालय में भारतीय पांडुलिपियों का सूचीपत्र तथा रूसी जन पुस्तकालय में भारतीय पांडुलिपियों का सूचीपत्र। उन्होने वैदिक भाषा और बौद्ध धर्म पर भी कुछ लेख लिखे। मिरोनोव की रचनाएं इंगलैंड और भारत में भी अंग्रेजी भाषा में छपी।

द्मीत्री कुद्र्याव्स्की (१८६७-१९२०) ने भी शुरू में पीटर्सबर्ग में मिनायेव से शिक्षा पाई और फिर येना में डेल्ब्रुक से। १८९६ से वे यूर्येव नगर (भूतपूर्व देर्प्त) मे संस्कृत और सामान्य भाषाविज्ञान पढ़ाने लगे। भाषाविज्ञान पर व्याख्यान-माला तैयार करने के अलावा उन्होंने संस्कृतविद्या के लिए भी विशेष कार्य किया – संस्कृत की पाठ्य-पुस्तक, जिसमें शब्दकोश और व्याकरण की रूपरेखा भी थी (१९०३), 'संस्कृत प्रवेशिका' (१९१७) तथा 'हितोपदेश' का अनुवाद। उनकी प्रमुख रचनाएं गृह्यसूत्रों को समर्पित हैं। प्राचीन भारतीय सूत्र साहित्य का अध्ययन करते हुए कुद्र्-याव्स्की ने श्रेडेर और क्नौएर की परम्पराएं जारी रखीं। उन्होंने प्राचीन हिंदुओं के जीवन चरणों – आश्रमों – पर तथा प्राचीन भारतीय लोगों के दैनंदिन जीवन इतिहास के स्रोतों के नाते गृह्यसूत्रों की विशिष्टता के विषय पर लेख लिखे।

प्राचीन भारत के घरेलू अनुष्ठानों के बारे में कुद्र्याव्स्की की पुस्तक में दो अनुष्ठानों – अतिथि-सत्कार और उपनयन – का विश्लेषण किया गया है। यही पर अश्वलायण और कौशिक के गृह्यसूत्रों से तत्संबंधी उद्धरणों का अनुवाद दिया गया है। कुद्र्याव्स्की ने संस्कृत ग्रंथो का अध्ययन भारोपीय संस्कृति की दृष्टि से दूसरे, संबंधी जनगण की सामग्री से (सर्वप्रथम होमर के काव्यों में निहित जानकारी से) तुलना करते हुए किया। उन्होंने विभिन्न संस्कृत ग्रंथो और उनके पाठभेदों के आधार पर दोनों अनुष्ठानों का विस्तृत विवरण दिया। तुलनात्मक नृजातिविज्ञान की समस्याओं के अध्ययन में अपनी समसामयिक प्रवृत्तियों का (इसमें विशेषत: मोरिस विंटर-निट्ज़ की रचनाएं आती हैं) अनुसरण करते हुए कुद्र्याव्स्की ने वैज्ञानिक विश्लेषण की विधि निर्धारित करने का प्रयास किया। उन्होंने अनुष्ठानो और सामाजिक संस्थाओं के सार का विश्लेषण प्राय: आदिमयुगीन जीवन जी रहे क़बीलों के नृजातिवर्णन संबंधी सामग्री की सहायता से किया। उदाहरणत:, प्राचीन भारतीय आश्रमव्यवस्था की व्याख्या करने के लिए उन्होंने आस्ट्रेलियाई क़बीलों में आज भी पाई जाने वाली वय-श्रेणियों की प्रणाली को प्रस्थान बिंदु बनाया। कुल जमा कुद्र्याव्स्की के वैज्ञानिक कार्यकलाप के लिए तुलनात्मक नृजातिवर्णन और आदिमयुगीन इतिहास में रुचि लाक्षणिक है। आदिमयुगीन इतिहास पर उनकी लोकप्रिय पुस्तक के क्रांति से पहले भी और बाद में भी कई संस्करण निकले। यह पुस्तक एंगेल्स की 'परिवार,

निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति ' नामक पुस्तक के विचारों के प्रभाव में लिखी गई थी।

रूसी विज्ञान अकादमी ने बौद्ध धर्म के अध्ययन के क्षेत्र मे भी महत्त्वपूर्ण काम किया। १८९७ में ओल्देनवुर्ग की पहलक़दमी पर 'बौद्ध पुस्तकमाला। मूल और अनूदित बौद्ध ग्रंथों का संग्रह।' प्रकाशित होने लगी। इसका ध्येय बौद्ध धर्म की उत्तरी शाखा के अध्ययन मे सहयोग प्रदान करना था, जबकि विलक्षण ब्रिटिश विद्वान टी० रीस-डेविड्ज़ और उनके सहयोगी दक्षिणी शाखा का अध्ययन कर रहे थे। उत्तरी शाखा की ओर विशेष ध्यान रूस में बौद्ध धर्म के अध्ययन की वैज्ञानिक परम्परा थी, जिसका सूत्रपात मिनायेव और वसील्येव की रचनाओं मे हुआ। 'बौद्ध पुस्तक-माला' एक अंतर्राष्ट्रीय परियोजना थी, जिसमें यूरोप और एशिया के कतिपय देशो के विद्वानो के प्रयास संगठित हुए। उल्लेखनीय है कि रूसी विज्ञान अकादमी विदेशी प्राच्यविदो और विशेषतः भारतविदों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रखती थी। प्रायः सभी रूसी संस्कृतविदो को जर्मनी, फ़ांस, इंगलैंड के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों से शिक्षा पाने का, यूरोप के श्रेष्ठतम पुस्तकालयों और संग्रहालयों मे काम करने का अवसर मिलता था। १९वी सदी और २०वीं सदी के पूर्वार्ध के अनेक जाने-माने यूरोपीय भारतविद रूसी विज्ञान अकादमी के सदस्य थे। आगस्त श्लेगेल और हेनरी थॉमस कोल्ब्रुक, होरेस विल्सन, फ़ांज़ बोप्प, जार्ज ब्यूलर, हेर्मन जैकोबी, एमिल सेनार तथा अन्य अनेक स्वनामधन्य विद्वान इस अकादमी के सदस्य, मानद सदस्य या सहसदस्य थे। सोवियत काल में एम० वल्लेज़ेर और सिल्वेन लेवी, लुई फ़िनो, ए० फ़ूशे, औरेल स्टेन, आदि भारतविद सोवियत विज्ञान अकादमी के सदस्य थे। १८५६ में ही राधाकांत देव रूसी अकादमी के मानद सदस्य बन गये। १८८८ से रामकृष्ण गोपाल भंडारकर भी, जिनकी रूसी विद्वान बहुत क़द्र करते थे, रूसी विज्ञान अकादमी के सहसदस्य रहे।

१८९९ में रोम में हुई प्राच्यविदों की १२वी अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में रूसी प्राच्यविद राद्लोव और ओल्देनवुर्ग ने मध्य और पूर्वी एशिया के अध्ययन का अंतर्राष्ट्रीय संघ गठित करने का प्रस्ताव रखा। उन्होंने सुझाया कि इस संघ का संगठन केंद्र पीटर्सबर्ग में हो। १९०३ में हैम्बर्ग में हुई १३वी कांग्रेस में यह योजना स्वीकृत हुई। तभी इस संघ की रूसी समिति भी गठित हुई। इसमें विज्ञान अकादमी, पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय का प्राच्य भाषा संकाय, पुरातत्व आयोग, रूसी भूगोल समाज, आदि वैज्ञानिक प्रतिष्ठान शामिल हुए। रूसी समिति ने कतिपय विशेष ग्रंथ प्रकाशित किये। यह समिति इतिहासकारो, पुराविदों, भाषाविदो और नृजातिवर्णनकारो के सहयोग से किये जाने वाले "अंतरविषयी" कार्यों की ओर विशेष ध्यान देती थी। मध्य और पूर्वी एशिया का अध्ययन रूसी प्राच्यविदो का विशेष कार्य था। पीटर्सबर्ग में केंद्रित अंतर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना इस क्षेत्र में उनकी सेवाओं की मान्यता का ही कार्य था।

१८९० से पूर्वी तुर्किस्तान में संस्कृत के हस्तलिखित ग्रंथ मिलने लगे। प्रसिद्ध रूसी विद्वान, यात्री और क्रांतिकारी द्मीत्री क्लेमेंत्स के इस इलाक़े मे अभियान के परिणाम सनसनीख़ेज़ थे। इनको देखकर ही जर्मनी, फ्रांस, ब्रिटेन, जापान को पूर्वी तुर्किस्तान में अपने अभियान दल भेजने की प्रेरणा मिली। इन दलों का कार्य बहुत फलप्रद रहा। रूसी समिति को अभियान दल भेजने का अवसर काफ़ी बाद में मिला। ओल्देनबुर्ग के नेतृत्व में अभियान दल १९०९-१९१० में तुर्फान और १९१४-१९१५ मे तुङहुआन गये। इन दलो के कार्य के वैज्ञानिक परिणाम बहुत महत्त्वपूर्ण थे। ओल्देन-बुर्ग द्वारा प्राप्त सामग्रियो का अभी तक अध्ययन हो रहा। इन अभियानों के फलस्वरूप हर्मिताज में केंद्रीय एशिया की कलाकृतियों के संग्रह तथा प्राच्यविद्या संस्थान में केंद्रीय एशिया की पांडुलिपियो के संग्रह में बहुत वृद्धि हुई। यहां यह भी उल्लेख-नीय है कि ओल्देनबुर्ग अभियानों के दौरान मिले प्राचीन स्मारकों और कलाकृतियों को संजोकर रखने की ओर बहुत ध्यान देते थे, सो उन्होंने केंद्रीय एशिया में आये कतिपय पश्चिमी अभियान दलो द्वारा की गई लूट-खसोट पर गहरा आक्रोश व्यक्त किया। ओल्देनबुर्ग इस बात के समर्थक थे कि जिन प्राचीन वस्तुओं को संजोये रखने के लिए उन्हें उनकी प्राप्ति के स्थान से ले जाने की आवश्यकता नहीं है, उन्हे छुआ न जाये। प्राप्ति के स्थानों पर छोड दी गई कलाकृतियो का यूरोपीय विद्वान अध्ययन कर सकें, इस ध्येय से ओल्देनबुर्ग ने छायाचित्रों का व्यापक उपयोग किया।

बीसवीं सदी के आरम्भ में कई अभियान दल पूर्वी देशों को भेजे गये थे। १९०३-१९०४ में श्चेर्बात्स्की के एक निकटतम सहयोगी स्ताल-गोल्स्तैन भारत गये। उन्होंने संस्कृत, तिब्बती और चीनी ग्रंथों से बौद्ध धर्म का अध्ययन किया तथा केंद्रीय एशियाई लिपि पर और उन्ही दिनों खोजी गई तोखार भाषा पर कतिपय शोध रचनाएं लिखी। १९१०-१९११ में श्चेर्बात्स्की भारत गये। त्सीबिकोव, बरादीन और दूसरे विद्वान तिब्बत गये। पहला विश्वयुद्ध छिडने से कुछ समय पूर्व श्चेर्बात्स्की के युवा प्रतिभावान शिष्य ओ० रोज़ेनबर्ग जापान में बौद्ध धर्म का अध्ययन करने गये, जबकि **अलेक्सान्द्र और ल्युद्मीला मेर्वार्त** भारत व श्रीलंका गये। मेर्वार्त दम्पति के अभियान की विस्तार से चर्चा की जानी चाहिए। इस अभियान का प्रमुख ध्येय तो था पीटर्सबर्ग के नृविज्ञान और नृजातिवर्णन संग्रहालय के लिए दक्षिणी एशिया के देशों मे नृजातिवर्णन संबंधी वस्तुएं जमा करना। मेर्वार्त दम्पति के सम्मुख भारत के नृजाति-वर्णन और रहन-सहन का तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन का भी कार्यभार रखा गया था। उन्हें दक्षिणी भारत की ओर विशेष ध्यान देना था, क्योंकि तब तक इस अत्यंत रोचक क्षेत्र में रूसी विद्वानों ने कोई काम नहीं किया था। यहां यह भी कहा जाना चाहिए कि उन दिनो सारे यूरोप में ही भारतविद्या संस्कृत-विद्या तक ही सीमित थी और प्राचीन भारतीय संस्कृति में द्रविड़ जनगण के योगदान का उचित मूल्यांकन नहीं किया जाता था।

मेर्वार्त दम्पति पहले काफी समय तक श्रीलंका मे रहे। यहां उन्होंने सिंहली और तामिल भाषाएं सीखी, सामुदायिक संबंधो और ग्रामीण प्रथाओ का अध्ययन किया। उनके कार्य की एक महत्त्वपूर्ण दिशा थी – मठों मे पढाये जाने वाले बौद्ध सिद्धांतो तथा आम लोगो के धार्मिक व्यवहार की तुलना। इसके बाद रूसी भारतविदो ने दो साल भारतवर्ष मे बिताये। उन्होंने मद्रास और त्रावणकोर, बंगलौर और मैसूर, कश्मीर और लाहौर, बनारस, कलकत्ता और असम मे काम किया। अनन्त कृष्ण अय्यर की मदद से उन्होंने मलाबार तट के निवासियो का अध्ययन किया। सुब्रह्मण्य अय्यर की सहायता से उन्होंने प्राचीन तामिल काव्य 'मनिमेकलाइ' का अनुवाद किया। त्रिवेंद्रम मे उन्होंने सुविख्यात भारतविद गणपति शास्त्री और गोपीनाथ राव के साथ सम्पर्क स्थापित किया। अलेक्सान्द्र मेर्वार्त ने उन्ही दिनों मिले भास के संस्कृत नाटको का रूसी में अनुवाद किया तथा कत्थकली का अध्ययन किया। यह भारत के प्राचीन तथा लोक नाट्यकला के इतिहास पर उनके विशाल कार्य की शुरूआत थी। मेर्वार्त दम्पति ने कश्मीरी आभूषणों के संकेतार्थ का अध्ययन किया, गांधार मे पुरातत्वीय खोजे देखी, भारतीय वाद्यो का अत्यंत रोचक संग्रह जमा किया। अलेक्सान्द्र मेर्वार्त एशियेटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल के सदस्य निर्वाचित हुए, इसके काम मे उन्होंने सक्रिय भाग लिया, कलकत्ता के एक कालेज में अध्ययन कार्य किया, संग्रहालय में नृजातिवर्णन विभाग के अध्यक्ष रहे। उन्हे कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत साहित्य पर व्याख्यान देने के लिए निमंत्रित किया गया। रूस लौटने के समय तक मेर्वार्त दम्पति भारतीय जन-जीवन और शिल्पों की लगभग ६ हजार वस्तुएं, प्रायः ८०० पुस्तकें और कई हजार छायाचित्र जमा कर चुके थे। १९१८ में इस विशाल संग्रह को स्वदेश पहुंचाना और स्वयं भी वहां लौटना बहुत कठिन था, क्योंकि रूस मे गृहयुद्ध चल रहा था। १९२२ में ही वे पेत्रोग्राद पहुंच सके। उनका संग्रह लेनिनग्राद के नृविज्ञान और नृजातिवर्णन संग्रहालय के भारतीय संग्रह का आधार बना। सोवियत काल में भी मेर्वार्त दम्पति ने सक्रिय काम किया, विशेषतः भारतीय नाट्यकला के अध्ययन तथा द्रविड़ भाषाओं के अध्यापन के क्षेत्र मे।

१९वी और २०वी सदियो के संधिकाल मे रूस में भारत मे, उसके साहित्य, धर्म और दर्शन मे गहरी रुचि ली जा रही थी। अनेक वैज्ञानिक शोधकार्य व्यापक लोकप्रियता और मान्यता पा रहे थे। रुचि के क्षेत्र तथा भारतीय संस्कृति का मूल्यांकन भिन्न-भिन्न थे। प्रसिद्ध रूसी दार्शनिक व्लादीमिर सोलोव्योव और सेर्गेई त्रुबेत्स्कोई भारतीय दर्शन का अध्ययन कर रहे थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं के रूसी रूपांतर अनेक बार छप चुके थे। रूसी प्रतीकवादी कवि ठाकुर को ऐसा कवि मानते थे, जिसका भावजगत उनके लिए क़रीबी था। मशहूर रूसी कवि व्लादीमिर ब्रयुसोव ने ठाकुर का तथा संस्कृत के कवि अमरू का अनुकरण करते हुए उनकी शैली मे कविताएं लिखी। कवि कोन्स्तान्तीन बाल्मोंत ने अश्वघोष और कालिदास का अनुवाद

किया, उन्होंने कालिदास पर एक लेख लिखा। रूसी कवि आन्नेन्स्की ने मिनायेव से संस्कृत सीखी।

महान रूसी लेखक **लेव तोलस्तोय** के जीवन मे भारत का क्या स्थान था, इसकी अलग से चर्चा की जानी चाहिए। पिछली सदी के नौवे दशक में ही लेव तोलस्तोय अपने धार्मिक-नैतिक अन्वेषण के सिलसिले में बौद्ध धर्म में रुचि लेने लगे थे। इस विषय पर अपनी जिज्ञासा पूरी करने के लिए उन्होंने मिनायेव से प्रश्न पूछे, उनकी पुस्तक का अध्ययन किया और कालांतर में ओल्देनबुर्ग से भी मिले। 'ललितविस्तर' से वे अत्यंत प्रभावित हुए। बौद्ध धर्म का अधिक गहन परिचय पाने के लिए उन्होंने बुर्नूफ की पुस्तक पढ़ी। तोलस्तोय के समसामयिकों के संस्मरणों के अनुसार जर्मन भारतविद ओल्डनबर्ग की पुस्तक 'बुद्ध। जीवन, शिक्षा और संघ' उन कुछेक पुस्तको मे थी, जिन्हे तोलस्तोय सदा अपनी मेज़ पर रखते थे। उन्हे मिनायेव द्वारा प्रकाशित भारतीय लोककथाए भी पसंद थी। उनमें वे "आश्चर्य-जनक बातें" पाते थे। कुछ भारतीय लोककथाओ और बौद्ध ग्रथो के कुछ कथानकों को तोलस्तोय ने अपनी रीडरों में शामिल किया। कुछ को तो उन्होंने रूसी पाठको के लिए बदला भी। तोलस्तोय की यह कामना थी कि रूस में भारत के बारे मे ज्ञान फैले और वे इस देश के बारे में पुस्तकें प्रकाशित करने का सदा आग्रह करते थे। तोलस्तोय के पुस्तकालय में भारत में प्रकाशित और भारत के बारे मे कई सौ पुस्तकें थी। जीवन के अंतिम वर्षों मे वे बुद्ध के बारे में पुस्तक लिखने की तैयारी कर रहे थे। अपने अनुयायी प० बुलांझे की पुस्तक – 'सिद्धार्थ गौतम का, जो बुद्ध कहलाये। जीवन और शिक्षा', मास्को, १६११ – का उन्होंने सम्पादन किया।

हिंदू धर्म में भी तोलस्तोय रुचि लेते थे। भगवद्गीता का वे उच्च मूल्यांकन करते थे। शंकर के दर्शन का उन्होंने अध्ययन किया। नूतन युग के भारतीय दार्श-निकों में वे रामकृष्ण परमहंस में विशेष रुचि लेते थे, जिन्हें उन्होंने एक स्थान पर "अद्‌भुत मनीषी" कहा है। स्वामी विवेकानन्द की पुस्तको में भी तोलस्तोय ने महत्त्वपूर्ण विचार पाये। अभेदानन्द की रचनाओं का वे रूसी अनुवाद छापना चाहते थे। बहुत सी ऐसी बातें थीं जो महान रूसी लेखक को भारतीय दार्शनिकों के समीप लाती थीं, इनमें सर्वोपरि थी – मानवीयता तथा पूरब व पश्चिम के दर्शनों का संश्लेषण प्रस्तुत करने की अभिलाषा। तोलस्तोय की रचनाओं पर भारत में व्यापक प्रतिक्रिया हुई। कई भारतीय लेखकों और पत्रकारो से उनका पत्रव्यवहार होता था। १६०८ में लिखा उनका 'एक हिंदू के नाम पत्र' बहुत लोकप्रिय हुआ। तारकनाथ दास के पत्र का उत्तर देते हुए रूसी लेखक ने भारतीय लोगों का आह्वान किया कि वे "प्रशासन के अत्याचारों में, दुष्टता में भाग न लें", तब "संसार में कोई भी आपको दास नहीं बना सकता ।" भारत के महान स्वतंत्रता सेनानी महात्मा गांधी अपने को तोलस्तोय का अनुयायी कहते थे। गांधीजी के पत्र और उनको भेजी पुस्तक तोलस्तोय को बहुत पसंद आई।

पिछली सदी के अंतिम दशक में प्रायः हर साल भारतीय साहित्य की रचनाओ के रूसी अनुवाद (मुख्यतः पश्चिमी भाषाओं से पुनरनुवाद), भारत के बारे मे यूरोपीय विद्वानो की रचनाए, भांति-भांति के पुनर्कथन और संग्रह छपते थे। बौद्ध धर्म पर ओल्डनवर्ग की पुस्तक के रूसी अनुवाद के पांच संस्करण निकले, रीस डेविड्स, रिचर्ड पिशेल, ऐड्विन आर्नोल्ड की पुस्तको के भी कुछेक संस्करण निकले। रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, अभेदानन्द जैसे भारतीय दार्शनिको की रचनाए भी काफ़ी लोकप्रिय थीं। 'मनुस्मृति', 'धम्मपद', 'भगवद्गीता', 'सुत्तनिपात', अश्वघोष का 'बुद्धचरित' और कालिदास के नाटको जैसी भारतीय साहित्य, दर्शन और धर्म की कृतियों का भी अनुवाद हुआ। भारत के इतिहास पर कई संकलन और सिंहावलोकनात्मक पुस्तकें भी छपी। भारतीय साहित्य की रचनाओं के अनुवादो तथा भारत पर पुस्तको का प्रकाशन पीटर्सबर्ग और मास्को मे ही नहीं, अन्य कई नगरों में भी होता था। क्रांतिपूर्व वर्षों में रूस के जनगण की अनेक भाषाओ मे भी भारत के बारे में साहित्य प्रकट हुआ। विलक्षण उक्राइनी लेखकों इवान फ्रांको और लेस्या उक्राईन्का ने भारतीय मिथक उक्राइनी भाषा में प्रस्तुत किये। भारतीय लोक कथाओं और किंवदंतियों का जार्जियाई भाषा में अनुवाद हुआ।

भारतीय संस्कृति मे व्यापक रुचि जागी। यह रुचि वैज्ञानिकों, भारतविदो को उनके काम मे प्रेरणा देती थी। साथ ही यह भी कहा जाना चाहिए कि उन दिनो रूसी बुद्धिजीवियो मे भारतीय संस्कृति के प्रति रुचि कुछ हद तक एकतरफ़ा और प्रायः सतही ही होती थी। विद्वजनों के शोधकार्यों और पाठकों की मांगो के बीच प्रत्यक्ष खाई थी। भारत में रुचि मुख्यतः अनूदित साहित्य से तथा विभिन्न विदेशी संकलनो से, जो विशेषज्ञो द्वारा नही तैयार किये गये होते थे, पूरी की जाती थी। प्राचीन भारतीय साहित्य की अमर रचनाओ के अनुवाद का काम और इन पर अच्छे विशेषज्ञो द्वारा सिंहावलोकनात्मक पुस्तकें लिखने का काम क्रांतिपूर्व वर्षों में शुरू ही हो रहा था।

* * *

१९वीं सदी के अंत तथा २०वीं सदी के आरंभ मे भारतविद्या के क्षेत्र में काम में रूस संसार के प्रमुख देशो में एक था। श्चेर्बात्स्की और ओल्देनबुर्ग जैसे प्राच्यविद एशियाई जनगण के प्रति गहरा आदर रखते थे, विश्व सभ्यता की सम्पदा मे उनकी प्राचीन संस्कृतियों के विशाल योगदान को स्वीकार करते थे। इन विद्वानों की श्रेष्ठ-तम रचनाओ में प्राचीन भारत की सांस्कृतिक धरोहर के प्रति ऐतिहासिक रुख के साथ-साथ हम यह विचार भी पाते हैं कि पूरब की संस्कृति आधुनिक मानव की समझ में आती है, उसके लिए क़रीबी है और यही नही, उसके लिए आवश्यक

भी है। प्राचीन भारतीय संस्कृति में वे गहन मानवीय अतर्य पाते थे, गहरी रुचि और सद्भावना के साथ एशिया का जागरण देख रहे थे।

साथ ही क्रांतिपूर्व रूस में भारतविद्या में कुछ कमियां भी थी। भारत की केवल संस्कृति का ही अध्ययन किया जाता था। उसके सामाजिक और राजनीतिक इतिहास को प्रायः नज़रंदाज़ किया जाता था। संस्कृति के क्षेत्र में भी मुख्यतः बौद्ध धर्म पर ही ध्यान केंद्रित था। वैज्ञानिक शोधकार्यों में समसामयिक भारत की ओर तो बहुत कम ध्यान दिया जाता था।

अध्याय ३

सेर्गेई ओल्देनबुर्ग – विलक्षण भारतविद तथा वैज्ञानिक कार्यों के संगठनकर्त्ता

रूसी और सोवियत भारतविद्या के इतिहास में अकादमीशियन सेर्गेई फ्योदोरोविच ओल्देनबुर्ग (१८६३-१९३४) का अपना विशिष्ट और अत्यंत सम्मानजनक स्थान है। उनके कार्यकलाप स्पष्टतः यह दिखाते हैं कि किस तरह प्राच्यविदों की पुरानी और नई पीढ़ी के बीच एक नैरन्तर्य बना रहा, तथा यह भी कि महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति ने देश में प्राच्यविद्या के विकास के लिए कैसी असीम संभावनाओं के द्वार खोले और किस प्रकार सार्वभौमिक ऐतिहासिक महत्त्व की इस घटना ने पूरब के जनगण के इतिहास और संस्कृति के अध्ययन के प्रति दृष्टिकोण को एक नई गुणात्मक दिशा प्रदान की।

ओल्देनबुर्ग का जन्म एक पुराने अभिजात घराने में हुआ था उनके पिता ज़ार के जनरल थे, तिस पर भी ओल्देनबुर्ग ने सोवियत सत्ता का पक्ष लिया और फिर देश में प्राच्यविद्या के विकास के लिए एक विद्वान और संगठनकर्त्ता के नाते अपनी सारी प्रतिभा समर्पित कर दी।

एक भारतविद के नाते ओल्देनबुर्ग के कार्यकलाप उनके शिक्षक मिनायेव के कार्यकलापों की ही भांति अत्यंत विविधतापूर्ण थे। वे अद्वितीय वाङ्मीमांसक, लोक साहित्य के जानकार, बौद्ध धर्म के अध्येता, पुराविद, प्राचीन भारत के इतिहास पर रूस के एक पहले विशेषज्ञ, केंद्रीय एशिया में भारतीय पुरावस्तुओं के अध्येता तथा रूस में भारतविद्या की एक नई शाखा – अपने देश में भारत-विद्या के इतिहास – के प्रवर्तक थे। असाधारणतः व्यापक और गहन ज्ञान तथा वैज्ञानिक अभिरुचियों की व्यापकता उनकी विशिष्टता थी। यहां यह भी कहा जाना चाहिए कि भारत के इतिहास और संस्कृति के अध्ययन में उनका

सेर्गेई ओल्देनबुर्ग

रुख सदा निष्पक्षतापूर्ण होता था. भारत के जनगण के प्रति उनके हृदय में अपार आदर था और वे विश्व सभ्यता मे उनके योगदान का उच्च मूल्यांकन करते थे। ओल्देनबुर्ग ने रूसी भारतविद्या की श्रेष्ठ परम्पराओं का विकास किया। अपनी रचनाओं, भाषणों, रिपोर्टों में वे सदा यूरोप केंद्रीयतावाद और अहंमन्यता का विरोध करते थे, जो पश्चिमी यूरोप के भारतविदों की अधिसंख्य रचनाओं के लिए लाक्षणिक था। ओल्देनबुर्ग पश्चिमी यूरोपीय भारतविद्या की इन कमियों को अन्य सभी लोगों से अधिक अच्छी तरह देखते थे : भारतविद्या के इतिहास का उन्हे पूर्ण ज्ञान था, यूरोपीय भारतविदो के पूरे नक्षत्रमंडल से परिचित थे, इन विद्वानों की जीवनियां उन्होंने लिखीं, इसके अलावा रूस मे भारतविद्या के इतिहास की भी उन्हे बहुत अच्छी जानकारी थी।

पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में शिक्षा पाने के पश्चात ओल्देनबुर्ग १८८७ से १८८९ तक पेरिस, लंदन और कैम्ब्रिज में रहे। अत: वे पश्चिमी यूरोप में भारतविद्या की अवस्था और विशिष्टता मे भली-भांति परिचित थे। अनेक वर्षों तक उन्होंने कई पश्चिमी यूरोपीय भारतविदो के साथ घनिष्ठ वैज्ञानिक सम्पर्क बनाये रखे, लेकिन भारतविद्या मे उनके योगदान का उच्च मूल्यांकन करने के साथ-साथ वे पश्चिम मे प्राच्यविद्या की कमियो की खुले आम आलोचना भी करते थे और अपने देश

मे इस विद्या के क्षेत्र में सिद्धांतत. नये कार्यभार रखते थे। विदेश प्रवास के दौरान उन्होंने यह इंगित किया कि वहां भारतविद्या में "व्यक्तिगत रुचियों का बोलबाला है और संगठन का प्राय. पूर्ण अभाव है"। उनके विचार में इन कमियों का कारण "जीवन मे अपर्याप्त सामीप्य" था। पुरानी रूसी प्राच्यविद्या की सफलताओं को यथोचित श्रेय देने के साथ-साथ वे पुरानी रूसी प्राच्यविद्या और क्रांति के बाद की प्राच्यविद्या मे सैद्धांतिक अंतर पर बल देते थे। पुरानी रूसी प्राच्यविद्या में अध्ययन कार्य बिना किसी योजना और प्रणाली के किये जाते थे। प्राचीन युग के अध्ययन मे विद्वानों की एक "संकीर्ण मंडली" ही मुख्यतः भाग लेती थी। उधर नई प्राच्यविद्या ने पूरब को उसकी समग्रता में, उसके आधुनिक युग समेत अध्ययन का विषय बनाया था। "यह स्वाभाविक ही था कि क्रांति के साथ नये प्राच्यविद का जन्म होता," ओल्देनबुर्ग ने लिखा।

भारतविदों के जीवन और कृतित्व पर अपनी शब्दचित्र-माला में ओल्देनबुर्ग ने ब्यूलर, बार्ट, वाले-पुसें, केर्न, लेवी, पिशेल, फ़ूशे, जैकोबी तथा मिनायेव और वसील्येव की रचनाओं का मूल्यांकन प्रस्तुत किया।

१८वीं सदी से यूरोप मे भारतविद्या के विकास पर ग़ौर करते हुए ओल्देनबुर्ग ने लिखा कि कुछ विद्वान, "यह मानते रहे हैं और अब भी मानते हैं कि प्राच्य संस्कृतियों की सारी रोचकता के बावजूद वे इस दृष्टि से पाश्चात्य संस्कृतियों से सर्वथा भिन्न हैं कि उनमें परिशुद्ध विज्ञान, वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं है, जो पश्चिम की संस्कृतियों की लाक्षणिकता है। इसीलिए इन प्राच्यविदों ने पूरब की वैज्ञानिक परम्परा को, इस परम्परा के अनुसार की जाने वाली प्राच्य ग्रंथो की व्याख्या को कभी भी यथोचित महत्त्व प्रदान नहीं किया, इसके मुक़ाबले मे पश्चिमी व्याख्या को ही एकमात्र सही व्याख्या के रूप में रखते रहे, क्योंकि यह व्याख्या ही उनके मत में अध्ययन की एकमात्र सही विधियों पर आधारित थी। दूसरे विद्वान यह मानते रहे हैं और अब भी मानते हैं कि प्रत्येक सभ्य जनगण की, चाहे वह प्राच्य हो या पाश्चात्य, अपनी संस्कृति की अपनी समझ होती है, जिसे ध्यान में रखना और बहुत से मामलो में तो उसे आधार बनाना, प्रत्येक उस व्यक्ति का कर्त्तव्य है, जिसने इस संस्कृति के वैज्ञानिक अध्ययन को अपना ध्येय माना है।" निस्संदेह स्वयं सेर्गेई ओल्देनबुर्ग "दूसरी क़िस्म" के विद्वानों में आते थे। यही नहीं, वे सदा सार्वभौमिक ऐतिहासिक प्रक्रिया के एकत्व पर बल देते थे तथा पश्चिम और पूरब को एक दूसरे के विरुद्ध रखने का विरोध करते थे। ओल्देनबुर्ग ने ही ये शब्द लिखे थे, जो उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण सुस्पष्ट रूप से व्यक्त करते हैं और एक भारत-विद के नाते उनके सारे कार्यकलापों का मर्म भी जिनमें प्रकट हुआ कहा जा सकता है: "पूरब और पश्चिम में निर्विवाद भेदों के बावजूद पूरब ने अपने आत्मिक जीवन का निर्माण पश्चिम की ही भांति सारी मानवजाति के लिए सामान्य मूलभूत नियमो के आधार पर किया है और आज भी कर रहा है। वह ऐतिहासिक विकास के

उन्ही नियमों के अनुसार जी रहा है, जो सारी मानवजाति के लिए समान हैं।"
वे पूरब के इतिहास और संस्कृति के वस्तुगत अध्ययन का आह्वान करते थे तथा इकतरफ़ा दृष्टिकोण के लिए पश्चिमी विद्वानों की कटु आलोचना करते थे। ओल्देनबुर्ग का कहना था कि पश्चिमी व्यक्ति पाश्चात्य सभ्यता की उपलब्धियों के प्रभाव में पूरब को ठीक से समझता नही और इसलिए उसकी महान व आश्चर्यजनक संस्कृति के प्रति अंधा रहता है। यूरोप केंद्रीयतावाद के विरुद्ध संघर्ष करते हुए वे अतिराष्ट्रीयतावाद का भी विरोध करते थे, जो भारत के प्राचीन इतिहास और संस्कृति पर कतिपय भारतीय विद्वानों की रचनाओं के लिए लाक्षणिक था।

भारत में ओल्देनबुर्ग की रुचि छोटी उम्र में ही जाग गई थी। बचपन में उन्होंने पूरब के बारे में अनेक पुस्तकें पढ़ी और संस्कृत सीखने का निश्चय किया, ताकि भारत जा सकें और "मानवजाति के सुदूर अतीत को जान सकें।" विश्वविद्यालय में ओल्देनबुर्ग ने प्राच्यविद्या की श्रेष्ठतम शिक्षा पाई – उन्होंने संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, चीनी और तिब्बती भाषाए सीखीं। विश्वविद्यालय मे ही वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि "भारतीय संस्कृति विलक्षणतम मानव संस्कृतियो में एक है।" वे अपने शिक्षकों – भारतविद मिनायेव, अरबविद रोज़ेन, चीनविद और बौद्धधर्मविद वसील्येव तथा अपने समय के अद्वितीय साहित्यविद वेसेलोव्स्की – को सदा साभार याद करते थे। वसील्येव की मृत्यु पर प्रकाशित शोक-सूचना में ओल्देनबुर्ग ने अपने शिक्षकों बारे में लिखा: "ये वे लोग थे, जिन्होंने प्राच्यविद्या का सृजन किया, जिन्होंने विज्ञान मे एक नया, असीम क्षेत्र खोला।" अपने शिक्षकों के निदेशन में ओल्देनबुर्ग ने भारत के लोक साहित्य का अध्ययन आरंभ किया। एक भारतविद और प्राच्यविद के नाते ओल्देनबुर्ग के वैज्ञानिक कार्यकलापो की एक प्रमुख दिशा साहित्य का अध्ययन ही रहा। भारत के इतिहास और संस्कृति के अध्ययन के प्रति ओल्देनबुर्ग का रुख बहुत हद तक नवीनतापूर्ण था। उन दिनों यूरोप में भारत का संस्कृत साहित्य ही भारतविदों के अध्ययन का मुख्य विषय था। लेकिन ओल्देनबुर्ग जब अध्ययन के लिए विदेश गये, तो उन्होंने भारतीय गल्प-संग्रहों, भारतीय लोक साहित्य तथा बौद्ध "लोक" साहित्य (मुख्यत: नेपाल के हस्तलिखित बौद्ध ग्रंथों) पर ही अपना ध्यान केंद्रित किया। हस्तलिखित ग्रंथ-संग्रहों पर नियमित काम के फलस्वरूप ओल्देनबुर्ग पुरालिपिशास्त्र जैसे कठिन क्षेत्र में दक्षता पा सके; कालांतर में उन्होंने पूर्वी तुर्किस्तान मे मिले ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियो में लिखे भारतीय ग्रंथों पर अपने अत्युत्तम शोधकार्य प्रकाशित किये। "मूल ग्रंथों का सारा महत्त्व समझते हुए पेरिस और लंदन में मैं हस्तलिखित ग्रंथो को पढ़ने में जुट गया। इस काम से बहुत कुछ मिलता है, जो तुम पढते हो उसके अंतर्य से भी तथा भांति-भांति की हस्तलिपियां समझने का अभ्यास पाकर भी। संस्कृति के एक सबसे सशक्त साधन – मानव लिपि – के इतिहास के प्रश्नों को समझने के लिए यह अभ्यास पाना नितांत आवश्यक है।" पीटर्सबर्ग लौटकर ओल्देनबुर्ग प्राचीन भारतीय साहित्य पर अपनी

एक प्रमुख रचना – 'बौद्ध आख्यान' – लिखने लगे। १८६४ मे इस रचना का उन्होंने एम० ए० की डिग्री के लिए शोधप्रबध के नाते मण्डन किया। ओल्देनबुर्ग बौद्ध अनुश्रुतियो मे सबधित भारतीय साहित्य (उत्तर के सस्कृत-प्राकृत तथा दक्षिण के पाली साहित्यो) का सिहावलोकन करना चाहते थे। वे अपनी रचना का केवल पहला भाग ही प्रकाशित कर पाये, जिसमें 'भद्रकल्पावदान' और 'जातकमाला' का अध्ययन शामिल था। ज्ञात है कि ओल्देनबुर्ग दूसरे भाग में 'अशोकावदानमाला' और 'विचित्रकर्णिकावदान' रखना चाहते थे। अपना कार्य उन्होंने 'भद्रकल्पावदान' मे आरभ किया, जो बौद्ध आख्यानो का सबसे बड़ा सग्रह है। काल की दृष्टि से भी यह बहुत पुराना सग्रह है, किंतु तब तक वैज्ञानिक जगत इससे प्रायः अपरिचित ही था। ओल्दुनबुर्ग का कार्य पेरिस के राष्ट्रीय पुस्तकालय की पांडुलिपियो तथा एशियेटिक सोसाइटी ऑफ बगाल की पांडुलिपि पर आधारित था। इनके पाठ का विश्लेषण करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि सग्रह ने अपना यह रूप नेपाल में १४वीं सदी के अत मे पाया और इसमें विभिन्न बौद्ध कथा रचनाओं ('दिव्या-वदान', जातको, 'महावस्तु') की कथाओं का समावेश हुआ। हस्तलिखित ग्रथो के और सारे बौद्ध साहित्य के ही अनुपम ज्ञान के आधार पर ओल्देनबुर्ग बौद्ध कथा साहित्य की कई रचनाओं को वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में ला सके। उनकी पुस्तक का एक विशेष अध्याय संस्कृत के सुविख्यात लेखक आर्यशूर की रचना 'जातक-माला' को समर्पित था। अपने प्रकाशन के लिए ओल्देनबुर्ग ने उन दिनों ज्ञात इस रचना की सभी पाडुलिपियों का उपयोग किया – उन तीन पांडुलिपियो का भी, जिनके आधार पर केर्न ने इस रचना का पहला संस्करण छापा था, तथा दो नई पाडुलिपियां भी, जो पीटर्सबर्ग में सरक्षित थीं। ओल्देनबुर्ग का पाली पर पूरा अधिकार था और उन्हें पाली साहित्य का अद्वितीय ज्ञान था। उन्होंने पाली और सस्कृत जातको का तुलनात्मक अध्ययन किया। अपने शिक्षक मिनायेव की ही भांति उन्होंने भी जातको की ओर विशेष ध्यान दिया, यह मानते हुए कि साहित्यिक दृष्टि से बौद्ध आख्यानों में उनकी स्थिति विशिष्ट है। आल्देनबुर्ग 'महावस्तु' में भी जातकों के अनेक कथानक खोज पाने में सफल रहे, तथा इन कथानको के न केवल बौद्ध, अपितु जैन समरूप खोजने मे भी। ओल्देनबुर्ग विश्व भर के उन इने-गिने भारतविदो मे थे, जिन्होंने न केवल संस्कृत-प्राकृत ग्रंथो का बल्कि तिब्बती और चीनी ग्रंथों का भी विशद अध्ययन किया। इसके फलस्वरूप वे 'जातकमाला' के अध्ययन मे पहली बार इस रचना के तिब्बती और चीनी अनुवादो का भी उपयोग कर सके। ओल्देनबुर्ग द्वारा 'जातकमाला' पर शुरू किया गया काम सोवियत भारतविदों ने जारी रखा। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में अकादमीशियन अ० बरान्निकोव ने इस रचना का रूसी में अनुवाद करना शुरू किया, कालांतर में उनकी शिष्य ओ० वोल्कोवा ने इस रचना पर काम पूरा किया। १९६२ में 'जातकमाला' का रूसी अनुवाद छपा। सातवें दशक में ओ० वोल्कोवा और ग्रिगोरी बोंगार्द-लेविन ने एक

और अत्यत रोचक रचना, जिसका अध्ययन करने की योजना ओल्देनबुर्ग बना रहे थे – 'अशोकावदानमाला' – की पाडुलिपि पर शोधकार्य शुरू किया। उन्होंने कुणाल को समर्पित भाग का प्रकाशन और अनुवाद किया। वोल्कोवा और बोगार्द-लेविन ने इस रचना का विस्तृत विवेचन किया तथा बौद्ध साहित्य और मौर्य वश के इतिहास के अध्ययन के लिए इस ग्रथ का महत्त्व दर्शाया। इस रचना के महत्त्व को देखते हुए वोल्कोवा और बोगार्द-लेविन का यह कार्य भारत मे 'सोवियत इडोलोजिकल सीरिज़' मे छपा, जिसके प्रकाशक जाने-माने भारतीय विद्वान देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय हैं।

बौद्ध "गल्प" साहित्य का अध्ययन करते हुए ओल्देनबुर्ग इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुचे कि मध्य युग में पश्चिमी देशो के साहित्य में गल्पो और कथाओं की उत्पत्ति पूरब के प्रभाव में ही हुई, लेकिन साथ ही उन्होंने जर्मन विद्वान बेन्फ़े के इस विचार का भी खंडन किया कि इस साहित्य का आधार भारतीय है। ओल्देनबुर्ग गुणाढ्य कृत 'बृहत्कथा' का अध्ययन करने वाले पहले भारतविदो मे थे। यह रचना कालांतर में अनेक कथा सग्रहों का, जैसे कि सोमदेव और क्षेमेन्द्र की रचनाओ का आधार बनी। उन्होंने अपने अध्ययन के लिए अनेक नये हस्तलिखित पाठभेदों का उपयोग किया और पहली बार यह इगित किया कि 'बृहत्कथा' की रचना के इतिहास को समझने के लिए तिब्बती स्रोत कितने महत्त्वपूर्ण हैं। १८८८ में ओल्देनबुर्ग ने यह लक्ष्य निर्धारित किया था कि "ऐसी सामग्रियां जमा की जानी चाहिए, जिनसे 'बृहत्कथा' का पूर्ण और सविस्तार अध्ययन सभव हो पाये।" पिछले कुछ दशकों में सोवियत भारतविदो ने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए सफलतापूर्वक काम किया है। 'बृहत्कथा' तथा उसके आधार पर कालांतर में बनी रचनाओ पर (प्रो० ई० सेरेब्र्याकोव के शोधकार्य के संबध में अध्याय पांच देखिये।) 'बौद्ध आख्यान' नामक पुस्तक के प्रकाशन के बाद ओल्देनबुर्ग ने बौद्ध लोक साहित्य का अध्ययन जारी रखा। यही नही, इस विषय के माध्यम मे ही वे अतत: बौद्ध कला और समस्त बौद्ध सस्कृति के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए।

'बौद्ध आख्यान और बौद्ध धर्म' शीर्षक मे १८९६ में छपे लेख में ओल्देनबुर्ग ने बौद्ध आख्यानमूलक रचनाओ की "भावना" तथा धार्मिक सिद्धांतो के बीच भेद का निष्कर्ष निकाला। उन्होंने लिखा: "बौद्ध आख्यानों की यदि हम बौद्ध सिद्धांतो से निरंतर तुलना करे तो हम यह देखेंगे कि किस तरह बौद्ध धर्म ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड के विरुद्ध संघर्ष का प्रयास करते हुए बहुत शीघ्र ही स्वयं भी उस स्थिति में पहुंच गया, जिसके विरुद्ध वह संघर्ष कर रहा था – उसने संघ की स्थापना की और इस संघ ने उसे अनिवार्यत: निश्चित अनुष्ठानों से जोड़ दिया।" इस निष्कर्ष में उस परिवर्तन का सार व्यक्त हुआ, जो बौद्ध धर्म की उत्पत्ति से लेकर महायान युग तक उसमें आते रहे। धार्मिक अनुष्ठान बौद्ध धर्म में भी अत्यत महत्त्वपूर्ण बन बैठे, यद्यपि उसके आरंभिक नियमों के लिए वे न केवल लाक्षणिक नहीं थे, बल्कि उनके द्वारा निषिद्ध ही थे। इसके साथ ही ओल्देनबुर्ग बौद्ध आख्यानो को प्राचीन भारतीय समाज

के आत्मिक जीवन के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक स्रोत के रूप में अत्यंत मूल्यवान मानते थे। "धर्म के इतिहासकार के लिए आख्यान विशेष अर्थ रखते हैं, वह उन्हें कथा साहित्य की रचना मात्र के रूप मे नही, बल्कि धार्मिक साहित्य की ऐसी रचनाओं के रूप मे देखता है, जिनमें जनता के धार्मिक, पारलौकिक और नैतिक आदर्श अभिव्यक्त हुए, जिनमें उसने धार्मिक सिद्धांतों और संघ के आचार नियमों की अपनी व्याख्या प्रस्तुत की।" ओल्देनबुर्ग साहित्य की रचनाओं का विश्लेषण इतिहासकार और समाजविज्ञानी के दृष्टिकोण से करने की चेष्टा करते थे। उनकी कृतियो की, जिनमें साहित्यिक विश्लेषण संबंधी रचनाएं भी आती हैं, लाक्षणिकता थी सुसगत ऐतिहासिक रुख। सभी सांस्कृतिक परिघटनाओं का उनके लिए कोई अमूर्त महत्त्व नही था, वे तो ऐतिहासिक विकास के सामान्य क्रम से उनके संबंध को ध्यान मे रखते हुए ही उन पर गौर करते थे। 'सिंहल गल्प संग्रह। गल्पों को सकलित, लिपिबद्ध तथा प्रकाशित करने के कुछ प्रश्न' नामक अपनी पुस्तक (१६३१) मे ओल्देनबुर्ग ने सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिए गल्पो के महत्त्व पर, विशेषत: 'कथासरित्सागर' जैसे संग्रह के महत्त्व पर ज़ोर दिया। उन्होंने लिखा "साहित्य की अन्य किसी भी विधा की तुलना मे शायद गल्प ही वर्ग संघर्ष का, उसके सभी जटिल रूपों में, सबसे अधिक सजीव वर्णन प्रस्तुत करता है।" बौद्ध कला के अध्ययन में भी ओल्देनबुर्ग ने ऐतिहासिक दृष्टिकोण के नियमों का सुसंगत रूप से अनुकरण किया। भारतविद्या के इस क्षेत्र मे उन्होंने विशेषत: अधिक काम किया। इस क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा असाधारणत उच्च थी, इन कार्यों से उन्हे अंतर्राष्ट्रीय मान्यता मिली। 'बौद्ध कला पर टिप्पणियां' नामक रचना मे उन्होंने जातक कथाओं पर आधारित मूर्तियों और चित्रों का विश्लेषण किया तथा बौद्ध शिक्षा के साथ बौद्ध कला के संबंध की अत्यंत महत्त्वपूर्ण समस्या पेश की। कलाकृतियां अपने आप में इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, उनका महत्त्व तो सर्वप्रथम इस बात में है कि वे संस्कृति के विकास की सामान्य प्रक्रियाओं को प्रतिबिम्बित करती हैं। प्राचीन ग्रंथों का गहरा ज्ञान तो ओल्देनबुर्ग को था ही, सो कला पर अपनी रचनाओ मे वे सदा इन ग्रंथों को तुलना का आधार बनाते थे भरहुत की तुलना उन्होंने जातकों में निहित जानकारी से की और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भरहुत की मूर्तियों में सिद्धांत ग्रंथ नहीं, बल्कि लोक परम्परा प्रतिबिम्बित है, अजन्ता के भित्तिचित्रों पर ग़ौर करने के लिए उन्होंने पुरालेखों, अवदानों तथा 'महावंश' की सूचनाओं को पृष्ठभूमि बनाया, खोतान की ताम्रमूर्तियों (न० पेत्रोव्स्की का सग्रह) का अध्ययन उन्होंने बौद्ध और हिंदू साहित्य से इनका संबंध जोडकर किया। ओल्देनबुर्ग को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने कलकत्ता के इंडियन म्यूज़ियम में रखी एक गांधार चित्रवल्लरी पर अंकित सम्राट अशोक के बारे में किंवदती की सही व्याख्या की इस रचना का सही अर्थ समझने के लिए उन्होने 'दिव्यावदान' की बौद्ध कथाओं का सहारा लिया। ओल्देनबुर्ग ही सर्वप्रथम

रूसी संग्रहो की अमूल्य बौद्ध कलाकृतियों को वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र मे लाये ('बौद्ध देवचित्रों पर सामग्री', सेट पीटर्सबर्ग, १९०१ तथा 'कज़ान आध्यात्मिक अकादमी के बौद्ध चित्रों का एल्बम', सेट पीटर्सबर्ग, १९०३)। बौद्ध कला का उच्च मूल्यांकन करते हुए वे इसकी अति प्रशंसा का भी विरोध करते थे। १९वी सदी के अंत में बौद्ध स्मारको की खोज के बाद अनेक पश्चिमी यूरोपीय विद्वान बौद्ध कला की प्राचीनता को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने लगे थे, यह मानते हुए कि बौद्ध कला समस्त प्राचीन भारतीय कला मे पूर्ववर्ती है, तथा इसकी उत्पत्ति के इतिहास को वे हिंदू कला के मुकाबले में रखने लगे थे (जर्मन विद्वान एल्बर्ट ग्रुनवेडेल ने अपनी पुस्तक 'भारत मे बौद्धकला', बर्लिन, १९००, मे यह दृष्टिकोण सर्वाधिक सुसंगत रूप से प्रस्तुत किया था)। १९०१ में विज्ञान अकादमी के इतिहास एवं वाङमीमांसा विभाग की बैठक मे अपनी रिपोर्ट मे ओल्देनबुर्ग ने ऐसे सिद्धातों की तीव्र आलोचना की तथा भारतीय कला की उत्पत्ति और विकास पर अपने विचार व्यक्त किये। ग्रुनवेडेल के विपरीत ओल्देनबुर्ग इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि बौद्ध कला हिंदू कला पर आधारित है। ओल्देनबुर्ग ने यह भी कहा कि यह निष्कर्ष किसी भी तरह एक विश्व धर्म के नाते तथा भारत से बाहर भारतीय सभ्यता के वाहक के नाते बौद्ध धर्म के महत्त्व को क़तई कम नही करता। साथ ही उन्होंने बौद्ध धर्म को भारतीय धर्मों में से एक माना और उसे भारतीय संस्कृति के सारे विकासक्रम के विरुद्ध नही रखा। ओल्देनबुर्ग ने दृढतापूर्वक इस दृष्टिकोण का खंडन किया कि भारतीय कला का आरभ अशोक के शासनकाल से होता है। यहा यह भी बता दें कि इस प्रश्न पर विवाद आज भी जारी है और इस सदी के आरभ के रूसी विद्वान ने जो तर्क पेश किये थे, उनका महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है, बल्कि, उल्टे, नवीनतम सामग्रियों से इन तर्कों की पुष्टि ही हुई है।

ओल्देनबुर्ग ने तब लिखा था "अशोक काल के स्मारको में विकास का जो उच्च स्तर हम पाते है, तथा उनमें प्रत्यक्षत: राष्ट्रीय तत्वो का जो प्राधान्य है, उसे देखते हुए हमे भारतीय कला का आरभ इस काल से कुछ सदी पूर्व ही मानना होगा।" भारत के प्राचीनतम कला स्मारकों का सबध वे वैदिक युग से जोड़ते थे, यह मानते हुए कि उस समय की कला व्यापकतम अर्थ में हिंदू कला थी और महाकाव्यों में वर्णित देवगण तथा स्थानीय देवी-देवताओ के आधार पर विकसित हुई थी। उनका विचार था कि बौद्ध और जैन कला का उद्गम भी यही है (ओल्देनबुर्ग ने ये विचार हड़प्पा सभ्यता के स्मारकों की खोज से काफ़ी पहले व्यक्त किये थे, बाद में उन्होंने कालानुक्रम में काफ़ी परिवर्तन किये)। इस प्रसंग में उन्होंने भरहुत जैसे प्रसिद्ध बौद्ध स्मारक का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भरहुत स्पष्टत: यह दिखाता है कि "बौद्ध धर्म ने आरंभ से ही सारे भारत में प्रचलित देवी-देवताओं और अर्धदेवताओं को कितने बड़े पैमाने पर ग्रहण किया।"

भारतीय कला के विकास पर यूरोपीय विद्वानों के पूर्वाग्रहपूर्ण दृष्टिकोणों का

विरोध करते हुए ओल्देनबुर्ग भारतीय विद्वानों की उपलब्धियों का उच्च मूल्यांकन करते थे। उदाहरणत , सुविख्यात भारतीय कलाविद आनन्द के० कुमारस्वामी की रचनाओ पर वे सदा आदरपूर्ण सम्मति व्यक्त करते थे। कुमारस्वामी की पुस्तक 'भारतीय कला की भूमिका' (१९२३) की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा "आनन्द के० कुमारस्वामी को भारतीय कला मे व्यापक रुचि जगाने का अपार श्रेय प्राप्त है। उनके अनेक अनुपम प्रकाशनो , उनके द्वारा प्रकाशित सामग्री की प्रचुरता , अपने काम मे उनकी अद्वितीय लगन तथा अपने विषय में रुचि जगाने की विरली योग्यता – इस सब ने उन्हे उचित ही भारतीय कला के नये शोधकर्त्ताओं की पहली पांत मे ला खडा किया है।"

साथ ही ओल्देनबुर्ग कुमारस्वामी के राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण की, उनके इन विचारो की कि भारतीय कला का स्वरूप शुद्धतः धार्मिक था , कि वह अनामिक थी , आलोचना करते थे। ओल्देनबुर्ग भारतीय विद्वान के इस मत से भी सहमत नही थे कि भारतीय सभ्यता बिल्कुल ही अद्वितीय है। वे इस बात पर ज़ोर देते थे कि भारत केवल देने वाला ही नही , ग्रहण करने वाला पक्ष भी था , यानी उस पर भी दूसरी प्राचीन संस्कृतियों का प्रभाव पडता रहा था। यही नहीं , ओल्देनबुर्ग भारतीय कला में और बौद्ध कला में भी सारी मानवजाति के लिए सामान्य मूल-तत्व देखते थे और सार्वभौमिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ इसका संबंध इंगित करते थे। उन्होंने लिखा "हम भारतीय कला का जितना ही अधिक अध्ययन करते हैं उतना ही अधिक हम यह पाते हैं कि यह सारी मानवजाति के लिए सामान्य कला है तथा यह भी कि इसके विकास के नियम हमें दूसरे देशों में कला के विकास की याद दिलाते हैं।" ओल्देनबुर्ग इस बात पर ज़ोर देते थे कि "बौद्ध स्मारको का अध्ययन हमे यह बताता है बौद्ध धर्म सदा सामूहिक पूजा पद्धतियो के निकट था और इस पर भी सभी धर्मों के विकास एव पतन के नियम लागू होते हैं।"

ओल्देनबुर्ग ससार के उन पहले भारतविदों मे से थे , जिन्होंने गांधार कला के गहन अध्ययन की आवश्यकता और महत्त्व की ओर ध्यान दिया। बीसवीं सदी के आरंभ में ही उन्होंने अपनी रचनाओ में यह समस्या उठाई और फिर बाद के दशको मे कई बार इस पर विचार किया। बात यह है कि गांधार कला के स्मारको की खोज के साथ विद्वानों के बीच तीव्र वाद-विवाद उठ खडा हुआ , जिसके दौरान भारतीय कला के मूल के सामान्य प्रश्न भी उठाये गये। उन दिनो अधिसंख्य विद्वानों का यह मत था कि गांधार कला यूनानी-रोमन कला का आंचलिक रूप थी , जबकि भारत और उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रभाव को वे या तो कम आंकते थे या उसे बिल्कुल ही अस्वीकार करते थे। ऐसा रुख न केवल यूरोपीय बल्कि कुछ भारतीय शोधकर्त्तओं ने भी अपनाया था। ओल्देनबुर्ग ने भारतीय कला पर हैलेनिस्टिक (यूनान-प्रभावित) और रोमन कला के प्रभाव को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाने के लिए ग्रुनवेडेल की आलोचना की। ओल्देनबुर्ग ने लिखा कि यदि ऐसे दृष्टिकोण को माना जाये ,

तो "भारतीय कला अपनी स्वतंत्रता प्रायः पूर्णतः खो बैठती है और वह यूनान-प्रभावित कला की संतति मात्र रह जाती है।" कुमारस्वामी की रचनाओ में भी यही कमी थी, उन्होंने यह मानते हुए कि गांधार स्मारक भारतीय नही, यूनान-प्रभावित हैं, उनका वैज्ञानिक विश्लेषण नही किया। यही नही, वे गांधार कला के भारत पर प्रभाव तक को नकारते थे। ऐसे दृष्टिकोणो की आलोचना करते हुए ओल्देनबुर्ग न केवल भारतीय कला के, बल्कि नेपाल, तिब्बत, पूर्वी तुर्किस्तान, मध्य तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया की संस्कृति के इतिहास मे गांधार शैली की विशाल भूमिका पर बल देते थे। बौद्ध कला के अध्ययन के कार्यभार निर्धारित करते हुए उन्होंने गांधार कला की रचनाओं को प्रकाश मे लाने की आवश्यकता पर बल दिया। वे शोधकर्त्ताओं का आह्वान करते थे कि वे इन सामग्रियो के अपार महत्त्व को देखते हुए इनकी ओर विशेष ध्यान दें। गांधार कला का सच्चे अर्थों मे वैज्ञानिक अध्ययन, जो आजकल इतने बड़े पैमाने पर हो रहा है, बीसवी सदी के आरंभ में शुरू ही हो रहा था, सो ओल्देनबुर्ग का आह्वान बिल्कुल सुसामयिक था। १६०१ में उन्होंने लिखा था: "गांधार कला की प्रचुर सामग्री की अभी प्राथमिक खोजबीन ही की जानी है, ताकि इससे वह सब पाया जा सके, जो यह भारतीय कला के इतिहास के लिए दे सकती है।"

इन्ही दिनों ओल्देनबुर्ग ने भारतीय कला के अध्ययन का व्यापक कार्यक्रम निर्धारित किया. गांधार कलाकृतियो के साथ-साथ उन्होंने "कालानुक्रम निर्धारित करने के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण" पुरालेखो वाली मूर्तियों और भितिचित्रों के एल्बम सुव्यवस्थित रूप से पुनः प्रकाशित करने का आह्वान किया; संग्रहालयो मे रखे गांधारेतर तथा गांधारोपरांत कलाकृतियों के चित्रों को शिलालेखो के साथ प्रकाशित करने की आवश्यकता इंगित की तथा जैन कलाकृतियों के चित्र भी, "क्योंकि ये (कलाकृतियां) प्रायः बौद्ध कलाकृतियो से मिलती-जुलती होती हैं और उन्हें समझने में सहायक होती हैं।" "इसके बाद नेपाली और बंगाली सूक्ष्मचित्रों की बारी आती है," उन्होंने लिखा।

ओल्देनबुर्ग पुरातत्वीय अनुसंधानों का महत्त्व भली-भांति समझते थे और इसलिए भारतीय विद्वानों का आह्वान करते थे कि वे बड़े पैमाने पर पुरातत्वीय खुदाई करें। उनका कहना था: "भारतीय कला का अध्ययन तभी सुदृढ़ नीव पर खड़ा होगा, जबकि प्राचीन भारतीय राजधानियो और मंदिरों के स्थानों पर सुव्यवस्थित रूप से खुदाई की जायेगी।" अपनी बाद की रचनाओं में भी ओल्देनबुर्ग ने कई बार इस समस्या पर गौर किया, और हर बार इसमें कुछ नया जोड़ा। १६३१ में प्रकाशित उनकी रचना 'भारत में ललित कलाओं और उनकी विधियों के अध्ययन की समसामयिक स्थिति' विशेषतः रोचक है। भारतीय कला के अध्ययन की विधियों तथा परिप्रेक्ष्यों के प्रश्न को ओल्देनबुर्ग विज्ञान अकादमी के कार्यों की योजना से जोड़ते थे और इस विषय को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने भारतीय कला का कालानु-

क्रम निर्धारित किया। उल्लेखनीय है कि इसमें ओल्देनबुर्ग ने हड़प्पा सभ्यता के युग को पहला चरण माना। वस्तुतः वे संसार के पहले भारतविदों में से एक तथा सोवियत संघ के पहले भारतविद थे, जिन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप के जनगण के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास के चरणों का पता लगाने के लिए सिंधु की घाटी में भारतीय पुराविदों के उत्खनन के महत्त्व को उचित रूप से आंका। मौर्य पूर्व काल की कला संबंधी सामग्री की अपर्याप्तता को इंगित करते हुए ओल्देनबुर्ग ने ई० पू० छठी-चौथी सदियों के स्मारकों की योजनाबद्ध खुदाई के महत्त्व पर ज़ोर दिया, ताकि प्राचीन भारतीय सभ्यता के उद्विकास को क्रमिक रूप से देखा जा सके।

भारतीय कला की उत्पत्ति की समस्या की ओर भी ओल्देनबुर्ग ने ध्यान देना नही छोड़ा। उन्होंने जॉन मार्शल और विंसेंट स्मिथ की नई रचनाओं का विस्तार से विश्लेषण किया। ओल्देनबुर्ग ने उन दिनों प्रचलित इन सिद्धांतों का डटकर विरोध किया कि ई० पू० चौथी-तीसरी सदियों की भारतीय कला विदेशी मूल की है। इस सिलसिले में उन्होंने ब्रिटिश इतिहासकारों से अपनी धारणाओं पर पुनर्विचार करने को कहा। उनका विचार था कि ई० पू० चौथी-तीसरी सदियों के स्मारक "सामाजिक और सांस्कृतिक विकास की लंबी शृंखला की अपेक्षाकृत बाद की कड़ियां हैं।" ओल्देनबुर्ग के सृजनात्मक कार्यों के लिए लाक्षणिक ऐतिहासिक दृष्टिकोण इस काल की उनकी रचनाओं में विशेषतः स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ। वे प्राचीन भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचना की समस्याओं पर ग़ौर करने वाले पहले सोवियत भारतविदो में थे। उन्होंने संस्कृति के इतिहास को सारे सामाजिक विकास की प्रक्रिया से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने लिखा: "सही समाजवैज्ञानिक रुख का अभाव अभी तक भारतीय कला के विकासक्रम का सही-सही पता लगाने मे भी बाधक बना हुआ है।" 'अर्थशास्त्र', 'अष्टाध्यायी' और जातकों में निहित जानकारी के आधार पर ओल्देनबुर्ग इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि प्राचीन भारत में काफ़ी विकसित नगर-संस्कृति थी तथा वहां नानाविध उत्पादन और शिल्पों का अस्तित्व था। बौद्ध कला के स्मारकों में ओल्देनबुर्ग केवल धार्मिक और कलात्मक रचनाओं के नाते ही नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन की परिघटनाओं को समझने में सहायक स्रोतों के नाते भी रुचि लेते थे। "बौद्ध भौतिक संस्कृति की रचनाएं, उनकी उचित व्याख्या की जाने पर, हमें धर्म के – और केवल बौद्ध धर्म के ही नहीं – इस दैनंदिन जीवन से गहनतः जुड़े पहलू का पता लगाने के लिए प्रचुर सामग्री प्रदान करती हैं। हम यह देखते हैं कि धर्म चाहे अमूर्तता के कितने भी ऊंचे शिखर पर पहुचने की चेष्टा क्यों न करे, तो भी सारतः दैनंदिन जीवन का उस पर कितना गहरा प्रभाव पड़ता है।"

ओल्देनबुर्ग पश्चिम में प्रचलित इस दृष्टिकोण का दृढ़तापूर्वक खण्डन करते थे कि भारतीय संस्कृति शुद्धतः आध्यात्मिक है, कि भारतीय लोगों की धार्मिकता सर्वव्यापी है, कि वे इहलौकिक आकांक्षाओं से मुक्त हैं। अनेक भारतीय विद्वान भी भारतीय समाज के विकास में सारी मानवजाति के इतिहास के लक्षण नहीं, बल्कि भारतीय

सस्कृति की अद्वितीयता, उसकी विशिष्ट आध्यात्मिकता दिखाने की चेष्टा में इस दृष्टिकोण को मानते थे। ओल्देनबुर्ग अपने उपागम में सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक और वस्तुगत दृष्टिकोण व्यक्त करते थे: प्राचीन भारतीय समाज के जीवन में धर्म की महती भूमिका पर बल देने के साथ-साथ वे प्राचीन भारत को ऐतिहासिक विकास के सामान्य नियमों की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने लिखा: "इस कपोलकल्पना को बहुत पहले ही खत्म कर देना चाहिए था कि भारत विशेषत: धर्म का देश है: बेशक, इस बात में कोई सदेह नही कि इस क्षेत्र में भारत ने विराट सृजन किया है, लेकिन यह बात भी इतनी ही निर्विवाद है कि दूसरे जनगण की भांति भारतीयो का भी जटिल सामाजिक जीवन था, कि कृषि, ग्रामीण शिल्प व उद्योग तथा शहरी व्यापार भारत के जीवन में दूसरे देशों से क़तई कम महत्त्व नही रखते थे, कि भारत के आर्थिक जीवन को जाने और समझे बिना हम कभी भी भारत को, उसके जटिल इतिहास को नही समझ पायेंगे।" इस प्रसग में ओल्देनबुर्ग ने पुरालेखों तथा शास्त्रों की सामग्री की ओर विशेष ध्यान दिया। अशोक के शिलालेखों की अपनी व्याख्या में वे व्यापक जनसामान्य को सबोधित "उद्घोषणाओ" के नाते उनके महत्त्व पर ज़ोर देते थे, ईसवी सवत् की पहली सदियों के शिलालेखों में उन्होंने आरंभिक सामंतयुगीन भारत के इतिहास की विपुल सामग्री पाई। ओल्देनबुर्ग ने दक्षिणी भारत के कदम्ब वश के कतिपय शिलालेखों का अनुवाद तथा भेंट पत्रों का विश्लेषण किया। वे प्राचीन भारत की सामाजिक-आर्थिक पद्धति के अध्ययन के लिए कामकाजी दस्तावेज़ों की महत्ता पर बल देते थे। उन्होंने यह आह्वान किया कि भारतीय दस्तावेज़ों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के उनके "क्रमिक विकास को देखते हुए और जैसे वे भारत के अलग-अलग भागों में पाये जाते हैं," संकलन बनाये जाएं। उनके विचार मे ऐसी सामग्री "भारत की अर्थव्यवस्था तथा वर्गों के संघर्ष के इतिहास के लिए समृद्ध स्रोत" होगी। ओल्देनबुर्ग उन पहले सोवियत भारतविदों में से थे, जिन्होंने प्राचीन भारत में प्रचलित सामाजिक-आर्थिक सबंधों का चित्र प्रस्तुत करने के लिए 'अर्थशास्त्र' के महत्त्व को बहुत ऊंचा आंका। उनकी पहलक़दमी पर १९३० में सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान में, जिसका वे तब संचालन कर रहे थे, 'अर्थशास्त्र' का रूसी भाषा में अनुवाद करने का कार्य आरंभ हुआ। श्चेर्बात्स्की के निदेशन में एक विशेष दल बनाया गया, जिसने १९३२ में अनुवाद का मुख्य भाग पूरा कर लिया। इस ग्रथ के प्रथम परिच्छेद का अनुवाद स्वयं ओल्देनबुर्ग ने ही किया था।

'अर्थशास्त्र' के आधार पर राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक पारिभाषिक शब्दों का कोश बनाने का काम संस्थान के शोधकार्यों की योजना में रखा गया। प्राचीन और मध्ययुगीन भारत के सामाजिक-आर्थिक विकास की समस्याओं के अनुसंधान को बहुत ज़रूरी मानते हुए ओल्देनबुर्ग इस क्षेत्र में भारतीय विद्वानों के कार्यों पर सदा नज़र रखते थे, उनकी समीक्षा करते थे। वे इन समस्याओं के अध्ययन में

भारतीय विद्वानों के योगदान का उच्च मूल्यांकन करते थे और इस बात पर ज़ोर देते थे कि अर्थव्यवस्था और इतिहास के कुछ प्रश्नों का भारत में और भारतीय विद्वानो द्वारा ही अध्ययन किया जा सकता है।"

'बौद्ध पुस्तकमाला' जैसा अंतर्राष्ट्रीय कार्य भी ओल्देनबुर्ग के नाम से संबद्ध है। श्चेर्बात्स्की के शब्दों में "पूर्णत उनकी पहलकदमी और प्रयासों के बल पर ही" यह कार्य संपन्न किया जा सका। इस पुस्तकमाला का प्रकाशन १८९७ में आरम्भ हुआ था और इसका ध्येय था बौद्ध धर्म की उत्तरी शाखा से संबंधित मौलिक और अनूदित ग्रंथों का प्रकाशन करना। इसका नाम भी यही था : 'मूल और अनूदित बौद्ध ग्रंथो का सग्रह'। ओल्देनबुर्ग ने उत्तरी बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन में अपने शिक्षकों मिनायेव और वसील्येव की परम्पराओं को जारी रखा लेकिन इस अनुष्ठान को उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान कर दिया। संसार भर में बौद्ध धर्म के जाने-माने अध्येताओं— बेडाल, फ़िनो, श्रयेर, दे ला वाले-पुसें, केर्न, नांत्सो, श्चेर्बात्स्की, आदि को उन्होंने इस कार्य में भाग लेने को निमंत्रित किया। दक्षिणी, पाली परम्परा के समर्थकों (रीस डेविड्स और उनके साथियो) के विपरीत बौद्ध धर्म के रूसी अध्येता संस्कृत में रचे गये बौद्ध साहित्य को विशेष महत्त्व प्रदान करते थे, क्योंकि "यही एशिया भर में फैले बौद्ध मत का आधार बना था"। "अखिल एशियाई बौद्ध मत का अध्ययन भारतविद्या का एक तात्कालिक कार्यभार है।" ओल्देनबुर्ग की पहलक़दमी पर सस्थापित 'बौद्ध पुस्तकमाला' ने बौद्ध धर्म के रूसी व सोवियत अध्येताओं को अतर्राष्ट्रीय मान्यता दिलाई। १९२७ में ही ओल्देनबुर्ग, श्चेर्बात्स्की और तुब्यान्स्की पूरे विश्वास के साथ कह सके "अपनी उपलब्धियों के कुलयोग की दृष्टि से रूस में बौद्ध धर्म का अध्ययन यूरोप के दूसरे देशों में इस अध्ययन के क्रम में प्रथम स्थान पर रखा जाना चाहिए।"

ओल्देनबुर्ग की वैज्ञानिक धरोहर में केंद्रीय एशिया के, इस क्षेत्र के बौद्ध ग्रंथों और कला स्मारकों के अध्ययन का विशेष स्थान है। प्राच्यविद्या के इस क्षेत्र में ओल्देनबुर्ग विज्ञान की नई शाखाओं—केंद्रीय एशियाई वाङमीमांसा तथा पुरालिपि अध्ययन—के प्रवर्तक बने। ओल्देनबुर्ग के संचालन में वैज्ञानिक अभियान दलों का पूर्वी तुर्किस्तान जाना संसार भर म भारतविद्या और बौद्ध अध्ययनों की महत्त्वपूर्ण घटना बना। ओल्देनबुर्ग के सुप्रयासो से ही सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान के एशियाई संग्रहालय में आज केंद्रीय एशिया में मिले हस्तलिखित ग्रंथों का संसार में सबसे बड़ा संग्रह है।

१९वीं सदी के अत और २०वीं सदी के आरंभ में केंद्रीय एशिया में अत्यंत सनसनीखेज वैज्ञानिक खोजें हुईं। खोतान के रेगिस्तान मे और पश्चिमी हान-सू की गुफ़ाओं में लाजवाब कलाकृतियां, नाना हस्तलिखित ग्रथ तथा भौतिक सस्कृति की वस्तुएं मिलीं। पूर्वी तुर्किस्तान की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक सम्पदा तथा उसके अध्ययन की आवश्यकता की ओर ध्यान देने वाले एक पहले व्यक्ति थे विलक्षण रूसी

यात्री निकोलाई प्रझेवाल्स्की। ग्रुम्म-ग्रझिमाइलो बधुओं ने भी पूर्वी तुर्किस्तान की यात्रा की और इस इलाके के प्राचीन स्थालों व वस्तुओं का वर्णन किया। केंद्रीय एशिया के स्मारकों के अध्ययन में रूसी विद्वानों में से सबसे अधिक योगदान ओल्देन-बुर्ग का तथा काशगर में रूसी वाणिज्यदूत न० पेत्रोव्स्की का था। पेत्रोव्स्की ने न केवल इस इलाके की यात्रा की और यहां पुरातत्वीय तथा नृजातिवर्णन सबंधी वैज्ञा-निक कार्यों में सहयोग प्रदान किया, बल्कि प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ खोजने के लिए भी अथक प्रयत्न किये। ओल्देनबुर्ग को लिखे पत्रों में उन्होंने बारंबार भारत और केंद्रीय एशिया की लिखित धरोहर का व्यापक अध्ययन शुरू करने का आग्रह किया। १९वीं सदी के नौवें दशक के अंत में ही पेत्रोव्स्की ने ओल्देनबुर्ग को एक हस्तलि-खित ग्रंथ का पृष्ठ भेजा, जो उन्होंने स्थानीय निवासियों से खरीदा था। इस प्रकार एशियाई संग्रहालय की केंद्रीय एशियाई निधि की नीव पड़ी। १८९२ में ओल्देनबुर्ग ने इस पाठ की अनुलिपि और लिप्यांतरण छपवाये। उन्होंने यह इंगित किया कि यह पाठ संस्कृत में नहीं लिखा हुआ है। कालांतर में यह निर्धारित किया गया कि यह खोतान-शक भाषा है। ओल्देनबुर्ग तुरत ही समझ गये कि केंद्रीय एशिया में कितनी विशाल वैज्ञानिक सम्पदा निहित है और यहां के स्मारकों की खुदाई से भारतविद्या में तथा बौद्ध धर्म के अध्ययन में कितने भव्य परिप्रेक्ष्य खुल सकते हैं। १८९१ में उन्होंने पेत्रोव्स्की को पत्र लिखकर पूछा कि क्या कूचा मे तथा काशगर प्रांत दूसरे स्थानो में प्राचीन आवशेषो के बारे में उन्हें विस्तृत जानकारी उपलब्ध है और क्या वहां वैज्ञानिक अभियान दल भेजा जा सकता है। ओल्देनबुर्ग समझते थे कि इन योजनाओं के क्रियान्वयन में वित्तीय और राजनीतिक दोनो ही तरह की कठिनाइयां आ सकती हैं—ज़ारशाही सरकार विज्ञान के विकास के लिए आवश्यक साधन नही देती थी, उधर चीनी शासक इस क्षेत्र में रूसियों को न आने देने की हर संभव कोशिश करते थे। ओल्देनबुर्ग ने अपने पत्र में रूसी वाणिज्यदूत से पूछा था कि चीनी अधिकारी रूसी वैज्ञानिक अभियान दल के आने में बाधा तो नहीं डालेंगे। उनकी आशंकाएं सही निकलीं। पेत्रोव्स्की ने अपने उत्तर में लिखा, "बौद्ध स्मारक सारे पूर्वी तुर्किस्तान में फैले हुए हैं। मुझे संदेह है कि स्थानीय चीनी अधिकारी और पीकिंग सरकार अभियान दल को आवश्यक खुदाई की इजाज़त देंगे।" लेकिन ओल्देनबुर्ग ने अपना इरादा नही छोड़ा, उन्होंने पेत्रोव्स्की द्वारा भेजे गये पाठ प्रकाशित किये और तुर्किस्तान के प्राचीन अवशेषों के अपार महत्त्व की चर्चा करके विदेशी विद्वानों का ध्यान इन खोजों की ओर आकर्षित किया।

१८९२-१८९३ के शरद व जाड़ों में पेत्रोव्स्की ने ओल्देनबुर्ग को कूचा, कूर्म और अक्सु से प्राप्त पांडुलिपियों के १०० से अधिक पन्ने और अंश भेजे। ये ब्राह्मी के केंद्रीय एशियाई रूपांतर में लिखे हुए थे। ओल्देनबुर्ग ने नियमित रूप से इन पाठों को प्रकाशित किया, इनकी अनुलिपि के साथ लातिनी में लिप्यांतरण भी दिया।

तब केवल कुछ अंशों के बारे में ही यह तय किया जा सका था कि ये क्या हैं (मुख्यत. ये मत्र थे)। "काशगर सस्कृतविद्या मे बहुत बडी भूमिका अदा करेगा," ओल्देनबुर्ग ने लिखा। १८९७ मे उन्होंने काशगर में मिले खरोष्ठी लिपि मे भोजपत्र पर लिखे ग्रथ की फ़ोटोकापी अलग से प्रकाशित की। इस पांडुलिपि में 'धम्मपद' का प्राकृत पाठ था। ओल्देनबुर्ग ने इसका लेखन काल प्रथम सदी ईसवी बताया और इसकी भाषा भी सही-सही निर्धारित की – प्राकृत, जो शहबाज़गढ़ी के अशोक के शिलालेखो की भाषा से मिलती-जुलती है। आल्देनबुर्ग ने इस पाठ की रचना का अनुमानित क्षेत्र – गांधार – भी इंगित किया। इस ग्रथ के प्रकाशन ने बौद्ध ग्रंथों के पाठ-अध्ययन के विकास में बहुत बडी भूमिका अदा की और ओल्देनबुर्ग को विश्वव्यापी ख्याति प्रदान की। केंद्रीय एशिया के पुरातत्वीय अध्ययन के लिए ओल्देनबुर्ग के प्रयास अतत: सफल हुए। १८९८ में रूसी भूगोल समाज की पूर्वी साइबेरियाई शाखा द्वारा सगठित एक अभियान दल द्मीत्री क्लेमेंत्स के नेतृत्व में तूर्फ़ान गया और वहा उसने भारतीय संस्कृति के समृद्ध स्मारकों का पता लगाया। क्लेमेंत्स सस्कृत की कुछ काष्ठफलक मुद्रित पुस्तकें लाये। अभियान दल के कार्य के परिणामो के बारे में लिखते हुए ओल्देनबुर्ग ने यह इंगित किया कि तूर्फ़ान के आस-पास बहुत से भित्तिचित्र मिले हैं, जिन पर केंद्रीय एशियाई ब्राह्मी मे पुरालेख अंकित हैं। उन्होंने नये अभियानों की योजनाएं बनाई, लेकिन रूसी अध्येता उन दिनों इन्हें क्रियान्वित करने मे असफल रहे। ओल्देनबुर्ग ने सरकार को यह प्रस्ताव भेजा कि एक वैज्ञानिक अभियान दल तुर्किस्तान भेजा जाये, लेकिन उनका प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। १९०० मे रोम में प्राच्यविदों की अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेस में अकादमीशियन राद्लोव ने तुर्किस्तान मे हुई खोजों के बारे में एक रिपोर्ट पेश की। रूसी विद्वान की इस रिपोर्ट से विद्वज्जगत मे इतनी गहरी रुचि जागी कि अनेक यूरोपीय देशों में पूर्वी तुर्किस्तान के पुरातत्वीय अध्ययन के लिए विशेष समितियां गठित की गईं। इससे पहले कि १९०९ में अतत. ओल्देनबुर्ग का स्वप्न पूरा होता और वे अभियान पर निकलते, कुछ यूरोपीय अभियान दल केंद्रीय एशिया में हो आये। ओल्देनबुर्ग के अभियान का प्रबंध मध्य एव पूर्वी एशिया के अध्ययन की रूसी समिति ने किया। ओल्देनबुर्ग जब अतत पूर्वी तुर्किस्तान पहुचे तो पता चला कि यूरोपीय अभियान दल इस इलाक़े की जांच कर चुके हैं और श्चेर्बात्स्की के शब्दों मे "पुरातत्वीय खोज के लिए उन्होंने यहां कुछ छोड़ा ही नहीं था।" अनेक अद्वितीय पांडुलिपियां यूरोप ले जाई जा चुकी थी। ओल्देनबुर्ग बड़ी कठिनाई से स्थानीय निवासियों से संस्कृत के ग्रंथों के कुछ अंश ख़रीद पाये। पीटर्सबर्ग लौटकर उन्होंने रूसी समिति की बैठक में अपने कार्य की रिपोर्ट दी और यह बताया कि वे कौन सी पांडुलिपियां और कलाकृतियां प्राप्त करने में सफल रहे हैं। ओल्देनबुर्ग ने एक बार फिर रूस के विद्वज्जगत का ध्यान केंद्रीय एशिया मे व्यापक अनुसंधान करने की आवश्यकता की ओर दिलाया। १९१४ में ओल्देनबुर्ग ने १९०९-१९१० के रूसी तुर्किस्तान अभियान की संक्षिप्त रिपोर्ट

छापी। इसमें बौद्ध संस्कृति के सभी स्मारकों की विस्तृत सूची दी गई थी, गुफाओं, मूर्तियों, भित्तिचित्रों आदि का विवरण भी दिया गया था।

ओल्देनबुर्ग का दूसरा अभियान (१९१४-१९१५) अत्यंत सफल रहा: उन्होंने सहस्रबुद्ध गुफाओं का सर्वेक्षण किया तथा अनेक संस्कृत और चीनी हस्तलिखित ग्रंथ खोजे।

पेत्रोव्स्की के साथ ओल्देनबुर्ग के पत्रव्यवहार से यह पता चलता है कि केंद्रीय एशिया की संस्कृति के अध्ययन की उनकी वैज्ञानिक योजनाएं बहुत व्यापक थीं। वे केंद्रीय एशियाई ग्रंथों के पुरालिपि-अध्ययन पर विशेष शोध ग्रंथ लिखने की सोच रहे थे, जिसमें वे विभिन्न लिपियों के सभी रूपांतरो की पूर्ण वंशानुक्रमी तालिका देना चाहते थे और पेत्रोव्स्की के संग्रह के सभी ग्रंथों को पाठ-विश्लेषण, लिप्यांतरण और अनुवाद सहित प्रकाशित करने का इरादा रखते थे। खेदवश इन इरादों को पूरा होना बदा नहीं था। ओल्देनबुर्ग द्वारा आरभ किये गये कार्य को उनके सहयोगियों ने और फिर सोवियत भारतविदों की नई पीढ़ी ने जारी रखा।

परंतु ओल्देनबुर्ग केंद्रीय एशिया के अध्ययन में जो कुछ कर पाये उसका ही अपार वैज्ञानिक महत्त्व है। भारतीय संस्कृति के लिखित चिन्हों की खोजों तथा पुरातत्वीय खुदाइयों से यह पता चला कि कम से कम प्रथम शती ईसवी से आरंभ करके १०वी-११वीं सदी ईसवी तक यह सारा इलाका भारतीय बौद्ध सांस्कृतिक जगत विशाल प्रभाव में था। और जब भारत में बौद्ध धर्म प्रमुख नहीं रह गया था, नब केंद्रीय एशिया में ही भारतीय बौद्ध संस्कृति ने अपनी परम्पराएं बनाये रखीं और विकसित होती रही। भारतीय बौद्ध संस्कृति के महत्त्व को आंकते हुए ओल्देनबुर्ग ने अपने सहयोगियों श्चेर्बात्स्की और तुब्यान्स्की के साथ १९२७ मे लिखा: "इस विशाल इलाक़े के लिए भारतीय वौद्ध संस्कृति वही अर्थ रखती है, जो कि यूरोप के लिए भूमध्यसागर प्रांत की प्राचीन यूनानी-रोमन संस्कृति। मध्य और पूर्वी एशिया की भारतीय बौद्ध संस्कृति का अध्ययन विश्व संस्कृति के इतिहास का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और रोचक क्षेत्र है।"

ओल्देनबुर्ग के सृजनात्मक कार्यकलापों की एक लाक्षणिकता थी नागरिक भावना तथा पूरब के जनगण की अथाह संभावनाओं में उनका विश्वास। यही बात उन्हें उन कितावी विद्वानों से अलग करती थी, जो अपने विषय की सीमा से बाहर न निकल सकते थे, न निकलना चाहते थे। युवावस्था में ही जब वे फ्रांस में वहां पर प्राच्यविद्या सबंधी कार्यों के संगठन से परिचित हो रहे थे, तभी वे रूस में प्राच्यविद्या का विस्तार करने की सोचने लगे थे। उन्होंने रूस के लिए पूरब के अध्ययन के अपार महत्त्व का उल्लेख किया। १८९८ में उन्होंने लिखा: "अव पूरब का व्यावहारिक अध्ययन पहले स्थान पर आता है, जिसे उन सब नये कार्यभारों की पूर्ति में सहायक होना चाहिए, जो रूस के हिस्से में आये हैं।... संभवत: रूस को ही अन्य किसी भी देश की तुलना में पूरब का सैद्धांतिक ज्ञान पाने की अधिक

आवश्यकता है।" ओल्देनबुर्ग ने इस बात पर खेद प्रकट किया कि रूस में प्राच्य-विद्या का अभी आवश्यक विस्तार नहीं हुआ है, और यह आशा व्यक्त की कि ये शोधकार्य बड़े पैमाने पर होने लगेंगे। "आज जबकि दूसरे देश पूरब के अध्ययन की ओर अधिकाधिक ध्यान दे रहे हैं, हम यह सोचना चाहेंगे कि रूस भी इन चेष्टाओं मे कम से कम पीछे नहीं रहेगा।"

लेकिन अग्रणी रूसी विद्वान के इन स्वप्नों को महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद ही पूरा होना था।

ओल्देनबुर्ग पुरानी अकादमी के उन पहले रूसी विद्वानों मे थे, जिन्होंने सोवियत सत्ता का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। वे बड़े जोश से समाजवाद के निर्माण की आवश्यकताओ के लिए अकादमी के, नवोदित सोवियत जनतंत्र के सारे वैज्ञानिक और शैक्षिक कार्य के पुनर्गठन मे जुट गये। विज्ञान अकादमी के स्थायी सचिव के नाते ओल्देनबुर्ग ने वैज्ञानिक अनुसंधानों को तेज़ी से पुनर्गठित करने में सहयोग प्रदान किया, अपनी प्रतिष्ठा, अनुभव और ज्ञान से नई पद्धति के निर्माण में मदद की। ओल्देनबुर्ग का यह रुख़ बहुत लाक्षणिक था, ख़ास तौर पर यदि यह ध्यान में रखा जाये कि अनेक पुराने विद्वान देश में हो रहे परिवर्तनों का सारा महत्त्व तुरंत ही नही समझ पाये थे और कठिनाई से ही नव जीवन के निर्माण में शामिल हो रहे थे। क्रांति के बाद पहले दिनो से ही सोवियत सरकार और स्वय लेनिन सोवियत देश में विज्ञान के विकास की ओर विशेष ध्यान देने लगे थे। रूस के वैज्ञानिक प्रतिष्ठानो को समाजवाद के निर्माण में भाग लेने के लिए प्रवृत्त करने की आवश्यकता संबधी लेनिन के रुख़ ने इस सच्चे अर्थों में क्रांतिकारी प्रक्रिया मे विशाल भूमिका अदा की। विज्ञान के प्रति, वैज्ञानिक सृजन के प्रति, जीवन की आवश्यकताओं के साथ वैज्ञानिको के घनिष्ठ संबंध के प्रति यह रुख़ अकादमी के प्रति ज़ारशाही सरकार के रुख़ के बिल्कुल विपरीत था। ज़ारशाही के दिनों में तो विज्ञान अकादमी को साम्राज्य का "वैज्ञानिक आभूषण" ही माना जाता था। ओल्देनबुर्ग ने लिखा था "ज़ारशाही सरकार का विज्ञान और वैज्ञानिकों के प्रति रुख़ अविश्वासपूर्ण था, अधिकांश मामलों में वह उन्हें ऐसे प्रश्नों पर काम करने देती थी, जिनका राजकीय निर्माण से कोई सबध नही होता था।" क्रांति के तुरंत बाद ही वैज्ञानिको ने यह देखा कि पहले की उदासीनता तथा वैज्ञानिकों के इरादों के विरोध का स्थान सहायता, सच्चे समर्थन और रुचि ने ले लिया है। सोवियत सत्ता के पहले वर्षों के दस्तावेज़ों, राजनीतिक और सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओ तथा वैज्ञानिको के संस्मरणो से उन तूफानी दिनों का वातावरण जाना जा सकता है, जब सोवियत सरकार की नीति ने पुनर्गठन के मार्ग पर बढ़ने तथा समाजवाद के निर्माण के भव्य कार्यभारों की पूर्ति में सक्रिय भाग लेने में विज्ञान अकादमी की मदद की। इन दस्तावेज़ों के पृष्ठों से ओल्देनबुर्ग की आकृति उभरती है। सोवियत विज्ञान के एक प्रमुख संचालक के नाते उनके सारे कार्यकलाप नागरिकता की भावना से

ओतप्रोत थे। लेनिन ने अकादमी की बहुत सहायता की, ओल्देनबुर्ग उनसे कई बार मिले। क्रांति के नेता के साथ इन भेंटों की ओल्देनबुर्ग पर गहरी छाप पडी, उनके आगे के वैज्ञानिक और संगठनात्मक कार्य भी बहुत हद तक इस भेंट से निर्धारित हुए।

लेनिन से ओल्देनबुर्ग की पहली भेंट १८८७ मे हुई थी, जब व्लादीमिर इल्यीच के बड़े भाई अलेक्सान्द्र इल्यीच उल्यानोव को फासी हुई थी। अलेक्सान्द्र इल्यीच ज़ारविरोधी सगठन 'नरोद्नया वोल्या' (जन संकल्प) के सक्रिय सदस्य थे। मार्च १८८७ मे ज़ार की हत्या के असफल प्रयास के बाद उन्हे गिरफ़्तार कर लिया गया और उसी साल मई मे फांसी दे दी गई। पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय में शिक्षा के वर्षों में ओल्देनबुर्ग अलेक्सान्द्र उल्यानोव के समीप आ गये थे। भाई की मृत्यु पर शोकग्रस्त लेनिन ओल्देनबुर्ग से मिलने आये, जिन्होंने तब अनुसंधानकर्ता की ख्याति पा ली थी। लेनिन एक ऐसे व्यक्ति से अपने भाई के बारे में कुछ और विस्तार से जानना चाहते थे, जो उसे अच्छी तरह जानता था और एक प्रगतिशील विचारों वाला विद्वान माना जाता था। अलेक्सान्द्र उल्यानोव के व्यक्तित्व से ओल्देनबुर्ग को लेनिन को भी अधिक गहराई में समझने में मदद मिली। कालांतर मे उन्होंने लिखा: "अलेक्सान्द्र इल्यीच से मेरा जो निकट परिचय रहा था उससे मुझे व्लादीमिर इल्यीच में भी बहुत कुछ समझने में मदद मिली – विज्ञान के प्रति गहरी निष्ठा और विशाल राजनीतिक कार्य का सुमेल, जो, जैसा कि सुविदित है, विरले ही देखने में आता है, और वह भी प्रत्यक्षत. केवल बिल्कुल असाधारण लोगों में ही।" ओल्देनबुर्ग ने लेनिन के साथ अपनी इस भेट को कई बार याद किया। उन्होंने अपने संस्मरणो में लिखा. "इस भेट के बाद कई साल बीत गये, क्राति आई, हमारे देश का जीवन आमूल बदल गया, हम, बौद्धिक श्रम के लोग भी आमूल बदल गये, हम नये, महान, समाजवादी निर्माण कार्य में भाग लेने लगे। हम समझ गये कि निर्माण के इस महान कार्य में सभी को शामिल करके ही सचमुच नया जीवन बनाया जा सकता है, उस जीवन मे भिन्न, जो मानवजाति को वह सब नहीं दे सका, जिसकी उसे सचमुच आवश्यकता है। इस नये मार्ग पर हमारे नेता और निर्माता बने व्लादीमिर इल्यीच, वह व्यक्ति, जिसकी गहरी मानवीयता हमारी पहली भेंट में ही मेरे लिए स्पष्ट हो गई थी, जब महान क्रांतिकारी बिल्कुल नौजवान ही था।"

१९१८ में लेनिन के साथ हुई भेट का ओल्देनबुर्ग के इसके बाद के सारे कार्य-कलापों पर बहुत प्रभाव पड़ा। नवोदित सोवियत जनतंत्र के लिए उस कठिन समय के बावजूद क्रांति के नेता और सोवियत सरकार के प्रधान वैज्ञानिक अनुसंधानों मे, भारतविद्या संबंधी शोधकार्यों में भी, गहरी रुचि लेते थे और वैज्ञानिकों का आह्वान करते थे कि वे जनसमूहों के अधिक निकट आयें, उन्हें वैज्ञानिक योजनाओं और सृजनात्मक विचारों के बारे में बताये। ओल्देनबुर्ग के साथ बातचीत में लेनिन ने इस विलक्षण भारतविद से कहा: "आप अपना विषय ही लीजिये – वह हमसे दूर

लगता है, लेकिन हमारे समीप भी है। आप जनता में, मजदूरों के बीच जाइये, उन्हे भारत के इतिहास के बारे मे, अंग्रेज़ों द्वारा दासता की बेडियों में जकडे और उत्पीडित इन कोटि-कोटि जन की सदियो की यातनाओं के बारे में बताइये और आप देखेंगे कि हमारे मजदूर जन समूहो में कैसी सजीव प्रतिक्रिया होती है। और स्वयं आपको भी नई खोजों, नये अनुसंधानों, अपार महत्त्व के नये कार्यों की प्रेरणा मिलेगी।" समसामयिकों के संस्मरणों के अनुसार इस भेंट के बाद ओल्देनबुर्ग ने लेनिन के बारे में कहा था "वह शक्ति के अवतार हैं। इनका जन्म मानो 'अपनी वाणी मे लोगों के हृदय प्रज्वलित करने के लिए हुआ है'।" लेनिन की गहन दूर-दृष्टि, रूस के लिए इतने विकट समय में भी वैज्ञानिक कार्यों के प्रति उनकी असाधारण रुचि देखकर आश्चर्य होता है। गृहयुद्ध हो रहा था, विदेशी साम्राज्यवादी देश की आंतरिक प्रतिक्रांतिकारी ताक़तों के साथ मिलकर नवोदित सोवियत जनतंत्र को नष्ट करने, ज़मींदारों और पूंजीपतियों की सत्ता बहाल करने पर तुले हुए थे। देश की सारी शक्ति सोवियत सत्ता की रक्षा में लगी हुई थी। लेनिन ने जनता के नाम अपील जारी की – "मातृभूमि संकट में है।" लेकिन ऐसे संकटमय दिनों में भी लेनिन वैज्ञानिकों और कलाकर्मियों से मिलने के लिए समय निकाल लेते थे, उन्हे रूस में विज्ञान के भविष्य की असीम सभावनाओं में विश्वास था, वे उन दिनों भी वैज्ञानिक अनुसधानो को अधिक व्यापक बनाने की सोचा करते थे।

देश के अन्य अनेक बड़े-बड़े विद्वानों की ही भांति ओल्देनबुर्ग भी अकादमी के पुनर्गठन में जुट गये। जनवरी १९१८ में अकादमी की आम सभा में नये राजकीय कार्यभारों के प्रसग में वैज्ञानिक कार्य के प्रश्न पर विचार किया गया। ओल्देनबुर्ग के सचालन मे इन योजनाओं के क्रियान्वयन की सभावनाओं को आंकने के लिए एक विशेष आयोग गठित किया गया। फ़रवरी १९१८ में आयोग ने अपना वह निर्णय स्वीकार किया, जिसने नवराज्य के निर्माण की आवश्यकताओं के लिए वैज्ञानिकों को कार्यप्रवृत्त करने मे नितांत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस निर्णय में कहा गया था "विज्ञान अकादमी यह मानती है कि अधिकांश कार्यभार स्वयं जीवन ही प्रस्तुत करता है, और अकादमी जीवन व राज्य की मांग पर राज्य-निर्माण की आवश्यकताओं द्वारा प्रस्तुत अलग-अलग कार्यभारों की पूर्ति के लिए यथाशक्ति वैज्ञानिक और सैद्धांतिक कार्य करने को तत्पर है। ऐसा करते हुए अकादमी देश की वैज्ञानिक शक्तियो को कार्यप्रवृत्त करने और संगठित करने वाले केंद्र का काम करती है।

सोवियत सरकार के मास्को चले आने के पश्चात ओल्देनबुर्ग दूसरे अकादमीशियनों के साथ यह निर्णय लेकर क्रेमलिन गये।

लेनिन के नेतृत्व में सोवियत सरकार ने अकादमी को वित्तीय सहायता प्रदान की, वैज्ञानिको के जीवन की हितचिंता की। इस काल में भारतविद्या से संबंधित वैज्ञानिक परियोजनाएं भी पूरी की गईं। उदाहरणतः, १९१८ में इतिहास और वाङमीमांसा विभाग ने जन कमिसार परिषद द्वारा वैज्ञानिक कार्यों के समर्थन के बारे

मे ओल्देनबुर्ग की सूचना के प्रत्युत्तर में १६१४ मे भारत भेजे गये नृजातिवर्णन अभियान दलों को सहायता प्रदान करने का निश्चय किया। सोवियत विज्ञान अकादमी के अभिलेखागार में सरक्षित एक अत्यत रोचक दस्तावेज़ मे इस बारे मे पता चलता है। इसमे बताया गया है कि ६ अप्रैल १६१८ को जन कमिसार परिषद और उसके अध्यक्ष लेनिन के निर्देश पर परिषद का सचिव ओल्देनबुर्ग मे मिलने आया और उसने उन्हें बताया कि जन कमिसार परिषद "अकादमी की वैज्ञानिक परियोजनाओ के यथासभव व्यापक विकास को अत्यत वांछनीय मानती है और अकादमी को निमंत्रित करती है कि वह अभियानो, कार्यो और प्रकाशनों से संबधित अपने प्रस्तावों से परिषद को अवगत कराये, ताकि शीघ्रातिशीघ्र उन्हें सहयोग प्रदान किया जा सके।" लेनिन के प्रस्ताव पर विज्ञान से संबंधित जो कार्यभार निर्धारित किये गये थे, उनकी पूर्ति के काम मे ओल्देनबुर्ग भी लगे। अकादमी का सचिव होने के नाते ओल्देनबुर्ग ने न केवल प्राच्यविद्या, बल्कि मभी मानविकी विज्ञानो के विकास में रुचि ली और भूविज्ञान, ऊर्जाविज्ञान, औद्योगिक रासायनिकी, भौतिकी तथा अन्य वैज्ञानिक क्षेत्रो में भी कार्य के संगठन में सहयोग प्रदान किया।

अकादमी की वैज्ञानिक योजनाए कितनी विशाल थी और किस तरह सोवियत सरकार पूरब से संबधित सभी अनुसधानों मे हर तरह से सहायता प्रदान करती थी इसका अनुमान इस तथ्य मे लगाया जा सकता है कि १६१६ मे पेत्रोग्राद में पहली बौद्ध प्रदर्शनी आयोजित की गई। इस प्रदर्शनी के आयोजक भली-भांति समझते थे कि यह अत्यत कठिन दिनों में आयोजित की जा रही है, तो भी उन्होंने इसका अधिकाधिक प्रचार करने और जनता में भारत तथा समस्त पूरब मे रुचि जगाने का प्रयास किया। इस प्रदर्शनी की विवरणिका मे ओल्देनबुर्ग ने लिखा "आधुनिक मानवजाति के लिए, जो अभी विश्व बधुत्व के क्षीण और बेढब प्रयास ही कर रही है, यह आवश्यक है कि इस क्षेत्र में मानवजाति द्वारा अब तक जो कुछ किया जा चुका है उससे यथासभव अधिक अच्छी तरह परिचित हो। यही कारण है कि हमारे लिए बौद्ध जगत का अध्ययन करना और उसे समझना इतना महत्त्वपूर्ण है। हमें आशा है कि यह प्रदर्शनी इस में सहायक होगी।" अकादमीशियन ओल्देनबुर्ग, व्लादीमिर्त्सेव और श्चेर्बात्स्की ने इस प्रदर्शनी में भाषण दिये। उन्होंने भारत और बौद्ध धर्म के अध्ययन के महत्त्व पर ज़ोर दिया, भारतीय सस्कृति की धरोहर का गहन अध्ययन करने का आह्वान किया।

इस प्रदर्शनी के आयोजकों के हृदय में जो आशाए हिलोरे ले रही थीं, जो अद्वितीय उत्साह था, उस पर आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। स्मरण रहे कि यह नवोदित सोवियत जनतंत्र के इतिहास में विकटतम काल था, अग्नि परीक्षा का समय था, नई सत्ता के गठन की दिशा में पहले क़दम रखे जा रहे थे। प्रदर्शनी अत्यंत सफल रही। लेनिन के परामर्श का पालन करते हुए वैज्ञानिक भारत के बारे में उसकी प्राचीन सस्कृति और इतिहास की जानकारी सामान्य जनता तक

पहुचा रहे थे। जनता बड़ी रुचि से इस ज्ञान को ग्रहण कर रही थी, पूरब की विलक्षण संस्कृति से परिचित हो रही थी। ओल्देनबुर्ग द्वारा प्रदर्शनी के लिए लिखे गये ये शब्द उल्लेखनीय हैं "शायद पृथ्वी पर और कहीं भी लोगो ने जीवन और मृत्यु के, जीवन के ध्येय और अर्थ के प्रश्नों के उत्तर इतने बल और यत्न से नही खोजे, जितने कि दूरवर्ती देश भारत में, जहां मुख्यत: हमारी संबंधी जातियां बसी हुई है, जिनकी भाषाएं और रीति-रिवाज बहुत हद तक हमसे मिलते-जुलते हैं।" यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि व्यापक जन समूहों को संबोधित करते हुए अकादमीशियन ने भारतीय जनता के विवेक पर, भारतीय और रूसी संस्कृति के सामीप्य पर बल दिया – यह वह विषय था, जिसका महत्त्व उन कठिन दिनों में भी कम नहीं हुआ था। लेकिन इस विद्वान के विचार सुदूर अतीत की ओर नहीं, भविष्य की ओर उन्मुख थे और प्रदर्शनी को इसी ध्येय की पूर्ति करनी थी, उसे भारत के बारे मे ज्ञान को मेहनतकशों के लिए बोधगम्य बनाना था। ओल्देनबुर्ग ने लिखा "भारत का इतिहास सारी मानवजाति के इतिहास को समझने के लिए नितांत महत्त्वपूर्ण है, और इस इतिहास की आवश्यकता हमें यथार्थ जीवन को उचित रूप में समझने के लिए है।"

प्रदर्शनी में भारत, मंगोलिया और पूर्वी तुर्किस्तान की बौद्ध कला की वे वस्तुएं थीं, जो रूस के संग्रहालयों में संरक्षित थीं। ओल्देनबुर्ग ने लिखा "सभी बौद्ध वस्तुए एक ही धर्म की वस्तुएं हैं और ऐसे धर्म की, जिसका उद्गम एक ही है – भारतवर्ष।" प्रदर्शनी में अनेक ऐसी वस्तुएं थीं, जो रूसी यात्री और विद्वान अपने साथ रूस लाये थे। एशिया के देशों की यात्रा करते हुए उन्होंने संग्रहालयों को मूल्यवान सामग्री से समृद्ध किया। ओल्देनबुर्ग के संचालन में गये अभियान दल जो वस्तुएं लाये थे, उनका वैज्ञानिक मूल्य अपार था। उनके शब्दों में तुङ्हुआन की गुफाओं में मिले चित्र यह दिखाते हैं कि "चीन ने बौद्ध धर्म के ज़रिए भारत से कितना कुछ ग्रहण किया।" यहा फिर उनका प्रमुख विचार स्पष्ट है: जनता को पूरब की महान संस्कृति से, विश्व सभ्यता के अमूल्य रत्नो से परिचित कराते हुए उसमे औपनिवेशिक शासकों द्वारा उत्पीडित पूर्वी जनगण के प्रति रुचि जगाना।

विषयवस्तु की विविधता के बावजूद प्रदर्शनी भारत पर ही केंद्रित थी। और यह संयोग मात्र नहीं था। यहां रूसी विद्वानों की भारत में परम्परागत रुचि प्रकट हुई।

जनवरी १९२१ में ओल्देनबुर्ग अकादमीशियनों के एक दल के साथ फिर से लेनिन से मिले। इस बातचीत में मक्सिम गोर्की भी उपस्थित थे। वैज्ञानिको और सोवियत राज्य के नेता ने विज्ञान के विकास से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार-विमर्श किया: अकादमी के अंतर्राष्ट्रीय संबंध, प्रकाशन, साहित्य का आदान-प्रदान, वैज्ञानिकों के जीवन की परिस्थितियों में सुधार, आदि। अत्यधिक व्यस्तता के बावजूद लेनिन ने विद्वानों से अनुरोध किया कि उन्हें जो समस्याए उद्विग्न

करती हैं, उनके सिलसिले मे वे उनसे मिल सकते है। इस भेट को याद करते हुए ओल्देनबुर्ग ने लिखा था "व्लादीमिर इल्यीच ने हममे हमारे नाना कार्यों के बारे में विस्तार से पूछा। यह स्पष्ट था कि वे अपने कंधो पर इतने विराट निर्माण कार्य का बोझ होने के बावजूद अलग-अलग वैज्ञानिको के उस कार्य के बारे में सोचने और याद रखने का समय निकाल ही लेते हैं, जिसे वे हमारे निर्माण कार्य के लिए विशेषत: महत्त्वपूर्ण मानते हैं। व्लादीमिर इल्यीच की बाते सुनते हुए हम यह जानते थे कि वे अपने आदेशो की पूर्ति की जांच करने के अपने नियम का पालन करते हुए इस बात के लिए कदम उठायेगे कि सदा यह जान सके कि क्या कुछ कर लिया गया है और क्या नही किया गया और क्यो नही किया गया। सोवियत विज्ञान के इतिहास मे लेनिन की विज्ञान जगत के प्रतिनिधियों से यह भेंट सदा स्मरणीय रहेगी लेनिन ने जो दिलचस्पी ली उसकी बदौलत हमारे सोवियत क्रांति-कारी विज्ञान के इतिहाम में १६२० और १६२१ के साल आमूल परिवर्तन के साल बन गये।"

महान नेता की मृत्यु के पश्चात हुई सोवियतो की दूसरी अखिल सघीय कांग्रेस मे ३१ जनवरी १६२४ को ओल्देनबुर्ग ने भाषण दिया। उन्होंने कहा: "..वे सारे महान विचार, मारे विशाल कार्य, जो उन्होंने किये, सदा बने रहेंगे, उन पर मृत्यु का वश नही है। चूकि भावी पीढिया जीयेगी, तो यह सब भी हमारे साथ बना रहेगा।... हम एक शक्ति का, अपार शक्ति का अनुभव करते हैं, हम जानते हैं कि इस महापुरुष ने जो जीवन जिया, वह कितना महान था। उनमें सचमुच मनीषी के गुण थे। हम बूढे-जवान मभी लोगो के जीवन में एक महान पुरुष आया और इसलिए हममें से प्रत्येक को चेतना मे जीवन अधिक समृद्ध, अधिक उज्ज्वल, अधिक सशक्त प्रतीत हुआ, क्योंकि जो जीवन ऐसे महापुरुषो का निर्माण करता है, वही सचमुच प्रबल, सशक्त और अनुपम जीवन है।"

जीवनपर्यत ओल्देनबुर्ग ने मोवियत विज्ञान के पुनर्गठन के बारे में लेनिन के पराम-र्शो का पालन किया, उन्होंने अनेक वैज्ञानिक परियोजनाओ को, जिनमें प्राच्यविद्या मंबधी कार्य भी थे, शुरू करवाने में पहलक़दमी की। मोवियत संघ में प्राच्यविद्या का, भारतविद्या का गठन सेर्गेई ओल्देनबुर्ग के नाम से जुडा हुआ है। वे मोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान के पहले डायरेक्टर बने (१६३० में) और जीवन के अतिम दिन तक इस पद पर रहे। ओल्देनबुर्ग के प्रयासों की बदौलत प्राच्यविदों ने अपने कार्य को मोवियत विज्ञान के सामान्य ध्येयो के अनुरूप ढाला, उसमें सोवियत मध्य एशियाई जनतंत्रो में आर्थिक और मांस्कृतिक निर्माण के व्यावहारिक कार्यभारों तथा मोवियत संघ की शांतिपूर्ण नीति के अनुरूप परिवर्तन किये।

आकदमीशियन श्चेर्बात्स्की और प्रो० तुब्यान्स्की के साथ मिलकर ओल्देनबुर्ग ने बौद्ध मस्कृति संस्थान की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया। सोवियत विज्ञान

अकादमी के अन्तर्गत बौद्ध संस्कृति संस्थान की स्थापना की परियोजना पर व्याख्यात्मक टिप्पणी में उन्होंने लिखा: "पूरब में सर्वत्र शोधकार्य के विकास को देखते हुए यह आवश्यक है कि हमारे बौद्ध धर्म-अध्येता पुरानी सामग्री के साथ-साथ नई सामग्री को ध्यान में रखें, उसका सिंहावलोकन और उपयोग करें तथा बहुभाषीय पूरब मे हो रहे महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर पूरा ध्यान दें और वहां के विद्वानों तथा शोध सस्थानो के साथ सीधे सम्पर्क बढ़ायें। हमारे विद्वानों ने बौद्ध धर्म के अध्ययन में जो अग्रणी भूमिका पा ली है, उसे बनाये रखने, अपनी स्थिति को सुदृढ और व्यापक करने के लिए यह आवश्यक है कि एक वैज्ञानिक संस्थान के अधीन इस क्षेत्र के सभी विद्वानों के प्रयासों और संसाधनों को एकजुट किया जाये। इस सस्थान का ध्येय होगा – बौद्ध धर्म के अध्ययन संबंधी कार्यों को अधिक दृढ़ और सुव्यवस्थित रूप में सगठित करना तथा पूरब में इस क्षेत्र में हो रहे समसामयिक कार्य के साथ सम्पर्क स्थापित एव विकसित करना।"

ओल्देनबुर्ग उन पहले सोवियत प्राच्यविदों-भारतविदों में से थे, जिन्होंने समसामयिक पूरब के अध्ययन के असाधारण महत्त्व को, परम्परागत भारतविद्या के विषय को व्यापक बनाने की आवश्यकता को समझा। इसी में वे सोवियत प्राच्यविद्या का भविष्य देखते थे। ओल्देनबुर्ग इस बात के उत्साही समर्थक थे कि प्राच्यविद्या सस्थान मध्य एशिया के सोवियत जनतंत्रों के साथ संबंध बढाये। उन्होंने इन जनतत्रों की भाषाओ तथा सोवियत सघ के पूर्वी जनगण की संस्कृतियों के अध्ययन के लिए अभियान दल भिजवाये। वे सदा इस बात पर ज़ोर देते थे कि "हमारे देश के पूरब मे नव जीवन के निर्माण के लिए सारे पूरब के नूतन और नवीनतम इतिहास का सुस्पष्ट ज्ञान होना आवश्यक है।" इस सबको वे "प्राच्यविद्या संबंधी एक ही कार्य-शृखला की कडियां" कहते थे। ओल्देनबुर्ग को पूरब की अथाह शक्ति में विश्वास था, वहा के जीवन मे वे नये अकुर फूटते देखते थे और इस बात के लिए उत्सुक थे कि पूरब के जनगण शीघ्रातिशीघ्र औपनिवेशिक शोषण से मुक्त हों। १९२२ में उन्होंने लिखा था: "हम यह महसूस करते हैं कि नये पूरब मे विशाल शक्ति निहित है। हम सचेत रूसी जन समूहों को पूरब से परिचित कराना चाहते हैं, पूरब को उनके समीप लाना चाहते हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि पुराने पूरब ने, संस्कृति के क्षेत्र में इस महान सृजनकर्त्ता ने हमें ऐसी अमर कृतियां प्रदान की हैं, जिनका महत्त्व मनुष्य के लिए कभी भी कम नहीं होगा और जो कभी भी फिर से इस रूप मे प्रस्तुत नही की जायेंगी। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि नया पूरब भी महान संभावनाओं से परिपूर्ण है, पुरातन शिक्षा यहां मृत नहीं हुई है, लेकिन पूरब को इसे नये बिंबों मे मूर्तित करना है, नई उपलब्धियां पानी हैं।"

१९३१ में प्रकाशित 'विज्ञान अकादमी में प्राच्यविद्या नई राहों पर' नामक लेख में ओल्देनबुर्ग ने वस्तुत: सोवियत संघ में प्राच्यविद्या के विकास का अनेक वर्षों का कार्यक्रम प्रस्तुत किया और यह दिखाया कि सोवियत सघ में प्राच्यविद्या

पश्चिम में इस विद्या से किन बातों में भिन्न है। "विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद अपने सारे काम को नई पटरी पर लाने, उसे देश के जीवन के समीप लाने और समाज के निर्माण से उसका संबंध जोड़ने के लिए जो विशाल कार्य कर रहे हैं, उसे ग़ौर से देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि विज्ञान अकादमी में प्राच्यविद्या नई दिशा में चल पड़ी है और चल रही है।" ओल्देनबुर्ग ने पुरानी, क्रांतिपूर्व, बुर्जुआ प्राच्यविद्या और नई प्राच्यविद्या के बीच भेद पर ज़ोर दिया। इससे पहले तो वैज्ञानिक जगत में इस विचार का प्रभुत्व था कि पश्चिम और पूरब दो अलग-अलग संसार हैं, इसके साथ ही शोधकर्त्ता पश्चिमी संस्कृति को प्राच्य संस्कृति से अधिक श्रेष्ठ सिद्ध करने की कोशिशें करते थे। ओल्देनबुर्ग का कहना था कि ऐसे विचार पश्चिमी यूरोपीय विद्वानों के यूरोप-केंद्रीयतावादी दृष्टिकोण को ही नहीं, बल्कि सर्वप्रथम पूरब के प्रति पश्चिमी शक्तियों की औपनिवेशिक नीति को प्रतिबिम्बित करते थे। उन्होंने लिखा: "क्रांति के बाद जातीय नीति के प्रति रुख में आये आमूल परिवर्तन से निस्सदेह विज्ञान अकादमी में प्राच्यविद्या का मूलभूत सिद्धांत भी बदलना ही था।" "'समाजवाद के निर्माण की सेवा मे विज्ञान' के नारे ने हमारे प्राच्यविदों को अपने पुराने उसूलों और विषयो पर पुनर्विचार करने पर बाध्य किया है," ओल्देनबुर्ग ने कहा। इस आह्वान का अनुसरण करते हुए उन्होंने इंगित किया कि नये पूरब का भी अध्ययन करना अत्यत आवश्यक है। वे यह मानते थे कि प्राचीन पूरब के अध्ययन के साथ-साथ अब "पूरब के सभी देशों की अर्थव्यवस्था के प्रश्न प्रथम स्थान पर हैं, जिनके ज्ञान के बिना इन देशों का सच्चा ज्ञान पाना अकल्पनीय है।" उन्होंने लिखा, "हमारे जातीय जनतंत्रों के जीवन ने लातिनीकरण और साहित्यिक भाषाओं के निर्माण* जैसे प्रश्न विशेषत: उग्र रूप से हमारे सम्मुख रखे हैं। सुविदित है कि पुराने शासक अलग-अलग जातियों के उभरने का हर तरह से विरोध करते थे और इस तरह से उन्होंने अनेक भाषाओं और साहित्यो के विकास में बाधा डाली थी।" ओल्देनबुर्ग ने क्रांति द्वारा सोवियत प्राच्यविदों से की जा रही अपेक्षाए इंगित की। पुरानी प्राच्यविद्या की एक कमी यह थी कि उसमें पूरब के सामाजिक-आर्थिक विकास की समस्याओं को, वर्ग संरचना के तथा आधुनिक और समकालिक इतिहास के प्रश्नों को नज़रंदाज़ किया जाता था। उन्होंने लिखा: "हमारे सोवियत प्राच्यविद तुरंत ही यह समझ गये कि यदि वे सचमुच समाजवाद के निर्माताओ की पक्तियों में शामिल होना चाहते हैं, तो सर्वप्रथम उन्हें समसामयिक पूरब का चहु-

---

* अक्तूबर क्रांति के बाद रूस की अनेक जातियो के लिए, जिनकी अपनी लिपि नही थी, लिपियां बनाई गईं, लिखित साहित्य बना और बोलचाल की भाषाओं के आधार पर साहित्यिक भाषाएं बनीं। इन जनगण को विश्व सभ्यता की उपलब्धियों के करीब लाने के ध्येय से इनकी भाषाओ के लिए पहले लातिनी और फिर रूसी वर्णमाला के आधार पर लिपियां बनाई गईं। – अनु०

मुखी अध्ययन शुरू करना चाहिए और अतीत के संबंध में सामाजिक-आर्थिक प्रश्नो के अध्ययन को सर्वोपरि महत्त्व देना चाहिए।"

ओल्देनबुर्ग प्राच्यविदो का आह्वान करते थे कि वे नई विधि अपनायें। मार्क्सवादी भारतविद्या के गठन में ओल्देनबुर्ग की भूमिका बहुत बड़ी थी।

ओल्देनबुर्ग ने लिखा : "क्रांति का वैज्ञानिक कार्य पर, इस कार्य के प्रति रुख पर और सबसे बड़ी बात, इस कार्य की **विधि** पर बहुत प्रभाव पड़ा। बेशक, इसका सर्वप्रथम एक सामान्य कारण है – क्रांति और समाजवाद के निर्माण की यह अपेक्षा कि विज्ञान जीवन के निकट आये।" 'विश्व विज्ञान में हमारे देश के विज्ञान की स्थिति' शीर्षक लेख में ओल्देनबुर्ग ने सगर्व यह इंगित किया कि "जीवन निर्माण की नई समझ के साथ घनिष्ठ सम्पर्क मे वैज्ञानिक कार्यों की विधि की दिशा में हमारा चिंतन असाधारणत: तीव्र गति मे कार्यरत है।" ओल्देनबुर्ग ने अनेक वार सोवियत सत्ता के वर्षों में सोवियत प्राच्यविदों और भारतविदो द्वारा प्राप्त भारी सफलताओं पर संतोष प्रकट किया। १६३३ में 'वैज्ञानिक सृजन पर कुछ विचार' शीर्षक लेख में उन्होंने ज़ोर देकर कहा : "यह असाधारणत: महत्त्वपूर्ण सृजनकार्य जिस विराट पैमाने पर आज हमारे यहां हो रहा है, उस पैमाने पर पहले कभी भी नही हुआ था।" ओल्देनबुर्ग के वैज्ञानिक कार्यकलापों को अंतर्राष्ट्रीय मान्यता मिली। पश्चिमी यूरोप के कई वैज्ञानिक समाजो के तथा "भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण" के वे मानद सदस्य चुने गये।

तीसरे-चौथे दशक मे तथा उसके बाद की अवधि में सोवियत संघ में भारतविद्या संबंधी शोधकार्यों का सच्चे अर्थों में भव्य परिमाण बहुत हद तक विलक्षण भारतविद, वैज्ञानिक कार्यों के प्रतिभावान संगठनकर्त्ता, सच्चे मानवतावादी और देशभक्त सेर्गेई ओल्देनबुर्ग के प्रयासों का ही सुफल था।

अध्याय ४

फ़्योदोर श्चेर्बात्स्की का वैज्ञानिक कार्यकलाप— बौद्ध धर्म के अध्ययन में एक नया युग

भारतविद्या मे और बौद्ध धर्म के अध्ययन में इवान मिनायेव की यशस्वी परम्पराओं को उनके शिष्य अकादमीशियन फ़्योदोर इप्पोलितोविच श्चेर्बात्स्की (१८६६-१९४२) ने जारी रखा। उनका वैज्ञानिक कार्यकलाप संसार भर में बौद्ध धर्म के अध्ययन के क्षेत्र में एक पूरे युग का प्रतिनिधित्व करता है। इस महान विद्वान का निधन हुए चालीस वर्ष से अधिक बीत गये हैं, लेकिन उनकी कृतियों का वैज्ञानिक महत्त्व आज भी कम नही हुआ है, इनके नये-नये संस्करण विभिन्न देशो मे निकलते रहते हैं, ससार के सभी भारतविद और बौद्ध धर्म के अध्येता उनका नाम गहरे आदर से लेते हैं। भारत मे भी श्चेर्बात्स्की की रचनाएं सुज्ञात हैं। डा० राजेन्द्रप्रसाद और सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने सोवियत संघ की अपनी यात्राओं के दौरान श्चेर्बात्स्की की सेवाओ की बडे आदर से चर्चा की थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से श्चेर्बात्स्की का पत्रव्यवहार था। राहुल सांकृत्यायन ने अपने द्वारा संपादित धर्मकीर्ति की रचना 'प्रमाणवार्त्तिक' श्चेर्बात्स्की को समर्पित की और सोवियत विद्वान को महानतम प्राच्यविद कहा। भारतीय दार्शनिक धर्मेद्रनाथ शास्त्री ने लिखा: "भारतीय दार्शनिक चितन के विकास मे अमूल्य योगदान के लिए हमें इस महान विद्वान का और सोवियत देश का, जो उनकी जन्मभूमि है, गहरा आभार मानना चाहिए।" श्चेर्बात्स्की की रचनाओ के अंग्रेज़ी सस्करण की विस्तृत भूमिका मे भारत के एक प्रमुख दार्शनिक देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने संसार मे भारतविद्या और बौद्ध धर्म के अध्ययन मे सोवियत विद्वान के अपार योगदान का उल्लेख करते हुए लिखा है: "श्चेर्बात्स्की का प्रमुख योगदान यह है कि उनकी रचनाओं के बाद से भारतीय दर्शन

फ्योदोर श्चेर्बात्स्की

की समस्याओ पर उचित स्तर पर विचार-विमर्श इन रचनाओ से परिचित हुए बिना करना असभव हो गया है।" श्चेर्बात्स्की के काग़ज़ात से पता चलता है कि भारत के अनेक जाने-माने विद्वानो जैसे कि डी० आर० भंडारकर, एस० एन० दासगुप्त, डी० कोशाम्बी, बी० सी० ला, जी० झा, रघुवीर, एन० दत्त, सुनीतिकुमार चटर्जी, आदि के साथ उनके सृजनात्मक सम्पर्क थे।

१८८४ मे पीटर्सबर्ग की उपनगरी त्सार्स्कोये सेलो में श्चेर्बात्स्की ने माध्यमिक शिक्षालय की पढ़ाई पूरी की। (यह रूस का एक सबसे प्रसिद्ध शिक्षालय था और अनेक महान रूसियो ने, जिनमें अलेक्सान्द्र पुश्किन भी थे, यहा शिक्षा पाई थी।) इसी वर्ष श्चेर्बात्स्की ने पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के इतिहास एवं वाङमीमांसा संकाय में दाखिला लिया। विश्वविद्यालय में पढ़ाई के आरंभ से ही भारतीय संस्कृति और तुलनात्मक भाषाविज्ञान उनके प्रिय विषय थे। उनके शिक्षकों मे मिनायेव और ओल्देनबुर्ग जैसे विलक्षण भारतविद थे, जिन्होंने अपने शिष्य को न केवल संस्कृत और प्राचीन भारतीय संस्कृति का अपना ज्ञान प्रदान किया, बल्कि उसके हृदय मे भारत की जनता के प्रति गहरा आदर तथा विज्ञान की सेवा के उच्च आदर्शों में निष्ठा भी जगाई। विश्वविद्यालय में ही एक भाषाविद, संस्कृति के इतिहासकार और दार्शनिक के नाते श्चेर्बात्स्की की असाधारण योग्यता प्रकट हुई और जब उन्होंने

अपना शोधप्रबंध 'भारोपीय भाषाओं मे श्वासद्वारीय स्वनों के दो वर्ग' लिखा, तो उसने इस क्षेत्र के बड़े-बड़े विद्वानों का ध्यान तुरंत ही आकर्षित कर लिया। श्चेर्बात्स्की को विश्वविद्यालय में ही प्रोफेसर पद की तैयारी के लिए रखा गया। १८८६ में उन्हें शोधकार्य के लिए वियेना भेजा गया, जहां उन दिनों जाने-माने आस्ट्रियाई भारतविद, प्राचीन भारतीय साहित्य, काव्यशास्त्र, शिलालेखों और पुरालेखों के अद्वितीय जानकार जार्ज ब्यूलर काम कर रहे थे। वियेना में श्चेर्बात्स्की ने बड़ी लगन और अध्यवसाय से काव्यशास्त्र, शिलालेखों और व्याकरण ग्रंथों (सर्वप्रथम पाणिनि के व्याकरण) का और शास्त्रों का अध्ययन किया, दार्शनिक ग्रंथों के विश्लेषण में जुटे। इन पाठों से बहुत हद तक युवा संस्कृतविद की वैज्ञानिक अभि-रुचियों का क्षेत्र निर्धारित हुआ, उनका यह विश्वास दृढ़ हुआ कि संस्कृत ग्रंथों का बारीकी से पाठ-विश्लेषण करके ही दार्शनिक रचनाओं का शोध करना चाहिए। वियेना में श्चेर्बात्स्की के मार्गदर्शक प्रो० ब्यूलर अनेक वर्षों तक भारत में रहे थे और यूरोपीय विश्वविद्यालयों में संस्कृत के अध्यापन में उन्होंने बहुत सी नई बातों का समावेश किया था, वे संस्कृत के अध्यापन की परम्परागत भारतीय विधियों की ओर विशेष ध्यान देते थे। प्राचीन भारतीय भाषा का श्रेष्ठ ज्ञान पाकर श्चेर्बात्स्की काव्यशास्त्र, तर्कशास्त्र तथा कालांतर में बौद्ध दर्शन के जटिलतम ग्रंथों का अध्ययन कर पाये।

ब्यूलर के पाठों का श्चेर्बात्स्की के पहले अनुसंधान कार्यों की दिशा पर प्रभाव पड़ा। १९०० में उन्होंने ऐतिहासिक काव्य 'हैहयेन्द्रचरित' का टीका और जर्मन अनुवाद सहित प्रकाशन किया, १९०२ में एक विशद लेख 'भारत में काव्यशास्त्र' छपाया। पुरालेखों में रुचि की बदौलत वे सातवीं सदी के सम्राट शिलादित्य के शिलालेखों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए।

भारत में काव्यशास्त्र के इतिहास पर श्चेर्बात्स्की की रचना विशेषतः महत्त्वपूर्ण थी। वे ध्वनि सिद्धांत का विवरण प्रस्तुत करने वाले पहले यूरोपीय विद्वानों में से थे। ('जन शिक्षा मंत्रालय की पत्रिका' में १९०२ में प्रकाशित यह लेख १९६२ में 'रूसी भारतविदों की संकलित रचनाएं' नामक ग्रंथ में पुनः मुद्रित हुआ और १९६९ में कलकत्ता में प्रकाशित ग्रंथ 'श्चेर्बात्स्की रचना संग्रह' में इस लेख का अंग्रेजी अनुवाद छपा। इस ग्रंथ के संपादक देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय थे और लेख के अनुवादक हर्ष गुप्त।) उल्लेखनीय है कि श्चेर्बात्स्की का यह लेख जर्मनी में भारतविद्या के एक संस्थापक हेर्मन जैकोबी की प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र पर विशेष रचना के प्रकाशित होने से पहले ही छप चुका था। श्चेर्बात्स्की ने उचित ही भारत में काव्य-शास्त्र के उच्च स्तर पर ज़ोर दिया। उन्होंने लिखा: "प्राचीन भारत में जो विद्याएं फल-फूल रही थीं, उनमें दर्शन, व्याकरण, खगोलविद्या और विधिशास्त्र के साथ-साथ काव्यशास्त्र को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था।" श्चेर्बात्स्की ने इस तथ्य का उल्लेख मात्र नहीं किया, बल्कि काव्यशास्त्र के इतिहास में प्रमुख चरणों का पता

लगाने का भी प्रयास किया। ऐसा करते हुए उन्होंने भारत के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विकास के तथ्यों को भी ध्यान मे रखा। बहुत हद तक यह एक नया दृष्टिकोण था, लेकिन यह रूसी भारतविदो के बुनियादी उसूलों को प्रतिविम्बित करता था, जो प्राचीन भारत के आत्मिक जीवन की विभिन्न परिघटनाओं का मूल्यांकन सुसंगत ऐतिहासिक दृष्टिकोण से करते थे। श्चेर्बात्स्की ने काव्यशास्त्र के विभिन्न पहलुओ – रस, शैली, आदि का विस्तार से विश्लेषण किया। काव्यशास्त्र को समर्पित श्चेर्बात्स्की की इस आरंभिक रचना में ही दर्शन के प्रति उनकी विशेष रुचि स्पष्टतः देखी जा सकती है। शीघ्र ही दर्शन उनके सारे कार्य का केंद्र बन गया। रस के प्रश्न पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा: "प्रत्येक रचनाकार भारत मे प्रचलित दार्शनिक मतों मे से किसी एक के संदर्भ में ही इस कठिन प्रश्न की विवेचना करता है।" इस लेख में श्चेर्बात्स्की की अनुसंधान विधि का एक और विशिष्ट लक्षण प्रतिबिम्बित हुआ – प्राचीन भारत में सारी संस्कृति के विकास की ही भांति, काव्यशास्त्र के विकास पर भी, उन्होंने केवल भारत की सीमाओ में नहीं, बल्कि अधिक व्यापक रूप मे – विश्व सभ्यता के विकास की पृष्ठभूमि में, सर्वप्रथम प्राचीन रोम और यूनान के विकास की पृष्ठभूमि में गौर किया। अपने लेख के अंत में श्चे-र्बात्स्की ने लिखा "भारत में काव्य के ऐतिहासिक विकास में हम यूनान और रोम मे इसके विकास से समानता के लक्षण भी पाते हैं और साथ ही विशाल मौलिकता के लक्षण भी, जिनसे यह काव्य हमारे ध्यान का उससे कम अधिकारी नहीं रहता, जितना कि अब तक हम यूनान और रोम के काव्य की ओर देते आये हैं।" श्चेर्बात्स्की का विचार स्पष्ट था भारत के काव्यशास्त्र की मौलिकता और विशिष्टता के बावजूद उसकी प्राचीन यूनान और रोम के काव्यशास्त्र मे प्ररूपात्मक दृष्टि से तुलना की जानी चाहिए और ऐसा दोनों के बीच समानता दिखाने के ध्येय से ही नहीं, बल्कि प्राचीन भारतीय संस्कृति की ओर ग़ौर से ध्यान दिलाने के लिए भी किया जाना चाहिए, क्योंकि पश्चिमी विद्वान इसका अध्ययन पर्याप्त गहराई मे नहीं कर रहे थे और साथ ही उनका अध्ययन नितांत पूर्वाग्रहपूर्ण होता था।

दर्शन में विशाल रुचि दिखाते हुए श्चेर्बात्स्की जैकोबी के साथ दार्शनिक ग्रंथो पर काम करने के लिए १८८९ में बोन गये। यहां न्यायशास्त्र के ग्रंथों की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। (बाद में उनकी अभिरुचियों के क्षेत्र में यह एक प्रमुख विषय बन गया)। पीटर्सबर्ग लौटकर वे विश्वविद्यालय में संस्कृत पढ़ाने लगे। साथ ही उन्होंने दर्शन और न्याय के ग्रंथों का गूढ़ अध्ययन भी जारी रखा और इन समस्या-ओ पर अपनी पहली बड़ी रचनाएं पूरी की। १९०२ मे उनकी आकार में अपेक्षाकृत छोटी, किंतु अत्यंत महत्त्वपूर्ण कृति 'प्राचीन भारत मे न्याय' प्रकाशित हुई। व० वसील्येव के विचारो को आगे बढ़ाते हुए श्चेर्बात्स्की ने बौद्ध धर्म के विकास मे तीन काल इंगित किये, लेकिन न्याय की ओर विशेष ध्यान दिया। उनका कहना था कि न्याय की ओर बौद्धो के उन्मुख होने का कारण केवल बौद्ध चिंतन का विकास ही

नही था, बल्कि भारत के राजनीतिक वातावरण मे आये परिवर्तन, सारे सांस्कृतिक, आत्मिक जीवन में आये परिवर्तन भी इसका कारण थे। उनके विचार मे गुप्त काल में, जब ब्राह्मण धर्म का उत्कर्ष हो रहा था और गुप्त सम्राट रूढिपंथी धाराओं को विशेष प्रश्रय दे रहे थे, तब बौद्धो ने ब्राह्मणों से वादानुवाद में न्याय का सहारा लिया। श्चेर्बात्स्की यह मानते थे कि न्याय और द्वंद्व वह अस्त्र थे, जिनसे बौद्ध दार्शनिको ने अपने विरोधियो का सामना किया। अपनी कृति में श्चेर्बात्स्की ने कतिपय पश्चिमी यूरोपीय विद्वानो के इस विचार का विरोध किया कि भारत में न्यायशास्त्र यूनानी तर्कशास्त्र पर आधारित था और उससे इसने कई लाक्षणिक विशिष्टताएं ग्रहण की। उन्होंने लिखा "भारत मे दर्शन और न्याय का विकास केवल भारतीय आधार पर ही हुआ और ये भारतीय चिंतन का स्वतत्र परिणाम थे।"

रोम मे हुई प्राच्यविदो की अतर्राष्ट्रीय कांग्रेस ने श्चेर्बात्स्की के वैज्ञानिक जीवन में वहुत बडी भूमिका अदा की। इस कांग्रेस में बौद्ध धर्म की उत्तरी शाखा तथा केद्रीय एशिया की सस्कृति के अध्ययन में अतर्राष्ट्रीय सहयोग करने का निर्णय किया गया था। इन योजनाओ से प्रेरित श्चेर्बात्स्की ने बड़े उत्साह से तिब्बती भाषा और साहित्य का अध्ययन जारी रखा, ताकि बौद्ध धर्म और बौद्ध दर्शन के विश्लेषण में इन स्रोतो का व्यापक उपयोग कर सकें। पूर्वी तुर्किस्तान में बौद्ध साहित्य के ग्रथों की नई खोजों से श्चेर्बात्स्की का यह विश्वास सुदृढ हुआ कि महायान की रचनाओं का अध्ययन तिब्बती अनुवादों का उपयोग करते हुए किया जाना चाहिए। उन्होंने अपने शिक्षक व० वसील्येव के दृष्टिकोण का सक्रिय समर्थन किया। वसील्येव बुर्नूफ़ के साथ अपने वाद-विवाद में सदा इस बात पर ज़ोर देते रहे थे कि "पाली धारा" के प्रतिनिधियों की कृतियों का मूल्यांकन करते समय आलोचनात्मक रुख अपनाना और साथ ही भारतीय स्रोतो के अलावा तिब्बती, चीनी व मगोल स्रोतों का भी व्यापक उपयोग करना अनिवार्य है।

श्चेर्बात्स्की की दो खण्डों मे प्रकाशित पुस्तक 'उत्तरकालीन बौद्ध विद्वानों की शिक्षा में विज्ञान (संज्ञान) और न्याय सिद्धांत' ने श्चेर्बात्स्की को अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्रदान की। १९०३ मे छपे पहले खण्ड में बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति (सातवीं सदी ई०) की संस्कृत में लिखी रचना 'न्यायविंदु' का तथा धर्मोत्तर कृत 'न्याय-विंदुटीका' का अनुवाद शामिल था। १९०९ में छपे दूसरे खण्ड का अपना अनुसं-धानात्मक महत्त्व भी था। श्चेर्बात्स्की की इस कृति के उच्च मूल्यांकन का पता इस तथ्य से भी लगता है कि इसका तुरंत ही जर्मन और फ़ांसीसी भाषाओं में अनुवाद हो गया।

श्चेर्बात्स्की की इस कृति का महत्त्व बहुत अधिक था, ख़ास तौर पर यदि हम इस बात को ध्यान में रखे कि यह ऐसे समय में लिखी गई, जब भारतीय न्यायशास्त्र का अध्ययन शुरू ही हो रहा था और पश्चिमी यूरोप में प्रायः प्राचीन भारत की

सास्कृतिक धरोहर का एकतरफ़ा मूल्यांकन होता था। अनेक विद्वान तब हेगेल के इस विचार को मानते थे कि पूरब के दर्शन को "दर्शन के इतिहास में स्थान नही मिलना चाहिए"। इस तरह श्चेर्बात्स्की की कृति भारतीय दार्शनिक चिंतन के अध्ययन में यूरोप-केंद्रीयतावादी दृष्टिकोण के विरुद्ध भी लक्षित थी, हालांकि उन्होंने स्वय भारतीय दर्शन की यूरोपीय दर्शन से (उन दिनो यूरोप में विशेषत: प्रचलित कांट के दर्शन से भी) तुलना करने की चेष्टा की थी। लेकिन श्चेर्बात्स्की ने कांट से तुलना यह दिखाने के लिए की थी कि प्राचीन भारत के दार्शनिको द्वारा, जिनमें प्रसिद्ध बौद्ध न्याय-दार्शनिक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति भी हैं, व्यक्त किये गये विचार बहुत बाद में दूसरे ही ऐतिहासिक-सांस्कृतिक परिवेश में आधुनिक युग के पश्चिमी यूरोपीय दार्शनिको द्वारा प्रकट किये गये। यही नहीं, श्चेर्बात्स्की भारतीय चिंतकों और यूरोपीय दार्शनिकों के विचारों मे सैद्धांतिक भेद उजागर करने को भी बहुत उत्सुक थे। अपनी पुस्तक में उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया कि "बौद्ध दार्शनिको की रचनाओं में ऐंद्रिय ज्ञान और चिंतन की प्रत्यास्थापना का जो स्वरूप है, वह सारे कांट-पूर्व (पश्चिमी) दर्शन मे पायी जाने वाली प्रत्यास्थापना से भिन्न है।" कांट के दर्शन की चर्चा करते हुए भी श्चेर्बात्स्की ने इस बात पर जोर दिया कि पाठक को "उन सब बातों से बचना चाहिए, जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि हम धर्मकीर्ति से कांट की समानता के प्रश्न को पूर्वनिश्चित करने की इच्छा रखते हैं।" (भारतीय और यूरोपीय दार्शनिक परम्पराओं की अधिक विस्तार से तुलना श्चेर्बात्स्की ने 'बौद्ध न्याय' नामक पुस्तक में की, जो उन्होंने बहुत बाद में लिखी।) अपने ग्रंथ में श्चेर्बात्स्की ने जर्मन दार्शनिक शोपनहावर के दृष्टिकोण का भी विरोध किया। श्चेर्बात्स्की के शब्दों में शोपनहावर को "भ्रम था कि उन्हें जो प्रबोध हुआ है, वही भारतीय मनीषियों को भी हुआ था।"

श्चेर्बात्स्की को यह पता लगाने का श्रेय है कि धर्मकीर्ति की रचना में न्याय की व्याख्या विज्ञान-सिद्धांत के प्रसंग में की गई है। इस तथ्य से वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारतीय दार्शनिक चिंतन की सभी धाराओं पर न्याय का प्रभाव पड़ा। उन्होंने लिखा: "भारतीय दर्शन के इतिहास में धर्मकीर्ति के महत्त्व को पूर्णत: प्रकट करने का अर्थ है भारतीय दर्शन का इतिहास लिखना।" यह बात बहुत मानी रखती है कि इस आरंभिक कृति में ही आत्मिक जीवन की प्रक्रियाओं के अध्ययन के प्रति श्चेर्बात्स्की का ऐतिहासिक और सामाजिक रुख पूरी तरह उजागर हुआ। भारतीय दर्शन की विभिन्न धाराओ के बीच संघर्ष के आधार में वे विचारो का अनुक्रमिक विकास और विखडन नहीं देखते थे, विभिन्न अवधारणाओं की प्रत्यास्थापना नहीं देखते थे, बल्कि इन विचारों को व्यक्त करने वालो का संघर्ष, सामाजिक वर्गो का टकराव देखते थे। उन्होंने लिखा: "दार्शनिक संघर्ष के पीछे, निस्संदेह, लोगों का, इन विचारों के वाहक लोगों का जीवन संघर्ष था।" श्चेर्बात्स्की की कृति में एक और जो महत्त्वपूर्ण विचार सर्वत्र पाया जाता है, वह इस प्रस्थापना की पुष्टि

में है कि भारतीय दर्शन मे विभिन्न मतो के विवाद, वितंडा और सघर्ष दो मुख्य धाराओं – यथार्थवादी (दूसरे शब्दों में भौतिकवादी) और प्रत्ययवादी धाराओ – का संघर्ष प्रतिबिम्बित करते हैं। श्चेर्बात्स्की ने जोर देकर कहा "इतिहासकार गहरी रुचि से विचारों के क्षेत्र मे इस उग्र विवाद के उतार-चढ़ावों, मोड़ों-घुमावों पर नज़र रखता है, क्योंकि वह इनमे शाश्वत विचारो का, प्रत्ययवाद के साथ यथार्थ-वाद का संघर्ष देखता है।" उल्लेखनीय है कि अपने वैज्ञानिक कार्य के आरंभिक काल में ही श्चेर्बात्स्की ने भारतीय दर्शन मे भौतिकवादी प्रवृत्तियों की ओर विशेष ध्यान दिया और फिर यह विषय इस विद्वान के लिए गंभीर शोध का विषय बना। श्चेर्बात्स्की ने बौद्ध विज्ञान-सिद्धांत का इसलिए भी उच्च मूल्यांकन किया कि बौद्ध नैयायिकों ने द्वन्द्ववाद के तत्व निरूपित किये। सचमुच ही यह बौद्ध दार्शनिको की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी और यह अकारण ही नही कि एंगेल्स ने भी बौद्धो के "स्वतः-स्फूर्त द्वंद्वात्मक चितन" की चर्चा की थी।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के अपने अनुपम ज्ञान के बल पर श्चेर्बात्स्की धर्मकीर्ति की रचना का अध्ययन करते हुए ऐसे दूसरे लक्षणो का भी पता लगा सके, जो सारे प्राचीन भारत मे आध्यात्मिक जीवन के विकास से भी सबंध रखते हैं। उनका यह निष्कर्ष विशेषत उल्लेखनीय है कि दार्शनिक अवधारणाओं और धार्मिक शिक्षाओं मे मेल नही बिठाया जा सकता है, हालांकि श्चेर्बात्स्की भली-भांति यह समझते थे कि प्राचीन भारत की विशिष्ट परिस्थितियों मे दार्शनिको और धार्मिक उपदेशकों के बहुत से विचार प्राय परस्पर सबंधित होते थे और समान रूपों मे व्यक्त होते थे। श्चेर्बात्स्की ने लिखा "वैज्ञानिक दर्शन का, विशेषतः सज्ञान के वैज्ञानिक सिद्धात पर आधारित दर्शन का धार्मिक विश्वासो के साथ कोई मेल नही हो सकता।" इस अत्यत महत्त्वपूर्ण उसूल के आधार पर श्चेर्बात्स्की न केवल प्राचीन भारत में दर्शन और धर्म के विकास के समान क्रम की विशिष्टताओ को ही प्रकाश में लाये, बल्कि उन्होंने यह इंगित किया कि भारत और यूरोप मे आत्मिक जीवन की इन परिघटनाओं के परस्पर सबंध का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। उन्होंने कहा कि "भारतीय धर्मों में, बौद्ध धर्म के पूर्ववर्ती धर्मों में भी धार्मिक विश्वासो और दार्शनिक चिंतन के परस्पर संबधो के बारे में दृष्टिकोण वह नही था, जो यूरोप मे था।" प्राचीन भारतीय दार्शनिक ग्रथो के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर निकाला गया श्चेर्बात्स्की का यह निष्कर्ष केवल भारतविद्या के लिए ही नहीं, बल्कि विश्व दार्शनिक चिंतन मे संबधित समस्याओ के कही अधिक बड़े दायरे के लिए भी महत्त्वपूर्ण था। अनेक पश्चिमी यूरोपीय विद्वान अपने उन निष्कर्षों को, जिन पर वे प्राचीन यूनानी दार्शनिकों की रचनाओं का अध्ययन करते हुए पहुचे थे, यंत्रवत भारत पर लागू करते थे, यहां तक कि कुछ तो प्राचीन भारतीय दार्शनिकों के विचारों और अवधारणाओं में कोई मौलिकता स्वीकार करने को तैयार नही थे। इसके परले छोर पर प्राचीन भारतीय संस्कृति के वे विशेषज्ञ थे (कुछ भारतीय विद्वानों समेत), जो यह कहते

थे कि भारत मे दर्शन और धर्म का पूर्ण विलय हुआ, दोनो पूर्णत समरूप हो गये, कि भारतीय दार्शनिक धाराओं मे रहस्यवाद और अध्यात्मवाद सर्वव्यापी थे। हम देखते हैं कि रूसी विद्वान का रुख सिद्धांतत भिन्न था और प्राचीन भारत के सास्कृतिक विकास का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता था। भारत मे दर्शन और धर्म के सहअस्तित्व की विशिष्टता के बारे में श्चेर्बात्स्की के निष्कर्ष के महत्त्व पर आज भी सोवियत भारतविद ज़ोर देते हैं। उदाहरणत , प्रो० अ० लितमन 'भारतीय दर्शन के अध्ययन मे श्चेर्बात्स्की का योगदान' नामक अपने लेख मे कहते हैं "यह निष्कर्ष भारतीय दर्शन के अध्ययन की विधि के लिए नितांत महत्त्वपूर्ण है, क्योकि इसकी यह विशिष्टता आधुनिक और समकालिक युग की दार्शनिक धाराओं में भी पाई जाती है।"

बीसवी सदी के बिल्कुल आरंभ में ही प्रकाशित श्चेर्बात्स्की की इस रचना की बदौलत भारतविद और बौद्ध धर्म के अध्येता तथा आम पाठक भी पहली बार प्राचीन भारतीय नैयायिको की उपलब्धि से, भारत के विलक्षण चितक दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सृजन से परिचित हो सके। प्राचीन भारत के नये दार्शनिक ग्रथो को वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में लाने के महत्त्व को समझते हुए श्चेर्बात्स्की इस बात का आह्वान करते थे कि इस ध्येय से दार्शनिक और वाङ्मीमासक मिलकर काम करें। वे समझते थे कि प्राचीन भारतीय दार्शनिकों की रचनाओं के सस्कृत और तिब्बती भाषाओ से अनुवाद करके ही विश्व संस्कृति के विकास मे प्राचीन भारत के अपार योगदान का पूरी तरह से पता लगाया जा सकेगा, और इस मिथ्या कथन का खडन किया जा सकेगा कि प्राचीन यूनानी और रोमन चितन ही प्राचीन दर्शन के विचारो, खोजो और उपलब्धियो की सारी विविधता निर्धारित करता था। श्चेर्बात्स्की ने लिखा "हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि दार्शनिकों और वाङ्मीमासको के सयुक्त परिश्रम से ही प्राचीन बौद्ध साहित्य में छिपी दार्शनिक चिंतन की अथाह सम्पदा की देर-सवेर इस हद तक गवेषणा करनी सभव होगी कि इसे आधुनिक शिक्षा का अग बनाया जा सके और दिङ्नाग व धर्मकीर्ति के नाम हमारे लिए उतने ही परिचित व प्रिय हो सकें, जितने प्लेटो और अरस्तू के या काट और शोपनहावर के नाम हैं।" बौद्ध संस्कृत ग्रथों और उनके तिब्बती अनुवादो पर गहन कार्य के फलस्वरूप श्चेर्बात्स्की इस निष्कर्ष पर पहुचे कि उन्हें तिब्बती साहित्य और मौखिक तिब्बती परम्परा से परिचित होने के लिए, केंद्रीय एशिया में भारत के सांस्कृतिक प्रभाव के प्रश्न का अध्ययन करने के लिए मगोलिया तथा बाइकाल-पार जाना चाहिए। ये इलाक़े "जीवित बौद्ध धर्म" और हस्तलिखित ग्रथों, सर्वप्रथम तिब्बती ग्रथों के अध्ययन के लिए अनुपम प्रयोगशाला थे। १६०५ में 'मध्य और पूर्वी एशिया के अध्ययन की रूसी समिति' की ओर से श्चेर्बात्स्की मगोलिया गये, यहां उन्होंने बौद्ध मठों में रखे ग्रथो का अध्ययन किया, विरल हस्तलिखित ग्रथ देखे, तिब्बती भाषा मे बोलचाल का अभ्यास किया। उन्हे वहा भारतीय दर्शन के जानकारो से

मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उन्होंने तिब्बती से सस्कृत मे अनुवाद करने का अभ्यास किया। उन्होंने लिखा "मगोलिया जीता-जागता भारत है।" श्चेर्बात्स्की ने तिब्वत के भी वैज्ञानिक अभियान पर जाने की योजना बनाई, लेकिन इसे कार्यान्वित नहीं कर पाये – ज़ारशाही सरकार ने उन्हें अनुमति नही दी।

तिब्बती साहित्य और भाषा का अध्ययन जारी रखने के लिए श्चेर्बात्स्की बाइ-काल-पार इलाके में गये। यहा वे लामाओ से मिले, मठो मे गये, यहां बनी रही भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओ की उन्होंने खोज की। १६०७ मे ओल्देनबुर्ग के नाम अपने पत्र मे उन्होंने भारतविदों के लिए इस क्षेत्र की सस्कृति के अध्ययन के महत्त्व पर खास ज़ोर दिया। "यहा, आगा में" (बुर्यातिया का आगा मठ, जहां आज भी धार्मिक अनुष्ठान होते हैं – ले०) "जो कुछ होता है, वह सभवत उस की पूरी-पूरी नकल है, जो सातवीं सदी मे नालदा में होता था। भारत का प्रभाव लोक साहित्य पर भी छा गया है . साहित्य के साथ-साथ यहां हम उस जीवन को भी देख सकते हैं, जिसका अनुमान हमे साहित्य मे लगाना होता। इस आधार पर हमें न्याय और दर्शन के अलावा कालचक्र और योग प्रणालियों का भी अध्ययन करना है।"

श्चेर्बात्स्की अपने देश मे भारत और बौद्ध धर्म के अध्ययन के भविष्य के बारे में भी सोचते थे, वे रूस मे इन विषयों के विकास के लिए प्रयत्न करते थे। विज्ञान अकादमी के स्थायी सचिव ओल्देनबुर्ग के नाम पत्र मे उन्होंने लिखा "पता नहीं, शायद मुझमे एक सकीर्ण विशेषज्ञ बोल रहा है, लेकिन मै सोचता हूं कि इर्कूत्स्क में बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए सस्कृत विभाग खोला जाना नितांत वांछनीय है।" इसी पत्र में श्चेर्बात्स्की ने उस विषय की भी चर्चा की, जो उन्हे सदा उद्विग्न करता था। यह था – भारत की सांस्कृतिक धरोहर का बहुमुखी अध्ययन, ताकि उन दिनों के वैज्ञानिक जगत में प्रचलित इस पुराने भ्रम को दूर किया जा सके कि प्राचीन यूनान और रोम ही मानवजाति की प्राचीन सस्कृति का एकमात्र जन्म स्थल थे। "सारे बौद्ध साहित्य का विश्लेषण करके हम ऐसी वाङ्मीमांसा बनायेंगे, जो अपेक्षाकृत नई होने के नाते यूनानी-लातिनी वाङ्मीमासा से अधिक श्रेष्ठ होगी, और हम भारत को यूनान व रोम से ऊचा उठायेंगे, जिसका उसे पूरा अधिकार है।"

श्चेर्बात्स्की की मंगोलिया और बाइकाल-पार की यात्रा ने उनके सृजन-कार्य में बहुत बड़ी भूमिका अदा की, लेकिन भारत की उनकी १६१० की यात्रा का महत्त्व इससे भी अधिक था। यहां वे साल भर से कम ही रहे, लेकिन इस अल्पावधि में ही बौद्ध दर्शन के इतिहास पर अपने कार्य के लिए अत्यत मूल्यवान सामग्री जमा कर ली, बौद्ध धर्म की जन्म भूमि में प्राचीन स्मारक देखे, जो वैज्ञानिक समस्याएं उन्हें उद्विग्न कर रही थीं, उन पर नये सिरे से चितन-मनन किया। भारत यात्रा की अपनी रिपोर्ट में इस यात्रा के कार्यभारों के बारे मे उन्होंने लिखा "भारत की यात्रा का मेरा ध्येय इस देश से सामान्यत परिचित होने के अलावा सर्वप्रथम

यह था कि मैं बौद्ध वैज्ञानिक साहित्य के अवशेष स्वयं बौद्ध ग्रथों में भी तथा ब्राह्मण और जैन ग्रथों में भी खोजू, क्योकि इन दूसरे ग्रथों में बौद्ध सभ्यता के इतिहास मे बौद्ध उत्कर्ष का युग (५वी-१०वी सदी ई०) किसी न किसी रूप में प्रतिविम्बित हुआ है। इसके साथ ही मैं यह भी जानना चाहता था कि स्वयं भारत में संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन की, विशेषत साहित्य की उन शाखाओं के अध्ययन की स्थिति क्या है, जिनकी व्याख्या करने में यूरोपीय विद्वान अब तक असमर्थ रहे है और जो उनके लिए कमोबेश रहस्य ही रहे हैं।" भारतविद्या और बौद्ध अध्ययन के क्षेत्र में श्चेर्वात्स्की अब तक अपनी प्रतिष्ठा बना चुके थे, मगर यहां उन्होंने एक तरह से नये सिरे से दार्शनिक ग्रथों के अध्ययन की परम्परागत प्रणाली को देखा, समझा, आत्मसात किया। संस्कृत के अनुपम ज्ञान की बदौलत वे स्थानीय पडितो के साथ विभिन्न दार्शनिक धाराओं और मतो की जटिलतम समस्याओं पर विचार कर सके। उनके शब्दों मे, वे प्रभात से संध्या तक वाद-विवाद मे ही समय बिताते थे। उन्होंने न्याय और मीमांसा ग्रंथों का अध्ययन किया, पांडित्य के सुविख्यात केंद्रों – बनारस, पूना, कलकत्ता, बम्बई, आदि – में गये। अप्रैल १९१० में ओल्देनबुर्ग को लिखे श्चेर्बात्स्की के पत्र से यह साफ़ पता चलता है कि कितनी लगन और अध्यवसाय से उन्होंने संस्कृत का और दार्शनिक शास्त्रों का अध्ययन किया "यूरोप में मै यह समझता था कि मुझे न्याय का बुरा ज्ञान नही है, लेकिन यहां आकर देखा कि सब कुछ फिर से सीखना चाहिए, कि मीमांसा के ज्ञान के बिना न्याय का अच्छा ज्ञान पाना असभव है। मैंने तुरत ही मिथिला के दो पडितों को पकड़ लिया, सच्चे अर्थो में वे शास्त्री हैं, उनमें एक संन्यासी है। उनकी सहायता से न्याय की पूरी शिक्षा पा रहा हूं, वैसे ही जैसे स्वयं शास्त्री पढ़ाते हैं। ये बिल्कुल प्राचीन रूप के सच्चे हिंदू गुरु हैं, बेशक, अंग्रेज़ी का एक शब्द भी ये नहीं जानते। ... मैं यह मानता था कि मेरा प्रमुख ध्येय शास्त्रों का अध्ययन है, भारत-दर्शन गौण ही है, सो अपने शास्त्रियों से पूर्ण लाभ उठाने के लिए मैंने सब कुछ करने का निश्चय किया है। शीघ्र ही चार महीने होने वाले हैं – प्रति दिन १६ घंटे मैं न्याय का अध्ययन कर रहा हू और अभी भी यह नहीं कह सकता कि इसमें गहरा पैठ रहा हू। .. न्याय पर पुस्तको और हस्तलिखित ग्रथों का अच्छा खासा संग्रह मेरे पास बन गया है।"

अपने शिक्षक मिनायेव के परामर्श पर श्चेर्बात्स्की ने भारत में उन रचनाओ के मूल संस्कृत पाठ ढूंढ़ने की ओर विशेष ध्यान दिया, जिनसे तिब्बती, चीनी और मगोल भाषाओ में अनुवाद किये गये थे। उन्होंने जैन ग्रथो का भी विस्तार से अध्ययन किया, ताकि भारत की धार्मिक-दार्शनिक धाराओं के विकास के सामान्य क्रम का अधिक पूर्ण चित्र पा सकें। श्चेर्बात्स्की ने लिखा कि आर० जी० भडारकर से भेंट में उन्होंने जैन धर्म और दर्शन की समस्याओ पर विचार-विमर्श किया। मिनायेव की ही भांति श्चेर्बात्स्की दार्जिलिंग भी गये, जहां तिब्बती संस्कृति के जानकारो

से मिले और हस्तलिखित तिब्बती ग्रंथ देखे। उन्होंने दलाईलामा से, जिन्होंने उस समय भारत में शरण ली हुई थी, भेंट की और तिब्बत आने का निमंत्रण पाया, ताकि वहां संस्कृत और तिब्बती ग्रंथो का अध्ययन कर सकें, लेकिन चीनी सरकार ने रूसी विद्वान को वहां जाने की अनुमति नही दी।

कुल जमा श्चेर्बात्स्की का भारत प्रवास अत्यंत फलप्रद रहा, उन्हें भारतीय दर्शन के इतिहास के बारे में नई जानकारी मिली। वे एक तरह से भारतीय यथार्थ को अंदर से देख और अनुभव कर सके, अपने पहले के दृष्टिकोणो में वे संशोधन और पुनर्विचार कर सके। श्चेर्बात्स्की ने भारत के प्रमुख संस्कृतविदो, दार्शनिकों और बौद्ध धर्म के जानकारो से घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लिये, और फिर उनसे पत्र-व्यवहार करते हुए बरसो तक अच्छे संबंध बनाये रखे। संस्कृत का उन्हें अद्भुत ज्ञान था, पंडितों के साथ उन्होंने दार्शनिक सिद्धातो के जटिलतम प्रश्नों पर संस्कृत में शास्त्रार्थ किया। अपने चहुंमुखी ज्ञान के बल पर उन्होंने भारतीय विद्वानों का गहरा आदर पा लिया। कलकत्ता में पडितो ने उन्हें तर्कशास्त्र में पांडित्य के लिए "तर्कभूषण" की उपाधि से विभूषित किया।

नये ज्ञान से समृद्ध होकर श्चेर्बात्स्की स्वदेश लौटे और पूरी तरह अपने वैज्ञानिक कार्य में जुट गये। साथ ही विश्वविद्यालय में भारतविद्या संबंधी विषयों का अध्यापन भी वे कर रहे थे।

पहले की ही भांति बौद्ध धर्म व दर्शन उनकी वैज्ञानिक अभिरुचियों का केंद्र था। इस काल में उन्होंने प्रमुखतम बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु के सृजन की ओर विशेष ध्यान दिया, जो परम्परानुसार "द्वितीय बुद्ध" माने जाते थे। बौद्ध अध्ययनों के लिए वसुवधु के ग्रथ 'अभिधर्मकोश' के अपार महत्त्व को समझते हुए श्चेर्बात्स्की ने इस ग्रथ के विभिन्न पाठभेदो के अध्ययन और शोधन हेतु अंतर्राष्ट्रीय परियोजना तैयार करने के लिए क़दम उठाये। ए० स्टेन द्वारा पूर्वी तुर्किस्तान में 'अभिधर्मकोश' के उइगूर पाठभेद की खोज किये जाने के बाद सुप्रसिद्ध फ़्रांसीसी भारतविद एस० लेवी इस पाठभेद पर कार्य करने लगे थे। १९१२ में पेरिस में श्चेर्बात्स्की लेवी से मिले और उनके साथ वसुवधु के ग्रंथ के अध्ययन के लिए अंतर्राष्ट्रीय परियोजना पर विचार किया। इस कार्य मे बेल्जियम के दे ला वाले-पुसे और इंगलैंड के डेनिसन रॉस्स, जिनसे श्चेर्बात्स्की भारत में मिले थे, तथा जापान के वोगिहारा जैसे विद्वान भी शामिल किये गये। इस परियोजना का प्रमुख ध्येय था उन दिनों तक ज्ञात 'अभिधर्मकोश' के सभी पाठभेदों का टीका सहित प्रकाशन करना। "इस तरह रूसी विद्वान की पहलक़दमी पर शुरू किये गये और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर किये जा रहे इस कार्य से बौद्ध दर्शन और बौद्ध धर्म के योजनाबद्ध अध्ययन के लिए सुदृढ़ आधार बना," ओल्देनबुर्ग ने लिखा। यहां यह भी बता दें कि श्चेर्बात्स्की की इन योजनाओं को आजकल सोवियत विद्वान सफलतापूर्वक क्रियान्वित कर रहे हैं। हाल ही में उनके एक शिष्य बोरिस सेमिचोव ने मिख़ाईल ब्रियान्स्की के साथ मिलकर

'अभिधर्मकोश' का तिब्बती रूपांतर और इसका रूसी अनुवाद प्रकाशित किया है, जबकि लेनिनग्राद के युवा बौद्ध धर्म अध्येता वलेरी रुदोई ने 'अभिधर्मकोश' के मूल संस्कृत पाठ और तिब्बती तथा चीनी अनुवादो के आधार पर इस ग्रंथ के पारिभाषिक शब्दावली संबंधी विश्लेषण पर शोधप्रबंध लिखा है, जिसका मंडन करने पर उन्हे पी-एच० डी० की डिग्री मिली है।

सोवियत सत्ता की स्थापना के बाद श्चेर्बात्स्की के सृजनात्मक कार्यकलापों का गुणात्मक दृष्टि से नया चरण शुरू हुआ। १९१८ मे वे विज्ञान अकादमी के सदस्य (अकादमीशियन) निर्वाचित हुए। ओल्देनबुर्ग के साथ श्चेर्बात्स्की ने सोवियत प्राच्यविद्या के निर्माण में सक्रिय भाग लिया, १९२८ मे वे बौद्ध संस्कृति संस्थान के डायरेक्टर नियुक्त हुए। १९२० से बौद्ध धर्म पर श्चेर्बात्स्की के प्रमुख ग्रंथ प्रकाशित होने लगे, वे अपने समय के सबसे बड़े बौद्ध धर्म अध्येता बन गये। श्चेर्बात्स्की को लदन की रायल एशियेटिक सोसाइटी, पेरिस के एशिया समाज, बर्लिन के प्राच्यविद समाज, आदि का मानद सदस्य होने का सम्मान मिला।

श्चेर्बात्स्की ने १९वी सदी की वैज्ञानिक परम्पराओं में शिक्षा पाई थी, लेकिन वे उनके ही बदी नहीं बने रहे। उन्होंने अपने सृजनात्मक कार्य में उन वैज्ञानिक खोजों को भी प्रतिबिम्बित किया, जो बीसवीं सदी का तीसरा दशक अपने साथ लाया था। उन्होंने न केवल दर्शन के अद्वितीय ज्ञान का परिचय दिया, बल्कि मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र और परिशुद्ध विज्ञानों के क्षेत्र में नई प्रवृत्तियों में भी गहरी रुचि दिखाई। इसके फलस्वरूप उनका उन यूरोपीय और भारतीय विद्वानों जैसा हश्र नही हुआ, जो परम्परागत रुख के बंधनों को नहीं तोड़ सके थे। श्चेर्बात्स्की ने भारतीय दर्शन और तर्कशास्त्र के विकास को विश्व दर्शन के दृष्टिकोण से, २०वी सदी के मानव की नजरों से देखा, बौद्ध चिंतन की जटिल प्रणाली को यूरोपीय विद्या की परिचित भाषा में रूपांतरित किया। इस प्रकार यह एक नया दृष्टिकोण, नया रुख था, जो न तो भारतीय जगत और उसके दर्शन को पश्चिम के विरुद्ध रखने के और न ही उन्हें कृत्रिम से निकट लाने के विचार से प्रेरित था।

श्चेर्बात्स्की बौद्ध दर्शन और न्यायशास्त्र के अध्ययन के प्रति यह नया रुख अपनाने वाले ससार के पहले अध्येताओं में थे। वे बौद्ध धर्म का एक व्यापक ऐतिहासिक-सास्कृतिक परिघटना के रूप में अध्ययन करने को बहुत महत्त्वपूर्ण समझते थे, ऐसी परिघटना के रूप में, जो अपनी मौलिकता में अद्वितीय थी, बहुमुखी और जटिल थी, जिसका एशिया के अनेक जनगण के विकास पर अपार प्रभाव पड़ा। उनके शब्दों में, बौद्ध धर्म "अपने साथ भारतीय विद्या की दस शताब्दियों की सभी उपलब्धियां लिये था, इनमें भारतीय विद्या के स्वर्ण युग की वे तीन शताब्दियां भी थी, जब भारत मे विज्ञान, साहित्य और शिल्पों का पूरब के तब तक के इतिहास में अभूतपूर्व विकास हुआ था।"

श्चेर्बात्स्की के लिए बौद्ध शिक्षा केवल नैतिक, धार्मिक या दार्शनिक शिक्षा नही थी, ऐसी शिक्षा नही थी, जो अपने इतिहास के विभिन्न चरणों मे और विभिन्न देशों में सदा एक-सी और जड़ रही। श्चेर्बात्स्की इस बात पर जोर देते थे कि बौद्ध शिक्षा का, उसके प्रवर्गो और विचारों का निरंतर विकास होता रहा, कि उसकी प्रत्येक शाखा, मत और सप्रदाय की अपनी विशिष्टता थी। साथ ही बौद्ध धर्म में कुछ ऐसे निश्चित विचार भी फैले थे, जो उसके सभी रूपों में एक समान हैं। उन्होंने लिखा: "इन समान आधारों को न देखकर कुछ पल्लवग्राही प्रेक्षकों ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि उत्तरी देशो में बौद्ध धर्म का 'अपकर्ष' हुआ और यहां यह बिल्कुल दूसरा ही धर्म बन गया है।" इसलिए वे यह आग्रह करते थे कि "बौद्ध धर्म मे और उन विभिन्न सिद्धांतो में, जो अपनी भावना में बौद्ध धर्म के लिए पराये हैं, उन रहस्यवादी और यहां तक कि बर्बर सिद्धांतो में, जो समय के साथ बौद्ध धर्म के सम्पर्क मे आते रहे और उसमें जुड़ते रहे, भेद करना चाहिए।"

श्चेर्बात्स्की की एक उल्लेखनीय विशेषता यह थी कि वे बौद्ध धर्म को बाहर से या अनेक पश्चिमी अध्येताओ की भाति ईसाई विचारधारा के दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि अदर से, स्वयं बौद्ध परम्परा के अंतर्गत बनी प्रणालियो को आधार बनाकर ही देखने की चेष्टा करते थे। यह अकारण ही नही कि पूरब और पश्चिम के अनेक विद्वान श्चेर्बात्स्की को बौद्ध धर्म का महान अध्येता ही नही, बल्कि स्वय बौद्ध दर्शन के इतिहास में भी एक बहुत बड़ी हस्ती मानते हैं।

बीसवी सदी के आरभ मे भी यूरोप के विद्वज्जगत में बौद्ध धर्म को ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा एक गौण परिघटना माना जाता था। श्चेर्बात्स्की ने इस परम्परागत और भ्रांतिपूर्ण दृष्टिकोण को आमूल बदला। "हम गहरे संतोष के साथ यह कह सकते हैं कि फ्योदोर श्चेर्बात्स्की की बौद्ध दर्शन संबंधी रचनाओं का प्रभाव उनके शिक्षकों प्रो० व्यूलर और प्रो० जैकोबी पर भी पड़ा है। इसमे कोई संदेह नही कि श्चेर्बात्स्की ने जो नई वैज्ञानिक सामग्री खोजकर उस पर शोधकार्य किया, उसके प्रभाव से उनके शिक्षकों ने बौद्ध धर्म को भारतीय संस्कृति में एक गौण परिघटना मानने का अपना 'ब्राह्मणवादी' रुख़ काफ़ी हद तक बदल डाला। उन्हें और दूसरे भारतविदो को यह मानना पड़ा कि भारतीय संस्कृति में, उसके दर्शन में बौद्ध धर्म ने अद्वितीय स्थान ग्रहण किया और बौद्ध धर्म के बाद ब्राह्मण दर्शन दूसरा ही हो गया – उस पर बौद्ध धर्म का इतना गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा," सुविख्यात सोवियत प्राच्यविद अकादमीशियन सेर्गेई ओल्देनबुर्ग, पावेल कोकोव्त्सेव, निकोलाई मार्र और वसीली बर्तोल्द ने लिखा।

श्चेर्बात्स्की के लिए बौद्ध धर्म के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य भारतीय संस्कृति की गहरी समझ पाना था। किंतु यह किताबी विद्वान जैसी कोरी पडिताऊ दिलचस्पी नही थी, बल्कि सोवियत सघ मे भारतविद्या को नये स्तर पर उठाने का, दोनों देशों के जनगण के बीच मैत्री और सहयोग सुदृढ़ करने का सामाजिक उत्साह था,

उद्यम था। श्चेर्बात्स्की ने लिखा : "बौद्ध धर्म के ज़रिए भारत बाइकाल से वोल्गा के मुहाने तक हमारी सारी एशियाई सीमा पर हमारा पडोसी बन जाता है।" वे विश्व सभ्यता में भारत के योगदान पर ज़ोर देते थे। "इसकी उपलब्धियां खगोलविद्या, गणित, आयुर्वेद के क्षेत्र में महान हैं, विधिशास्त्र के क्षेत्र में विलक्षण हैं, काव्य के क्षेत्र में विमुग्धकारी हैं, काव्यात्मक सृजन के क्षेत्र में अद्वितीय है, लेकिन उनका उच्चतम शिखर दर्शन और धर्म के क्षेत्र में ही दिखायी देगा।"

श्चेर्बात्स्की की आकार में छोटी सी, किंतु अत्यंत मूल्यवान पुस्तक 'बौद्ध धर्म की केंद्रीय अवधारणा "धर्म" और इस शब्द का अर्थ' (अंग्रेज़ी में) उनके सृजनात्मक जीवन में भी और संसार में बौद्ध अध्ययन के विकास में भी एक असाधारणत महत्त्वपूर्ण घटना बनी। श्चेर्बात्स्की ने लिखा : "धर्म की अवधारणा ही बौद्ध शिक्षा का केद्रबिंदु है।"

बौद्ध धर्म के यूरोपीय अध्येता केवल दक्षिणी परम्परा के सहारे, आरंभिक पाली सिद्धांत ग्रंथों के आधार पर, बुद्ध को मात्र नैतिकतावादी मानते हुए इस अवधारणा के अंतर्य विषयक प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ रहे थे। धर्म का दार्शनिक पहलू, अस्तित्व के तत्त्व के रूप में उसका महत्त्व उनके दृष्टि-क्षेत्र से बाहर रह गया था। ऐसा एकतरफ़ा दृष्टिकोण बौद्ध धर्म का विकृत चित्र प्रस्तुत करता था, यह जटिल बहुरूपी प्रणाली एक ऐसी सीधी-सादी धार्मिक-नैतिक और सांप्रदायिक शिक्षा तक सीमित होकर रह जाती थी, जिसका दार्शनिक अंतर्य केवल ऐतिहासिक दृष्टि से ही रोचक हो सकता है। श्चेर्बात्स्की ने सर्वास्तिवादी संप्रदाय के विचारक वसुबंधु की रचना 'अभिधर्मकोश' का विस्तार से अध्ययन किया। यह अकारण ही नहीं कि वे इस सम्प्रदाय के ग्रंथों की ओर उन्मुख हुए। उनके शब्दों में, "यह संप्रदाय बौद्ध संप्रदायों में सबसे पहला नहीं तो सबसे पहलों में से एक है।" "इस धारा के दृष्टिकोणों का विषय-सार प्रस्तुत करके हम इस शब्द (धर्म) के वास्तविक अर्थों का अनुशीलन करने का सर्वश्रेष्ठ अवसर पाते हैं," श्चेर्बात्स्की ने लिखा। वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि धर्मों को अस्तित्व के अंगों का, जो बौद्धों के लिए एकमात्र यथार्थ हैं, पर्याय ही माना जाना चाहिए। बौद्धों के लिए जीवन की सभी प्रक्रियाएं, जिनमें आत्मा की अवस्थाएं भी आती हैं, धर्म ही हैं। इसके साथ ही वे ब्राह्मण दर्शन में आत्मा की जो अवधारणा है, उसे पूर्णतः नकारते हैं।

श्चेर्बात्स्की ने अपने शोधकार्य में यह दिखाया कि धर्म की ऐसी समझ सारी बौद्ध शिक्षा का लक्षण है, हालांकि आरंभिक शिक्षा में प्रायः नैतिक सिद्धांत, नैतिक दायित्व के अर्थ में भी धर्म शब्द का प्रयोग होता था। हीनयान और महायान के सभी संप्रदायों में, विशेषतः उत्तर काल में, इस सिद्धांत की गवेषणा की गई और धर्म को अस्तित्व के अंगों के रूप में ही देखा गया। "इस अवधारणा के प्रकाश में बौद्ध धर्म एक अधिभूतवादी सिद्धांत के रूप में प्रकट होता है, जो एक मूलभूत

विचार से विकसित हुआ, इस विचार से कि सत्त्व (अस्तित्व) भूतद्रव्य, आत्मा और शक्तियों के सूक्ष्म, पूर्ण और अतिम तत्त्वो की अन्योन्यक्रिया है।"

इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद बीते छह दशकों मे निस्सदेह बौद्ध धर्म की उत्तरी और दक्षिणी शाखाओं के विभिन्न संप्रदायो के इतिहास और सिद्धांतो को हम अधिक अच्छी तरह समझने लगे हैं, लेकिन श्चेर्बात्स्की के मूल निष्कर्षो का महत्त्व आज भी कम नही हुआ है। नये अनुसधानो से बौद्ध दर्शन के क्षेत्र मे श्चेर्बात्स्की की गवेषणाओ की गहनता की पुष्टि ही हुई है, यह सिद्ध हुआ है कि इस शिक्षा के प्रमुख प्रवर्गों, इतिहास और भाग्य के बारे मे उनके निष्कर्ष सही थे।

बौद्ध धर्म के अध्ययन में श्चेर्बात्स्की के कार्य का अगला महत्त्वपूर्ण चरण था निर्वाण की समस्या का अनुशीलन। इस कार्य के बारे मे जर्मन जनवादी जनतंत्र के लब्धप्रतिष्ठ भारतविद वाल्टर रूबेन का यह कहना सर्वथा सही है कि यह कार्य "यूरोपीय या भारतीय विद्वानो में से कोई भी नही कर सकता था।" बात यह है कि दीर्घ काल से बौद्ध धर्म के अध्ययन के बावजूद अध्येता बौद्ध धर्म के इस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रवर्ग के बारे मे किसी न्यूनाधिक स्पष्ट निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाये थे। ऐसा दृष्टिकोण भी व्याप्त था कि निर्वाण की व्याख्या करना असंभव है। उदाहरणत, लुई दे ला वाले-पुसें ने लिखा "बौद्ध निर्वाण की अवधारणा हमारे प्रवर्गों से परे है।" भारतीय विद्वान एन० दत्त ने इससे भी अधिक चरम रुख धारण किया। उनका कहना था कि "इस शब्द का अर्थ ढूढ़ने का प्रयास ही व्यर्थ है।"

१६२७ में श्चेर्बात्स्की की पुस्तक 'बौद्ध निर्वाण की अवधारणा' (अंग्रेज़ी में) प्रकाशित हुई। श्चेर्बात्स्की ने ही सबसे पहले निर्वाण की दार्शनिक व्याख्या की और यह देखा कि बौद्ध धर्म के इतिहास के विभिन्न कालो में और हीनयान व महायान के विभिन्न संप्रदायो द्वारा निरूपण के दौरान इस अवधारणा में काफ़ी परिवर्तन आये हैं। नागार्जुन की 'माध्यमिक-कारिका' और चंद्रकीर्ति की टीका के आधार पर श्चेर्बात्स्की ने महायान मे निर्वाण की अवधारणा को सुसंगत और स्पष्ट रूप से उजागर किया और हीनयान में इसकी व्याख्या से भेद भी दिखाया। अपने अनेक पूर्ववर्तियों के विपरीत, जिनकी रुचि निर्वाण की शिक्षा के केवल नैतिक पहलू में ही थी, जो बौद्ध धर्म के विकास के आरंभिक चरण को प्रतिबिम्बित करता था, श्चेर्बात्स्की ने इस प्रवर्ग के दार्शनिक पक्ष की ओर ध्यान दिया और इसके फलस्वरूप वे पूर्ण प्रणाली की विशिष्टताओ के मूल्यांकन में भिन्न रुख अपना सके।

उन्होंने यह दिखाया कि निर्वाण के सिद्धांत का निरूपण बौद्ध धर्म के उदय काल की अपेक्षा बहुत बाद के काल में हुआ और यह नागार्जुन व उनके शिष्यों की महायान धारा से संबंधित है। इसलिए आदि बौद्ध धर्म में निर्वाण की अवधारणा का अर्थ और सार उत्तर बौद्ध धर्म से बहुत भिन्न है। इस पुस्तक में श्चेर्बात्स्की ने बौद्ध धर्म को एक निरंतर परिवर्तनशील शिक्षा के रूप में दिखाया, जिसमें एक ही प्रणाली के अतर्गत प्राय: परस्परविरोधी प्रवर्ग और विचार पाये जाते हैं।

यहां उन्होंने उन विद्वानो का (सर्वप्रथम लुई दे ला वाले-पुसे और अंग्रेज़ संस्कृत-विद आर्थर कीथ का) विरोध किया, जो निर्वाण को "अभिचार से उत्पन्न विश्वास और योग द्वारा प्राप्त आनंदमय अवस्था" मानते थे। श्चेर्बात्स्की उन दिनों प्रचलित इस विचार के भी दृढ़ विरोधी थे कि रहस्यवाद बौद्ध दर्शन समेत सारे ही भारतीय दर्शन का प्रमुख लक्षण है। उन्होंने लिखा, "जैसे यूरोपीय बुद्धि रहस्यवाद से पूर्णत. और सदा स्वतत्र नही है, ठीक वैसे ही भारतीय बुद्धि अनिवार्यत: उससे ग्रस्त नहीं है।" अपनी अन्य रचनाओ की भांति इसमें भी श्चेर्बात्स्की ने उन पश्चिमी यूरोपीय विद्वानो की कटु आलोचना की, जो भारतीय दर्शन को दार्शनिक चिंतन के विकास के सामान्य क्रम के विपरीत रखते थे, यह मानते थे कि यूरोपीय दर्शन के साथ उसकी तुलना नही की जा सकती, यह कहते थे कि भारतीयों का चिंतन अलग ही है। श्चेर्बात्स्की ने लिखा "कुछ विद्वान हताश होकर यह निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि भारत की धार्मिक और दार्शनिक चितन की प्रणाली यूरोप से बिल्कुल अलग ही है, कि उस पर सुस्पष्ट रूप से निरूपित तर्क-धारा लागू नही होती और वह सदा ऐसी अमूर्त कल्पनाओं से परिपूर्ण है, जिनकी सार्थकता के बारे में स्वयं रचनाकार भी आश्वस्त नही।"

श्चेर्बात्स्की उन पहले विद्वानों मे से थे, जिन्होंने पूरी महायान शाखा के सिद्धांत का सार उघाडा और महायान के सप्रदायो के गठन के दौरान बौद्ध धर्म में आये परिवर्तन इगित किये। "कभी भी पूर्णत यह नही समझा गया है कि ईसवी सवत् की पहली शताब्दियों में वह नई भावना, जो तब तक गुप्तावस्था मे थी, जब अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रकट हुई, तो बौद्ध धर्म में कैसा आमूल क्रांतिकारी परिवर्तन आया," उन्होंने लिखा। नागार्जुन के सापेक्षतावाद ("प्रतीत्यभाव") की बदौलत "आदि बौद्ध धर्म के सारे भवन की नींव खोखली हो गई, वह ढह गया। हीनयानियों का निर्वाण, उनके बुद्ध, उनकी सत्तामीमांसा और नैतिक दर्शन, यथार्थ और कार्य-कारण की उनकी अवधारणा का परित्याग कर दिया गया।"

यह बात भी बहुत महत्त्वपूर्ण है कि श्चेर्बात्स्की बौद्ध शिक्षा के विकास को एक पृथक प्रक्रिया के रूप में नही देखते थे। वे हीनयान के बहुलवाद से महायान के एक-वाद की ओर, जिसमें बुद्ध को ही परम सत्त्व माना गया, सक्रमण के मूल सारतत्व को समझने में सफल रहे। नागार्जुन के सिद्धांत का सार समझकर श्चेर्बात्स्की ने यह दिखाया कि "हीनयान का परम सत्त्व वैसा ही सापेक्षिक हो जाता है, जैसे कि इस प्रणाली के अन्य सभी सत्त्व।"

पुस्तक मे नागार्जुन की रचना 'माध्यमिक-कारिका' के पहले और तीसवें अध्याय का तथा चद्रकीर्ति की टीका 'प्रसन्नपदा' का अनुवाद भी दिया गया था। इन रचनाओं को श्चेर्बात्स्की "महायान की आधारशिला" मानते थे।

श्चेर्बात्स्की के जीवन काल मे इतने उग्र रूप से होता रहा निर्वाण पर वाद-विवाद आज भी समाप्त नही हुआ है, बल्कि यह अधिक उग्र ही हुआ है और बौद्ध

धर्म के अध्ययन के विकास से निर्वाण के बारे मे श्चेर्बात्स्की के निष्कर्षो की कुल जमा पुष्टि ही करता है। उल्लेखनीय है कि १९५७ मे इस पुस्तक का जापानी भाषा में अनुवाद किया गया।

बौद्ध दर्शन और न्यायशास्त्र पर वर्षो के शोधकार्य के परिणामस्वरूप श्चेर्बात्स्की ने दो खण्डों का ग्रंथ 'बौद्ध न्यायशास्त्र' तैयार किया। १९३०-१९३२ में यह ग्रंथ छपा। धर्मेंद्रनाथ शास्त्री के शब्दो मे, यह "पिछले २५० वर्षो में भारतीय दर्शन की महानतम रचना है"। सुप्रसिद्ध ब्रिटिश अध्येता ए० कोंज़े ने भी, 'बौद्ध न्याय शास्त्र' को "सर्वोच्च कोटि की रचना" कहा था।

अपने इस ग्रंथ में श्चेर्बात्स्की ने बौद्ध धर्म और बौद्ध दार्शनिक चिंतन के इतिहास में तीन काल इंगित किये पहला – पाचवी सदी ई० पू० से ईसवी सवत् के आरंभ तक, दूसरा – महायान के प्रमार का काल (पाचवी-छठी ई० तक) और तीसरा काल, जो असंग, वसुबंधु, दिङ्नाग और धर्मकीर्ति से सबंधित है। आज भी संसार भर में बौद्ध धर्म के अनेक अध्येता इस कालानुक्रम को मानते हैं। श्चेर्बात्स्की ने इन तीनों कालों का विवरण दिया, लेकिन मुख्यत. दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के दृष्टिकोणो की ओर ही ध्यान दिया। "न्याय की ओर तीव्र रुचि ही, जिसने इस काल के अत तक वस्तुत: बौद्ध सिद्धांत के अन्य सभी पहलुओ को पृष्ठभूमि में धकेल दिया, बौद्ध दर्शन के इतिहास के तीमरे काल की प्रथम लाक्षणिक विशिष्टता है।" उनका यह निष्कर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण था कि "बौद्ध न्यायशास्त्र प्रणाली को तर्कशास्त्र की ज्ञानमीमांमात्मक प्रणाली कहा जा सकता है।"

इम ग्रंथ की रचना मे श्चेर्बात्स्की ने अनेक स्रोतों का उपयोग किया। उन्होंने लिखा "पहले जहा 'न्यायबिंदु' ही हमारा एकमात्र स्रोत था, वही अब इस विषय में हमारा ज्ञान बहुत अधिक बढ गया है। अब 'न्यायबिंदु' अज्ञात जगत में एकाकी शिला नही है।"

श्चेर्बात्स्की ने दिङ्नाग और धर्मकीर्ति के सप्रदाय की शिक्षा के सभी पहलुओं (अधिभूतवाद, ज्ञानमीमांसा, तर्कशास्त्र) पर बौद्ध और अ-बौद्ध भारतीय दर्शन के विभिन्न मतो के विकास की पृष्ठभूमि मे विचार किया। उन्होंने भारतीय दर्शन की सभी महत्त्वपूर्ण धाराओं और मतों (भौतिकवाद, सांख्य, योग, वेदांत, मीमांसा, न्याय-वैशेपिक, जैन, इत्यादि) का आलोचनात्मक सिंहावलोकन किया, लेकिन खास ध्यान योगाचारों और न्याय-वैशेपिकों के विवाद की ओर दिया। उनकी रुचि दिङ्नाग और धर्मकीर्ति की तर्क धारा के मूल में, भारतीय दर्शन के विकास के इतिहास में थी। श्चेर्बात्स्की ने न केवल बौद्ध धर्म के और बौद्ध दार्शनिक ग्रंथों के, बल्कि सारे भारतीय दर्शन के अनुपम ज्ञान का परिचय दिया। उनके ज्ञान की गहराई और व्यापकता पर विस्मय-विमुग्ध हुए बिना नही रहा जा सकता। जैसा कि धर्मेंद्रनाथ शास्त्री ने लिखा है: "यद्यपि पश्चिमी विद्वानों ने बौद्ध शिक्षा के धार्मिक पहलू पर और बौद्ध पाली साहित्य पर विराट कार्य किया है और दे ला वाले-पुसें,

सिल्वेन लेवी, प्रो० और श्रीमती रीस डेविड्स जैसे विद्वानों ने बौद्ध अधिभूतवाद पर अमूल्य योगदान किया है, तथापि श्चेर्बात्स्की का भारतीय दर्शन के इतिहास मे विशिष्ट स्थान है – न केवल दिङनाग मत के शोधकर्त्ता के नाते, बल्कि बौद्ध अधिभूतवाद की दूसरी शाखाओ के जानकार और व्याख्याकार के नाते भी। यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि एक भी पश्चिमी विद्वान को और भारतीय विद्वान को भी न्याय-वैशेषिक दर्शन का इतना पूर्ण और परिष्कृत ज्ञान नही था, जितना श्चेर्बात्स्की को।" बौद्ध दर्शन और न्यायशास्त्र के अध्ययन मे श्चेर्बात्स्की का ऐतिहासिक दृष्टि-कोण नितांत महत्त्वपूर्ण था, उनका मूल्यांकन वे ऐतिहासिक विकास के नियमों के आधार पर करते थे। उन्होंने लिखा: "बौद्ध तर्कशास्त्र दर्शन के इतिहास के लंबे विकास के चरम बिंदु के रूप मे प्रकट होता है। इसका उद्भव, उत्कर्ष और पतन भारतीय सभ्यता के उद्भव, उत्कर्ष और पतन के समांतर ही है।"

अपनी पहले की रचनाओ की भांति इस ग्रथ में भी श्चेर्बात्स्की ने भारतीय और यूरोपीय दर्शन के सहसंबंध का महत्त्वपूर्ण प्रश्न प्रतिपादित किया, उनके विकास मे समानताए और भिन्नताएं इंगित करने की चेष्टा की। उन्होंने लिखा: "इस ग्रथ मे मैंने मूल स्रोतो के आधार पर भारतीय तर्कशास्त्र का, जैसा वह उसकी प्रमुख बौद्ध शाखा में मिलता है, अध्ययन किया है और ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसका सुव्यवस्थित चित्र प्रस्तुत करने की भी चेष्टा की है। मैंने अपरिचित भारतीय सिद्धातों को वैषम्य द्वारा, तत्संबंधी यूरोपीय सिद्धांतों के साथ उनकी समानता और भेद दर्शाते हुए बोधगम्य बनाने का प्रयास किया है।" श्चेर्बात्स्की ने इस ग्रथ में एक मौलिक युक्ति का उपयोग किया, उन्होंने प्राचीन और अर्वाचीन यूरोपीय तथा भारतीय दार्शनिकों के मुह से तर्क-वितर्क कहलवाये। पुस्तक मे पार्मेनिडस, डेमोक्रीटस, एपिकूरस, लुक्रेशियस, स्पिनोजा, कांट, हेगेल, नागार्जुन, दिङनाग, धर्मकीर्ति, वसुबंधु, कमलशील और जैन चिंतक मुख्य प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त करते हैं।

श्चेर्बात्स्की का मूल निष्कर्ष यही दिखाता है कि सभी समानताओं के बावजूद बौद्ध न्यायशास्त्र "तर्कशास्त्र ही है, लेकिन अरस्तू का तर्कशास्त्र नही। यह संज्ञान सिद्धांत से संबंधित है, लेकिन कांट का तर्कशास्त्र नहीं है।"

कालांतर में 'मध्यांत-विभंग' के प्रकाशन की अपनी भूमिका में भारतीय दर्शन की मौलिकता की चर्चा करते हुए श्चेर्बात्स्की ने एक बार फिर भारतीय और यूरोपीय दर्शन के विकास के आधारभूत लक्षणों की समानता पर बल दिया। उन्होंने लिखा "मेरे विचार में भारतीय दर्शन विकास के बहुत ऊंचे स्तर पर उठा और इस विकास की प्रमुख रेखाएं उन रेखाओं के समांतर ही हैं, जो हम यूरोपीय दर्शन में पाते हैं।"

बौद्ध न्यायशास्त्र पर श्चेर्बात्स्की के ग्रंथ का प्रकाशन संसार भर में बौद्ध धर्म के अध्ययन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना बन गया। यद्यपि श्चेर्बात्स्की से पहले भी विद्वान न्यायशास्त्र की रचनाओं में दिलचस्पी लेते रहे थे (रूस में श्चेर्बात्स्की

के शिक्षक वसील्येव, पश्चिमी यूरोप में लेवी और दे ला वाले-पुसें, भारतीय विद्वानों मे सतीशचन्द्र विद्याभूषण का सबसे बड़ा योगदान है), तथापि श्चेर्बात्स्की का ग्रंथ ऐतिहासिक, दार्शनिक और पाठ-विश्लेषण के सिद्धांतत नये, अधिक ऊंचे स्तर पर लिखा गया था, उनके निष्कर्ष अधिक साधार और महत्त्वपूर्ण थे, और अध्ययनाधीन सामग्री अधिक व्यापक व विविधतापूर्ण। धर्मेंद्रनाथ शास्त्री लिखते हैं "श्चेर्बात्स्की की रचनाएं पढ़ते हुए भारतीय दार्शनिक मतो के उनके ज्ञान तथा उनकी तीव्र आलोचनात्मक अंतःदृष्टि पर विस्मय होता है लेनिनग्राद के स्व० प्रोफेसर श्चेर्बात्स्की का 'बौद्ध न्यायशास्त्र' विलक्षण ग्रंथ सिद्ध हुआ है। इसने संसार को न केवल दिङनाग के दार्शनिक मत के अभी तक अज्ञात अमूल्य रत्नों से परिचित कराया, बल्कि उद्योतकर, वाचस्पतिमिश्र, जयंत, श्रीधर, उदयन, आदि रचनाकारो की मूल कृतियो के आलोचनात्मक अध्ययन का उदाहरण भी प्रस्तुत किया।"

संस्कृत और तिब्बती भाषाओं के प्रतिभाशाली जानकार, अनुभवी पाठ-विश्लेषण-कर्त्ता और मर्मज्ञ अनुवादक श्चेर्बात्स्की ने बौद्ध संस्कृति के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथो का प्रकाशन करके बौद्ध धर्म के अध्ययन मे अमूल्य योगदान किया। उनके द्वारा प्रकाशित संस्कृत और तिब्बती ग्रंथ इस बात के साक्षी हैं कि उन्होंने कितना विराट कार्य किया।

बरसों तक श्चेर्बात्स्की ने वसुबधु के 'अभिधर्मकोश' का अध्ययन किया और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस कार्य मे कई जाने-माने विदेशी विद्वानो को भी शामिल किया। इस सृजनात्मक सहयोग के अद्वितीय परिणाम हुए। श्चेर्बात्स्की ने 'अभिधर्मकोश' के तिब्बती अनुवाद छपवाये, इस ग्रंथ पर यशोमित्र की टीका के प्रथम भाग का लेवी के साथ मिलकर और द्वितीय भाग का वोगिहारा के साथ मिलकर प्रकाशन किया। इन प्रकाशनों की बदौलत बौद्ध धर्म के अध्येता कतिपय नई मूलभूत समस्याओं के अनुशीलन में रत हो सके। ओल्देनबुर्ग के शब्दों में, "श्चेर्बात्स्की और उनके साथियो द्वारा क्रियान्वित योजना के साथ ही बौद्ध धर्म का प्रणालीबद्ध और योजनाबद्ध अध्ययन शुरू हुआ।"

श्चेर्बात्स्की संसार के उन पहले बौद्ध धर्म अध्येताओं मे थे, जिन्होंने प्रज्ञापारमिता विषयक साहित्य का अध्ययन आरम्भ किया। अपने शिष्य येव्गेनी ओबेरमिल्लेर के साथ उन्होंने योगाचार मत के प्रमुख ग्रंथ 'अभिसमयालंकार-प्रज्ञापारमिता-उपदेश-शास्त्र' के, जो मैत्रेय द्वारा रचित माना जाता है, संस्कृत और तिब्बती पाठ तथा उनके अनुवाद प्रकाशित किये। यह ग्रंथ एक तरह से प्रज्ञापारमिता के मूल ग्रंथ की टीका था। इससे इस सारी शिक्षा के मूलभूत सिद्धांत समझने में मदद मिली।

योगाचारों के सिद्धांत मे रुचि का ही परिणाम था परम सत्त्व के बारे में एक नितांत विलक्षण रचना 'मध्यांत-विभंग' का अनुवाद। इस रचना में बौद्ध शिक्षा की प्रमुख अवधारणाओं की व्याख्या मे योगाचारों और माध्यमिको के बीच मतभेदों पर प्रकाश डाला गया है।

श्चेर्बात्स्की और ओबेरमिल्लेर के बाद बौद्ध धर्म के अध्येता प्रज्ञापारमिता विषयक साहित्य मे गंभीर रुचि लेने लगे, जो उत्तर महायान सप्रदायों की शिक्षा में आये परिवर्तनो को समझने के लिए इतना आवश्यक था।

एक और रचना के, जो नागार्जुन की रची हुई मानी जाती है, मूल संस्कृत पाठ और तिब्बती अनुवाद का भी प्रकाशन श्चेर्बात्स्की ने किया। यह रचना है – 'ईश्वरकर्तृत्वनिराकरण विष्णो:एककर्तृत्वनिराकरण'।

अनुवादों मे भारतीय और तिब्बती दार्शनिक रचनाओं की कठिनतम अवधारणाओं को अभिव्यक्त करने के काम के प्रति श्चेर्बात्स्की का रुख विशिष्ट था। वे यह चेष्टा नही करते थे कि शब्दो का अनुवाद अक्षरश: सही हो, बल्कि इस बात का प्रयत्न करते थे कि मूल का भावार्थ अनुवाद में पूर्ण रूप से आये। इस काम में उन्हें गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा – उन्हें उन मूल पाठों को, जिनके अतर्य को यूरोप मे बौद्ध धर्म के अध्येता अनेक दशको से बूझ नहीं पाये थे, सही-सही समझना था। उन्होंने लिखा "अनुवाद का काम ऐसे भयभीत करता था, जैसे कि घोर अधकार मे कुछ खोज रहे हो। बेशक, इसका कारण उन विचारो से तथा उनके विशिष्ट अर्थों मे अपर्याप्त परिचय था, जो एक बौद्ध के लिए उसके अभ्यासजन्य स्वभाव का अग होते हैं।"

श्चेर्बात्स्की के अनेक अनुवाद और प्रकाशन 'बौद्ध पुस्तकमाला' में प्रकट हुए। ओल्देनबुर्ग के साथ वे इस विश्वविख्यात पुस्तकमाला के संस्थापकों मे से एक थे।

श्चेर्बात्स्की ने भारतविद्या के दूसरे क्षेत्रों में भी काम किया। उन्होंने दडी के 'दशकुमारचरित' का रूसी में अनुवाद किया और 'अर्थशास्त्र' के कुछ अध्यायो का भी। इस दूसरे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का अध्ययन और अनुवाद करने के लिए बनाये गये दल के वे सचालक थे। श्चेर्बात्स्की के कागज़ात में वरदराज के व्याकरण 'लघु-सिद्धांत-कौमुदी' का अनुवाद भी मिला है। उन्होंने 'प्राचीन भारत की वैज्ञानिक उपलब्धियां' शीर्षक से एक अत्यत रोचक लेखक १९२४ मे लिखा था। इसमें विभिन्न विद्याओ के विकास में भारतीयों की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियो का सिहावलोकन किया गया और प्राचीन भारतीय संस्कृति के स्वरूप के बारे में विचार प्रकट किये गये। श्चेर्बात्स्की ने दर्शन का विशेष विकास इंगित किया और उसके चहुमुखी अध्ययन की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने लिखा : "भारतीय विद्या का सबसे सशक्त पहलू उसका दर्शन ही है। इस क्षेत्र की पूरी जानकारी पाना अभी बहुत दूर की बात है। यहां तक कहा जा सकता है कि भारतीय दार्शनिक चितन की अथाह सम्पदा पर पडे पर्दे का एक कोना ही उठाया गया है।" श्चेर्बात्स्की ने विश्वोत्पत्ति विषयक विभिन्न प्रणालियों का विश्लेषण किया, जो क्रमश "मिथकी अवधारणाओ से मौलिक वैज्ञानिक अवधारणाओं की ओर संक्रमित होती हैं।" सांख्य दर्शन को उन्होंने वैज्ञानिक प्रणाली माना और विश्व की सरचना के बारे में उसके चितकों के प्रमुख

विचारों का वर्णन किया। श्चेर्बात्स्की ने सांख्य दर्शन में भौतिकवादी तत्वों पर विशेषत: बल दिया, इस दर्शन के अनुसार "क्रमविकास की सारी जटिल प्रक्रिया भूतद्रव्य स्वयं अपनी शक्ति से करता है, बाहर से किसी चेतन शक्ति के हस्तक्षेप या संचालन के बिना ही।" प्राचीन भारतीयों के अणु-सिद्धांतों की ओर उनका ध्यान विशेषत: आकर्षित हुआ। उन्होंने वैशेषिकों की प्रणाली पर भी बारीकी से ग़ौर किया, जिसमें अणुवाद का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है, और जैनों व बौद्धों के अणुवाद का भी सविस्तार अध्ययन किया। इस लेख में प्राचीन भारत में आयुर्वेद, रसायन, वनस्पतिशास्त्र, गणित और खगोलविद्या के विकास के बारे मे भी रोचक जानकारी दी गई है। श्चेर्बात्स्की ने भारतीय मनीषियों की ऐसी कई महत्त्वपूर्ण खोजें इंगित की, जिनमें कई मामलों मे उन निष्कर्षों का पूर्वाभास था, जिन पर यूरोपीय विद्वान आधुनिक युग मे ही पहुंचे। उन्होंने लिखा "गणित के क्षेत्र में भारतीयों की उपलब्धियां समस्त विश्व में सर्वोच्च हैं।"

१९२७ में प्रकाशित श्चेर्बात्स्की के लेख 'भारत में भौतिकवाद का इतिहास' का वैज्ञानिक महत्त्व आज तक बना हुआ है। यह इस विषय पर सोवियत भारतविद का पहला लेख था और इससे इस प्रश्न पर आगे कार्य की नीव पडी। श्चेर्बात्स्की ने लिखा "अन्य सभी भारतीय शिक्षाओं की भांति भारतीय भौतिकवाद भी एक निश्चित सम्प्रदाय की थाती था, जो इसकी परम्पराओं को बनाये रखता था, इसकी शिक्षा को विकसित करता तथा जीवन में क्रियान्वित करता था।" इस लेख में भारतीय दर्शन मे अध्यात्मवाद के सर्वव्यापी होने के विचार का विरोध किया गया था। श्चेर्बात्स्की उन विद्वानों से बिल्कुल सहमत नही थे, जो भौतिकवाद को भारतीय दर्शन में एक सांयोगिक और अलाक्षणिक परिघटना मानते थे। "शायद संसार में और कही भी परम्परागत नैतिकता और उससे संबंधित धर्म की बेडियों के विरुद्ध आक्रोश और प्रतिवाद की भावना इतने ज्वलंत रूप में प्रकट नहीं हुई, जितनी भारतीय भौतिकवादियों के बीच।" श्चेर्बात्स्की ने न केवल भौतिकवादियों की मूलभूत अवधारणाओं का सारतत्व प्रस्तुत किया, बल्कि वे मूल रचनाए भी उद्धृत कीं, जिनसे इस मत के प्रसार और प्रभाव का पता चलता था। यही नही, वे भौतिकवादियों की रचनाओं के तब तक अज्ञात अंशों का भी पता लगा सके (जयंतभट्ट की 'न्यायमंजरी' में तथा 'न्यायसूत्र' पर वाचस्पतिमिश्र की टीका में)। श्चेर्बात्स्की की अन्य कृतियों की भांति इसमें भी भारतीय संस्कृति की परिघटनाओं के अनुशीलन के प्रति उनका ऐतिहासिक रुख़ और सामाजिक विकास की प्रक्रियाओं के सार में पैठने की उनकी क्षमता स्पष्ट रूप से प्रकट हुई। श्चेर्बात्स्की की कृतियों का मूल्यांकन करते हुए ओल्देनबुर्ग ने लिखा था कि "श्चेर्बात्स्की ने बड़े आश्वस्तकारी ढंग से यह दिखाया कि भारतीय संस्कृति को ऐतिहासिक दृष्टि से वंचित स्वप्नद्रष्टाओं की देन बनाना कितना ग़लत है। श्चेर्बात्स्की अपनी सभी रचनाओं में इस बात के अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करते है कि जब भारतीय विद्वान अपने देश के विभिन्न कालों के

सामाजिक-वर्गीय संबधों को अपनी शिक्षाओं में प्रतिबिम्बित करते हैं, तो उनका चितन कितना तर्कसंगत और तथ्यपरक होता है।"

श्चेर्बात्स्की न केवल उच्चतम कोटि के शोधकर्त्ता थे, बल्कि अनुपम शिक्षक भी। सस्कृत के अध्यापन की उनकी प्रणाली अच्छी तरह तैयार की गई। थी। विश्व-विद्यालय मे संस्कृत सीख रहे भावी भारतविदों का पाठ्यक्रम यह था – प्रथम वर्ष में वे ब्यूलर की पाठ्यपुस्तक से संस्कृत सीखते थे, इस पुस्तक का रूसी संस्करण स्वयं श्चेर्बात्स्की ने तैयार किया था, द्वितीय वर्ष में विद्यार्थी कालिदास का 'मेघदूत' और उस पर मल्लिनाथ की टीका पढ़ते थे, तृतीय वर्ष में 'शाकुंतलम्' तथा दार्शनिक ग्रंथ 'तर्कभाषा' और पाणिनि का व्याकरण तथा चतुर्थ वर्ष में 'दशकुमारचरित' और बाण कृत 'कादम्बरी'।

श्चेर्बात्स्की ने अनेक सुप्रशिक्षित भारतविद और बौद्ध धर्म अध्येता तैयार किये। येव्गेनी ओबेरमिल्लेर, मिखाईल तुब्यान्स्की, आन्द्रेई वोस्त्रिकोव, बोरिस सेमिचोव जैसे जाने-माने विद्वान उनके शिष्य थे। लेनिनग्राद में श्चेर्बात्स्की के शिष्य व्लादीमिर कल्यानोव प्राचीन भारतीय महाकाव्यों पर सफलतापूर्वक कार्य जारी रखे हुए हैं। आज की बड़ी पीढ़ी के कई सोवियत भारतविदों को श्चेर्बात्स्की के लेक्चर सुनने और उनसे सस्कृत सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। भारतविद्या के विकास में श्चेर्बात्स्की के योगदान की चर्चा करते हुए देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने उनके कार्यकलाप के इस पहलू – विशेषज्ञों के एक पूरे दल को प्रशिक्षित करने – को ही उनकी विशेषतः महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना है। "श्चेर्बात्स्की ने बेजोड़ विद्वानों की एक पूरी पीढ़ी प्रशिक्षित की, जिन्होंने उनके शोधकार्यों को जारी रखा, जबकि भारत में वस्तुतः कोई इतना बडा विशेषज्ञ नहीं हुआ, जो विद्याभूषण के कार्य को जारी रखता, कम से कम इतने बड़े पैमाने पर।"

सोवियत संघ में भारतविद्या संबंधी अनुसंधानों के विस्तार की श्चेर्बात्स्की की योजनाएं व्यापक और बहुस्तरीय थीं। भारतीय दार्शनिक चितन और पूरब के दर्शन के अध्ययन को वे विशेषतः महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनके काग़ज़ातों में वह नोट भी मिला है, जो अपने अंतिम दिनों में उन्होंने सोवियत विज्ञान अकादमी के अध्यक्षमंडल को भेजा था। इसमें कहा गया है. "पूरब के दार्शनिक सर्वेक्षण की योजना में, पूरब के सभी देशों के लिए सामान्य दार्शनिक सांस्कृतिक धरोहर के अध्ययन की योजना में प्राच्यविद्या के हमारे सभी विभागों को संगठित होना चाहिए।.. सारे पूरब के दार्शनिक विचारों का स्रोत भारत को माना जाना चाहिए। यहां से समय-समय पर चिंतन की आवर्ती तरंगें उठती रही हैं और पूरब व पश्चिम में फैलती रही हैं।... अब समय आ गया है कि हम इस सशक्त गति का सिंहावलोकन करें तथा एक ओर इसका इतिहास तैयार करने की तथा दूसरी ओर इसकी सूची, अर्थात स्पष्टतः सूत्रबद्ध उन दार्शनिक विचारों की संदर्भसूची तैयार करने की चेष्टा करें, जो विभिन्न कालों और युगों मे पूरब के जनगण के मस्तिष्कों पर छाये रहे हैं।"

मृत्यु ने श्चेर्बात्स्की को उनकी अनेक योजनाएं पूरी नहीं करने दीं। १९४२ में उत्तरी कज़ाखस्तान में उनका देहांत हो गया। जून १९४१ में फ़ासिस्ट जर्मनी द्वारा सोवियत संघ पर हमला किये जाने के पश्चात अनेक विद्वानों को मोर्चे से दूर कज़ाख-स्तान भेज दिया गया था। श्चेर्बात्स्की के शोधकार्यों को, उनकी योजनाओं को सोवियत भारतविदों की नई पीढ़ी ने जारी रखा है। उनकी जन्म-शताब्दी पर मास्को और लेनिनग्राद में जयंती बैठकें हुईं, जिनकी सामग्री 'भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म' नामक लेख-संग्रह (रूसी में) के रूप में प्रकाशित की गई।

श्चेर्बात्स्की ने भारतीय संस्कृति की धरोहर के अध्ययन को अपना सारा जीवन अर्पित किया; आगामी अनेक वर्षों और दशकों तक विशेषज्ञ भी और इस धरोहर में रुचि रखने वाले अन्य सभी लोग भी श्चेर्बात्स्की की रचनाओं की ओर उन्मुख होते रहेंगे। उनकी समाधि पर अंकित निम्न शब्दों में उनके सृजन का मर्म अभिव्यक्त है "उन्होंने अपने देश को भारत के प्राचीन चिंतकों का विवेक समझाया।"

अध्याय ५

सोवियत संघ में भारतविद्या संबंधी अनुसंधानों की प्रमुख दिशाएं

१९१७-१९२० का काल

१९१७-१९२० के काल को सोवियत देश के ही नहीं, उसके वैज्ञानिक कार्यों के भी इतिहास में सच्चे अर्थों में वीरतापूर्ण काल कहा जा सकता है। प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१९१७) के तीन वर्षों के पश्चात रूस की अर्थव्यवस्था बिल्कुल बेदम हो गई थी और अथाह गर्त के कगार पर खड़ी थी। देश के काफ़ी बड़े भाग पर हस्तक्षेपकारियों का क़ब्ज़ा था। फ़रवरी और अक्तूबर १९१७ की दो क्रांतियों के दौरान राजकीय संचालन के पुराने निकाय पूर्णतः नष्ट हो गये थे, रूस में उग्र वर्ग संघर्ष चल रहा था, परम्परागत मूल्यों में आस्था डगमगा गई थी और संस्कृति गहरे संकट में थी। सोवियत सत्ता के सम्मुख देश में साक्षरता फैलाने का कार्यभार था, देश को न केवल बच्चों, बल्कि बड़ों के लिए भी ककहरों की सख़्त ज़रूरत थी। गृहयुद्ध और उसके बाद की तबाह-हाली के दिनों में काग़ज़ की तंगी थी, दीवारी काग़ज़ पर किताबें छापी जाती थीं। तो भी देश में वैज्ञानिक चिंतन पल भर को भी नहीं रुका, सांस्कृतिक जीवन नहीं थमा। सुविख्यात अंग्रेज़ लेखक एच० जी० वेल्स ने गृहयुद्ध की समाप्ति पर सोवियत रूस की यात्रा की और 'अंधकार में डूबा रूस' नामक पुस्तक लिखी। उन्होंने यह इंगित किया कि यहां जटिलतम परिस्थितियों में भी संस्कृति को बनाये रखा गया है। यह देखकर वे विशेषतः प्रभावित हुए कि सोवियत सरकार की, रूसी लेखकों और विद्वानों की योजनाएं और मंसूबे कितने भव्य हैं, सांस्कृतिक सृजन कितने बड़े पैमाने पर हो रहा है।

समाजवादी क्रांति के बाद सांस्कृतिक धरोहर की रक्षा का प्रश्न उठा और इसलिए सोवियत सत्ता के पहले क़ानूनों में एक थी लेनिन द्वारा हस्ताक्षरित प्राचीन स्मारकों

की रक्षा संबंधी आज्ञप्ति। अक्तूबर क्रांति के कुछ समय पश्चात ही शिक्षा जन-कमिसारियत के अंतर्गत संग्रहालयो तथा कला-वस्तुओं एव प्राचीन स्मारको की रक्षा संबंधी आयोग गठित किया गया। देश के जाने-माने प्राच्यविद इस आयोग के सदस्य थे, इनमे भारतविद सेर्गेई ओल्देनबुर्ग भी थे। देश भर में जगह-जगह कला-वस्तुओ और प्राचीन स्मारकों की रक्षा की समितियां बनाई गईं – ये समितियां संस्कृति के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण केंद्र थी। मास्को में १९१८ में एक नया संग्रहालय – प्राच्य कला संग्रहालय – खोलने का निश्चय किया गया। इसका उद्घाटन २२ सितंबर १९१९ को हुआ। यह सारे देश में पूरी तरह पूरब को समर्पित एकमात्र संग्रहालय था। सोवियत रूस मे भारतविद्या सबधी उन पुरानी रचनाओ का प्रकाशन जारी रहा, जो क्राति से पहले तैयार की गई थी तथा उन रचनाओं का भी जिन पर काम गृहयुद्ध के दिनों मे शुरू हुआ था। १९१८ मे पेत्रोग्राद मे 'बौद्ध पुस्तकमाला' के नये खण्ड छपे: 'न्यायबिंदु। बौद्ध न्यायशास्त्र की पाठ्यपुस्तक, धर्मकीर्ति द्वारा रचित तथा धर्मोत्तर कृत व्याख्या न्यायबिंदुटीका', जिसके संस्कृत पाठ का सपादन श्चेर्बात्स्की ने किया था, और यशोमित्र कृत 'स्फुटार्थाभिधर्मकोशव्याख्या', जिसके मूलपाठ का सपादन श्चेर्बात्स्की ने फ्रांसीसी भारतविद लेवी के साथ मिलकर किया था। तिफलिस (वर्तमान त्बिलिसी) विश्वविद्यालय ने १९२० मे ग० अख़्लेदियानी की पुस्तक 'संस्कृत। संक्षिप्त व्याकरण और लौकिक संस्कृत की रचनाओं तथा ऋग्वेद के अश' प्रकाशित की। यह हमारे देश मे क्राति के बाद संस्कृतविद्या पर पहला प्रकाशन था। १९१८ में रूसी पब्लिक लाइब्रेरी के संग्रह मे मौजूद भारतीय हस्तलिखित ग्रथों की संदर्भ-सूची छपी, जो न० मिरोनोव ने तैयार की थी। एशियाई सग्रहालय ने अपनी शताब्दी (१८१८-१९१८) पर जो 'स्मृति पत्र' प्रकाशित किया उसमें सग्रहालय के प्राच्य हस्तलिखित ग्रथो का सर्वेक्षण दिया गया था। इनमें केंद्रीय एशिया से लाये गये भारतीय हस्तलिखित ग्रथो के महत्त्व पर विशेष ज़ोर दिया गया था और इनके वैज्ञानिक अध्ययन का कार्यभार रखा गया था। १९१८ में ही ओ० रोज़ेनबर्ग के विशाल शोध ग्रंथ 'जापानी और चीनी स्रोतो के आधार पर बौद्ध धर्म के अध्ययन की प्रवेश-पुस्तक' के पहले दो खण्ड प्रकाशित हुए। इस रचना में बौद्ध दर्शन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलुओं की गवेषणा की गई थी, उसकी मूलभूत अवधारणाओ का मौलिक ढंग से और गहराई से विवेचन किया गया था, बौद्ध धर्म के इतिहास के प्रति नये दृष्टिकोण और उसके अध्ययन की नई विधि संबंधी सुझाव रखे गये थे। रोज़ेनबर्ग की पुस्तक के साथ बौद्ध धर्म के अध्ययन में एक नये चरण का श्रीगणेश हुआ। किंतु युवा विद्वान के असामयिक निधन के कारण तीसरा खण्ड, जो बौद्ध साहित्य को समर्पित था, अप्रकाशित ही रह गया।

बौद्ध ग्रंथों पर शोध रचनाएं और उनके अनुवाद विज्ञान अकादमी के प्रकाशनों में ही नही, बल्कि साहित्यिक सग्रहो और सकलनों में भी छपते थे। यह इस बात का साक्षी है कि व्यापक बुद्धिजीवी हलकों में प्राच्यविद्या, भारतविद्या और बौद्ध

अध्ययनों में रुचि कितनी बढ गई थी और इस बात का भी कि देश के लिए कठिन उन दिनो में सोवियत विज्ञान के सचालक देश में प्राच्यविद्या की यशस्वी परम्पराओं को जारी रखने के लिए कितना कुछ कर रहे थे। लेनिन की अध्यक्षता में सोवियत सरकार उन दिनो विद्वानों को भारतविद्या सबंधी कार्य बड़े पैमाने पर करने के लिए निरतर सहायता देती थी।

उन दिनो के वैज्ञानिक और पत्रकारिता साहित्य मे तथा ललित साहित्य मे भी भारतीय शब्द, नाम और बिम्ब लोकप्रिय हो गये। रूसी संस्कृति के अनेक प्रतिनिधि पूरब के आध्यात्मिक और कलात्मक साहित्य में विशेष रुचि लेते थे, कुछ तो पूरी तरह इस क्षेत्र में रम गये। विलक्षण रूसी चित्रकार निकोलाई रेरिख गृहयुद्ध के दिनों मे विदेश मे थे, लेकिन उनके सृजन और सामाजिक कार्यकलापो को रूसी कला के सदर्भ में ही समझा जा सकता है। १६२० में रेरिख ने 'पूरब के स्वप्न' नामक चित्र-माला पर काम किया। उनकी यह उत्कट अभिलाषा थी कि भारत जा सकें। पूरब और विशेषत: भारत मे रेरिख की रुचि बौद्ध धर्म के रूसी अध्येताओं के साथ सबधो और उनके कार्यों की जानकारी के फलस्वरूप ही पोषित हुई व बनी रही।

१६१७ के बाद पूरब के जागरण के साथ-साथ अपनी प्राचीन धरोहर में, अपनी परम्परागत, जातीय संस्कृति के प्रति विशेष रुचि जागी। अक्तूबर क्रांति ने रूस के जनगण को निरकुश शासन के उत्पीडन से, बलात रूसीकरण और धर्म-परिवर्तन से मुक्ति दिलाई। क्रांति के बाद के पहले वर्षों में रूस के एशियाई भाग के जातीय मुक्ति तथा धार्मिक नवीकरण आंदोलनो में उत्थान आया। यह नवीकरण उन इलाक़ों में भी हुआ, जहा बौद्ध धर्म प्रचलित था (कल्मीकिया और बुर्यातिया)। इसका एक उदाहरण है कल्मीक ब० बोवायेव के कार्यकलाप, जिन्होंने तिब्बत मे शिक्षा पाई थी और १६१७-१६१८ मे अस्त्राखान मे बौद्ध दर्शन पर लेक्चर दिये थे। उन्होने कल्मीकिया में बौद्ध दर्शन सकाय खुलवाने की चेष्टा भी की।

जारशाही सरकार की अल्पसंख्यक जातियों के उत्पीडन की नीति के विपरीत सोवियत सरकार ने जातीय और नस्ली समानता का व्यापक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। विद्वानो के सम्मुख रूस की अल्पसंख्यक जातियो में, जो तब पिछड़ी हुई थीं, साक्षरता फैलाने और उनकी संस्कृति का विकास करने का कार्यभार था। इस कठिन कार्य में प्राच्यविदों ने बहुत सहायता प्रदान की। मध्य एशिया, काकेशिया और बुर्यातिया मे जाकर उन्होंने स्थानीय आबादी की परम्पराओं का अध्ययन किया, रूस के पिछडे इलाक़ों के सांस्कृतिक कायाकल्प के विशाल कार्य में सक्रिय भाग लिया।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है १६१६ में पेत्रोग्राद में पहली बौद्ध प्रदर्शनी आयोजित की गई। इसमें उन देशों के, जहां बौद्ध धर्म प्रचलित था, यानी चीन और जापान, तिब्बत और मंगोलिया, भारत और श्रीलंका के जनगण की कला, धर्म, साहित्य और दैनंदिन जीवन की वस्तुएं दिखाई गईं। प्रदर्शनी के उद्घाटन

पर दो व्याख्यान हुए। सेर्गेई ओल्देनबुर्ग ने अपने व्याख्यान का शीर्षक यह रखा था : 'जीवन के महान शिक्षक गौतम बुद्ध का जीवन'। श्चेर्बात्स्की ने बौद्ध दर्शन पर व्याख्यान दिया। बाद में व्लादीमिरत्सेव ने 'तिब्बत और मंगोलिया मे बौद्ध धर्म' तथा रोज़ेनबर्ग ने 'सुदूर पूर्व में समसामयिक बौद्ध धर्म का विश्वदृष्टिकोण' विषयो पर व्याख्यान दिये। प्राचीन स्मारकों और कला-वस्तुओ की रक्षा तथा संग्रहालयों के मामलो के विभाग ने ये व्याख्यान पुस्तिकाओ के रूप मे प्रकाशित किये और साथ ही ओल्देनबुर्ग द्वारा किया गया इनका सिहावलोकन भी 'पीटर्सबर्ग में पहली बौद्ध प्रदर्शनी' शीर्षक से छापा। उन दिनों के वातावरण को ध्यान मे रखना बहुत महत्त्वपूर्ण है। अगस्त १६१६ रूस के गृहयुद्ध का एक सबसे जटिल और सकटपूर्ण समय था। सोवियत सत्ता अपेक्षाकृत कम क्षेत्रफल पर ही बनी रही थी। उराल के औद्योगिक केंद्रो को तव सफेद गार्डों से मुक्त कराया ही गया था, लेकिन ज़ारशाही जनरल देनीकिन की फ़ौजों का रूस के यूरोपीय भाग के दक्षिण पर क़ब्ज़ा था, यहां से वे मास्को पर चढ़ाई की तैयारियां कर रही थीं। साथ ही जनरल यूदेनिच की सफ़ेद फ़ौज पेत्रोग्राद पर हमले के लिए ताक़त जुटा रही थी। सोवियत राज्य के लिए संकटपूर्ण इन दिनों में ही पेत्रोग्राद मे पहली बौद्ध प्रदर्शनी सफलतापूर्वक हो रही थी, जाने-माने रूसी प्राच्यविद बौद्ध धर्म पर व्याख्यान दे रहे थे। इस प्रदर्शनी के सिलसिले मे प्रकाशित पुस्तिकाओं से यह स्पष्टत पता चलता है कि प्रदर्शनी के आयोजक बौद्ध धर्म को कैसे समझते थे और दर्शकों के लिए प्राचीन भारत का धर्म किस दृष्टि से रोचक हो सकता था। ओल्देनबुर्ग ने बुद्ध के जीवन और शिक्षा विषयक अनुश्रुतियो के बारे मे बताते हुए इस बात पर ज़ोर दिया "मनुष्य के लिए यह समझना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि वह किसलिए जीता है और समझकर यह जानना कि अपने जीवन-ध्येय की पूर्ति के लिए उसे कैसे जीना चाहिए।" उन्होंने रूस में बौद्ध धर्म के अध्ययन की पुरानी परम्पराओ का उल्लेख किया तथा सारे एशिया की और विशेषत: एशिया के उन भागो की, जो रूस मे शामिल हैं, संस्कृति के लिए बौद्ध धर्म के महत्त्व की चर्चा की। उनके व्याख्यान की प्रमुख विशेषता यह थी कि उन्होंने सारी मानवजाति के लिए बौद्ध विचारधारा का महत्त्व इंगित किया। उनके शब्दो मे, बुद्ध ने "सचेतना की और मनुष्य व प्रकृति के प्रति चेतनशील प्रेम की शिक्षा दी"। बौद्ध धर्म यह दिखाता है कि लोगो में कितना कुछ समान है, उसमें जनगण के बंधुत्व का विचार निहित है, इसीलिए आधुनिक मानवजाति के लिए, जो स्वय भी जनगण के बीच बंधुत्व की स्थापना की चेष्टा कर रही है, बौद्ध शिक्षा के मर्म को सही-सही समझना इतना महत्त्वपूर्ण है। श्चेर्बात्स्की ने अपने व्याख्यान मे बौद्ध धर्म को ऐसा धर्म बताया, जिसमें भलाई, मानव प्रेम, आत्मिक मुक्ति और नैतिक परिष्कार के उच्चतम आदर्श मूर्तित हुए हैं। यही नही, उनका कहना था कि "व्यवहार के क्षेत्र में" भी बौद्ध धर्म मे हम "निजी स्वामित्व के अधिकार की अस्वीकृति, जातीय सीमितता की अस्वीकृति, निजी स्वामित्व के अधिकार से

वंचित सभी लोगो का मामान्य बंधुत्व और अंतत हम सब के लिए आवश्यक यह अवश्यंभावी विश्वाम पाते हैं कि हम परिष्कार की ओर बढ़ रहे हैं और हमें बढना चाहिए।" रोज़ेनबर्ग के व्याख्यान में बौद्ध धर्म को ऐसी कड़ी बताया गया था जो पूरब और पश्चिम को जोड़ती है तथा यह दिखाती है कि उनके बीच खाई "इतनी गहरी नही है"।

यह देख पाना कठिन नहीं है कि बौद्ध धर्म के प्रति इन सभी वक्ताओ का रुख मोटे तौर पर एक सा ही था, ये मभी बौद्ध धर्म का आदर्शीकरण करते थे। आधुनिक विज्ञान श्चेर्बात्स्की द्वारा की गई बौद्ध दर्शन की इस व्याख्या को पूरी तरह निर्विवाद नही मान सकता। लेकिन यहां दूसरी बात अधिक माने रखती है – प्राच्यविदो तथा प्रदर्शनी में उपस्थित बुद्धिजीवियो की पूरब, भारत और बौद्ध धर्म मे रुचि कोरी वैज्ञानिक जिज्ञासा कतई नहीं थी। ये लोग बौद्ध धर्म को ऐसी जीती-जागती शिक्षा मानते थे, जो समसामयिक युग के समीप है। अधिकांश विद्वान, लेखक और कलाकार पूरब को इसी दृष्टि से देखते थे। जनगण की एकता और बंधुत्व, पश्चिम और पूरब के भाग्यो की समानता, निजी स्वामित्व की अवर्तमानता के और मानवजाति के परिष्कार के विचार – इन सब बातों ने विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था।

लेकिन सबसे बडी बात यह है कि इन प्रस्थापनाओं को जनगण की समानता और बंधुत्व के उदात्त ध्येयों की ही पूर्ति करनी थी। रूस के प्रमुखतम प्राच्यविद, भारतविद और बौद्ध धर्म के अध्येता नवजीवन के सक्रिय निर्माता थे, नये आदर्शों की अभिपुष्टि करने में सहायता प्रदान करते थे।

लेनिन द्वारा की गयी एक पूछताछ के जवाब में शिक्षा मामलो के जनकमिसार अनातोली लुनाचार्स्की ने श्चेर्बात्स्की के बारे में लिखा था कि वह "ऊंचे दर्जे के विद्वान हैं और क्रांति के बाद बौद्ध धर्म के बारे मे उन्होंने एक शानदार पुस्तिका लिखी है, जिसमे बौद्ध धर्म की समाजवादी दृष्टिकोण (निजी अहं तथा निजी संपत्ति का त्याग, सामाजिक समानता में ही मानसिक शांति तथा आनंद अनुभव करना) से विवेचना की गयी है।"

क्रांति के बाद के पहले वर्ष सांस्कृतिक नवनिर्माण के उत्साह का, व्यापक और फलप्रद पहलकदमियो का समय था। १९१८ में पेत्रोग्राद में शिक्षा की जन-कमिसारियत के अधीन 'विश्व साहित्य' नाम का प्रकाशन-गृह खोला गया, जिसका काम विश्व भर के साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओ का प्रकाशन करना था। यह प्रकाशन-गृह, जिसकी बागडोर मक्सिम गोर्की को सौंपी गई थी, प्राच्य साहित्य की रचनाएं भी छापता था। ओल्देनबुर्ग इसमे सक्रिय भाग लेते थे। उदाहरणत उन्होंने १९१९ में प्रकाशित संग्रह 'प्राच्य साहित्य' के लिए भारतीय साहित्य पर लेख लिखा।

गृहयुद्ध के दौरान सोवियत रूस को पश्चिम के बड़े देशो (पहले जर्मनी और फिर ब्रिटेन, फ्रांस व अमरीका) के हस्तक्षेप का भी सामना करना पड़ा, साथ ही उसने जागृत हो रहे औपनिवेशिक पूरब का समर्थन भी किया। उन वर्षों के रूसी साहित्य

में एक बार फिर पूरब और पश्चिम के साथ रूस के संबंध का प्रश्न उठाया गया। यह विचार प्रचलित था कि रूस यूरोपीय इतना नहीं, जितना कि एशियाई है। महाकवि अलेक्सान्द्र ब्लोक ने लिखा : "हां, एशियाई हैं हम!" प्रायः इस बात पर ज़ोर दिया जाता था कि भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से यूरोप और एशिया दोनों महाद्वीपों का अंग होने के नाते रूस पश्चिम और पूरब की सांस्कृतिक परम्पराओं के संश्लेषण में, उनके संगठन में विशेष भूमिका अदा करता है।

१९१९ में बुर्यात विद्वान गोंबोज्जाब त्सीबिकोव की क्रांति से पहले ही तैयार हो चुकी पुस्तक 'तिब्बत में बौद्ध तीर्थयात्री' प्रकाशित हुई। लेखक ने रूसी भूगोल समाज की ओर से तीर्थयात्री के रूप में १८९९-१९०२ में तिब्बत की यात्रा की थी। अनेक चित्रों से सुसज्जित यह पुस्तक तिब्बत, उसके स्मारकों, वहां की आबादी के रहन-सहन, रीति-रिवाजों और विश्वासों के पहले विवरणों में से एक थी। इसका वैज्ञानिक महत्त्व आज भी कम नहीं हुआ है, इसीलिए १९८१ में त्सीबिकोव की अन्य रचनाओं के साथ इसका भी नया संस्करण छपा। सितंबर १९१८ में, सोवियत जनतंत्र के लिए सबसे कठिन महीनों में से एक में (सितंबर के आरंभ में देश में युद्ध स्थिति की घोषणा की गई थी) ओल्देनबुर्ग ने बुर्यात विद्वान की पुस्तक की भूमिका लिखी : "गोंबोज्जाब त्सीबिकोव की पुस्तक अत्यधिक कठिन समय में निकल रही है, जबकि यह लग सकता है कि रूस में किसी को सुदूर देश की तीर्थयात्रा के वर्णनों की सोचने के कोई फ़ुरसत ही कहां। लेकिन हम इस पुस्तक को इन दिनों ही प्रकाशित करना आवश्यक मानते हैं, इस बात का प्रमाण देने के लिए कि सच्चा रूस जीवित है और अपनी आत्मिक शक्ति की, जिसने दसियों जातियों और प्रायः बीस करोड़ लोगों को संगठित किया है व संगठित कर रही है, पूरी चेतना के साथ कार्य कर रहा है। रूसी विश्वविद्यालय में शिक्षित एक बुर्यात की लिखी, एक रूसी द्वारा सम्पादित और 'रूसी भूगोल समाज' द्वारा प्रकाशित त्सीबिकोव की पुस्तक रूस द्वारा एक सामान्य कार्य के आधार पर पश्चिम और पूरब के सांस्कृतिक एकीकरण की ज्वलंत अभिव्यक्ति है।" इस प्रकार प्राच्यविद्या और भारतविद्या से संबंधित अध्ययनों और प्रकाशनों को तब महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय सांस्कृतिक कार्यभार माना जाता था।

तीसरे और चौथे दशक में भारतविद्या

तीसरे दशक में सोवियत रूस में प्राच्यविद्या के सारे संगठन का पुनर्गठन हो रहा था। प्राच्यविद्या का प्रमुख केंद्र पेत्रोग्राद (लेनिनग्राद) का एशियाई संग्रहालय ही था, जो धीरे-धीरे पांडुलिपियों और पुस्तकों के भंडार से अनुसंधान संस्थान में परिवर्तित होता जा रहा था। वर्ष प्रति वर्ष यह प्रतिष्ठान विराट स्वरूप ग्रहण करता

जा रहा था और इसके कार्यभार बदल रहे थे। पेत्रोग्राद विश्वविद्यालय के एशियाई संग्रहालय के साथ घनिष्ठ संबंध थे, क्योंकि वहां प्राच्यविद्या संबंधी विषयों का अध्यापन प्राय: संग्रहालय के कर्मी ही करते थे। भारतविद नृविज्ञान और नृजातिवर्णन संग्रहालय में भी काम करते थे और १९२१ में स्थापित कला-इतिहास संस्थान में भी। यहां भारत और सुदूर पूर्व की संस्कृति पर लेक्चर ओल्देनबुर्ग देते थे। तीसरे दशक के आरंभ में पूरब के जनगण की संस्कृति के इतिहास पर आम जनता के लिए सुबोध व्याख्यान बहुत लोकप्रिय थे। देश के प्रमुख प्राच्यविद ओल्देनबुर्ग, श्चेर्बात्स्की, तुब्यान्स्की, आदि ये व्याख्यान देते थे। पेत्रोग्राद के बुद्धिजीवी पूरब की संस्कृति में दिलचस्पी रखते थे।

रूसी राजकीय पुरातत्व आयोग के आधार पर भौतिक संस्कृति के इतिहास की रूसी अकादमी स्थापित की गई। इसके अध्यक्ष अकादमीशियन निकोलाई मार्र बने (ओल्देनबुर्ग इसके प्रबंधमंडल के सदस्य थे)। यह नवस्थापित वैज्ञानिक प्रतिष्ठान पुराने पुरातत्व आयोग से सिद्धांतत: भिन्न था। अकादमी का काम प्राचीन वस्तुओं की खोज और संग्रह तक ही सीमित नहीं था। यह सारी मानवजाति के इतिहास से संबंधित कार्यभारों को अग्रभूमि में रखने का यत्न करती थी। अकादमी के अनेक कर्मी सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन की वैज्ञानिक विधि की खोज में मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हुए। यह अकादमी न केवल सोवियत पुराविदों, बल्कि प्राच्यविदों के लिए भी अच्छा विद्यालय था।

संस्कृत का अध्यापन और संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन पेत्रोग्राद के अलावा अन्य कई नगरों में भी होता था – मास्को में पेतेरसन, त्बिलिसी में अख्लेदियानी, खार्कोव में रित्तेर यह कार्य कर रहे थे। अधिकांश मामलों में संस्कृत को भारोपीय भाषाओं के तुलनात्मक-ऐतिहासिक अध्ययन के लिए अनिवार्य विषय माना जाता था।

१९२५ में मास्को के प्राच्य कला संग्रहालय का पुनर्गठन हुआ। अब इसका नाम 'प्राच्य संस्कृति संग्रहालय' पड़ा। शीघ्र ही संग्रहालय ने एक अभियान दल तेर्मेज़ भेजा। इस दल के कार्यभारों में एक था बौद्ध स्मारकों का अध्ययन करना। इस दल से ही मध्य एशिया के बौद्ध स्मारकों का पुरातत्वीय अध्ययन शुरू हुआ।

तीसरे दशक में देश के प्रमुख प्राच्यविद, मुख्यत: पेत्रोग्राद अकादमी के सदस्य, प्राच्यविद परिषद में संगठित थे। इसके साथ ही एक और संगठन भी था, जो नई, मार्क्सवादी प्राच्यविद्या का केंद्र बना। यह था – अखिल रूसी (कालांतर में अखिल-संघीय) प्राच्यविद्या वैज्ञानिक संघ। इसकी स्थापना शुरू में जातियों की जन-कमिसारियत के अधीन हुई थी। ज्ञात है कि लेनिन इस संघ की स्थापना को बहुत महत्त्व-पूर्ण मानते थे। इस संघ को प्राच्यविदों के कार्यकलापों में, सर्वप्रथम तात्कालिक राजनीतिक प्रश्नों के अध्ययन के क्षेत्र में, समन्वय करना और सामान्य समस्याओं को मार्क्सवादी ढंग से हल करने में सहयोग प्रदान करना था। १९२२ से इस संघ का मुखपत्र था 'नया पूरब' नामक पत्रिका। इसमें मुख्यत: एशियाई देशों की सम-

सामयिक स्थिति पर सामग्री और लेख छापे जाते थे। पत्रिका में प्रणालीविज्ञान की समस्याओं पर भी विचार किया जाता था, मार्क्सवादी प्राच्यविद्या की सामान्य अवधारणाओ का गठन इस पत्रिका के पृष्ठों पर ही हुआ।

सुविदित है कि लेनिन उपनिवेशवाद के विरुद्ध एशियाई देशों के संघर्ष को और विशेषत भारत में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन को कितना महत्त्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने दूरदर्शिता से यह इगित किया कि "एशिया का जागरण और यूरोप के अग्रणी, सर्वहारा द्वारा सत्ता के लिए मघर्ष का आरंभ बीसवी सदी के शुरू में विश्व इतिहास में नये चरण के आरंभ का द्योतक हैं।" लेनिन ने इस बात पर ज़ोर दिया कि भारत मे ब्रिटिश शासन हिमा और लूटपाट पर आधारित है। वे यह मानते थे कि एशिया के उत्पीड़ित जनगण यूरोप के अग्रणी मज़दूरों के स्वाभाविक साथी हैं। यह रुख ही मोवियत राज्य की नीति के आधार में निहित था, मार्क्सवादी प्राच्यविद्या भी इन्ही सिद्धांतो पर आधारित थी। प्राच्यविद संघ के कार्यकलापो को 'नया पूरब' के प्रथम अक के सम्पादकीय में निम्न संदर्भ में देखा गया "अब वह घडी आ गई है जब पूरब का सही तरह से संगठित अध्ययन आरंभ करना पहले से अधिक आवश्यक हो गया है। समसामयिक रूस – यूरेशिया – सर्वप्रथम आत्मिक और आर्थिक दासता की बेडियो में कराहते तथा उज्ज्वल भविष्य के लिए सघर्षरत पूरब का शिक्षक है, नेता है। मास्को सभी पराधीन जनगण का मक्का-मदीना है। और यदि क्रूर क़ब्ज़ावर-अत्याचारी और लोभी सौदागर के लिए किसी देश में अपना प्रभुत्व बनाये रखने के वास्ते उस देश का अध्ययन करना, उसकी आर्थिक और सामाजिक पद्धति तथा शोषित जनगण का मारा रहन-सहन जानना आवश्यक है, तो उस व्यक्ति के लिए तो ऐसा ज्ञान और भी अधिक आवश्यक है, जिस पर इतिहास ने सभी तरह की दासता से मुक्ति के लिए सघर्ष में जनगण का पथप्रदर्शक होने का, शिक्षक होने का भारी दायित्व डाला है।"

सोवियत राज्य के सम्मुख पूरब से संबंधित विराट कार्य थे। एक ओर अपने देश के भीतर, देश के पूरब में यह जातीय नीति को सही-सही लागू करने का कार्यभार था तथा दूसरी ओर अन्य एशियाई राज्यो तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनो के साथ सम्पर्कों को यथासंभव बढाने का कार्यभार। पूरब के देशो में काम के लिए राजनयज्ञों और विशेषज्ञों को शीघ्र प्रशिक्षित करना, अर्थव्यवस्था, समसामयिक इतिहास तथा क्रांतिकारी और राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों का अध्ययन करना आवश्यक था। तीसरे दशक में रूस मे एशियाई देशों के, भारत के भी, प्रवासी क्रांतिकारी रहते थे, इन्हें भी सोवियत प्राच्यविद्या के संगठन के कार्य में शामिल करने की चेष्टा की जाती थी। व्यावहारिक प्राच्यविद्या के क्षेत्र में कार्य शून्य से आरंभ करना पड़ रहा था। ज़ारशाही रूस मे जाने-माने प्राच्यविदो के अनेकानेक प्रस्तावों के बावजूद नूतन प्राच्य भाषाओ – और उनमें भारतीय भाषाएं भी शामिल हैं – का अध्यापन कार्य शुरू नहीं किया गया था। गृहयुद्ध के दिनो में ही पेत्रोग्राद मे जीवित प्राच्य भाषाओं

अलेक्सेई बरान्निकोव

का संस्थान खोल दिया गया (कालांतर में इसका नाम लेनिनग्राद प्राच्य संस्थान पड़ा)। यह एक तरह से प्राच्यविद्या की व्यावहारिक अकादमी थी। संस्थान में भारतविद भी प्रशिक्षण पाते थे। श्चेर्बात्स्की, ओल्देनबुर्ग, बरान्निकोव और दूसरे विलक्षण विद्वान यहां पढ़ाते थे, भारतीय अध्यापकों को भी काम के लिए निमंत्रित किया जाता था। यहां हिंदुस्तानी, बंगला और तमिल भाषाओं का तथा संस्कृत का भी अध्ययन होता था। विभिन्न सामाजिक विषयों के अलावा प्राच्य संस्कृति के इतिहास के तथा पूरब के विभिन्न दार्शनिक मतों के भी पाठ्यक्रम यहां थे। इस प्रकार संस्थान में विद्यार्थियों को प्राच्यविद्या की व्यापक शिक्षा प्रदान करने की चेष्टा की जाती थी। लेनिनग्राद प्राच्य संस्थान सोवियत संघ में भारतविदों के प्रशिक्षण का एक महत्त्वपूर्ण केंद्र बन गया। यहां बोलचाल की तमिल भाषा और हिंदुस्तानी (उर्दू) की पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित की गईं। श्चेर्बात्स्की की पहलक़दमी पर ब्यूलर की संस्कृत की पाठ्यपुस्तक का रूसी में अनुवाद किया गया, जो आज तक विद्यार्थियों के काम आ रही है।

तीसरे-चौथे दशकों के मार्क्सवादी इतिहासशास्त्र के क्षेत्र में पूरब के इतिहास के प्राचीन काल का अध्ययन आरंभ ही हुआ था। इस सिलसिले में प्रसिद्ध न्यायशास्त्री मिख़ाईल रैस्नर की पुस्तक 'पूरब की विचारधाराएं। पूर्वी धर्मतंत्रों की रूपरेखा'

(१९२७) उल्लेखनीय है। इसमे प्राचीन भारत पर काफी बडे अध्याय थे। मिख़ाईल रैस्नर ने प्राच्यविद्या की विशेष शिक्षा नही पाई थी (कुछ प्रश्नों पर वे अपने पुत्र ईगोर रैस्नर से परामर्श ले सकते थे, जो आगे चलकर सुविख्यात भारतविद बने)। लेखक ने वर्ण प्रथा का सार, वर्णो और वर्गो का सहसबंध, वर्णो की उत्पत्ति और भारत की प्राचीन क़बीलाई व्यवस्था से उनका सबध, बौद्ध धर्म का सामाजिक सार, आदि समस्याओं को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत और हल करने का प्रयास किया। यह पुस्तक मुख्यत पश्चिमी शोधकार्यो के आधार पर लिखी गई थी, यद्यपि इसमें सस्कृत ग्रंथों के यूरोपीय भाषाओ मे हुए अनुवादो का भी अशत: उपयोग किया गया था। मिख़ाईल रैस्नर के अनेक विचार आज बहुत ही नादानी भरे लगते हैं, उनका मार्क्सवाद अति सरलीकृत और यहां तक कि विकृत था। इस सबके बावजूद प्राचीन भारत की सामाजिक विचारधारा और सामाजिक सरचना में रैस्नर की रुचि अत्यंत लाक्षणिक है।

१९२८-३० में मार्क्सवादी विद्वानों में पूरब मे सामाजिक-आर्थिक ढांचे के प्रश्न पर ज़ोरदार वाद-विवाद चला था। इसमें भारतीय सामग्री का हवाला विरले ही दिया जाता था, क्योंकि तब सोवियत संघ में प्राचीन भारत के इतिहास का अध्ययन पर्याप्त व्यापक रूप से नही हो रहा था। तो भी इस वादानुवाद का सोवियत प्राच्य-विद्या की सामान्य अवधारणाओं के गठन पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडा, तथा आगे चलकर प्राचीन भारत के इतिहास पर विचार करते समय भी सोवियत प्राच्यविद इस विवाद के निष्कर्षो मे प्रभावित हुए। विवाद के दौरान सोवियत विद्वानो का ध्यान सामाजिक-आर्थिक विरचना की समस्या पर केंद्रित था। यह स्पष्टत: निर्धारित किया गया कि पूरब के देशों का विकास उन्हीं मार्गो पर हुआ, जिन पर पश्चिम के देशो का। इस दृष्टिकोण का समर्थन केवल मार्क्सवादी ही नही करते थे, अकाद-मिक प्राच्यविद भी उससे काफ़ी हद तक सहमत थे।

तीसरे दशक के उत्तरार्ध मे 'वोस्तोक' पत्रिका अकादमिक प्राच्यविदों का मुखपत्र थी। पत्रिका की सामान्य दिशा इसके सम्पादक ओल्देनबुर्ग द्वारा निर्धारित की जाती थी। १९२२ में प्रकाशित पत्रिका के पहले अंक में ओल्देनबुर्ग ने पूरब और पश्चिम की समानता और सामीप्य के तथा मानवजाति के इतिहास की एकता के विचार मुखरित किये। उन्होंने लिखा कि "पूरब की उपलब्धियां पश्चिम की उपलब्धियों मे कम नही, बल्कि उनसे बढ़कर ही हैं," कि पूरब ने "मानव आत्मा की असाधारण शक्ति" का परिचय दिया है। लेकिन उनके विचार में इन उपलब्धियों का आधार पश्चिम से भिन्न था। पूरब बाह्य जगत की ओर नही, बल्कि मानव आत्मा की ओर ही उन्मुख होता है, प्राकृतिक विज्ञानों की मदद के बिना उसका अध्ययन करता है। पूरब के प्रति ओल्देनबुर्ग का दृष्टिकोण यहां भी वैसा ही है, जैसा कि इससे कुछ वर्ष पहले था, जब उन्होंने बौद्ध प्रदर्शनी में व्याख्यान दिया था। साथ ही इस पत्रिका के सभी लेख पश्चिम के "भौतिकवाद" और पूरब के "भाववाद" की

प्रत्यास्थापना करने वाली तथा मुख्यत. एशिया की प्राचीन आत्मिक संस्कृति के महत्व पर बल देने वाली सामान्य उद्घोषणाओं के रूप मे ही नही होते थे। भारतविदो की युवा पीढी के प्रतिनिधि तुब्यान्स्की ने हिंदू धर्म पर ग्लाज़ेनाप्प की पुस्तक की समीक्षा मे जर्मन विद्वान की इस बात के लिए कटु आलोचना की कि उन्होंने भारत के आत्मिक जीवन मे धर्म और रहस्यवाद की भूमिका बहुत बढा-चढ़ाकर दिखाई है। उन्होने लिखा : "यह घिसा-पिटा वाक्य कि भारत में सभी कुछ "रहस्यवाद से ओत-प्रोत" है, न केवल अपने आप मे सरासर ग़लत है और इसलिए भारत से सबधित उन पुस्तकों में इसका कोई स्थान नहीं होना चाहिए, जो वैज्ञानिकता का दावा करती हैं, बल्कि यह भारतविद्या से संबंधित सभी ठोस तथ्यों की व्याख्या और मूल्यांकन मे भी बहुत खतरनाक है।" तुब्यान्स्की ने उन रूसी भारतविदो और भारतीय अध्येताओ की रचनाओं का उच्च मूल्यांकन किया, जिन्होंने दर्शन, विज्ञान और ललित कलाओं के विभिन्न क्षेत्रों में प्राचीन भारत की विशाल उपलब्धियां दर्शाई। सोवियत भारतविद ने इंगित किया कि इन रचनाओं की बदौलत "रहस्यवाद का कोहरा छट गया और हम अमूर्त ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों मे भारतीयों के पूर्णत तार्किक चितन के सहस्राब्दियों तक विराट, सतत कार्य का इतिहास देख पाये।" तुब्यान्स्की पहले सोवियत भारतविद थे, जिन्होंने पाठको को सममामयिक भारतीय साहित्य से परिचित कराया। 'वोस्तोक' पत्रिका के लिए उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं और बंकिमचद्र चट्टोपाध्याय के 'वंदे मातरम्' का अनुवाद किया।

ओल्देनबुर्ग ने यह विचार प्रकट किया था कि भारत के आर्थिक इतिहास का, उसके जटिल सामाजिक जीवन, कृषि और शिल्पों, नगरों के उद्योगो और व्यापार का अध्ययन किया जाना चाहिए। उनका कहना था कि इस किवदंती से छुटकारा पाना चाहिए कि भारत धर्म का ही देश है – "भारतीय आर्थिक जीवन को जाने और समझे बिना हम कभी भी भारत को और उसके जटिल इतिहास को समझ नही पायेंगे।" यहां स्पष्टत: पूरब के प्रति नया रुख दृष्टिगोचर होता है, जो बाद मे सोवियत भारतविद्या में प्रमुख बन गया। प्रत्यक्षत:, पुराने रूसी भारतविदों के एक श्रेष्ठतम प्रतिनिधि ने भारत के सामाजिक-आर्थिक इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता का विचार अकारण ही नही व्यक्त किया और इसका कारण केवल मार्क्सवादी विचारों का प्रभाव ही नहीं था। स्वय वैज्ञानिक सामग्री को देखते हुए उनका इस विचार पर पहुचना स्वाभाविक था कि पूरब और पश्चिम के किसी भी देश की संस्कृति पर सर्वप्रथम ऐतिहासिक संदर्भ मे दृष्टिपात करना चाहिए। इस सदर्भ को समझे बिना, उस समाज को जाने बिना, जो संस्कृति का सृजक था, तर्क-वितर्क पूर्णत. वैज्ञानिक नहीं रहते, आधुनिकीकरण और आत्मगत रुख प्रकट होने लगता है। तीसरे-चौथे दशको में सोवियत इतिहासकार ही प्राचीन इतिहास की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं की ओर ध्यान दे रहे हो – ऐसी बात नही थी, यूरोपीय देशों के कई विद्वान भी इन समस्याओ पर काम कर रहे थे। यहां यह

भी कहा जाना चाहिए कि भारतीय विद्वानो ने तीसरे दशक में ही इस क्षेत्र में निश्चित सफलताएं पा ली थी। ओल्देनबुर्ग प्राचीन भारत के सामाजिक-आर्थिक इतिहास पर, मजूमदार, प्राणनाथ, बंदोपाध्याय, आदि के प्रकाशनो पर ध्यान से नजर रखते थे और सोवियत पत्रिकाओं में उनकी रचनाओं का सिहावलोकन छापते थे।

वैसे, कुल जमा 'वोस्तोक' के लेखको की रुचि का दायरा अकादमिक प्राच्यविद्या का परम्परागत दायरा ही था। यह था – पूरब की आत्मिक सस्कृति का, उसके "विवेक और सौंदर्य" का अध्ययन, जिनकी "हमारे जीवन में आवश्यकता है"। इस दिशा में पत्रिका ने बहुत कुछ किया और इससे भी अधिक की योजनाएं तैयार कीं। उदाहरणत, प्राचीन प्राच्य साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं का प्रकाशन उल्लेखनीय है। 'वोस्तोक' में दडी कृत 'दशकुमारचरित' का श्चेर्बात्स्की द्वारा किया गया अनुवाद प्रकाशित हुआ।

सस्कृत साहित्य के प्रकाशन का कार्य केवल पेत्रोग्राद मे ही नही होता था और 'वोस्तोक' के लिए लिखने वाले विद्वानो द्वारा ही नही। श्चेर्बात्स्की के साथ-साथ खार्कोव नगर के संस्कृतविद प० रित्तेर ने भी तीसरे दशक में 'दशकुमारचरित' का अनुवाद किया। उन्होंने भारतीय काव्य का एक सकलन भी तैयार किया। इसमे सस्कृत, पाली और बंगला कविताओं के अनुवाद थे। अ० बरान्निकोव ने तीसरे दशक मे आर्यशूर की 'जातकमाला' का अनुवाद किया, लेकिन यह अनुवाद कुछेक दशक बाद ही छप सका। श्चेर्बात्स्की के दूसरे शिष्य, जो आगे चलकर सुविख्यात भाषाविद बने, व० लारिन ने तीसरे दशक में भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन किया, वामन की कृति 'काव्यालकार' का अनुवाद किया और भारतीय काव्य मे प्रतीक पर एक शोध रचना छापी।

१९२७ मे कला इतिहास सस्थान ने 'पूरब के जनगण का रगमंच' प्रदर्शनी आयोजित की और फिर 'पूरब का रगमंच' पुस्तक छापी। भारतीय रगकला का अध्याय अ० मेर्वार्त ने लिखा, जो इस विषय पर कुछ शोध रचनाएं प्रकाशित कर चुके थे। अ० मेर्वार्त भारतीय शास्त्रीय रंगकला का स्रोत लोक तमाशों में पाते थे और इस संबध में उनके निष्कर्ष बौद्ध गल्प साहित्य के विकास के बारे मे ओल्देनबुर्ग के विचारो मे मिलते-जुलते थे। मेर्वार्त द्वारा भारतीय नाट्यकला का अध्ययन मिनायेव द्वारा आरंभ किये गये कार्य की अगली कडी था। मिनायेव ने भारत के लोक तमाशों का अध्ययन किया था। मेर्वार्त भारतीय नृजातिवर्णन के क्षेत्र में गिने-चुने सोवियत विशेषज्ञो में मे एक थे। १९१४-१९१८ में उन्होंने भारत और श्रीलका में काम किया। मेर्वार्त और उनकी पत्नी सोवियत संघ में दक्षिणी भारत का अध्ययन आरंभ करने वाले पहले विशेषज्ञ थे। मेर्वार्त ने कई बार इस बात पर ज़ोर दिया था कि प्राचीन भारतीय सस्कृति में द्रविड जातियो के योगदान को ध्यान मे रखे बिना उसे सही-सही समझ पाना असभव है।

अकादमीशियन श्चेर्वात्स्की प्रमुखतम सोवियत भारतविद थे। उनके बारे में इस पुस्तक में एक पूरा अध्याय दिया गया है। यहां हम केवल यह बताना चाहते हैं कि श्चेर्बात्स्की न केवल विलक्षण विद्वान, अपितु अनुपम अध्यापक भी थे। तीसरे दशक में उन्होंने कई प्रतिभावान प्राच्यविद शिक्षित किये। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय और प्राच्य संस्थान में श्चेर्बात्स्की संस्कृत, पाली और तिब्बती भाषाएं पढ़ाते थे, भारतीय दर्शन, धर्म और साहित्य के इतिहास के विशेषज्ञ तैयार करते थे। अनेक यूरोपीय संस्कृतविदों से भिन्न श्चेर्वात्स्की परम्परागत भारतीय व्याकरण का तथा भाषा अध्यापन विधि का उच्च मूल्यांकन करते थे। उनका विचार था कि संस्कृत के अध्ययन में, जो कि जीवित परम्परा की भाषा है और जिस पर भारतीय विद्वान पीढ़ी दर पीढ़ी काम करते आये हैं, केवल यूरोपीय तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की उपलब्धियों का आसरा लेना ग़लती है। संस्कृत के अध्यापक के नाते श्चेर्बात्स्की समसामयिक भाषाविज्ञान की उपलब्धियों और भारतीय विद्वानों के परम्परागत रूप दोनों का उपयोग करते थे। यह अकारण ही नहीं कि उन्होंने वरदराज के व्याकरण 'लघुसिद्धांतकौमुदी' का अनुवाद किया। श्चेर्वात्स्की यह मानते थे कि भारतीय परम्परा को (न केवल व्याकरण की, बल्कि सौंदर्यशास्त्र और तर्कशास्त्र की भी) जाने बिना मूल पाठ को सही-सही नहीं समझा जा सकता।

उनके शिष्यों में ओवेरमिल्लेर, तुब्यान्स्की और वोस्त्रिकोव जैसे भारतीय, तिब्बती और मंगोल संस्कृति के प्रकांड सुविज्ञ थे। बौद्ध धर्म और भारतविद्या में इनकी रुचि बहुत हद तक पूरब की आत्मिक संस्कृति में उस सामान्य रुचि द्वारा निर्धारित होती थी, जो क्रांतिपूर्व काल और तीसरे दशक के लिए लाक्षणिक थी। (इस काल का दूरवर्ती प्रभाव तुर्कमान विज्ञान अकादमी के अकादमीशियन ब० स्मिर्नोव द्वारा छठे दशक में प्रकाशित रचनाओं में भी देखा जा सकता है, ब० स्मिर्नोव ने संस्कृत का अध्ययन १६१८ में शुरू किया था)।

१६२८ में बौद्ध संस्कृति संस्थान की स्थापना का निश्चय किया गया। लेनिनग्राद के बौद्ध धर्म अध्येताओं ने ऐसे संस्थान की आवश्यकता प्रमाणित करने के लिए जो पत्र लिखा था, उसमें इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि एशिया के अनेक जनगण के सामाजिक जीवन को समझने के लिए बौद्ध धर्म का अध्ययन नितांत आवश्यक है। श्चेर्बात्स्की का कहना था कि बौद्ध धर्म के अध्ययन में रूस की विशेष भूमिका होनी चाहिए, क्योंकि "बौद्ध धर्म के ज़रिए बाइकाल से वोल्गा के मुहाने तक की सारी सीमा पर भारत हमारा पड़ोसी बन जाता है।" श्चेर्बात्स्की इस संस्थान के डायरेक्टर नियुक्त हुए थे। इसकी २४ सदस्यों की वैज्ञानिक परिषद गठित की गई। इनमें आधे सदस्य यूरोप और एशिया के जाने-माने बौद्ध धर्म के अध्येता थे। सोवियत विद्वानों का प्रतिनिधित्व यहां चीनविद व० अलेक्सेयेव, मंगोलियाविद ब० व्लादीमिर्त्सोव, अकादमीशियन सेर्गेई ओल्देनबुर्ग तथा अन्य विलक्षण भारतविद कर रहे थे। बौद्ध संस्कृति संस्थान में 'बौद्ध पुस्तकमाला' के नये अंकों, मूल ग्रंथों,

येव्गेनी ओबेरमिल्लेर

अनुवादो और शोधकार्यो के प्रकाशन की व्यापक योजना तैयार की गई थी। संस्थान में दो विभाग थे, एक मे भारत, तिब्बत और मंगोलिया का अध्ययन होता था, जबकि दूसरे में चीन व जापान का। यह संस्थान १९३० तक बना रहा, जब विज्ञान अकादमी के सभी प्राच्यविद्या संबंधी प्रतिष्ठानों का एक ही प्राच्यविद्या संस्थान में विलय कर दिया गया।

सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान की स्थापना के साथ हमारे देश में इस विद्या के विकास मे एक नये चरण का आरंभ हुआ। पहली बार सारे देश में प्राच्यविद्या संबंधी कार्य के विकास का नियोजन करना संभव हुआ। संस्थान की योजनाओं में आधुनिक और समसामयिक काल मे पूरब के देशों के इतिहास व अर्थव्यवस्था के अध्ययन तथा राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के विकास के अध्ययन का विशेष स्थान था, प्राचीन और मध्य युगों मे पूरब के देशों के नागरिक इतिहास के अध्ययन की भी समस्या प्रस्तुत की गई। बौद्ध संस्कृति संस्थान जो कार्य कर रहा था, वह श्चेर्बात्स्की के नेतृत्व मे अब प्राच्यविद्या संस्थान के भारत-तिब्बत कक्ष में जारी रखा गया, जहा उस संस्थान के कर्मी ही मुख्यत: काम करने लगे थे। प्राच्यविद्या संस्थान के पहले डायरेक्टर ओल्देनबुर्ग इस कक्ष के कार्य में बहुत सहायता प्रदान करते थे।

बौद्ध संस्कृति संस्थान, भारत-तिब्बत विभाग और श्चेर्बात्स्की के युवा शिष्यों व सहयोगियों के कार्य की हम यहां संक्षेप में चर्चा करेंगे। **येव्गेनी ओबेरमिल्लेर** (१९०१-१९३५) के वैज्ञानिक कार्यकलाप सर्वाधिक फलप्रद थे। उन्होंने पेत्रोग्राद विश्वविद्यालय में श्चेर्बात्स्की से संस्कृत सीखी, भारतीय साहित्य और दर्शन के इतिहास पर लेक्चर सुने, काव्य रचनाएं और वैज्ञानिक ग्रंथ पढ़े। बौद्ध धर्म के इतिहास और दर्शन में विशेषज्ञता पाने के लिए उन्होंने तिब्बती और मंगोल भाषाएं भी सीखी। उनका पहला कार्य था धर्मकीर्ति के 'न्यायबिंदु' की संस्कृत-तिब्बती और तिब्बती-संस्कृत शब्दसूची। ओबेरमिल्लेर ने बाइकाल-पार की कई यात्राएं कीं। यहां बुर्यात बौद्ध मठों में उन्हें अद्वितीय बौद्ध ग्रंथ मिले। इन मठों में ही ओबेरमिल्लेर ने तिब्बती भाषा, भारतीय और तिब्बती साहित्य तथा बौद्ध दर्शन के अपने ज्ञान का परिष्कार किया। १९२८ में वे बौद्ध संस्कृति संस्थान में काम करने लगे, लेकिन दो साल बाद ही एक दुस्साध्य रोग ने उन्हें अपंग बना दिया। १९३५ में अपनी मृत्यु तक वे न केवल चलने-फिरने में, बल्कि लिखने में भी असमर्थ रहे। किंतु ऐसी घोर विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने आठ वर्षों में इतना अधिक कार्य किया कि देखकर आश्चर्य होता है, उन्होंने उच्च कोटि की ३० वैज्ञानिक रचनाएं तैयार कीं, कुछ रचनाएं अपूर्ण रह गईं। ओबेरमिल्लेर की प्रकाशित रचनाओं में बूस्तोन की दो खण्डों की तिब्बती पुस्तक 'बौद्ध धर्म का इतिहास' का अनुवाद तथा प्रज्ञापारमिता पर कुछ लेख विशेषतः उल्लेखनीय हैं। श्चेर्बात्स्की के साथ मिलकर उन्होंने 'अभिसमयालंकार' के संस्कृत पाठ और तिब्बती अनुवाद का प्रकाशन किया। इस रचना पर शोध ग्रंथ कलकत्ता में छपा। उन्होंने कमलशील की रचना 'शवनक्रम' को भी प्रकाशनार्थ तैयार किया था और इस रचना के बारे में आरंभिक सूचना 'जर्नल आफ़ ग्रेटर इंडियन सोसाइटी' में छपी थी। किंतु प्रकाशन ओबेरमिल्लेर के मरणोपरांत १९३६ में ही हो पाया।

ओबेरमिल्लेर भारत में सुविख्यात थे, भारतीय पत्रिकाओं के लिए वे लिखते थे। उदाहरणतः, 'इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली' में 'निर्वाण' और 'शून्यता' की बौद्ध अवधारणाओं के बारे में उनकी शोध रचना छपी थी। 'ग्रेटर इंडियन सोसाइटी' ने, जिसके अध्यक्ष रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे, ओबेरमिल्लेर को अपना सदस्य चुना।

श्चेर्बात्स्की के दूसरे शिष्य **मिखाईल तुब्यान्स्की** (१८९३-१९४३) प्राचीन भारतीय और बंगला साहित्य, भारतीय, तिब्बती और मंगोल भाषाविज्ञान, दर्शन के इतिहास और बौद्ध धर्म जैसे प्राच्यविद्या के क्षेत्रों के मर्मज्ञ जानकार थे। तीसरे दशक में वे नूतन भारतीय भाषाओं – बंगला और हिंदी – के पहले अध्यापकों में एक थे। साथ ही वे संस्कृत भी पढ़ाते थे। तुब्यान्स्की की पहली बड़ी वैज्ञानिक कृति 'न्यायप्रवेश' तथा बौद्ध न्याय रचनाओं के अध्ययन से संबंधित थी। उन्होंने चीनी और तिब्बती रूपांतरों का उपयोग करते हुए 'न्यायप्रवेश' के मूल संस्कृत पाठ

का प्रकाशन किया। तुब्यान्स्की ने कई वर्षों तक मंगोलिया की वैज्ञानिक अनुसंधान समिति के तिब्बती अध्ययन विभाग में काम किया। मंगोलिया मे उन्हे 'चतुःस्तव' का संस्कृत पाठ मिला, जो खो गया माना जाता था। इस ग्रथ का उन्होने टीका सहित अनुवाद तैयार किया। तुब्यान्स्की ने मुम्पाखापो के 'भारत, तिब्बत और मंगोलिया में बौद्ध धर्म का इतिवृत्त' पुस्तक के अनुवाद पर, तिब्बती-मंगोल शब्दकोश पर, आयुर्वेद और तिब्बती चिकित्सा प्रणाली के शब्दकोश-संदर्भग्रंथ पर तथा तिब्बती स्रोतों के आधार पर भारतीय भौतिकवाद के अध्ययन पर काम किया। असामयिक निधन के कारण उनकी रचनाओ का बड़ा भाग अपूर्ण ही रह गया या प्रकाशित नहीं हो पाया।

अ० वोस्त्रिकोव (१६०४-१६४२) मुख्यत तिब्बतविद्या का ही अध्ययन करते थे, पर भारतविद्या के क्षेत्र मे भी उन्होंने काफ़ी कुछ किया। श्चेर्बात्स्की के दूसरे शिष्यो की भांति उन्होंने धर्मकीर्ति के दर्शन के बारे मे लिखा, 'इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली' में उद्योत्कर के 'न्यायवार्त्तिक' और धर्मकीर्ति के 'वादन्याय' के बारे में उनका शोधकार्य छपा। १६३४ मे वसुबधु के न्यायशास्त्र पर वोस्त्रिकोव का वृहद शोध ग्रथ भारत मे प्रकाशन के लिए स्वीकार किया गया। १६३६-१६३७ मे उन्होंने श्चेर्बात्स्की के साथ मिलकर संस्कृत के ऐतिहासिक-ज्योतिष ग्रथ 'कालचक्र' का अध्ययन किया। इस ग्रथ की दो पांडुलिपियो और तिब्बती अनुवाद के आधार पर वोस्त्रिकोव ने इसका पाठ तो प्रकाशन के लिए तैयार कर दिया, लेकिन रूसी अनुवाद और टिप्पणियां तैयार नही कर पाये।

बोरिस सेमिचोव (१६००-१६८१) ने दार्शनिक ग्रंथ 'कर्मसिद्धि' का मूल पाठ और अनुवाद प्रकाशित किये, भारत और तिब्बत की जड़ी-बूटियों के बारे में शोध रचना तैयार की। चौथे दशक के अंत मे छठे दशक के मध्य तक उनके वैज्ञानिक कार्य मे अतराल रहा और इसके बाद उन्होंने तिब्बती भाषा के प्रश्नो की ओर ही विशेष ध्यान दिया।

प्राच्यविद्या संस्थान की स्थापना के बाद भारत-तिब्बत कक्ष के कार्य की योजना में दर्शन और बौद्ध धर्म के ही नही, इतिहास के प्रश्न भी शामिल किये गये। प्राचीन भारत के सामाजिक इतिहास के अध्ययन का और सर्वप्रथम इस विषय पर सबसे महत्त्वपूर्ण संस्कृत और पाली ग्रथों के अनुवाद का कार्यभार निर्धारित किया गया। इन ग्रथो के रूप मे कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' और बौद्ध जातक कथाएं चुनी गईं। विद्वानों के एक दल ने, जिसमें श्चेर्बात्स्की, ओल्देनबुर्ग, ओत्रेरमिल्लेर और सेमिचोव शामिल थे, १६३२ तक 'अर्थशास्त्र' का अनुवाद मुख्यत पूरा कर लिया था (यह १६५६ में छपा)। ओल्देनबुर्ग ने ही इस कार्य की योजना बनाई थी। वे उचित ही यह मानते थे कि प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था की समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत-ग्रंथों के अनुवाद और विश्लेपण से ही शुरू होना चाहिए।

भारत-तिब्बत कक्ष के कार्य मे भारतीय विषयो की भूमिका धीरे-धीरे अधिक व्यापक हो रही थी, लेकिन ऐसा मूलत: आधुनिक भारत से संबंधित विषयों की बदौलत ही हो रहा था। चौथे दशक मे इस कक्ष में भारतीय विद्वानों ए० मुखर्जी और चट्टोपाध्याय ने भी काम किया। अकादमीशियन वरान्निकोव नूतन भारतीय भाषाओ और समसामयिक भारतीय साहित्य के अध्ययन के सक्रिय समर्थक थे। १९३६ मे उनके संचालन में नूतन भारतीय कक्ष खुला था। शीघ्र ही भारत-तिब्बत कक्ष भी दो भागों – भारतीय और तिब्बती – में बंट गया।

इसमे कोई संदेह नही है कि श्चेर्बात्स्की और उनके अनुयायियो-सहयोगियो द्वारा भारत और उसके सीमावर्ती देशो की संस्कृति के अध्ययन में एकतरफ़ापन था। चौथे दशक में उन्हें उचित ही इस बात का उलाहना दिया जाता था कि वे प्राचीन भारत के इतिहास की, विशेषत:, सामाजिक-आर्थिक इतिहास की समस्याओ की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देते तथा समसामयिक भारतीय संस्कृति के प्रश्नों को नज़रदाज़ करते हैं। इन विद्वानो की रचनाओ में प्राय: बौद्ध धर्म का आदर्शीकरण और प्राचीन संस्कृति की समस्याओं के प्रति भाववादी रुख पाया जाता था। तथापि आज, कुछ दशक बीत जाने पर समसामयिक शोधकर्त्ता का ध्यान इस धारा की कमज़ोरियो की ओर नही, इसकी उपलब्धियो की ओर ही आकर्षित होता है। स्वयं भारत में और उसके बाहर फैले "उत्तरी" बौद्ध धर्म के अध्ययन के लिए लेनिनग्राद के विद्वानो ने जितना कार्य किया, उतना और किसी भी देश के बौद्ध धर्म अध्येताओं ने नहीं किया। श्चेर्बात्स्की और उनके शिष्यो ने बहुत से नये और अल्पज्ञात ग्रथ खोजे और उन्हें अध्ययन का विषय बनाया। इन विद्वानों ने बौद्ध विश्वदृष्टिकोण और दर्शन की मूलभूत अवधारणाओं के स्पष्टीकरण में बहुत योगदान किया, भारतीय संस्कृति के इतिहास मे बौद्ध धर्म का महत्त्व और सारे केंद्रीय व पूर्वी एशिया के आत्मिक जीवन पर भारत का प्रभाव उजागर किया।

भारत से संबंधित कार्य मे लगे भाषाविदों में **र० शोर** और **ई० फ़्रांक-कामेनेत्स्की** उल्लेखनीय हैं। र० शोर ने 'पंचतंत्र' (१९३०) और 'वेतालपच्चीसी' (१९३६) का अनुवाद किया। 'वेतालपच्चीसी' के विभिन्न पाठभेदो के सहसंबध का विश्लेषण करते हुए र० शोर इस निष्कर्ष पर पहुंचीं कि छंदबद्ध पाठभेद ही इसका आदि रूप है। उन्होंने इस रचना पर गुणाढ्य की 'वृहत्कथा' का तथा लोक भाषाओं के लुप्त साहित्य का प्रभाव देखने की चेष्टा की। "कथा के अंदर कथा" वाली रचनाओं को वे मौखिक लोक साहित्य की परम्परा के साथ घनिष्ठ रूप से जुडा मानती थी। तीसरे-चौथे दशकों में साहित्य-आलोचक "कथा के अंदर कथा" वाली रचनाओं मे कथन की विधि और शैली संबंधी साधनों का पता लगाने तथा पश्चिमी गल्प के साथ प्रारूपात्मक तुलना करने की ओर विशेष ध्यान देते थे। ई० फ्रांक-कामेनेत्स्की ने भारतीय मिथकों के प्रारूपात्मक विश्लेषण पर कतिपय शोध रचनाएं लिखीं, इनमें एक में उन्होंने आदम और पुरुष के मिथकों की तुलना की थी। काव्य-भाषा

की समस्या के सदर्भ मे उन्होने भारतीय साहित्य की उपमाओ और अलंकारों पर भी गौर किया। फ्राक-कामेनेत्स्की के शोधकार्य की दिशा का तथा उनके कुछ विचारों व प्रेक्षणो का महत्त्व आज तक बना हुआ है।

चौथे दशक मे सोवियत प्राच्यविद्या की सामान्य अवधारणाए गठित हुईं, जिनमें प्राचीन पूरब के इतिहास से संबधित अवधारणाए भी थी। 'सोवियत परिस्थितियों में पूरब और पश्चिम' नामक कृति मे ओल्देनबुर्ग ने १६३१ में ही लिखा था : "हमारे लिए जनगण और देशो का पूरब और पश्चिम में विभाजन नहीं है, ऐसा विभाजन नही है कि इन्हे एक दूसरे के विरुद्ध रखा जाए और इनका अध्ययन अलग-अलग ढंग से किया जाए। पूरब भी हमारे सघ मे पश्चिम के समान अधिकारों के साथ समाहित हुआ है और हम इसका अध्ययन उसी मार्क्सवादी रीति से करते हैं, जिससे पश्चिम का। पूरब मे भी वर्ग सघर्ष वैसे ही चलता आया है और चल रहा है, जैसे कि पश्चिम में। पूरब के इतिहास में वे ही विरचनाए बनी हैं, जो कि पश्चिम में।" यह देख पाना कठिन नही है कि इस वक्तव्य मे एक ओर रूसी प्राच्यविद्या के परम्परागत सिद्धातो का नैरतर्य है, तो दूसरी ओर पूरब व पश्चिम की एकता मार्क्सवादी विश्वदृष्टिकोण की भावना मे, सामाजिक-आर्थिक विरचनाओ के सिद्धांत के आधार पर निर्धारित की गई है। चौथे दशक के आरभ मे सोवियत विद्वानों ने दृढतापूर्वक इस विचार का खंडन कर दिया था कि पूरब के विकास के कोई विशेष मार्ग रहे हैं (तथाकथित "एशियाई उत्पादन विधि", जिसके लक्षण थे असाधारण गतिहीनता, निरंकुशता और भूमि पर निजी स्वामित्व का न होना)। इस अवधारणा की अभिपुष्टि हो गई थी कि पूरब के देश भी उन्ही सामाजिक-आर्थिक विरचनाओं से गुज़रे है, जिनमे पश्चिमी देश। प्राचीन ससार को दासप्रथात्मक विरचना के प्रभुत्व का काल माना जाता था। इस प्रसंग मे आरभ में यह माना जाता रहा कि प्राचीन पूरब के देशो में दासप्रथात्मक सबंधो का प्रभुत्व उन्ही रूपो में था, जिनमे यह प्राचीन यूनान और रोम मे था। प्राचीन भारत को भी प्राचीन पूरब का एक अंश माना जाता था। हा, यहा यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि सोवियत इतिहासवेत्ताओं के लिए प्राचीन पूरब तथाकथित "यूनानप्रभावित पूरब" (निकट पूर्व) ही नहीं है, जैसा कि पश्चिमी इतिहासवेत्ता मानते हैं, बल्कि वे इसमें सुदूर पूर्व और दक्षिणी एशिया के देश भी शामिल करते हैं, यानी प्राचीन युग के सभी देश, सिवाय प्राचीन यूनान और रोम के। यह मत सोवियत इतिहासशास्त्र की सामान्य अवधारणाओं को (सामाजिक-आर्थिक विरचनाओ के सिद्धात को) प्रतिबिम्बित करता था और विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रमो व पाठ्यपुस्तकों में अभिपुष्ट हुआ था। महान देशभक्ति-पूर्ण युद्ध (१६४१-१६४५) के छिड़ने से कुछ समय पहले प्रकाशित प्राचीन पूरब के इतिहास की पाठ्यपुस्तक में प्राचीन भारत मे दासप्रथा के महत्त्व पर बल दिया गया था। यद्यपि उस अध्याय मे प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था का स्वरूप स्पष्टत निरूपित नही किया गया था, तथापि दूसरे अध्यायों मे यह स्पष्ट था कि

प्राचीन पूरब के देशो मे भी दासप्रथात्मक उत्पादन विधि का प्रभुत्व रहा था। प्राचीन भारत मे दासप्रथा का विशाल महत्त्व प्रमाणित करने के लिए प्राचीन भारतीय शूद्रो को दास (या दासो जैसी स्थिति वाले कामगर) घोषित किया गया था (जैसा कि अनेक पश्चिमी इतिहासकारो की रचनाओं में भी किया जाता था – 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ़ इंडिया' तथा भारतीय विद्वान सिन्हा, बैनर्जी, आदि की पुस्तकें देखिये)।

कुल जमा चौथे दशक में सारी सोवियत प्राच्यविद्या के पुनर्गठन का कार्य संपन्न हुआ, वैज्ञानिक कार्य के संगठन में तथा पूरब के इतिहास की मार्क्सवादी समझ का विकास करने मे निर्विवाद सफलताए पाई गईं। चौथे दशक के अत तक प्राचीन पूरब के, जिसमे भारत भी आता था, सामाजिक इतिहास की सामान्य अवधारणा तैयार कर ली गई। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमो में भारत का सामाजिक और राजनीतिक इतिहास इस अवधारणा के अनुसार प्रस्तुत किया जाने लगा। लेकिन प्राचीन भारत के ही इतिहास पर विशेषतः कोई शोधकार्य अभी नहीं हुआ था।

युद्धोपरांत वर्ष
(पांचवें दशक के मध्य से छठे दशक के मध्य तक)

युद्धोपरात पहले वर्षों में ही सोवियत संघ में प्राचीन भारत के इतिहास का विशेषतः अध्ययन होने लगा। यह कार्य मुख्यतः मास्को मे ही हो रहा था, लेनिनग्राद मे नही (युद्ध के बाद प्राच्यविद्या का केंद्र मास्को बन गया था)। विश्वविद्यालयो मे विश्व इतिहास के समुचित अध्यापन के लिए एशियाई देशों के इतिहास के पाठ्यक्रम शुरू करना और पाठ्यपुस्तके तैयार करना आवश्यक था। मास्को विश्वविद्यालय में **अ० ओसिपोव** प्राचीन और मध्ययुगीन भारत के इतिहास पर लेक्चर देते थे। १९४८ में उनकी पुस्तक 'दसवी सदी तक के भारत के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा' छपी। यह सोवियत इतिहासशास्त्र में इस विषय पर पहली और काफ़ी लबे समय तक एकमात्र पुस्तक थी। इस छोटी सी पुस्तक मे प्राचीन और आदि मध्ययुग में भारत के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास के मुख्य चरणो को चित्रित करने का प्रयास किया गया। १९४८ में भारतविद **द० सुलैकिन** ने भारत के सामाजिक इतिहास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक समस्याओं पर एक रिपोर्ट पेश की – 'प्राचीन भारत के इतिहास के काल-विभाजन के मूलभूत प्रश्न' (यह १९४९ में 'प्रशांत महासागर संस्थान के वैज्ञानिक नोट', खण्ड २ में प्रकाशित हुई)। १९५०-५१ मे **ग० इल्यीन** के प्राचीन भारत में दासप्रथा पर लेख छपे। इनमें लेखक ने प्राचीन भारतीय स्रोतो, मुख्यतः, धर्मशास्त्रो का विश्लेषण किया था (ये ग्रंथ इल्यीन ने संस्कृत में ही पढ़े थे, सस्कृत उन्होंने म० पेतेरसन से सीखी थी)। इन इतिहासकारो की रचनाओ में

हम समसामयिक इतिहासशास्त्र के ज्ञान की छाप पाते हैं। भारतीय इतिहासकारो की रचनाओ की ओर तो उन्होंने विशेष ध्यान दिया। ऐसा अकारण ही नहीं था और इसका कारण केवल यही नही था कि सोवियत प्राच्यविद सदा ही एशियाई देशों के विद्वानो द्वारा अपने देश के इतिहास पर किये जाने वाले कार्य में दिलचस्पी लेते रहे हैं, बल्कि यह भी कि तीसरे दशक से भारतीय इतिहासवेत्ता प्राचीन भारत में सामाजिक-आर्थिक संबधो की ओर विशेष ध्यान देने लगे थे। कतिपय सामान्य प्रश्नों पर सोवियत इतिहासकारों ने भारतीय विद्वानो से तर्क-वितर्क किया। उदाहरणतः, द० सुलैकिन ने यह इंगित किया कि भारत के इतिहास का वैज्ञानिक आधार पर निर्धारित काल-विभाजन नही है। भारतीय इतिहासवेत्ताओं (उपेन्द्रनाथ घोषाल, बैनर्जी, आदि) के कतिपय ठोस निष्कर्षो का सोवियत विद्वानों ने उपयोग किया।

पाचवे दशक के अत में सोवियत इतिहासशास्त्र में कतिपय सामान्य प्रणाली-वैज्ञानिक सिद्धात निरूपित हो गये। नस्लवादी सिद्धात से संबधित अवधारणाएं पूर्णतः अस्वीकार्य सिद्ध हुई। सभी सोवियत शोधकर्त्ताओं ने एकमत से इस व्याख्या को अस्वीकार किया कि प्राचीन भारत मे वर्ण व्यवस्था "आर्यो की विजय" के फलस्वरूप बनी। उन्होंने इसका सबध सामाजिक सस्तरो के बनने की प्रक्रिया से जोड़ा। कतिपय भारतीय विद्वानो के साथ तर्क-वितर्क में सोवियत भारतविदो ने यह विचार व्यक्त किया कि प्राचीन भारत मे दासता के प्रश्न को नैतिक नहीं, बल्कि सामाजिक-आर्थिक मूल्याकन की दृष्टि से देखना चाहिए। सभी प्राचीन वर्ग समाजो के गठन और विकास मे दासप्रथा ने बहुत महत्त्वपूर्ण, प्रगतिशील भूमिका अदा की थी। सोवियत इतिहासवेत्ता यह मानते हैं कि सारे इतिहास का – भारत के भी इतिहास का – क्रम किन्ही अलग-अलग व्यक्तियो द्वारा, विचारों या अमूर्त आदर्शो द्वारा, बाहरी प्रभावों या चढाइयों द्वारा नही, बल्कि अर्थव्यवस्था और सामाजिक संबंधों के विकास द्वारा निर्धारित हुआ था। सभी सोवियत विद्वान इतिहास की प्रेरक शक्तियों के मूल्यांकन में एकमत थे। अ० ओसिपोव ने अपनी रचना मे भारत के भौगोलिक पर्यावरण तथा उत्पादन की भौतिक परिस्थितियों की ओर ध्यान देने के साथ-साथ देश की उत्पादन शक्तियों के, प्राचीन भारतीय राज्य में कृषि, शिल्प और व्यापार के विकास की ओर भी उचित ध्यान दिया। अर्थव्यवस्था के विकास का विश्लेषण करते हुए लेखक ने "पितृसत्ताक-सामुदायिक व्यवस्था" के विघटन तथा वर्ग समाज और राज्य के उद्भव के कारण उजागर किये। सोवियत इतिहासकारों के बीच इस प्रश्न पर कोई मतभेद नही है कि सामाजिक सबंधो को चरित्रित करने में उत्पादन विधि निर्णायक महत्त्व रखती है, कि वर्ग समाज में राज्य की क्या भूमिका है। मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सिद्धात की बदौलत इतिहास अलग-थलग तथ्यों का योगफल, राजवंशों की सूची या किन्ही महान व्यक्तियो की कार्यस्थली, विचारों के विस्तार का क्षेत्र, आदि नही रहा – सामाजिक सबंधो का विश्लेषण करके स्वय जनता के इतिहास का अध्ययन करना सभव हो गया, जिससे वस्तुगत नियमसंगतियो का पता लग पाता था। सोवियत

इतिहासशास्त्र का एक सामान्य सिद्धांत यह भी था कि जनगण को "ऐतिहासिक" और "अनैतिहासिक" मे विभाजित न करके सभी को इतिहास का स्रष्टा माना गया। उदाहरणत, अ० ओसिपोव ने लिखा कि "भारत के कबीले और जातियां सांस्कृतिक विकास के स्तर की दृष्टि मे एक समान नही थे, लेकिन वे सब किसी न किसी हद तक भारत के इतिहास के स्रष्टा थे।" मार्क्सवादी इतिहासशास्त्र के ये मूलभूत और निर्विवाद सिद्धांत इस बात के साक्षी थे कि सोवियत संघ में प्राचीन भारत के अध्ययन की नई धारा का गठन हो रहा है।

इसके साथ ही साथ भारतविद्या की ठोस समस्याओं पर विचारों में कोई सर्वमान्य आधार नही था। प्राचीन भारत मे प्रचलित स्वामित्व और शोषण के रूपों, प्राचीन युग मे दासता के विकास के परिमाण और दासता की भूमिका जैसे आधारभूत प्रश्नों पर वादानुवाद हो रहा था। स्रोत ग्रंथों की व्याख्या विभिन्न ढग से की जाती थी, इतिहास की समझ के सैद्धांतिक प्रश्नों में भी मतभेद थे। प्राचीन भारतीय स्रोतो के साक्ष्यो के आधार पर तथा भारत के बारे में मार्क्स के लेखो का हवाला देते हुए ओसिपोव भारत के सामाजिक ढांचे मे ग्राम समुदाय और संयुक्त परिवार के महत्त्व पर जोर देते थे। उनका मत था कि दासप्रथा ने भारत के इतिहास में अत्यत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की, क्योकि यह प्रथा सामाजिक विभेदन में और राज्य के गठन मे सहायक थी, लेकिन प्राचीन भारत में प्रभुत्वकारी वर्ग मुख्यत: राजस्व के ज़रिए ग्राम समुदायो का शोषण करके ही अपना अस्तित्व बनाये हुए थे। दासों के शोषण का निर्णायिक महत्त्व नहीं था। ओसिपोव ने यह इंगित किया कि प्राचीन भारतीय आर्थिक दस्तावेज़ो के अभाव मे इन प्रश्नो के अपर्याप्त अध्ययन के कारण प्राचीन भारत की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के बारे में सामान्य निष्कर्ष केवल सोपाधिक ही हो सकते हैं। अत: पूर्ण विश्वास के साथ नही कहा जा सकता कि प्राचीन भारत मे विकसित दासप्रथात्मक उत्पादन विधि अस्तित्व में आ चुकी थी। मौर्य काल में दासप्रथात्मक सबधो के द्रुत विकास के बावजूद दासप्रथा मुख्यत: घरेलू ही थी और अर्थव्यवस्था के प्रमुख क्षेत्रो मे इसका प्रभुत्व नही था। राजस्व को ओसिपोव "शक्तिशाली क्षत्रिय और ब्राह्मण गोत्रो" द्वारा ग्राम समुदायों के सामतवादी शोषण का आदिम रूप मानते थे। उनके मत में भारत में दासप्रथा ने अपनी प्रगतिशील भूमिका अत तक नही निभाई, इसने गोत्र संबध पूर्णत: नष्ट नहीं किये, निजी स्वामित्व के विकास की, श्रम के व्यापक विभाजन की और नगरो के ग्रामो से अलग होने की प्रक्रिया, आदि की नीव नही डाली। प्राचीन युग में भी और मध्ययुग मे भी शोषण का मूल रूप जिंसी लगान ही था।

ओसिपोव ने अपनी पुस्तक मे भारत की जाति-प्रथा पर विशेषत: विस्तार से विचार किया। उन दिनों अनेक इतिहासकार प्राय: वर्णो और जातियों में सुस्पष्ट भेद नही करते थे, उन्हे एक दूसरे के साथ गड्डमड्ड कर देते थे। लेकिन ओसिपोव ने इनमें भेद किया और वर्णो को ऐसी श्रेणियां माना, जो राज्य के गठन की प्रक्रिया

मे बनीं, वर्णो की उत्पत्ति को वे "स्वतंत्र आबादी मे कार्यो के विभाजन" से संबधित मानते थे। जातियो को वे उत्पत्ति की दृष्टि से अधिक पुरानी प्रथा मानते थे और उनका सबंध आदिम व्यवस्था के युग मे ही विभिन्न गोत्रो के पार्थक्य से जोडते थे। शूद्र वर्ण की उत्पत्ति की समस्या पर विचार करते हुए सोवियत भारतविद ने इस प्रक्रिया का सामाजिक-आर्थिक अतर्य खोजने की चेष्टा की। उनके विचार मे, शूद्र आर्थिक अर्थ मे दास नही थे, बल्कि ये ऐसी निम्न श्रेणी के लोग थे, जिसे पूर्ण अधिकार नही प्राप्त थे। शूद्र वर्ण विभिन्न कबीलो को जीतकर और उन्हे उत्पादन साधनों से वंचित करके ही नही, बल्कि दूसरे रास्तो से भी उत्पन्न हो सकता था। आर्थिक दृष्टि से यह बात ही महत्त्वपूर्ण है कि शूद्रो मे प्राय सभी के सभी भूमि के निजी स्वामी नही थे, बटाईदार के नाते काम करते थे, इत्यादि, और उनके अधिकारो की श्रेणीगत अपूर्णता आर्थिक पराश्रय से जुड़ी हुई थी।

द० सुलैकिन ने प्राचीन भारतीय समाज की कुछ भिन्न तस्वीर पेश की। प्राचीन भारत मे दासप्रथात्मक विरचना के प्रभुत्व को स्वीकार करते हुए उन्होंने प्राचीन भारत के इतिहास को निम्न चरणो मे बाटा आदिम सामुदायिक व्यवस्था का विघटन (लगभग १५वी-१०वी सदी ई० पू०), नौवी-दूसरी सदी ई० पू० मे दासप्रथात्मक संबधो का स्वर्ण युग तथा पहली-तीसरी सदी ई० मे दासप्रथात्मक सबंधों का विघटन। इस बात को आधारभूत महत्त्व का तथ्य मानते थे कि प्राचीन भारत में दासप्रथा अपने विकास के उच्चतम रूपो तक नही पहुची। प्राचीन भारत मे समुदाय बना रहा, जो आदिम जनतत्र का अवशेष था। सामुदायिक स्वामित्व निजी स्वामित्व के और दासप्रथा के विकास मे बाधक था, अधिक प्रगतिशील दासप्रथात्मक व्यवस्था के विकास के मार्ग में प्रमुख बाधा था। सुलैकिन प्राचीन भारत की सामाजिक सरचना में दो प्रतिलोम पद्धतियो – दासप्रथा और ग्राम समुदाय – की अटूट एकता पाते थे। ईसवी सवत के आरम्भ मे भारत मे सामतवादी सबधो के उद्भव पर विचार करते हुए उन्होंने जातिप्रथा की ओर विशेष ध्यान दिया, जिसने, उनके विचार में, इस काल मे ही अपना पूर्णत विकसित रूप ग्रहण किया।

ग० इल्यीन की उन दिनो की रचनाओं की सामान्य अवधारणा सुलैकिन के दृष्टिकोण मे मिलती थी। 'सोवियत साहित्य में प्राचीन भारत की सामाजिक विरचना का प्रश्न' शीर्षक लेख में ओसिपोव के दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए इल्यीन ने उनके रुख मे निहित अंतर्विरोध की ओर ध्यान दिलाया। इल्यीन इस बात से सहमत नही थे कि समुदाय के सभी सदस्यो को एक वर्ग माना जाये। उनका कहना था कि एक ही समुदाय के सदस्यो की वर्ग-स्थिति भिन्न-भिन्न हो सकती थी। उन्हें समग्र रूप में सामंती-पराश्रित किसान वर्ग के समान नही माना जाना चाहिए। इल्यीन ने यह भी इंगित किया कि ओसिपोव के अनुसार यदि प्राचीन युग में शोषण का प्रमुख रूप सामंती लगान था, तो फिर भारत के इतिहास को प्राचीन और मध्ययुग में बांटना ही तर्कसंगत नही है। इल्यीन का कहना था कि लगान को शोषण का विशेष रूप

माना ही नही जा मकता। उनके विचार मे, प्राचीन भारतीय समुदाय मामंती पद्धति का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे, बल्कि आदिम मामुदायिक पद्धति का अवशेष थे। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि प्राचीन भारत मे उत्पादन के क्षेत्र में दामप्रथा पूरी तरह नही छा मकी थी, लेकिन चूंकि यह प्रथा ही प्राचीन युग के मर्वाधिक प्रगतिशील मबंध व्यक्त करती थी, इमलिए प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था को दामप्रथात्मक ही माना जाना चाहिए (जिसमें ग्राम समुदाय के रूप मे आदिम मामुदायिक व्यवस्था के तत्व बने रहे थे)।

पाचवें दशक के अंत और छठे के आरंभ में प्राचीन भारत की मामाजिक व्यवस्था के बारे मे जो दृष्टिकोण व्यक्त किये गये, वे भारतविद्या संबंधी सोवियत माहित्य मे आज भी किसी न किसी रूपांतर में विकमित हो रहे हैं।

'प्राचीन भारतीय स्मृतियों मे शूद्र और दाम' शीर्षक लेख मे इल्यीन ने 'मनु-स्मृति' और दूसरे सस्कृत ग्रंथो के सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर इस दृष्टिकोण को गलत मिद्ध किया कि शूद्रों को दाम माना जाना चाहिए। उन्होंने वर्ग और वर्ण के बीच मैद्धांतिक मतभेद निर्धारित किया और मिद्ध किया कि न केवल शूद्र वर्ण दासो का वर्ण नही था, बल्कि दासों की कोई अलग श्रेणी हो ही नही सकती। मनुष्य का वर्ण उसके जन्म से निर्धारित होता था, जबकि वर्गीय स्थिति (उत्पादन माधनो के प्रति संबध) बदल सकती थी। भारत की जाति-प्रथा पर विचार करते हुए इल्यीन ने यह मत व्यक्त किया कि वर्ण सामाजिक असमानता के विकास के आधार पर विकसित श्रेणियां हैं, जबकि जातियों (व्यावसायिक समुदायों) की उत्पत्ति श्रम के सामाजिक विभाजन से सबधित है। इल्यीन के इस लेख का जर्मन भाषा में अनुवाद हुआ है और विशेषज्ञ इमसे परिचित हैं। उदाहरणत, सुप्रमिद्ध भारतीय विद्वान रामशरण शर्मा ने 'प्राचीन भारत में शूद्र' नामक अपनी पुस्तक में सोवियत भारत-विद के लेख का उच्च मूल्यांकन किया, जिसने यह "सिद्ध किया था कि शूद्र दास नही थे।"

प्राचीन भारतीय दासप्रथा के इतिहास मे एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना थी ग० इल्यीन का लेख 'प्राचीन भारत में दासप्रथा की विशिष्टताएं'। दासता के स्रोतों, दासो की श्रेणियो, उनकी स्थिति और मुक्ति की शर्तों के बारे में संस्कृत ग्रंथो की जानकारी का विस्तार से विश्लेषण करते हुए लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि प्राचीन भारतीय शब्द "दास" की अवधारणा पूर्णतः वही नही थी, जो यूरोप में "स्लेव" की है और जिसके लिए आधुनिक समाजशास्त्र व इतिहास में "दास" शब्द प्रयुक्त होता है। प्राचीन भारतीय दासों की कुछ श्रेणियों को वैज्ञानिक दृष्टि से दास (स्लेव) वर्ग में नही रखा जा सकता। 'अर्थशास्त्र', बौद्ध जातकों और दूसरे स्रोतों के आधार पर इल्यीन ने प्राचीन भारतीय दासप्रथा के घरेलू, पितृसत्ताक स्वरूप पर बल दिया। अपने लेख में इल्यीन ने यह दिखाया कि प्राचीन भारत में दासों को कतिपय संपत्ति मबधी और व्यक्तिगत अधिकार प्राप्त थे, कि दासो पर स्वामियों का अधिकार सी-

व्लादीमिर वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की

मित था, पूर्णत: निरंकुश नहीं था और स्वतंत्र नागरिकों और दासों के बीच भेद एकदम सुस्पष्ट नहीं था। ग० इल्यीन के मत में, प्राचीन भारत में दासप्रथा की मूल विशिष्टता थी इसका अविकसित होना तथा आदिम सामुदायिक व्यवस्था के सशक्त अवशेष, जो निजी स्वामित्वात्मक दासप्रथा के विकास में बाधक थे। इस लेख में उन दिनों सोवियत साहित्य में प्रचलित उन दृष्टिकोणों का विशेषत: विरोध किया गया था, जो प्राचीन पूरब में दासप्रथा के विकास के परिमाण और स्तर को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर पेश करते थे। साथ ही उपरोक्त अवधारणा के प्रकाश में इल्यीन ने प्राचीन भारत में दासप्रथात्मक उत्पादन विधि के अस्तित्व पर संदेह नहीं किया।

युद्ध के पश्चात पहले वर्षों में भारत के स्वतंत्र होने तथा सोवियत संघ के साथ भारत के संबंध विकसित होने के फलस्वरूप सोवियत संघ में भारत के प्रति, उसके अतीत और प्राचीन संस्कृति के प्रति रुचि बढ़ी। वे ग्रंथ प्रकाशित किये गये, जिन पर युद्ध के दिनों में काम हो रहा था। १९४८ में अकादमीशियन बरान्निकोव के वर्षों के भगीरथ परिश्रम का फल – तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का अनुवाद – प्रकाशित हुआ। यह हिंदी के मध्ययुगीन साहित्य के पहले अनुवादों में से एक था। इसने सोवियत पाठकों को भारतीय काव्य और पौराणिक कथाओं की प्राचीन परम्पराओं से परिचित कराया। १९५० में महाभारत के पूर्ण अनुवाद का पहला खण्ड

प्रकाशित हुआ। यह कार्य अकादमीशियन बरान्निकोव की पहलक़दमी पर शुरू किया गया था। आदिपर्व का अनुवाद लेनिनग्रादवासी संस्कृतविद व० कल्यानोव ने किया था।

छठे दशक का आरंभ ही लेनिनग्राद के प्रतिभावान भारतविद **व० वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की** (१९२७-१९५६) का कार्यकाल था। उन्होंने लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्राच्य संकाय में बरान्निकोव से शिक्षा पायी थी। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, हिंदी, तामिल, तिब्बती और फ़ारसी भाषाएं सीखीं और विश्वविद्यालय की पढ़ाई के अंतिम वर्षो मे स्वयं भी पहले वर्षों के छात्रों को संस्कृत पढाने लगे। १९५१ में विश्वविद्यालय की शिक्षा पूरी करके वे प्राच्यविद्या संस्थान के हस्तलिखित प्राच्य ग्रंथ विभाग में काम करने लगे। यहा उन्होंने तिब्बती, भारतीय और केंद्रीय एशियाई ग्रंथों की छानबीन की, केंद्रीय एशिया में मिले अद्वितीय ग्रंथों का प्रकाशन शुरू किया और इस तरह ओल्देनबुर्ग और उनके सहयोगियों द्वारा शुरू की गयी परम्परा को जारी रखा। वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की भारतीय पुरालेखों के बहुत बडे मर्मज्ञ बन गये। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्राच्य संकाय में उन्होंने तिब्बतविदों का प्रशिक्षण फिर से शुरू किया। तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में कार्य करते हुए उन्होंने भारतीय आर्य भाषाओ में पुरुषवाचक सर्वनामों के विकास के बारे मे ग्रंथ तथा भारतीय आर्य भाषाओ के विकास में अधःस्तर भाषाओ की भूमिका पर कई लेख लिखे। संस्कृत साहित्य मे सजीव रुचि दर्शाते हुए उन्होंने शूद्रक कृत 'मृच्छकटिकम्' का अनुवाद किया, जो १९५६ में, उनके देहांत के वर्ष में ही छपा। गेरासिम लेबेदेव के कार्य-कलापों का अनुसंधान तथा मिनायेव की भारत यात्रा की प्रकाशित डायरियों में टिप्प-णियां इस युवा विद्वान के असाधारण ज्ञान और व्यापक रुचियों का परिचय देते हैं। वे भारत-सोवियत सांस्कृतिक संबंध समाज के प्रकाशनों के लिए नियमित रूप से लिखते थे तथा 'सोवियत सूचना व्यूरो' प्रायः भारत व बर्मा में छपवाने के लिए उनसे लेख लिखवाता था। प्राचीन भारत के इतिहास पर लेखादि लिखने, प्राचीन भारतीय दर्शन, कला इत्यादि पर कार्यों में भाग लेने का भी अवसर उन्हें मिला। अपने अल्प जीवन-काल मे ही इस मेधावी विद्वान ने विशाल कार्य संपन्न किया, अनेक ऐसे विषयों पर कार्य आरभ किया, जिनका गत दशकों मे सोवियत भारतविद सफलतापूर्वक अध्ययन कर रहे हैं।

समसामयिक भारतविद्या

छठे दशक के मध्य से पूरब के अनेक देशों, विशेषतः भारत के साथ सोवियत संघ के संबंध और भी अधिक घनिष्ठ हो गये। इन्हीं दिनों प्राच्यविद्या के द्रुत और

यूरी रेरिख

व्यापक विकास का, पूरब के देशो के चहुंमुखी अध्ययन का कार्यभार रखा गया। इस समय भारत मे सोवियत लोगों की रुचि का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि इन दिनों भारतीय ललित साहित्य की अनेकानेक रचनाओ तथा समसामयिक भारतीय लेखको की वैज्ञानिक रचनाओ के अनुवाद छपे। कुछ उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा. १९५४ में सिन्हा और बैनर्जी की पुस्तक 'भारत का इतिहास' रूसी में निकली, १९५५ में नेहरू जी की 'भारत की खोज', चटर्जी और दत्त की पुस्तक 'भारतीय दर्शन के इतिहास का परिचय' १९५४ और १९५५ में दो बार छपी, १९५६-५७ मे डा० राधाकृष्णन का विशद ग्रथ 'भारतीय दर्शन' प्रकाशित हुआ। भारत की प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर मे पाठकों की विशेष रुचि थी।

अपने समय के प्रमुखतम तिब्बतविद और भारतविद **यूरी रेरिख** १९५७ में सोवियत सघ लौटे। अपने जीवन का अधिकाश समय उन्होंने भारत में बिताया था और वहां अच्छी तरह जाने जाते थे। यूरी रेरिख (१९०२-१९६०) ने अपने पिता, सुविख्यात रूसी कलाकार, दार्शनिक, चितक, निकोलाई रेरिख से पूरब के प्रति रुचि की घुट्टी पायी थी। किशोरावस्था मे जाने-माने रूसी मिस्रविद व० तुरायेव और मगोलविद अ० रुद्नेव उनके शिक्षक थे। उनके वैज्ञानिक अनुसधानों की दिशा को रूसी प्राच्यविद्या के तथा क्रांतिपूर्व और क्रांति के पहले वर्षो मे कुल जमा रूसी संस्कृति

के संदर्भ मे ही समझा जा सकता है। यूरी रेरिख़ ने आरंभ में लंदन विश्वविद्यालय के भारतीय-ईरानी विभाग में और फिर हार्वर्ड विश्वविद्यालय में शिक्षा पायी और पेरिस मे अपना ज्ञान परिष्कृत किया। उन्होंने यूरोप के प्रमुख प्राच्यविदो, जैसे पी० पेलियो, एस० लेवी, ए० मेये, एच० मैस्पेरो और वी० मिनोर्स्की आदि से संस्कृत, तिब्बती, मगोल, चीनी और फ़ारसी भाषाए सीखीं। (यहां यह भी बता दें कि इन सब विद्वानो के ओल्देनबुर्ग और श्चेर्बात्स्की तथा अन्य सोवियत प्राच्यविदो के साथ घनिष्ठ सम्पर्क थे तथा इनमे से कुछ सोवियत विज्ञान अकादमी के विदेशी सदस्य भी थे।) १६२४ से यू० रेरिख़ ने भारत, मगोलिया और पश्चिमी चीन की यात्रा की। १६३० में वे कुल्लू स्थित रेरिख़ संग्रहालय के उरुस्वती हिमालय अनुसधान संस्थान के डायरेक्टर बने। सोवियत संघ के जाने-माने विद्वान इस सस्थान के साथ सहयोग करते थे। भारत मे यूरी रेरिख़ संस्कृत, तिब्बती और चीनी भाषाए पढ़ाते थे। केंद्रीय एशिया के इतिहास और संस्कृति पर उन्होंने अनेक लेख लिखे। वे एशियेटिक सोसाइटी ऑफ़ बगाल के सदस्य थे। अपने पिता की ही भांति यूरी रेरिख़ भी अपने को सदा रूसी अनुभव करते थे, रूसी जनता के भाग्य के साथ अपना अटूट संबंध महसूस करते थे और अपने को रूसी प्राच्यविद्या का ही प्रतिनिधि मानते थे। इसलिए १६५७ में उनका अपनी जन्म-भूमि लौट आना सर्वथा सुसगत ही था। किंतु मास्को में अधिक जीना यू० रेरिख़ के भाग्य मे नहीं बदा था और १६६० मे उनकी मृत्यु हो गयी। फिर भी इन तीन वर्षों में उन्होंने यहां प्राचीन भारतीय दर्शन और साहित्य विषयक शोधकार्यों को नयी प्रेरणा प्रदान की। वे स्वयं वैदिक भाषा पढ़ाते थे। पाली की कक्षाओं का भी उन्होंने प्रबध किया। छठे दशक के अंत में जो नौजवान भारतविद्या के क्षेत्र में पदार्पण कर रहे थे, उनमे से बहुतों को उनसे परामर्श पाने का सुअवसर मिला। यूरी रेरिख़ की पहल पर 'बौद्ध पुस्तकमाला' का प्रकाशन फिर से शुरू हुआ। इसमें तीसरे-चौथे दशकों के विद्वानों की रचनाएं भी छापी गयीं (जैसे आर्यशूर की 'जातक-माला' का अ० बरान्निकोव द्वारा किया गया अनुवाद, जिसे ओ० वोल्कोवा ने प्रकाशन के लिए तैयार किया था, अ० वोस्त्रिकोव की पुस्तक 'तिब्बती ऐतिहासिक सस्कृति') और युवा सोवियत प्राच्यविदो की रचनाएं भी (जैसे व० तोपोरोव द्वारा अनूदित 'धम्मपद')। यूरी रेरिख़ ने बरसों तक तिब्बती-संस्कृत-अंग्रेज़ी-रूसी शब्दकोश पर काम किया था। उनके जीवन की यह प्रमुखतम कृति आजकल मुद्रणाधीन है।

छठे दशक के मध्य में प्राच्यविदों के प्रशिक्षण का काम बहुत सुधारा गया। इस ध्येय से मास्को विश्वविद्यालय के अंतर्गत प्राच्य भाषा संस्थान खोला गया (अब यह "एशियाई एव अफ़्रीकी देशो का संस्थान" कहलाता है)। इस समय से वैज्ञानिक प्रकाशनों का परिमाण निरतर बढ़ता रहा है, वैज्ञानिक अनुसधानो का विशेषीकरण विकसित हुआ है। सोवियत विद्वान भारतविद्या के सभी क्षेत्रो को अपने दायरे मे

लेने की आवश्यकता अनुभव करने लगे। पिछले बीस वर्षों के दौरान अनेक क्षेत्रो में सोवियत प्राच्यविद्या विश्व भर में उच्चतम स्तर पर पहुची है और इसके साथ ही इसने मार्क्सवादी वैज्ञानिक विधि पर आधारित अपनी विशेषता बनाये रखी है।

आजकल सोवियत प्राच्यविद्या का और प्राचीन भारत के अध्ययन का भी प्रमुख केंद्र सोवियत विज्ञान अकादमी का प्राच्यविद्या संस्थान है। प्राचीन भारत का अध्ययन इस संस्थान के प्राचीन पूरब विभाग मे किया जाता है, जहां प्राचीन भारत के इतिहास, दर्शन, भाषाओ और साहित्य के अनेक विशेषज्ञ हैं। सस्थान के दूसरे विभागों – प्राच्य ग्रंथों के प्रकाशन के विभाग, साहित्य विभाग, भाषा विभाग, भारत, बंगलादेश, नेपाल और श्रीलंका के विशेष विभाग – में भी सस्कृतविद काम करते हैं। प्राच्यविद्या संस्थान में भारतविद्या की प्राय. सभी शाखाओं मे काम करने वाले विज्ञानकर्मी हैं। संस्थान की लेनिनग्राद शाखा में भी दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया का विभाग है। यहां मुख्यत: हस्तलिखित ग्रथो के सग्रहों पर तथा प्राचीन भारतीय साहित्य की अमर कृतियों के अध्ययन पर काम होता है। केंद्रीय एशिया के संस्कृत ग्रंथों के प्रकाशन का काम म० वोरोब्योवा-देस्यातोव्स्काया और ऐ० त्योम्किन (लेनिनग्राद), ग० बोंगार्द-लेविन, व० वेर्तोग्रादोवा और ओ० वोल्कोवा (मास्को) कर रहे हैं। ाच्यविद्या संस्थान की लेनिनग्राद शाखा के कर्मी महाभारत के पूर्ण अनुवाद पर आगे ाम कर रहे हैं, वे महाकाव्यों तथा अन्य साहित्यिक रचनाओं के अध्ययन का भी काम कर रहे हैं। मास्को मे सोवियत विज्ञान अकादमी के विश्व साहित्य संस्थान मे भी भारतीय महाकाव्यो का अध्ययन हो रहा है। इस संस्थान के भारतविद प्राचीन और मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की सैद्धांतिक समस्याओं पर काम करते हैं, आजकल वे भारतीय साहित्य का विशद इतिहास तैयार कर रहे हैं। मास्को विश्वविद्यालय के एशियाई और अफ्रीकी देशों के संस्थान में भी प्राचीन भारत पर शोधकार्य होता है। एशियाई एवं अफ्रीकी देशों के साहित्य विभाग में मुख्यत: प्राचीन भारतीय सौंदर्यशास्त्र, काव्य और रंगमच का अध्ययन होता है, जबकि दक्षिणी एशियाई देशों के इतिहास के विभाग मे प्राचीन व मध्ययुगीन भारत की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का। भारतीय वाङमीमांसा विभाग के कर्मी संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं का अध्ययन करते हैं। मास्को विश्वविद्यालय के इतिहास संकाय के प्राचीन विश्व इतिहास विभाग में भी प्राचीन भारत के इतिहास पर शोधकार्य होता है।

लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के भारतीय वाङमीमांसा विभाग में प्राचीन भारत के साहित्य और भारतीय – भारोपीय और द्रविड़ – भाषाओं के विशेषज्ञ काम करते है। तार्तू विश्वविद्यालय (एस्तोनिया) में बौद्ध साहित्य, दर्शन और मनोविज्ञान की समस्याओं का (मुख्यत: प्रज्ञापारमिता ग्रंथो के आधार पर) अध्ययन किया जाता है। सामाजिक विज्ञान संस्थान की बुर्यात शाखा में संस्कृत और तिब्बती भाषाओं मे लिखे गये बौद्ध दर्शन ग्रंथों का अध्ययन होता है। नृजातिवर्णन संस्थान और पुरातत्व संस्थान की लेनिनग्राद स्थित शाखाओं में पुरैतिहासिक भारतीय सभ्यता पर शोधकार्य

होता है। मास्को स्थित नृजातिवर्णन संस्थान के भारत विभाग के कर्मी मुख्यत समसामयिक भारतीय क़बीलों का मानववैज्ञानिक अध्ययन करते हैं, पर साथ ही यहां प्राचीन और समसामयिक हिंदू धर्म की परम्पराओं पर रचनाएं भी तैयार की जाती हैं। दर्शन संस्थान, कला इतिहास एवं सिद्धांत संस्थान, स्लावविद्या और वल्कानविद्या संस्थान, प्राकृतिक विज्ञान एवं प्रविधि इतिहास संस्थान, लेनिनग्राद स्थित धर्म एवं निरीश्वरवाद संग्रहालय तथा अन्य कई वैज्ञानिक प्रतिष्ठानों में भी भारतविद्या पर काम होता है। लेनिनग्राद के हर्मिताज संग्रहालय और मास्को स्थित प्राच्य कला संग्रहालय में, मध्य एशियाई जनतंत्रों के संग्रहालयों और वैज्ञानिक केंद्रों में मध्य एशिया के भारत से संबधित पुरातात्त्विक स्मारकों पर काम होता है। दुशांबे और ताशकंद के प्राच्यविद्या संस्थानों में मध्ययुगीन भारतीय हस्तलिखित ग्रंथों का विशेष अध्ययन किया जाता है। जार्जियाई जनतंत्र के प्राच्यविद्या संस्थान में अनेक संस्कृत-विशेषज्ञ काम कर रहे हैं। सोवियत संघ के कई उच्च शिक्षा संस्थानों में संस्कृत का नियमित अध्यापन होता है, जैसे मास्को विश्वविद्यालय का एशियाई और अफ़्रीका देशों का संस्थान, इसी विश्वविद्यालय के इतिहास, वाङ्मीमांसा और दर्शन संकाय, लेनिनग्राद विश्वविद्यालय का प्राच्य संकाय, त्बिलीसी विश्वविद्यालय, जहां संस्कृत-विद्या के क्षेत्र में काम होता है, वीलनियुस और तार्तू विश्वविद्यालय, आदि। समय-समय पर मध्ययुगीन भारतीय भाषाओं – पाली और प्राकृतों – की कक्षाओं का भी प्रबंध किया जाता है। धीरे-धीरे उन शिक्षा संस्थाओं का दायरा बढ़ रहा है, जहां संस्कृत पढाई जाती है और उन प्रतिष्ठानों का भी, जिनमें भारतविद्या के क्षेत्र में अनुसंधान कार्य हो रहा है। संस्कृत और प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रश्नों में न केवल वैज्ञानिक, बल्कि आम लोग भी बहुत रुचि लेते हैं। १९७५ में प्राच्यविद्या संस्थान अंतर्राष्ट्रीय संस्कृतविद्या संघ का सदस्य बना। अखिल संघीय प्राच्यवेत्ता संघ के अंतर्गत एक सोवियत संस्कृतविद्या संघ क़ायम किया गया, जिसका ध्येय इस क्षेत्र में सोवियत विद्वानों के वैज्ञानिक कार्यों में समन्वय करना है।

पिछले दो दशकों में सोवियत संघ में प्राचीन भारत की समस्याओं पर दसियों विशेष ग्रंथ और सैकड़ों लेख छपे हैं। लेख मुख्यत 'वेस्निक द्रेव्नेइ इस्तोरी' (प्राचीन इतिहास संदेश), 'नरोदी आज़ी ई आफ़्रिकी' (एशिया और अफ़्रीका के जनगण) जैसी विशेष पत्रिकाओं में छपते हैं। 'वेस्निक एम० गे० ऊ०' (मास्को विश्व-विद्यालय का संदेश), 'वेस्निक एल० गे० ऊ०' (लेनिनग्राद विश्वविद्यालय का संदेश), 'क्रात्कीये सोओब्श्चेनिया इस्तीतूता आर्ख़ेओलोगी' (पुरातत्व संस्थान की संक्षिप्त सूचनाएं), 'वोप्रोसी इस्तोरी' (इतिहास की समस्याएं), 'सोवेत्स्काया एत्नोग्राफ़िया' (सोवियत नृजातिवर्णन) पत्रिकाओं में और मध्य एशिया में छपने-वाली पत्रिकाओं में समय-समय पर भारतविद्या संबंधी लेख छपते हैं। 'सोवेत्स्काया आर्ख़ेओलोगिया' (सोवियत पुरातत्व) पत्रिका में भारत में होने वाली पुरातत्वीय खुदाइयों के बारे में सिंहावलोकनात्मक लेख नियमित रूप से छपते रहते हैं। भारत-

विद्या के क्षेत्र में विदेशो मे हो रहे अनुसधान कार्य की ओर भी वहुत ध्यान दिया जाता है। अग्रणी सोवियत पुराविदो ने बाख्त्री और भारत मे यूनानियो के बारे में डब्ल्यू० टार्न की तथा भारतीय पुरातत्व पर मार्टिमेर व्हीलर की पुस्तकों पर अपने विचार व्यक्त किये। डब्ल्यू० रूबेन और थामस ट्रौटमन, इवा रिचल और मरिया शेटेलिख, आदि के भारतविद्या संबंधित अनुसधानो पर सविस्तार समीक्षाओं मे गौर किया गया। भारत मे इतिहास के अध्ययन की समस्याओ और उपलब्धियों में सोवियत संघ में विशेष रुचि ली जाती रही। सोवियत पत्रिकाओ मे समय-समय पर भारतीय विद्वानों के नये कार्यो के बारे मे सूचनाएं छापी गयी और नये प्रकाशनों की समीक्षा भी। उदाहरणत:, भारतीय इतिहास के भारत-यूनानी काल के बारे में ए० के० नारायण की पुस्तक मे तथा ए० एन० लाहिरी द्वारा प्रकाशित भारतीय-यूनानी सिक्कों की विवरणिका में सोवियत पुराविदो और इतिहासवेत्ताओं ने गहरी रुचि दिखाई। भारत मे हो रहे 'श्रौतकोश' और 'धर्मकोश' के प्रकाशन जैसे विशाल कार्यो के बारे में काफी विस्तृत जानकारी छापी गयी। जाने-माने सस्कृतविदों पांडुरग वामन काणे और आर० पी० कांगले की रचनाओं के प्रकाश में धर्मशास्त्रों और 'अर्थशास्त्र' के अध्ययन की स्रोत सबधी समस्याओ का विशेषत: विश्लेषण किया गया। भारतीय दर्शन के इतिहास पर कई प्रमुख रचनाओं, जैसे कि धर्मेंद्रनाथ शास्त्री ा पुस्तक 'भारतीय यथार्थवाद की आलोचना' की विस्तृत समीक्षाए प्रकाशित हुईं। भारतीय दर्शन के इतिहास पर पिछले वर्षो के प्रकाशनो के विस्तृत सिंहावलोकन में सर्वाधिक रोचक प्रकाशन और अनुवाद इंगित किये गये, सामान्य ग्रथो मे व्यक्त धारणाओं का तथा भारतीय दर्शन के ऐतिहासिक अध्ययन की आधुनिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया गया। सोवियत पुस्तकालयो मे आये प्रमुख भारतीय ग्रंथों का साराश सोवियत विज्ञान अकादमी के सामाजिक विज्ञान संबधी सूचना सस्थान द्वारा प्रकाशित सार-सग्रहो मे नियमित रूप मे छापा जाता रहा।

भारतविद्या के क्षेत्र में सामाजिक इतिहास के विषय पर हो रहे शोधकार्यो को विशेषत: महत्त्वपूर्ण माना जाता है। भारत मे इतिहास के अध्ययन की अपनी राष्ट्रीय धारा गठित होने का सोवियत विद्वानो ने स्वागत किया। उनके विचार में निस्संदेह भारतविद्या की सभी राष्ट्रीय धाराओं मे इसे ही प्रथम स्थान प्राप्त होना चाहिए। सोवियत संघ और भारत मे प्राचीन भारत के अध्ययन विषयक सिद्धांतो में कई समानताएं हैं। दोनों देशो मे नस्लवादी और यूरोप-केंद्रीयतावादी धारणाओ के प्रति, औपनिवेशिक विचारधारा की हर तरह की अभिव्यक्ति के प्रति नकारात्मक रुख अपनाया गया है। साथ ही सोवियत विद्वानो ने कतिपय भारतीय विद्वानो के ऐतिहासिक प्रक्रिया की व्याख्या भाववादी दृष्टिकोण मे करने के प्रयासों या इतिहास को शासकों, धर्म-प्रवर्तकों की जीवनियो तक सीमित करने के प्रयासों की आलोचना की। यह बात विशेषत: सुप्रसिद्ध इतिहासकार आर० सी० मजूमदार के सम्पादन में भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित वहुखण्डीय ग्रथ 'द हिस्ट्री एंड कल्चर आफ़ इंडियन पीपुल'

पर लागू होती है। साथ ही उन्होंने भारतीय इतिहासशास्त्र में प्रगतिशील दिशा के तथा ऐसे विद्वानो की रचनाओ के प्रकट होने की ओर भी ध्यान दिलाया, जिन पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद का निश्चित प्रभाव पडा है और जिनके कार्यों में सोवियत सघ मे भारतविद्या के क्षेत्र मे हो रहे कार्य के साथ बहुत सी समानताए हैं। विभिन्न वर्षो मे सोवियत विद्वानो का ध्यान डी० डी० कोशाम्बी, डी० आर० चानना, श्रीपाद अमृत डागे, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर तथा अन्य भारतीय इतिहासकारो की रचनाओ की ओर आकर्षित होता रहा है। इन भारतीय विद्वानों की रचनाए इसलिए मूल्यवान है कि इनमें भारत के विकास की सामान्य नियमसगतियो और विशिष्टताओ को उजागर करने का, भारत मे वर्गो और राज्य की उत्पत्ति, सामाजिक-आर्थिक विरचनाओ का सक्रमण, आदि समस्याओ को हल करने का प्रयास किया गया है। लेकिन साथ ही छठे दशक के आरम्भ मे सोवियत इतिहासवेत्ताओ ने प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था में वेशी उत्पादन अथवा व्यापार की भूमिका को, श्रम विभाजन और समाज के सस्तरण को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने के लिए, प्राचीन भारत की सामाजिक प्रक्रियाओं के आधुनिकीकरण और संस्कृत स्रोतों की व्याख्या में आत्मगत रुख के लिए श्रीपाद डांगे की रचना की आलोचना की। विलक्षण भारतीय इतिहास-कार डी० डी० कोशाम्बी की रचनाओ का सोवियत विशेषज्ञो द्वारा मूल्यांकन भिन्न-भिन्न रहा, लेकिन सभी ने एकमत से उनकी इस बात के लिए आलोचना की कि उनकी समाजवैज्ञानिक निर्मितियां सतही हैं, कि उन्होंने प्राचीन भारत के सामाजिक विकास मे व्यापार की भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर पेश किया है, कई मामलो में वर्गो और जातियो को एक ही माना है, सामंतवाद को केवल राजनीतिक और विधिक सबधों की प्रणाली माना है, इत्यादि। साथ ही उनकी पुस्तक 'द कल्चर एंड सिवि-लिज़ेशन आफ़ एशेंट इडिया' का रूसी मे अनुवाद किया गया और विशेषज्ञो तथा आम पाठको ने भी इस पुस्तक में गहरी रुचि दिखाई। उच्च कोटि के संस्कृतविद, पुराविद और इतिहासवेत्ता डी० डी० कोशाम्बी ने आधुनिक भारत में प्राचीन भारत के अध्ययन के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। भारतीय विद्वान रामशरण शर्मा की पुस्तको – 'शूद्राज़ इन ऐंशेंट इडिया', 'इडियन फ्यूडलिज़्म', 'एस्पेक्ट्स आफ़ पॉलिटिकल आइडियाज़ एंड इंस्टीटूशन इन ऐशेंट इंडिया' – का सोवियत विशे-षज्ञो ने उच्च मूल्यांकन करते हुए उनके तर्क-वितर्कों की विज्ञानसम्मति, और मूलग्रथो, स्रोतो के उनके अनुपम ज्ञान को सराहा है। ऐतिहासिक विषयवस्तु की ओर सामान्य भौतिकवादी रुख, उत्पादन संबंधों में परिवर्तन खोजने की चेष्टा, वर्ग सघर्ष के प्रश्नों की ओर ध्यान यह सब रामशरण शर्मा को श्रेष्ठतम सोवियत विद्वानो के समीप लाता है। रामशरण शर्मा तथा अन्य समसामयिक भारतीय इतिहासकारो की रचनाओं का सोवियत भारतविद व्यापक उपयोग करते हैं।

विभिन्न मतों का प्रतिनिधत्व करने वाले भारतीय विद्वानो की विभिन्न विषयों पर रचनाए सोवियत संघ में छपी हैं। नेहरू जी की कृतियों 'डिस्कवरी आफ़ इडिया'

और 'ग्लिप्सेज़ आफ़ वर्ल्ड हिस्ट्री' के अलावा सोवियत पाठक डी० डी० कोशाम्बी की 'द कल्चर एंड सिविलिज़ेशन आफ ऐंशेंट इंडिया', डी० आर० चानना की 'स्लेवरी इन ऐंशेंट इंडिया', आर० बी० पांडेय की 'हिंदू सस्कार', आदि पुस्तकों से भी परिचित हुए हैं। प्रमुख भारतीय विद्वानों के लेख भी छपते रहे हैं, जैसे दिनेशचंद्र सरकार का भारतीय शिलालेखों के बारे में लेख और डी० डी० कोशाम्बी का भारतीय नृजातिवर्णन विषयक लेख, इत्यादि। सोवियत विद्वानो के लेखो और ग्रथो का भारत मे प्रकाशन निरंतर बढते वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संबधो का साक्षी है, जो विचारों और सूचनाओं के अधिक अच्छे आदन-प्रदान में सहायक होते हैं। सोवियत और भारतीय विद्वानो की आपसी मुलाकातो का भी बड़ा महत्त्व है। वी० राघवन, सुनीतिकुमार चटर्जी, डी० डी० कोशम्बी, आर एन० दडेकर, आर० एस० शर्मा, बी० बी० लाल, बी० के० थापर, जी० आर० शर्मा, बी० एन० मुखर्जी, सुवीरा जायसवाल, इत्यादि अनेक जाने-माने भारतीय विद्वान सोवियत संघ आ चुके हैं।

सोवियत विद्वानो की अधिकांश शोध रचनाए नियमित रूप से छपने वाले विभिन्न विषयवस्तुमूलक संग्रहो मे प्रकाशित होती हैं। इनमें कुछ उल्लेखनीय सग्रह हैं: 'भारत में नाटक और रगमच' (१९६१), 'प्राचीन भारत का इतिहास और सस्कृति' (१९६३), 'प्राचीन युग में भारत' (१९६४), 'भारत में जाति-प्रथा' (१९६४), 'भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म' (१९७२), 'भारत और मध्य पूर्व के देशों के इतिहास की समस्याएं' (१९७२), 'भारत के सामाजिक-आर्थिक इतिहास पर निबंध' (१९७३), 'भारत के साहित्य' (१९७३), 'भारतीय जनगण के इतिहास, भाषा और संस्कृति की समस्याएं' (१९७४), 'संस्कृत और प्राचीन भारतीय साहित्य', भाग १-२ (१९७९), 'प्राचीन और मध्ययुगीन भारत का साहित्य एवं संस्कृति' (१९७९), 'प्राचीन भारत। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संपर्कों की समस्याएं' (१९८२), इत्यादि। भारतविद्या संबंधी लेख-संग्रह केवल मास्को और लेनिनग्राद में ही नहीं छपते। 'तार्तू विश्वविद्यालय की वैज्ञानिक डायरी' (एस्तोनिया) में भी महत्त्वपूर्ण शोध रचनाएं छपती हैं। उदाहरणत:, १९७३ में निकला इस माला का दो भागों का अंक मुख्यत: भारत को ही समर्पित था। इसमें रूसी और एस्तोनियाई विद्वानों के ही नहीं, बल्कि यान गोंडा जैसे जाने-माने यूरोपीय संस्कृतविदो के भी लेख थे। उलान-उदे मे छपने वाले लेख-संग्रहो 'केंद्रीय एशिया के इतिहास और वाङमय संबंधी सामग्री' में भी भारत सबंधी लेखों को काफ़ी बड़ा स्थान प्राप्त होता है।

प्राय: लेख-संग्रह वैज्ञानिक सगोष्ठियो, सम्मेलनो की सामग्रियों पर आधारित होते हैं। इन सम्मेलनो का आयोजन मुख्यत: प्राच्यविद्या संस्थान करता है। भारतविद्या पर सम्मेलन आयोजित करना सोवियत विद्वानों की एक सुपरम्परा बन गई है। ऐसे बड़े अखिलसंघीय भारतविद्या सम्मेलन भी हुए हैं, जिनमें विभिन्न विषयों पर दसियों रिपोर्टें पेश की गईं। अधिक विशेषीकृत वैज्ञानिक संगोष्ठियां भी होती हैं, जो कभी-कभी प्रमुख रूसी भारतविदो की स्मृति को समर्पित होती हैं। उदाहरणत:, १९६५

में इवान मिनायेव की स्मृति में, १९६६ मे फ्योदोर श्चेर्बात्स्की की स्मृति में और १९६७ मे यूरी रेरिख़ की स्मृति में वैज्ञानिक संगोष्ठियां हुईं। भारतविद्या सम्मेलनों और उनकी सामग्रियो के प्रकाशन मे विद्वज्जगत सदा गहरी रुचि लेता है। छठे दशक के अंत से सोवियत भारतविद अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और कांग्रेसों में भी भाग ले रहे हैं। उदाहरणत, १९५९ में ग० इल्यीन ने भुवनेश्वर मे हुए अखिल भारत प्राच्यविद सम्मेलन मे भाग लिया और प्राचीन भारत में दासप्रथा की विशिष्टताओ पर निबंध पढ़ा। मास्को, दिल्ली और कैनबरा मे हुई प्राच्यविदो की अतर्राष्ट्रीय कांग्रेसो में सोवियत विद्वानो ने सक्रिय भाग लिया। पिछले वर्षों से सोवियत भारतविद अतर्राष्ट्रीय संस्कृतविद्या संघ के कार्यों में और उसकी कांग्रेसो में भी सक्रिय भाग ले रहे है।

यूनेस्को के तत्वावधान में चल रही केंद्रीय एशिया के अध्ययन की परियोजना में भी सोवियत प्राच्यविद सक्रिय भाग लेते हैं। इस परियोजना में सोवियत और भारतीय विद्वानो के प्रयासों को सर्वाधिक फलप्रद रूप से एकजुट किया जा सका है, क्योंकि इसके अंतर्गत उन इलाक़ो का अध्ययन होता है, जिनमें कुछ अब भारत गणराज्य का अंग हैं और कुछ सोवियत संघ का। इस परियोजना के अंतर्गत हो रहे अनुसंधान कार्यो की विशिष्टता है – व्यापक अंतरविषयी रुख़, विभिन्न मानविकी विषयों के विशेषज्ञों – इतिहासवेत्ताओं और पुराविदों, भाषाविदों और कलामर्मज्ञों, दार्शनिकों और धर्मवेत्ताओं के प्रयासों को एकजुट करना। १९६८ में दुशांबे में कुषाण-कालीन मध्य एशिया के पुरातत्व, इतिहास और कला पर विशाल अतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसमें भारत के तथा केंद्रीय एशिया के दूसरे देशो के अग्रणी विशेषज्ञो ने और यूरोपीय प्राच्यविदों ने भी भाग लिया। प्रमुख भारतीय विद्वानों – दिनेशचंद्र सरकार, जी० आर० शर्मा, जे० एस० नेगी, बी० एन० पुरी, एल० चद्र, बी० बी० लाल, बी० के० थापर, बी० एन० मुखर्जी तथा अन्य कई ने सम्मेलन में अपने निबंध पढ़े। सम्मेलन के अवसर पर सोवियत संघ में कई पुस्तकें प्रकाशित की गई थी – सोवियत पुराविदो की कुषाण काल से संबंधित रचनाओ की सूची, कुषाण कालानुक्रम पर शोध रचना, इत्यादि। साथ ही कुषाणकालीन मध्य एशिया की संस्कृति और कला की कृतियो की प्रदर्शनी भी आयोजित की गई। सम्मेलन की विषय-वस्तु बहुत व्यापक थी, इसमें कुषाणों की उत्पत्ति, कालानुक्रम, भाषा और लिपि, कुषाण राज्य की सीमाएं और राजनीतिक इतिहास, आर्थिक विकास, सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था, सांस्कृतिक संबंध, धर्म और कला तथा आदि-मध्ययुग में कुषाण काल की धरोहर जैसे विषय शामिल थे। सम्मेलन की सारी सामग्री १९७४-७५ मे 'कुषाणकालीन केंद्रीय एशिया' शीर्षक दो खण्डों में प्रकाशित हुई। कुषाण काल पर सोवियत विद्वानों की रचनाओं मे भारत में गहरी रुचि ली जाती है। १९७० में 'सोवियत इंडोलोजिकल सीरीज़' में सुविख्यात भारतीय विद्वान देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने 'कुषाण स्टडीज़ इन यू० एस० एस० आर०' नामक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमे कुषाण

युग के इतिहास और संस्कृति पर सोवियत विद्वानों के लेख संकलित हैं। इसकी भूमिका में चट्टोपाध्याय लिखते हैं: "भारतविद्या के क्षेत्र में सोवियत और भारतीय विद्वानों के बीच घनिष्ठ सहयोग बढ़ाने, उनके बीच अधिक परस्पर समझ और विचारों का सीधा आदान-प्रदान विकसित करने का महत्त्व अपार है और इसकी संभावनाएं असीम।" उपरोक्त परियोजना के अंतर्गत हुए कार्यों के परिणामों और परिप्रेक्ष्यों के बारे में एक विशेष पुस्तक प्रकाशित की गई। यह है: ब० गफ़ूरोव, ल० मिरोश्निकोव, 'केंद्रीय एशिया की सभ्यताओं का अध्ययन (यूनेस्को की परियोजना के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का अनुभव)'। यह पुस्तक इस बात की साक्षी है कि सोवियत संघ में इस दिशा में शोधकार्य को कितना महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

१९६९ में दिल्ली में केंद्रीय एशिया पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इसके परिणामों का अपार वैज्ञानिक महत्त्व था। इस सम्मेलन में लब्धप्रतिष्ठ भारतीय विद्वानों (एच० डी० सांकलिया, बी० के० थापर, जी० आर० शर्मा, बी० एन० मुखर्जी, अमलेन्दु गुहा, आदि) के साथ-साथ सोवियत विद्वानों ने भी भाग लिया। इस सम्मेलन का केंद्रीय विषय था प्राचीन युग से लेकर आधुनिक काल तक भारत और मध्य एशिया के बीच ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संबंधों का इतिहास। प्राचीन युग (द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू०) में केंद्रीय एशिया के इतिहास की नृजातीय समस्याओं पर १९७७ में दुशांबे में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में भारतीय इतिहासवेत्ताओं, पुराविदों और भाषाविदों ने सक्रिय भाग लिया। इस संगोष्ठी के प्रमुख विषय थे – 'केंद्रीय एशिया के जनगण की नृजातीय उत्पत्ति में मूल और आगत तत्व', 'केंद्रीय एशिया के प्राचीन नृजातीय इतिहास के पुरातत्त्वीय और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक पहलू', 'भारतीय उपमहाद्वीप का नृजातीय इतिहास'।

१९८० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की पहल पर भारत और मध्य एशिया के पुरातत्त्व, नृजातियों तथा भाषाओं और प्राचीन इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन की एक संयुक्त सोवियत-भारतीय योजना बनायी गयी। इसके अनुसार संयुक्त पुरातात्त्विक तथा ऐतिहासिक अनुसंधान, संयुक्त प्रकाशन, वैज्ञानिक साहित्य का आदान-प्रदान, और वैज्ञानिक सेमीनारों, इत्यादि का आयोजन किया जाना था। योजना के मुताबिक १९८२ में इलाहाबाद में एक संयुक्त सोवियत-भारतीय पुरातत्त्व तथा प्राचीन इतिहास सिंपोज़ियम हुआ, जिसमें सोवियत विद्वानों ने मध्य एशिया और काकेशिया में की गयी नयी खोजों और भारतीय विद्वानों ने अपने कार्यों के बारे में बताया। दूसरा सिंपोज़ियम १९८३ में अश्काबाद में आयोजित किया गया।

सोवियत और भारतीय विद्वानों के फलप्रद सहयोग की एक अन्य मिसाल भारत में सोवियत मानववैज्ञानिक अभियान दल का कार्य है, जिसके परिणाम भारत की जातियों की उत्पत्ति के प्रश्न के समाधान के लिए काफ़ी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं।

प्राचीन भारत के इतिहास पर ग० बोंगार्द-लेविन और ग० इल्यीन ने एक बृहद्-ग्रंथ लिखा है – 'प्राचीन भारत। ऐतिहासिक रूपरेखा' (१९६९)। इस पुस्तक के

दो मस्करण निकल चुके है। इम ग्रथ में पुरा प्रस्तर युग मे लेकर गुप्त काल के अत तक के इतिहाम के मभी पहलुओं – सामाजिक, आर्थिक और मांस्कृतिक विकाम – पर गौर किया गया है। इम ग्रंथ की मूल अवधारणाए भारत के इतिहाम पर एक दूमरी पुस्तक मे भी प्रतिविम्बित और अशत विकमित हुई है। 'भारत का इतिहाम' नामक यह पुस्तक अतोनोवा, बोगार्द-लेविन और कोतोव्स्की ने लिखी है और इसमें प्राचीन युग मे लेकर आधुनिक दिनो तक का इतिहास दिया गया है। रूसी में इसके दो सस्करण निकल चुके हैं, हिंदी, बंगला, तमिल, मलयालम, पंजाबी, आदि भारतीय भाषाओ में और कई यूरोपीय भाषाओं में भी इसका अनुवाद हुआ है। उपरोक्त रचनाओ मे निरूपित सोवियत विद्वानो की अवधारणाए विशेष वैज्ञानिक अनुसंधानों पर आधारित हैं। सोवियत विद्वानो के बीच इतिहाम के मामान्य प्रणालीविज्ञान मे और मानव समाज के ऐतिहासिक विकास की समस्याओ के प्रति रुख के कतिपय महत्वपूर्ण मिद्धांतों में निश्चित ऐक्य है। यह बात प्राचीन भारत के इतिहाम पर भी लागू होती है, लेकिन माथ ही इम इतिहाम के ठोम प्रश्नो पर, जिनमे कभी-कभी अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी होते हैं, सोवियत भारतविदो में मतभेद हैं और वैज्ञानिक प्रकाशनों मे इन प्रश्नो पर उग्र सैद्धांतिक वाद-विवाद चलता है। बोंगार्द-लेविन और इल्यीन की पुस्तक 'प्राचीन भारत' में कुछ हद तक सोवियत भारतविद्या के इस क्षेत्र के विकास का लेख-जोखा दिया गया है, इस क्षेत्र के अग्रणी सोवियत विशेषज्ञों की अवधारणाएं इसमें अभिव्यक्त हुई हैं; साथ ही इसमें निहित सभी मूल्यांकन निर्विवाद नहीं हैं और कुछ सोवियत विद्वानों का इन प्रश्नों पर बिल्कुल भिन्न मत है।

अब हम इस बात पर कुछ प्रकाश डालना चाहेंगे कि सोवियत संघ मे प्राचीन भारत के इतिहाम के विभिन्न कालों और पहलुओं का कहा तक अध्ययन हुआ है। ऐसा करते हुए हम विशेषत महत्त्वपूर्ण और विवादास्पद प्रश्नों की अधिक विस्तार से चर्चा करेंगे। आजकल प्राचीन भारत के इतिहास के सभी कालों पर विभिन्न सोवियत विशेषज्ञ – इतिहासवेत्ता, पुराविद, भाषाविद, साहित्यविद, दार्शनिक इत्यादि काम कर रहे हैं।

भारत की प्राचीनतम सभ्यता – हडप्पा सभ्यता – का अध्ययन शोधकर्त्ताओं का एक विशेष दल कर रहा है। इस दल के प्रमुख हैं यू० क्नोरोज़ोव। इनके कार्य के परिणाम 'प्रोटो-इंडिका' शीर्षक सग्रहों मे दिये गये हैं। इन पर विशेषत: विचार किया जाना चाहिए। सोवियत विद्वान काफ़ी पहले ही सिंधु घाटी में हुई पुरातत्वीय खोजो मे दिलचस्पी लेने लगे थे। तीसरे-चौथे दशकों मे ही कतिपय वैज्ञानिक पत्रिकाओ में हडप्पा और मोहेजोदड़ो की खुदाइयो के बारे मे सिंहावलोकनात्मक लेख छपे थे। सिंधु सभ्यता की खोज को इस बात का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रमाण माना गया कि भारत का इतिहास आर्यो से शुरू नही होता और आर्यो के इतिहास तक ही सीमित नही है, कि आर्यो के आगमन से पूर्व भी भारत में विकसित संस्कृति थी। पांचवें-छठे दशकों में भारत के पुरातत्त्व पर प्रकाश डालने वाली ई० मैके, गॉर्डन चाइल्ड

और एस० के० दीक्षित की पुस्तकों का रूसी में अनुवाद हुआ। छठे दशक से कतिपय अग्रणी सोवियत पुराविदों और इतिहासकारों की हड़प्पा सभ्यता पर स्वतंत्र शोध रचनाएं प्रकट होने लगी। व० म० मस्सोन की कृति 'मध्य एशिया और प्राचीन पूरब' तथा अ० श्चेतेन्को की 'प्रागैतिहासिक हिंदुस्तान' में हड़प्पा सभ्यता की सामग्री का गहराई से विश्लेषण किया गया है। मस्सोन ने मध्यपूर्व, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और मध्य एशिया की पुरैतिहासिक संस्कृतियों के विकास के संदर्भ में भारत की पुरैतिहासिक खेतिहर संस्कृतियों की जांच की और साथ ही इन संस्कृतियों का अपना वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया। दूसरी कृति में सारी नवीनतम पुरातत्त्वीय सामग्री की, जो मुख्यतः पिछले वर्षों में भारतीय पुराविदों ने हासिल की है, बड़ी बारीकी से तैयार की गई संदर्भ सूची और विवरणिका दी गई है। अधिकांश सोवियत पुराविद और इतिहासकार हड़प्पा सभ्यता की स्थानीय उत्पत्ति के विचार को मानते हैं। वे ई० पू० तीसरी-दूसरी सहस्राब्दियों में सिंधु घाटी में विशाल केंद्रों की उत्पत्ति और विकास के भौतिक पूर्वाधारों का पता लगाने, उन्हें खोजने की चेष्टा करते है। वे ब्रिटिश पुराविद एम० व्हीलर के इस भाववादी कथन का दृढ़तापूर्वक खंडन करते है कि "विचारों के पंख" होते हैं, और उनके इस मत का भी कि सिंधु नगरों की उत्पत्ति दजला और फ़रात के दोआब में विकसित सभ्यता के प्रभाव से हुई, जहां से "नगरों का विचार" भारत आया। सोवियत पुराविद देशांतरणों की संभावना से इन्कार नहीं करते, लेकिन उनके मत में सिंधु सभ्यता की उत्पत्ति पर इनका कोई निर्णायक प्रभाव नहीं पड़ा। सिंधु नगरों की आबादी को नृजातीय दृष्टि से सामान्यतः भारत के द्रविड़ जनगण से संबंधित ही माना जाता है। ऐसा स्वीकार करने के साथ-साथ हड़प्पा संस्कृति की धरोहर प्राचीन भारत की सभ्यता में और हिंदू धर्म में देखने की कोशिश की जाती है। सिंधु सभ्यता की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का प्रश्न पश्चिम में भी और भारत में भी, आरंभ में मुख्यतः सुमेरी नगर-राज्यों के समनुरूप हल किया जाता था। ये नगर-राज्य हड़प्पा सभ्यता के दिनों में अस्तित्वमान थे और इस सभ्यता के साथ उनका सम्पर्क था। चूंकि सोवियत इतिहासवेत्ता प्राचीन सुमेर की सामाजिक व्यवस्था को दासप्रथात्मक मानते हैं, इसलिए हड़प्पा समाज को भी दासप्रथात्मक माना गया। लेकिन अब शोधकर्त्ता इस प्रश्न में अधिक सतर्कतापूर्ण रुख अपनाते हैं। पुरातत्त्वीय सामग्री से पता चलता है कि सिंधु सभ्यता के नगरों के निवासियों में संपत्ति और सामाजिक स्थिति की दृष्टि से असमानता थी। अनेक तथ्य इस बात के साक्षी हैं कि सिंधु घाटी में वर्ग समाज और राज्य अस्तित्व में आ चुके थे, जो कि यहां सभ्यता के विकास के स्तर के अनुरूप है। लेकिन फ़िलहाल उपलब्ध सामग्री के आधार पर इस बारे में विश्वासपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता कि यहां राज्य का ठोस स्वरूप क्या था और वर्ग समाज की संरचना कैसी थी। सोवियत पुराविद अ० श्चेतेन्को ने इस बात पर संदेह व्यक्त किया है कि हड़प्पा सभ्यता के केंद्र "नगर" शब्द के सही-सही सामाजिक-आर्थिक अर्थ में नगर कहे जा सकते है। वे एम० आर०

राव की इस प्राक्कल्पना मे सहमत नही है कि लोथल प्राचीनतम समुद्री बंदरगाह है। उनके विचार मे मेसोपोटामिया के साथ हड़प्पा के सबंधो के बारे में इतिहासकारो के बीच जो मत प्रचलित है, वह अतिशयोक्तिपूर्ण है। अधिसख्य सोवियत विद्वान अ० श्चेतेन्को के इस मत को स्वीकार नही करते कि हडप्पा सभ्यता को प्रागैतिहासिक युग मे रखना चाहिए। हडप्पा सभ्यता के पतन की समस्याओ पर गौर करते हुए सोवियत इतिहासकार मुख्यत इस दृष्टिकोण को ही मानते हैं कि इसके पतन का कारण आर्यो की चढ़ाई नही माना जा सकता। सोवियत विद्वानो ने यह दृष्टिकोण सातवे दशक मे ही व्यक्त कर दिया था और तब मे वे इसके पक्ष में अधिकाधिक विस्तृत तर्क पेश करते आये हैं। उल्लेखनीय है कि अधिकांश भारतीय पुराविद और इतिहासकार भी हडप्पा सभ्यता के पतन का कारण आर्य क़बीलो का आक्रमण नहीं मानते, बल्कि इसके अन्य कारण बताते हैं (इनमे जलवायु मे परिवर्तन, बाढ़े, आदि कारण भी गिनाये जाते हैं)। सोवियत विद्वानो ने अपनी रचनाओ मे सिधु घाटी की हडप्पा काल के अतिम दिनों की और उत्तर-हडप्पा काल की सभी बस्तियों का विस्तार से विश्लेषण किया है, जिसके फलस्वरूप सिधु घाटी के हड़प्पा नगरो के जीवन के अतिम दिनो का जटिल चित्र पेश करना सभव हो जाता है। विदेशी क़बीलों के किसी प्रबल प्रवाह की, जिसके बारे में एम० व्हीलर और उनके अनुयायियों ने लिखा था, बात उचित नही है। सोवियत विद्वानों का मत है कि सिधु घाटी के केद्रो के पतन के मुख्य कारण आंतरिक ही थे, जो स्वय हड़प्पा सभ्यता के विकास से ही सबधित थे। ऐसी प्रक्रियाए पूर्वी ईरान और अफ़ग़ानिस्तान की प्राचीनतम नगर संस्कृतियों के इतिहास के उत्तर काल में भी देखने में आती हैं। साथ ही उन्होंने सातवें दशक में ही यह अनुमान व्यक्त किया था कि पंजाब मे हडप्पा सभ्यता के अतिम दिनो की ऐसी बस्तियों का होना सभव है, जो "चित्रित धूसर भांड संस्कृति" के दिनों तक बनी रहीं। इस संस्कृति को बहुत से भारतीय और सोवियत विद्वान भारतीय आर्यो से या भारतीय आर्य क़बीलों के एक दल से सहसबद्ध मानते हैं। हाल ही में जे० पी० जोशी द्वारा की गई खुदाइयों से इन अनुमानो की पुष्टि हुई है। इन खुदाइयो से हड़प्पा सभ्यता के पूर्वी सीमांत में हड़प्पा बस्तियों के "चित्रित धूसर भाड सस्कृति" के साथ सम्पर्को का पता चला है।

प्राचीन भारत के पुरातत्व और नृविज्ञान के विषय पर प० बोरिस्कोव्स्की की पुस्तक 'दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में पुराप्रस्तर युग' (१९७१), अ० श्चेतेन्को की पुस्तक 'दक्खिन की प्राचीन खेतिहर संस्कृतियां' (१९६८) तथा कई विशेष लेख भी प्रकाशित हुए हैं। व० मस्सोन और अ० श्चेतेन्को की कई रचनाओं मे नवप्रस्तर युग, ताम्र-प्रस्तर युग और कांस्य युग में प्राचीन भारत के प्रमुख सांस्कृतिक-आर्थिक क्षेत्र निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। अ० श्चेतेन्को तो अग्रणी भारतीय पुराविद एच० सांकलिया के मत के विपरीत इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं कि केंद्रीय भारत में ताम्र-प्रस्तर सभ्यता का उद्भव स्थानीय है। "चित्रित धूसर भांड

संस्कृति" को बी० लाल और दूसरे भारतीय विद्वानों के साथ-साथ अधिसंख्य सोवियत इतिहासकार भी आर्यों से या भारतीय आर्य क़बीलों के उस अंश से, जिसने ऋग्वेद की रचना की थी, संबंधित मानते हैं। इसके साथ ही भारतीय पुराविदों के नये शोधकार्यों के आधार पर सोवियत विद्वान इस बात पर ज़ोर देते हैं कि किसी ठोस पुरातत्वीय संस्कृति को किसी निश्चित नृजाति से सहसंबंधित माना जाना पूरी तरह से सापेक्षिक ही है। छठे दशक के मध्य में ही बोंगार्द-लेविन और द० देओपिक के लेखों में "ताम्र संचयों और गैरिक भांडों" की संस्कृति को मुंडा-भाषी क़बीलों के वर्ग की संस्कृति बताया गया था। यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक साहित्य में प्रचारित हुआ है। सोवियत विद्वानों के मत में आद्य मुंडा नवप्रस्तर युग में दक्षिण-पूर्वी एशिया से भारत में आये थे और भारत में ही उन्होंने "ताम्र संचयों और गैरिक भांडों" की ताम्र-प्रस्तर संस्कृति का विकास किया। सोवियत विद्वानों के निष्कर्ष बहुत हद तक उन दृष्टिकोणों के अनुरूप हैं, जो आजकल प्रमुख भारतीय पुराविद और इतिहासकार विकसित कर रहे हैं।

पिछले वर्षों से सोवियत इतिहासशास्त्र में अखिल भारतीय सांस्कृतिक धरोहर में आर्येतर जनगण के योगदान के सामान्य प्रश्न पर बड़ा ध्यान दिया जा रहा है। विभिन्न नृजातीय तत्वों की अन्योन्यक्रिया के दौरान प्राचीन भारतीय सभ्यता की उत्पत्ति का अध्ययन किया जा रहा है। इस संबंध में बोंगार्द-लेविन के कुछ लेख और उनकी पुस्तक 'प्राचीन भारतीय सभ्यता। दर्शन, विज्ञान, धर्म' (१९८०) विशेषतः उल्लेखनीय हैं। आर्यपूर्व भारत के योगदान की समस्या प्राचीन भारतीय सभ्यता के विकास के सामान्य क्रम को समझने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। सोवियत विद्वान इस समस्या के हल के प्रति बहुमुखी रुख़ अपनाते हैं, और इसके लिए भाषाविज्ञान, इतिहास, पुरातत्व, नृजातिवर्णन की सामग्रियों का उपयोग करते हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति के गठन में विभिन्न नृजातीय-सांस्कृतिक तत्वों ने विशाल भूमिका अदा की है और भारत के प्राचीनतम इतिहास को केवल भारतीय आर्यों के इतिहास तक सीमित मानना बहुत बड़ी भूल होगी। सोवियत विद्वान जो सामग्रियां प्रस्तुत करते हैं, उनसे साफ़ पता चलता है कि भारत में अपने आगमन के आरंभिक काल में ही आर्यों ने स्थानीय आबादी के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर लिये थे और सांस्कृतिक उपलब्धियों के आदान-प्रदान की बहुपक्षीय प्रक्रिया आरंभ हुई थी। प्राचीन भारतीय संस्कृति की चर्चा आर्य तथा विभिन्न स्थानीय सांस्कृतिक परम्पराओं के जटिल संश्लेषण के रूप में ही की जानी चाहिए। आर्यपूर्व नृजातीय-सांस्कृतिक अधःस्तरों का आर्यों के आर्थिक कार्यकलापों पर, धार्मिक विश्वासों के गठन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा, विज्ञान, दर्शन और कला के विकास में यह प्रभाव महत्त्वपूर्ण रहा। प्राचीन भारत के राज्यों के इतिहास का अध्ययन करते समय भी सोवियत इतिहासवेत्ता ऐसा ही रुख़ अपनाते हैं। दक्षिण भारत के विकास के स्वतंत्र रूप से होने को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है, वहां राज्यों की उत्पत्ति देश के उत्तर के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित

होने से पहले ही और भारतीय आर्य प्रभाव से स्वतंत्र रूप से ही हुई थी। इस प्रसग मे सोवियत विद्वान नीलकठ शास्त्री और उन दूसरे भारतीय विद्वानो के दृष्टि-कोण को स्वीकार नही करते, जो दक्षिण भारत का विकास उत्तर के भारतीय आर्य राज्यो से संबद्ध होने को बढा-चढाकर पेश करते हैं। फिर भी कुल मिलाकर प्राचीन काल के दक्षिण भारत का अध्ययन उत्तरी भारत के अध्ययन से कही कम हुआ है। इस क्षेत्र में सक्रिय शोधकार्य की आवश्यकता है।

सोवियत विद्वान "आर्य समस्या" की ओर भी बहुत ध्यान देते हैं। पश्चिम में और अंशत: भारत में भी प्रचलित "आर्य विजय के सिद्धांत" का, जिसकी मदद से भारत में वर्गों, राज्य, श्रेणियों और जातियों की उत्पत्ति की, भारतीय संस्कृति की कुछ विशिष्टताओं की व्याख्या करने की कोशिश की जाती है – इस "सिद्धांत" का सोवियत विद्वान बहुत हद तक एकमत से विरोध ही करते हैं। इतिहास की भौतिक-वादी समझ के अनुसार सोवियत विद्वान सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओ की उत्पत्ति का कारण सर्वप्रथम देश के आर्थिक विकास में खोजते हैं। लेकिन इसके साथ ही अपने आर्थिक ढांचे, सामाजिक परम्पराओं और लाक्षणिक संस्कृति वाले क़बीलों के वास्तविक देशांतरणो को भी नज़रंदाज़ नही किया जाता। भारतीय-ईरानी (आर्य) क़बीलो के ऐसे देशांतरणों ने वास्तव में भारत के ऐतिहासिक विकास में बहुत बडी भूमिका अदा की थी। सोवियत विद्वानों की इनमें विशेष रुचि का एक कारण यह भी है कि आर्यों के देशांतरणों के रास्ते सोवियत सघ के वर्तमान क्षेत्र से भी गुज़रते थे। सोवियत पुराविदो में इस प्रश्न पर ज़ोरदार बहस चल रही है कि किन पुरातत्वीय संस्कृतियो को भारतीय-ईरानी क़बीलों से संबद्ध माना जा सकता है। अधिकांश शोध-कर्त्ता तथाकथित अन्द्रोनोव संस्कृति का संबंध भारतीय-ईरानियो से जोडते हैं। इसकी चर्चा क० स्मिर्नोव और ये० कुज़्मिना की पुस्तक 'नवीनतम पुरातत्वीय खोजों के प्रकाश में भारतीय-ईरानियों की उत्पत्ति' (१६७७) मे की गई है। पुराविदो के अलावा भाषाविद भी भारतीय-ईरानियों के उद्गम स्थल और देशांतरण-मार्गों की समस्या पर बहुत काम कर रहे हैं (व० इवानोव, ए० ग्रांतोव्स्की आदि के कार्य)। इन प्रश्नों पर ही बोंगार्द-लेविन और ग्रांतोव्स्की ने एक सुबोध-वैज्ञानिक पुस्तक लिखी है: 'शकदेश से भारत तक। प्राचीन आर्यों के इतिहास की पहेलियां' (१६७४)। यह पुस्तक भारत मे भी छपी है। इसमें वन क्षेत्र के उत्तरी क़बीलों – यूग्रियाई-फ़िन भाषा-वर्ग के जनगण के पूर्वजो के साथ आर्यों के संबंधों की ओर ध्यान दिलाया गया है। "आर्य समस्या" के समाधान के लिए मध्य एशिया (मुख्यत: ताजिकिस्तान, उज़्बेकिस्तान और कज़ाखस्तान) में हुई पुरातात्त्विक खुदाइयो की म० अस्कारोव, व० सरिआनिदी, व० लित्वीन्स्की, अ० मंदेलश्ताम, इत्यादि द्वारा प्रकाशित रिपोर्टें काफ़ी सहायक सिद्ध हो सकती हैं। इस समस्या के कतिपय पहलुओ पर बाबाजान ग़फ़ूरोव, ए० ग्रांतोव्स्की, व० मस्सोन इत्यादि की ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और मध्य एशिया के इतिहास से संबंधित रचनाओं में भी प्रकाश डाला गया है। हाल ही मे

प्रसिद्ध सोवियत भाषाविज्ञानी व० इवानोव और त० गामक्रेलिद्ज़े ने यह दिलचस्प सिद्धांत प्रतिपादित किया है कि भारोपीयों का आदिस्थान एशिया कोचक और उससे लगे क्षेत्र थे। 'प्राचीन इतिहास के समाचार' के पृष्ठों पर इस संबंध मे लंबा वादविवाद चला।

सोवियत इतिहासकारो का ध्यान ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी के उत्तरार्ध, जिसे मौर्य काल भी कहा जाता है, के इतिहास पर भी केंद्रित है। बोंगार्द-लेविन का ग्रंथ "मौर्यकालीन भारत' (१९७३) तथा अनेक लेख इस काल पर लिखे गये हैं। १९६३ में बोंगार्द-लेविन और वोल्कोवा ने सोवियत संघ में संरक्षित पाडुलिपि के आधार पर मौर्य काल के इतिहास से सबधित एक महत्त्वपूर्ण स्रोत ग्रथ 'कुणालावदान' प्रकाशित किया था। १९६५ में यह कलकत्ता में भी छपा। उपरोक्त ग्रथों और लेखों मे प्राचीन भारत के इतिहास के इस काल के सभी पहलुओं पर गौर किया गया है। राजनीतिक इतिहास और कालानुक्रम के बारे मे इस बात के पक्ष में तर्क पेश किये गये हैं कि चंद्रगुप्त मौर्य के शासनकाल का आरंभ ३१७ ई० पू० मानना चाहिए और प्राचीन यूनानी ग्रंथो में चर्चित अग्राम्मेस को भारतीय ग्रथो का उग्रसेन (नद) ही। भारतीय राज्यो के राजनीतिक ढांचे के विषय पर कई लेख लिखे गये हैं। काशीप्रसाद जायसवाल, ए० एस० अल्तेकर और बी० सी० ला जैसे भारतीय इतिहासकारों के साथ-साथ सोवियत विद्वान भी प्राचीन भारतीय गणराज्यो की ओर विशेष ध्यान देते हैं, उदाहरणत, 'वेस्निक द्रेव्नेइ इस्तोरी' (प्राचीन इतिहास संदेश), १९६६, अंक ३ में प्रकाशित बोंगार्द-लेविन का लेख 'प्राचीन भारत मे गणराज्य। समस्याएं और प्रमुख सामग्री'। इसके साथ ही वे प्राचीन भारतीय गणराज्य की समस्या की जटिलता को भी ध्यान में रखते हैं। बात यह है कि प्राचीन ग्रंथों मे सामाजिक और राज-नीतिक विकास के विभिन्न चरणों में स्थित समाजो के लिए एक से ही शब्द (गण, संघ) प्रयुक्त हुए हैं। विद्वान गणराज्यों की उत्पत्ति के विभिन्न मार्ग तथा उनकी आंतरिक संरचना और संगठन में भेदों का विश्लेषण करते हैं। यह प्रश्न सैद्धांतिक महत्त्व रखता है और छठे-सातवें दशक के संधिकाल मे सोवियत इतिहासकारों ने ऐसी रचनाएं प्राचीन पूरब के दूसरे देशों के बारे मे भी लिखी थीं। प्राचीन पूरब के कतिपय राज्यों की (जिनमें प्राचीन भारत के गणराज्य भी हैं) संरचना में प्राचीन यूनानी "पोलिस" के साथ समानता इंगित की गई थी और इस तरह यह माना गया था कि राजनीतिक संगठन के प्राचीन भारतीय रूपो को प्राचीन यूनानी व रोमन राज्यो के राजनीतिक संगठन के एकदम विपरीत रखना निराधार है। प्राचीन भारत के सर्वाधिक विकसित गणराज्यों की सामाजिक संरचना का विशेषत: विश्लेषण किया गया। शोधकर्त्ताओ ने बहुत पहले ही इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि प्राचीन भारतीय गणराज्यों में प्रचलित श्रेणी-क्रम राजतंत्रों में विद्यमान श्रेणी-क्रम से भिन्न था – वर्णों की गिनती में क्षत्रियों को ब्राह्मणों मे पहले रखा जाता था। वर्ग व्यवस्था की इस विशिष्टता का कारण संभवत: यह था कि भारतीय गणराज्यों में क्षत्रिय काफ़ी बड़े भूस्वामी बन गये थे।

प्राचीन भारतीय राजतंत्रों के और मौर्य साम्राज्य के भी राजनीतिक संगठन का विश्लेषण किया जाता है। इसमें शासन के विभिन्न सामूहिक निकायों (परिषद, राजसभा) की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। इन निकायों को देखते हुए प्राचीन भारतीय राज्य को "ठेठ पूरबी तानाशाही" नहीं कहा जा सकता।

अशोक मौर्य के शासनकाल को समर्पित शोध रचनाओं में सोवियत इतिहास-कार अनेक यूरोपीय और भारतीय विद्वानों के विपरीत भारत के इतिहास को उसके शासक की जीवनी तक ही सीमित नहीं करते हैं। अशोक की नीति के मूल्यांकन के स्थान पर वे सम्राट के व्यक्तित्व का नैतिक मूल्यांकन पेश नहीं करते हैं। उसके धर्मप्रचार कार्य का ही नहीं, बल्कि प्रशासकीय कार्य का भी विस्तार से विश्लेषण किया जाता है और धर्मप्रचार में भी राजनीतिक आधार देखने के प्रयास किये जाते हैं। ई० पू० तृतीय शताब्दी के भारत की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों का पता लगाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। धर्मविजय की नीति को देश की एकता सुदृढ़ करने का साधन माना जाता है। बोंगार्द-लेविन के मत से अशोक शनैः-शनैः धार्मिक सहिष्णुता से बौद्ध समर्थक नीति की ओर बढ़ रहा था और इससे उसके परिचरों में असंतोष फैला, जो कि उसके शासनकाल के अंतिम दिनों में प्रकट हुआ। अवदानों तथा अशोक के कुछ शिलालेखों के विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने शासन के अंतिम वर्षों में अशोक वास्तविक सत्ता से वंचित था।

सोवियत भारतवेत्ता और प्राच्यवेत्ता कुषाण काल के अध्ययन पर बड़ा ध्यान दे रहे हैं। मध्य एशिया में कुषाणकालीन अवशेषों की खुदाइयां, अफ़गानिस्तान में सोवियत-अफ़गान अभियान दल के कार्य के परिणाम, मध्य एशिया और उससे संलग्न प्रदेशों से प्राप्त कुषाण अभिलेखों, मुद्राओं तथा कलाकृतियों का अध्ययन कुषाण साम्राज्य के इतिहास, उसके संस्थापकों के नृजातीय मूल, तिथिक्रम, धर्म, अर्थव्यव-स्था, इत्यादि के बारे में हमारी जानकारी को बढ़ाते ही नहीं, अपितु बहुत सी पुरानी मान्यताओं को बदलने को विवश भी करते हैं। इस काल के बारे में बहुसंख्य लेखों के अलावा अनेक ग्रंथ भी निकले हैं, यथा ग० पुगाचेन्कोवा का 'कुषाणयुगीन बाख़्त्री की कला' और 'दलवर्ज़िन तेपे', ब० स्तवीस्की का 'कुषाण बाख़्त्री', 'कारा तेपे' नामक पांच लेख-संग्रह, 'प्राचीन बाख़्त्री', इत्यादि। भारतीय विद्वानों ने अपने सोवियत सहयोगियों के कार्य में गहन रुचि दिखायी है और उनके द्वारा खोजी गयी सामग्रियों का वे व्यापक उपयोग करते हैं। ये० ज़ेइमाल ने कुषाण तिथिक्रम के बारे में एक विशेष रचना और सोवियत संग्रहों में विद्यमान भारतीय मुद्राओं के बारे में कई लेख लिखे हैं।

स्वाभाविक ही है कि सोवियत भारतविद सामाजिक-आर्थिक संबंधों की ओर विशेष ध्यान देते हैं। प्राचीन भारत में दासप्रथा के प्रश्न पर ग० इल्यीन के विशेष लेखों तथा सामान्य ग्रंथों में एतद्विषयक अध्यायों के अलावा सुप्रसिद्ध भारतीय अनुसंधानकर्ता डी० आर० चानना की पुस्तक 'स्लेवरी इन ऐंशेंट इंडिया' का तथा

जर्मन जनवादी जनतंत्र की भारतविद मरिया शेटेलिख के लेखो का रूसी में अनुवाद और सोवियत विद्वान अ० विगासिन के लेख भी उल्लेखनीय हैं। ग० इल्यीन, ये० मेद्वेदेव तथा अन्य कई विद्वानो के लेखों मे दासप्रथा के विकास से संबधित सामान्य समस्याओं पर ग़ौर किया गया है। सोवियत इतिहासशास्त्र में यह प्रस्थापना सर्वमान्य है कि प्राचीन युग मे दासप्रथा सामाजिक सबंधो का नियमसंगत रूप थी और यह प्रथा नागरिक समाज के गठन के विकास के लिए आवश्यक थी। विशेष लेखो मे दासत्व के स्रोतों, दासों की स्थिति, अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो में उनके श्रम का उपयोग, आदि प्रश्नो पर विस्तार से ग़ौर किया गया है। इल्यीन के दृष्टिकोण मे, जिससे कुछ अन्य सोवियत इतिहासकार भी सहमत हैं, किसी समाज की संरचना मे दासप्रथा का महत्त्व दासो की संख्या मात्र से ही निर्धारित नही होता। दासप्रथा का सामाजिक संबंधों के सभी पहलुओ पर प्रभाव पडता है, इसलिए वह समाज भी, जिसमें दास आबादी का अल्पसंख्यक भाग है, दासप्रथात्मक समाज कहला सकता है। साथ ही इल्यीन ने अपनी नई रचनाओं में इस बात पर ज़ोर दिया है कि मौर्यकालीन प्राचीन भारत के प्रमुख केंद्रो में दास बहुत बडी संख्या में थे। उन्होंने ऐसी बडी जागीरो का होना इंगित किया है, और यह भी कि दासों से लिये जाने वाले तथाकथित "घरेलू कार्य" का क्या उत्पादन महत्त्व था। छठे दशक के आरंभ के अपने लेखो मे व्यक्त विचारो से भिन्न इल्यीन का झुकाव अब यह मानने की ओर है कि भारत मे दासों की स्थिति प्राचीन यूनान व रोम में दासो की स्थिति से सिद्धांततः भिन्न नहीं थी।

इल्यीन के विचारो पर आपत्ति करते हुए मेद्वेदेव और कुछ अन्य इतिहासकार यह इंगित करते हैं कि "दास" शब्द को सदा गुलाम (स्लेव) के अर्थ मे नही लिया जा सकता और बडी जागीरो मे (जिनके महत्त्व का अतिमूल्यांकन नही किया जाना चाहिए) ऐसे लोगो से भी काम लिया जा सकता था, जिनका शोषण दासप्रथात्मक विधियो से नही होता था।

प्राचीन भारत में दासप्रथा के बारे मे अपने कुछ लेखों में अ० विगासिन 'अर्थ-शास्त्र' की सामग्री के आधार पर "दास" कहे जाने वाले व्यक्तियों के प्रवर्ग निर्धारित करते हैं। कतिपय यूरोपीय और भारतीय विद्वानों के प्रेक्षणों को आगे बढ़ाते हुए विगासिन इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि "दास" शब्द व्यापक और संकीर्ण, दोनों तरह के अर्थो मे प्रयुक्त होता था। "दास" के विभिन्न अर्थों से संबधित सामग्री का वर्गीकरण करते हुए लेखक ने 'अर्थशास्त्र' का विश्लेषण किया है और इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि संकीर्ण अर्थ में "दास" गुलाम (स्लेव) ही थे और उनकी स्थिति सचमुच ही दूसरे प्राचीन समाजो के दासों की स्थिति से भिन्न नही थी। लेकिन "दासों" का बड़ा भाग, इस शब्द के व्यापक अर्थ में, बंधुवा कामगरों तथा अन्य अस्थायी रूप से पराश्रित लोगों का था, जिनकी गिनती भले ही दासो मे होती थी, लेकिन वे पूर्णतः दासों के समान नही माने जाते थे और सामाजिक-आर्थिक संरचना में पूर्ण दासों से भिन्न भूमिका अदा कर सकते थे। पूर्ण दासों और "अस्थायी रूप से दास

बने " लोगो के विभाजन का विश्लेषण 'अर्थशास्त्र' की इस प्रस्थापना के प्रकाश मे भी किया जाता है कि चतुर्वर्ण समाज के सदस्यों को दास नही बनाया जाना चाहिए।

मेद्वेदेव, अलायेव, इल्यीन, बोगार्द-लेविन, सामोज्वान्त्सेव, विगासिन, आदि, प्राय सभी सोवियत इतिहासकार प्राचीन भारतीय समुदाय और स्वामित्व की समस्याओं की ओर ध्यान देते हैं। प्राचीन भारत में सामाजिक संबधो को समझने के लिए समुदाय के विशाल महत्त्व पर ज़ोर दिया जाता है। यहां यह स्मरणीय है कि १९वी सदी के मध्य मे भी मार्क्स ने भारत में समुदाय की भूमिका के बारे में लिखा था। उन्होंने समुदाय को भारत की सामाजिक संरचना का वास्तविक आधार बताया था। यह बात अत्यत महत्त्वपूर्ण है और सोवियत विद्वान इसे सदा ध्यान में रखते हैं। प्राचीन भारतीय समुदाय के विश्लेषण के लिए लब्धप्रतिष्ठ भारतीय इतिहास-कारो, यथा, आर० के० मुखर्जी, आर० सी० मजूमदार, ए० एस० अल्तेकर, आदि के कार्य बहुत महत्त्व रखते हैं। यहा यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि प्राचीन भारतीय समुदाय के प्रति सोवियत इतिहासकारों का सामान्य रुख कई भारतीय विद्वानों के दृष्टिकोण से सिद्धांतत: भिन्न है। सोवियत शोधकर्त्ता भारतीय समुदाय के आदर्शीकरण की प्रवृत्ति नही रखते, वे इसे ऐसी संस्था मानते हैं, जिसके मूल में आदिम व्यवस्था थी। वे इसे वर्ग समाज की सामाजिक संरचना का घटक भी मानते हैं। समुदाय की उत्पत्ति और अस्तित्व के कारण वे सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में ढूढ़ते हैं, "मिल-जुलकर काम करने की" किसी विशेष "भारतीय भावना" मे नहीं। यह भावना तो भारत में सामुदायिक व्यवस्था की दृढ़ता के कारण ही पनपी कही जा सकती है। प्राचीन भारतीय समुदाय की व्याख्या और मूल्यांकन के प्रश्न पर सोवियत इति-हासकारो के बीच बहुत मतभेद हैं। 'प्राचीन भारत' पुस्तक के एतद्विषयक अध्याय के लेखक इल्यीन ने प्राचीन भारतीय समुदाय को आदिम सामुदायिक व्यवस्था का अवशेष, प्राचीन भारत के दासप्रथात्मक समाज में आदिम पद्धति का तत्व माना है। उनके विचार में, यह पद्धति दासप्रथा के विकास से और गठित हो रही वर्ण व्यवस्था से क्रमश: ह्रासोन्मुख हो रही थी। साथ ही यह दासप्रथा के फैलने में बाधक थी और इसने दासप्रथा को विकास के उच्च स्तर पर नहीं पहुंचने दिया।

ये० मेद्वेदेव के कार्य मुख्यत: शिलालेखों के आधार पर प्राचीन भारत में ग्राम समुदाय के संगठन, नगर के स्वशासन, क़बीलाई इलाक़ों तथा समुदाय के विषय से संबधित अन्य ठोस प्रश्नों को समर्पित हैं। प्राचीन भारत की सामाजिक व्यवस्था के आम मूल्यांकन संबधी अपनी रचनाओं में भी उन्होंने ग्राम समुदाय के स्वरूप पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। ये रचनाए हैं—'लगान, कर, स्वामित्व। भारतीय सामतवाद के कुछ प्रश्न' शीर्षक लेख' ('भारत तथा मध्यपूर्व के देशो के इतिहास की समस्याए', १९७२, पुस्तक में), 'प्राचीन भारत की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पर कुछ विचार' ('एशिया और अफ़्रीका के जनगण' पत्रिका, १९६६, अंक ६ में),

'भारत में सामंतवादी विरचना की उत्पत्ति' ('भारत के सामाजिक और आर्थिक इतिहास पर निबंध', १९७३, पुस्तक मे), इत्यादि। मेद्वेदेव प्राचीन भारत में तीन सामाजिक-आर्थिक पद्धतियों का होना बताते हैं एक, आदिम पद्धति, जो उपांतीय क़बीलाई इलाको मे थी, जहा से शोषित वर्गों की पूर्ति होती थी। किंतु साथ ही यह पद्धति वर्ग समाज के विकास में बाधक थी। दूसरी दो पद्धतियां, यानी दास-प्रथात्मक और सामंतवादी पद्धतियां, उनके विचार मे, प्राचीन भारत मे काफ़ी हद तक अविकसित ही रही। दासप्रथा मूलत घरेलू, पितृसत्ताक ही थी। सामंतवादी संबंधो की अभिव्यक्ति मुख्यत: समुदाय के सदस्यों से राजकीय करो की वसूली में होती थी। मेद्वेदेव के मत मे ये कर अपने मूल मे भूमि लगान का रूप हैं। इस प्रकार वे ग्रामीण आबादी के बडे भाग (सामुदायिक खेतिहरों और बटाईदारों) को ऐसे किसान मानते हैं, जिनका समाज के प्रभुत्वकारी स्तर द्वारा सामंती शोषण किया जाता था। इस अवधारणा का मूल अ० ओसिपोव की कृति मे खोजा जा सकता है। किंतु मेद्वेदेव के साथ तर्क-वितर्क में इल्यीन यह सिद्ध करते हैं कि प्राचीन भारत में भूमि पर राजा का सर्वोपरि स्वामित्व नही था, अत कर न लगान हैं और न ही सीधे (या बुनियादी) शोषण का रूप।

बोगार्द-लेविन ने प्राचीन भारत मे भू-स्वामित्व पर एक विशेष लेख लिखा। उन्होंने यह इंगित किया कि प्राचीन समाजो का सामाजिक-आर्थिक ढाचा सिद्धांतत: बहुपद्धतीय है और इस बहुपद्धतीयता को किसी सीधे-सादे खाके के रूप मे पेश नहीं किया जा सकता। इल्यीन के इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए कि प्राचीन भारत में सामंती संबध नही थे, उन्होंने साथ ही इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि प्राचीन युग में ऐसे तत्व थे जो सहज ही विकसित तथा सामंतवादी तत्वो में परिवर्तित हो सकते थे (निजी-स्वामित्वमूलक लगान के रूप, इत्यादि)। प्राचीन भारत में स्वा-मित्व के स्वरूप के प्रश्न पर विचार करते हुए बोगार्द-लेविन ने यह मत व्यक्त किया कि स्वामित्व के रूप अनेक थे। उनके विचार में, प्राचीन भारतीय ग्रथों से निजी, सामुदायिक और राजकीय स्वामित्व के होने का पता चलता है। साथ ही कई मामलों मे स्वामित्व मे भागीदारी भी होती थी, यानी एक ही अचल संपत्ति पर एक साथ किसी व्यक्ति-विशेष, समुदाय और राज्य का संयुक्त अधिकार हो सकता था।

अ० सामोज्वात्सेव ने प्राचीन भारत मे भूमि स्वामित्व पर, जैसे कि यह धर्म-शास्त्रो मे और मध्ययुगीन टीकाओं मे प्रतिबिम्बित हुआ है, एक विशेष रचना लिखी है। संस्कृत ग्रथो का बारीकी से विश्लेषण करके लेखक ने यह बताया कि स्वामित्व का अधिकार किस तरह पाया और खोया जाता था, स्वामित्व अधिकार के प्रमाणों की क्या प्रणाली थी, इत्यादि। प्राचीन भारतीय विधिशास्त्रियो (स्मृतिकारों) की समझ में स्वामित्व और क़ब्ज़े के सहसंबंध की सामान्य समस्या पर ग़ौर किया गया है। सामोज्वात्सेव ने धर्मशास्त्रो मे स्वामित्व का एक मौलिक सिद्धांत पाया, जो बहुत पहले, मौर्य काल मे तैयार किया गया था और जिसके लिए स्वामित्व अधि-

कार और भूमि संबंधो के विकास का उच्च स्तर अपेक्षित था। प्राचीन भारत में निजी स्वामित्व के विकास के बारे में सामोज़्वान्त्सेव का दृष्टिकोण कतिपय भारतीय विद्वानो, उदाहरणत:, लल्लनजी गोपाल की अवधारणाओं से मिलता है।

ल० अलायेव की कृतियो मे भारतीय समुदाय के प्रति नया रुख सुझाया गया है। वे प्राचीन भारतीय समुदाय को आदिम समाज के अवशेष मात्र के रूप में देखने से इन्कार करते हैं, हालांकि इस संभावना से इन्कार नहीं करते कि प्राचीन ग्राम समुदाय उत्पत्ति की दृष्टि से आदिम समुदाय से जुडा हो सकता है। वे प्राचीन भारतीय ग्राम समुदाय को वर्ग समाज का अभिन्न अंग मानते हैं। इस विद्वान के मत में, प्राचीन युग मे ही समुदाय के पूर्णाधिकार-संपन्न सदस्य भूस्वामी भूमिहीन खेतिहरो के श्रम के शोषक बन गये थे।

अ० विगासिन भी अलायेव के इस विचार का समर्थन करते हैं कि समुदाय को आदिम व्यवस्था के अवशेष मात्र के रूप मे ही नही देखा जा सकता। वे इस बात की ओर विशेष ध्यान दिलाते हैं कि सारे भारतीय समाज की संरचना "सामुदायिक" है। 'अर्थशास्त्र' की सामग्री पर आधारित एक विशेष लेख में प्राचीन भारतीय समाज के घटको "श्रेणियों" – की व्याख्या करने और उनका प्ररूप निर्धारित करने के प्रयास किये गये हैं। स्वामित्व का प्रश्न भिन्न-भिन्न संख्या वाले और भिन्न-भिन्न स्तरों के समुदायों की प्रणाली के रूप में प्राचीन भारतीय समाज की अवधारणा के प्रसग मे हल किया गया है। विगासिन के मत में, प्राचीन भारत में निजी स्वामित्व का प्रभुत्व था, लेकिन यह निजी स्वामित्व उन सभी रूपों के समूहो के द्वारा सीमित था, जिनका सदस्य निजी स्वामी होता था।

दासता से भिन्न निजी शोषण के नाना रूपो के प्रश्न को भी सोवियत इतिहास-शास्त्र में निश्चित स्थान प्राप्त है। आर्थिक जीवन में उजरती श्रम (कर्मकर और भृतक) की महती भूमिका इगित की जाती है। इस प्रश्न पर इल्यीन, मेद्वेदेव और विगासिन ने शोधकार्य किया है। इस परिघटना के मूल्यांकन में निश्चित अंतर्विरोध के बावजूद सोवियत भारतविद एकमत से इस बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि कर्मकर आदि के श्रम की परिस्थितियां बहुत हद तक आर्थिकेतर बाध्यताओं द्वारा निर्धारित होती थी। कर्मकर की आर्थिक स्थिति उसकी वर्ण स्थिति से घनिष्ठ रूप से जुडी होती थी, प्राचीन भारत की सामान्य सामाजिक व्यवस्था द्वारा तय होती थी। इसलिए प्राचीन भारत के उजरती मज़दूरों को वर्तमान समय के पूंजीवादी समाज के मज़दूर वर्ग जैसा मज़दूर वर्ग नहीं माना जा सकता।

सोवियत इतिहासकारों ने प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा पर विशेष शोधकार्य अभी कम ही किये हैं, हालांकि ये प्रश्न प्राचीन भारत पर लिखी गयी रचनाओ (बोंगार्द-लेविन, इल्यीन, मेद्वेदेव, विगासिन) में भी तथा भारत के इतिहास के बाद के कालों को समर्पित रचनाओं (कोतोव्स्की, कुद्र्याव्त्सेव, अलायेव, कुत्सेन्कोव) में भी उठाये जाते हैं। इस समस्या पर सोवियत इतिहासशास्त्र

का सामान्य लक्षण है जाति प्रथा का सामाजिक-आर्थिक अंतर्य देख पाने की चेष्टा। सोवियत शोधकर्त्ता भारतीय नृजातिविज्ञान की उपलब्धियो, एम० एन० श्रीनिवास, इरावती कर्वे तथा अन्य विद्वानो की रचनाओं का व्यापक उपयोग करते हैं। कुछ शोधकार्यों में जजमानी प्रथा पर भारतीय देहात की सामाजिक सरचना के आधार के रूप में ग़ौर किया गया है। मुख्यत:, मध्य युग और आधुनिक युग के गांवों की जाति प्रथा विषयक सामग्री का ही विश्लेषण किया जाता है, लेकिन कुछ सोवियत इतिहासकार इस सस्था का मूल प्राचीन युग – ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी – में खोजने के प्रयास करते हैं। वैसे तो विदेशी इतिहासशास्त्र की ही भांति, सोवियत इतिहासकारों के बीच भी यह मत प्रचलित है कि जाति प्रथा का गठन और "व्यावसायिक जातियों" की उत्पत्ति ईसवी संवत की पहली शताब्दियों में हुई थी।

कतिपय रचनाओ में अस्पृश्यता के सामाजिक-आर्थिक अंतर्य की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। अछूतों को प्राय अर्द्ध-दास अर्द्ध-भूदास माना जाता है और पूरी जाति प्रथा पर प्रत्यक्ष उत्पादको की आर्थिकेतर बाध्यताओं के प्रसंग में, जो कि प्राक्-पूंजीवादी समाजों की लाक्षणिकता है, ग़ौर किया जाता है। कुछ शोध रचनाओ में (उदाहरणत:, अ० अलायेव की रचना मे) व्यवसाय की जाति से असंबद्धता पर ज़ोर दिया जाता है और जातियों के गठन में व्यावसायिक विभेदन को नहीं, बल्कि उत्पादन साधनों, सर्वप्रथम भूमि के प्रति विभिन्न संबंध द्वारा निर्धारित सामाजिक स्थिति मे भेद को ही प्रमुख माना जाता है। जाति प्रथा के गठन की समस्या को प्राय: (उदाहरणत, ग० कोतोव्स्की के अनुसार) सामंती सोपानक्रम की उत्पत्ति से संबंधित माना जाता है। साथ ही इस बात की ओर ध्यान दिया जाता है कि जाति निश्चित पहलुओ में क़बीलाई या गोत्रीय सरचना की नक़ल है और उत्पत्ति की दृष्टि से उससे संबद्ध हो सकती है। हाल ही में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि जाति प्रथा 'अर्थशास्त्र' की रचना के समय मे यानी मौर्य काल में ही गठित हो चुकी थी। इस सदर्भ मे जाति को वास्तव में सक्रिय सामुदायिक समूह माना जाता है, जो कतिपय बहिर्विवाही गोत्रों से बना। आजकल प्राचीन भारत की जातियों का रिश्तेदारो के समूहों के साथ संबध देखते हुए अध्ययन करने की आवश्यकता है। सोवियत सघ में इस दिशा मे कार्य आरंभ ही हो रहा है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के बाह्य सम्पर्कों के प्रश्न में सोवियत शोधकर्त्ता सदा गहरी रुचि दिखाते हैं। भारत के बारे में प्राचीन यूनानी-रोमन लेखकों द्वारा लिखी गई सभी रचनाएं सोवियत संघ में प्रकाशित हो चुकी हैं। इन लेखकों द्वारा, उदाहरणत:, मेगस्थनीज़ द्वारा भारत के बारे में दी गयी जानकारी कहां तक सही है, इस विषय पर कई शोध रचनाएं भी छपी हैं। भारतीय-यूनानी संबंध विषयक कृतियों में न केवल यूनानियों के भारत के ज्ञान पर, बल्कि यूनानियों के प्रति भारतीयो के रुख पर भी प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है। पिछले कुछ वर्षों से इस बात का अध्ययन किया जा रहा है कि यूनानी-रोमन लेखकों विशेषत: उत्तरकालीन लेखकों

की रचनाओं में बौद्ध परम्परा कैसे प्रतिबिम्बित हुई है। उत्तरकालीन रोमन साम्राज्य तथा आरंभिक वैज़तिया साम्राज्य के भारत के साथ संबंधों का न० पिगुलेव्स्कया के १९५१ मे प्रकाशित शोध ग्रंथ – 'भारत के मार्गों पर वैज़तिया' – मे विस्तार से विश्लेषण किया गया है। एशियाई देशों – मंगोलिया, दक्षिण-पूर्वी एशिया और इंडो-नेशिया – मे भारतीय संस्कृति के प्रभाव तथा प्राचीन युग में भारत और चीन के संबंधो (चीनी स्रोतों के अनुसार) का भी अध्ययन किया जाता है। दक्षिण-पूर्वी एशिया और मंगोलिया में प्राचीन भारतीय महाकाव्य रचनाओं के भाग्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है। युवा सोवियत प्राच्यविद इंडोनेशिया में पाये गये संस्कृत शिलालेखो का तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया की भाषाओं में बने भारतीय रचनाओं के रूपातरो का अध्ययन कर रहे हैं (म० कुलांदा)। इन प्रश्नों में सोवियत इतिहास-कारो का सैद्धांतिक दृष्टिकोण यह है कि यद्यपि भारत के इर्द-गिर्द के देशों की संस्कृति को और भारत के साथ इनके संबंधो को भी समझने के लिए इन देशों पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव की समस्या अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, तथापि किसी संस्कृति का सही मूल्यांकन तभी हो सकता है, जबकि उसपर तत्संबंधी देश के जीवन के साथ संबंध के प्रसंग में ही विचार किया जाये। दूसरे देश के सांस्कृतिक प्रभाव की संभावना इस देश के आंतरिक विकास द्वारा ही तैयार होनी चाहिए, ऐसा प्रभाव चाहे कितना भी गहरा, कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, वह वहां के जनगण के सांस्कृतिक विकास मे निर्णायक भूमिका अदा नहीं कर सकता।

प्राचीन भारत के इतिहास के अध्ययन के क्षेत्र में सोवियत संघ में पिछले वर्षों से प्राचीन स्रोतों का अध्ययन अधिक बारीकी और गहराई से किया जाने लगा है। यह अकारण ही नहीं है कि पिछले वर्षों में स्रोतों के अध्ययन की समस्याओं – स्रोत ग्रंथ का रचना काल, परम्परा, प्रामाणिकता, आदि प्रश्नों – पर विशेष शोधकार्य अधिक हो रहे हैं। स्रोत ग्रंथ की भाषा, उसकी अवधारणाओं की प्रणाली और पारि-भाषिक शब्दों को तदनुरूप समझने की समस्या उठाई जा रही है। सामाजिक संरचना की जटिलता स्वीकार की जाती है, शोधकर्त्ता अब दास स्वामित्व के प्रश्न की ओर ही नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना की दूसरी समस्याओं की ओर भी ध्यान दे रहे हैं। ये समस्याएं हैं – समुदाय का आंतरिक संगठन, शोषण की अदासप्रथात्मक विधि-यां, स्वतंत्र नागरिकों के बीच सामाजिक संबंध, जाति, गोत्र, कुल, वंश जैसी संस्थाएं, आदि। अंततः संस्कृति के इतिहास की समस्याओं में रुचि बढ़ रही है। इस क्षेत्र मे इतिहासकारों का काम भारतविद्या के दूसरे क्षेत्रों के विशेषज्ञों – साहित्य मीमांसकों, भाषाविदों, दार्शनिकों, आदि के काम के साथ विशेषतः घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है।

सोवियत भारतविद्या का एक प्रमुख कार्यभार और कार्यदिशा है सोवियत संघ के संग्रहों में संरक्षित हस्तलिखित ग्रंथो का प्रकाशन। मध्य और केंद्रीय एशिया में मिले संस्कृत ग्रंथो के बारे में कई लेख पिछले वर्षों में छपे हैं। केंद्रीय एशिया से प्राप्त

बौद्ध ग्रंथो के अध्ययन का काम तेज़ी से हो रहा है। पिछले बीस से अधिक वर्षो से 'नाऊका' (विज्ञान) प्रकाशन गृह 'प्राच्य साहित्य रत्न' नामक एक पुस्तकमाला निकाल रहा है, जिसमे हस्तलिखित ग्रंथो का मूल पाठ भी दिया जाता है तथा अनुवाद भी। प्राचीन भारतीय साहित्य की अनेक रचनाए अलग से भी प्रकाशित होती है। पिछले पच्चीस वर्षो में सोवियत सघ में संस्कृत साहित्य की अनेक प्रमुख कृतियो का अनुवाद किया गया है। ऋग्वेद और 'अथर्ववेद' के कुछ अशो का अनुवाद त० येलिज़ारेन्कोवा ने किया है। इसके अलावा ब्राह्मणो और आरण्यको के अंशों, सभी प्रमुख उपनिषदो, 'मनुस्मृति', अशत: 'नारदस्मृति' और कौटिल्य कृत 'अर्थशास्त्र' के भी अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। तुर्कमान जनतत्र के अकादमीशियन ब० स्मिर्नोव ने महाभारत का आठ खण्डो मे अनुवाद किया, जो छठे-सातवे दशक में अश्काबाद से प्रकाशित हुआ। इन खण्डो में गीता भी शामिल है। महाभारत के पहले पाच पर्वो का अकादमिक अनुवाद हुआ है। महाभारत के अलग-अलग अंशों के काव्य रूपातर भी प्रकाशित हुए हैं। महाभारत के विभिन्न प्रकाशनो में दिये गये लेखो मे इस महाकाव्य के अध्ययन से सबधित प्रश्नो पर प्रकाश डाला गया है। उदाहरणत:, अश्काबाद मे छपे महाभारत के खण्डों मे ब० स्मिर्नोव ने मुख्यत: दार्श-निक प्रश्नो की विवेचना की है। ऐसा करते हुए उन्होंने प्राचीन भारतीय चिंतन के मानववाद की ओर विशेष ध्यान दिलाया है। महाभारत के अकादमिक प्रकाशन में व० कल्यानोव ने कूटनीनि और समर कौशल के प्रश्नो का अध्ययन किया है। रामायण के कुछ अशो के रूसी काव्य-रूपांतरण तथा महाभारत, रामायण, भागवतपुराण की कथाओं और भारतीय मिथको के साहित्यिक रूपांतरण भी रूसी में छपे हैं। अपनी कुछ रचनाओ में ऐ० त्योम्किन और व० एर्मन ने आम सोवियत पाठकों को भारत के मिथको और महाकाव्यों से परिचित कराने का ध्येय रखा है। चूंकि महाकाव्यो का पूर्ण पाठ आम पाठकों की पहुच से बाहर है, और भारतीय संस्कृति को समझ पाने के लिए मिथकों, प्राचीन अवधारणाओ और महाकाव्यों के बिम्बो को जानना आवश्यक है, इसलिए त्योम्किन और एर्मन ने दोनों महाकाव्यो का सारांश साहित्यिक रूप में प्रस्तुत किया है। इसमें उन्होंने इनकी शैली और काव्य विशिष्टताओं को बनाये रखने का प्रयास किया है। कालिदास के काव्यों और नाटकों के अनुवाद कई बार छपे हैं तथा शूद्रक, भास, विशाखदत्त के नाटक, भवभूति और वररुचि के नाटकों के अश भी प्रकाशित हुए हैं। संस्कृत और प्राकृतो से प्राचीन भारतीय कविताओ के भी रूसी मे अनुवाद किये गये हैं—'दूसरी-दसवी शताब्दी ई० का भार-तीय काव्य' संग्रह, भर्तृहरि का 'शतकत्रयम्', आदि। बौद्ध ग्रथों के अनुवादों में 'धम्मपद' और आर्यशूर की 'जातकमाला' उल्लेखनीय हैं। साथ ही 'सुत्तनिपात', 'महावग्ग', 'दीग्घनिकाय', 'थेरगाथा' और 'थेरीगाथा' के अशों के भी अनुवाद छपे हैं। प्राचीन भारतीय दार्शनिक ग्रथों के अनुवादों में से हाल ही में उलान-उदे में व० मेमिच्रोव और ग० ब्रियान्स्की द्वारा तिब्बती पाठ से किया गया वसुबधु के 'अभि-

धर्मकोश' का अनुवाद उल्लेखनीय है। इस प्रकाशन मे युद्धपूर्व वर्षो में श्चेर्बात्स्की और उनके अनुयायियो की वसुबधु के अध्ययन की परम्पराओं को जारी रखा गया है। सेमिच्चोव श्चेर्बात्स्की के शिष्य भी रह चुके हैं। भारतीय दर्शन के प्रमुख ग्रथो के अनुवाद और अध्ययन का कार्य सफलतापूर्वक विकसित हो रहा है। सस्कृत साहित्य के क्षेत्र में 'पचतत्र' तथा "कथा के अंदर कथा" शैली की अन्य सभी प्रमुख रचनाओं का अनुवाद उल्लेखनीय है। मास्कोवासी संस्कृतविद ई० सेरेब्र्याकोव ने सोमदेव के 'कथासरित्सागर' का पूर्ण अनुवाद किया है। आनन्दवर्धन कृत 'ध्वन्यालोक' का यु० अलीखानोवा ने अनुवाद किया है। अलीखानोवा और सेरेब्र्याकोव ने अनुवाद के साथ-साथ शोधकार्य भी किया है, अमूल्य टिप्पणियां भी दी हैं। ये प्रकाशन न केवल सोवियत संघ में, बल्कि ससार भी मे भारतविद्या संबधी अध्ययनों में महत्त्वपूर्ण योगदान है। सोवियत भारतविदों का कार्य भारतीय आर्य भाषाओं के ग्रथो तक ही सीमित नही है। 'तिरुकुरल' का दो बार रूसी में अनुवाद हुआ है। 'शिलप्पडिकरम', तमिल काव्य, किवदतियों और दार्शनिक रचनाओं का भी अनुवाद हुआ है। प्राचीन भारतीय साहित्य की रचनाओं के अनुवादों का प्रकाशन एक ओर सोवियत सघ मे भारतीय संस्कृति के बारे मे ज्ञान प्रसारित करने मे सहायक होता है, तो दूसरी ओर यह सस्कृतविदो के गहन शोधकार्य से जुडा हुआ है। उदाहरणत:, संहिताओं का अनुवाद करते हुए त० येलिज़ारेन्कोवा ने वैदिक भाषा पर, ऋग्वेद की शैली और 'अथर्ववेद' के मत्रो, आदि पर अनेक लेख छापे हैं। येलिज़ारेन्कोवा ने आंतरिक पुनर्रचना की विधि से वैदिक भाषा मे काल प्रणाली के गठन पर रोचक कार्य किया है ('ऋग्वेद में अनिर्दिष्ट काल', १९६०)। ऋग्वेद की स्वनप्रक्रिया प्रणाली की ओर भी उन्होंने विशेष ध्यान दिया है, जिसके फलस्वरूप वैदिक और लौकिक सस्कृत के बीच सीमा अधिक स्पष्टत: निर्धारित की जा सकी है। अनेक वर्षों के परिश्रम के फलस्वरूप उन्होंने 'वैदिक भाषा का व्याकरण' (१९८२) लिखा है। इस ग्रथ में मत्रो की भाषा का सभी स्तरों पर (स्वनों से वाक्यरचना तक) एककालिक वर्णन दिया गया है, जो कि रूपगत और तत्सबंधी अर्थगत विरोधों की प्रणाली के रूप मे बनाया गया है। पुस्तक में वैदिक पाठों की शब्द तथा अर्थरचना का अध्ययन किया गया है। सप्रति येलिज़ारेन्कोवा ऋग्वेद का विस्तृत टीका सहित पूर्ण अनुवाद तैयार कर रही हैं। सोवियत विद्वानों ने ऋग्वेद के मिथक पाठों की संरचना तथा उपनिषदो के अध्ययन की कुछ समस्याओं पर भी शोधकार्य किया है। इन ग्रंथों की सरचना और शैली, इनमे हिंदू अनुष्ठानों, मिथकों और सामाजिक यथार्थ का प्रतिबिम्ब, आदि ऐसी कुछ समस्याएं हैं। एर्मन की पुस्तक 'वैदिक साहित्य के इतिहास की रूपरेखा' में ऋग्वेद से उपनिषदों और वेदांगों तक का सविस्तार सिंहावलोकन किया गया है। भारत, पश्चिमी यूरोप और सोवियत संघ में वैदिक साहित्य के अध्ययन के इतिहास की ओर पुस्तक में विशेष ध्यान दिया गया है। लेखक ने समसामयिक भारतीय विद्वानो (सर्वप्रथम आर० एन० दडेकर, वी० राघवन) के कार्यों का उच्च

मूल्यांकन किया है। व० सेमेन्त्सोव की पुस्तक 'ब्राह्मण ग्रथों की व्याख्या की समस्याएं (कर्मकांडीय प्रतीकार्थ)' (१६८१) में वैदिक ग्रंथों के अध्ययन के महत्त्वपूर्ण सामान्य प्रश्न उठाये गये हैं। लेखक ने ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों के प्रकार्य को केंद्रीय प्रश्न माना है, जिसे समझे बिना इस ग्रंथो की सही व्याख्या करना असंभव है। सेमेन्त्सोव ने यह प्रमाणित किया है कि ब्राह्मण प्रकार्यात्मक टीका हैं, अर्थात ग्रंथों के अर्थ की व्याख्या नहीं हैं, बल्कि कर्मकांड में इनके उपयोग पर प्रकाश डालते हैं। उनके विचार में उपनिषदों समेत सारे उत्तर-वैदिक साहित्य की व्याख्या कर्मकांड के साथ घनिष्ठ सबंध को ध्यान में रखते हुए की जानी चाहिए। सेमेन्त्सोव ने मानव चिंतन के विकास की नियमसंगतियों की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रथों के कर्मकांडीय प्रतीकार्थों के विश्लेषण का महत्त्व दर्शाया है। अ० विगासिन ने कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' का और धर्मशास्त्रों का ऐतिहासिक स्रोतों के नाते अध्ययन करने की दिशा में काम किया है। बोंगार्द-लेविन ने 'अर्थशास्त्र' के विचारधारात्मक आधार और भौतिकवाद से इस ग्रंथ के संबंध पर एक लेख लिखा है। व० रोमानोव भी धर्मशास्त्रों का अध्ययन कर रहे हैं। उनका ध्यान प्राचीन भारतीयों के चिंतन और संस्कृति की विशिष्टताओं पर केंद्रित है। उदाहरणत:, वे भारतीय ग्रंथों में राज्य को राजा का शरीर बताये जाने के विशिष्ट तथ्य को इंगित करते हैं, धर्मशास्त्रों मे अनुष्ठान और उपदेश के सहसंबंध, कर्मकांड, मिथक, साहित्य के सहसंबंध की समस्या का विश्लेषण किया गया है।

सोवियत भारतविद्या में महाभारत के अध्ययन की ओर विशेषत: अधिक ध्यान दिया गया है। इसका अध्ययन तुलनात्मक-उत्पत्ति संबंधी पहलू से और लोक साहित्य की सामान्य समस्याओं के संदर्भ में किया जाता है। विद्वान मौखिक और लिखित महाकाव्य परम्पराओं के सहसबंध का विश्लेषण करते हैं। उनका कहना है कि महा-भारत मौखिक मूल की रचना है। प० ग्रीत्सेर और या० वसिल्कोव इस दिशा में सक्रिय कार्य कर रहे हैं। **ग्रीत्सेर** की पुस्तक 'प्राचीन भारतीय महाकाव्य' (१६७६) में महाभारत और रामायण की मौखिक उत्पत्ति से तथा अन्य महाकाव्यों और लोक साहित्य विधाओं के साथ प्ररूपात्मक तुलना से संबधित समस्याओं पर विचार किया गया है।

पुस्तक के 'प्राचीन भारतीय महाकाव्य में मौखिक और लिखित परम्परा' शीर्षक पहले भाग मे स्वयं महाकाव्य से इसके दीर्घकाल तक मौखिक रूप में अस्तित्वमान होने के बारे में, इसके वाचन और वाचकों के बारे में अनेक साक्षियां दी गई हैं। तथापि महाभारत और रामायण की मौखिक उत्पत्ति का निर्णायक लक्षण यह है कि इनके पाठों में रूढ़िबद्ध मुहावरों की प्रचुरता है, जो कि लोक साहित्य की रचनाओं का लक्षण है।

प्राचीन भारतीय महाकाव्य के सृजन मे मौखिक परम्परा की भूमिका को देखते हुए लेखक ने पाठ में निहित पुनरावृत्तियों और अंतर्विरोधों, संरचना की विशिष्ट-

ताओ, तथा विभिन्न पाठभेदो के महसबध की व्याख्या की है। अन्य मौखिक महाकाव्य रचनाओ के साथ तुलना से पता चलता है कि कथानकों की और शैलीगत पुनरावृत्तिया, भाव सबधी अतर्विरोध और निक्षिप्त उपाख्यान – ये सब मौखिक महाकाव्य के मूलभूत लक्षण हैं। महाभारत और रामायण के मौखिक प्रसार का परिणाम यह हुआ कि इनका कोई मानक (प्रामाणिक) पाठ नहीं बना और न वह सिद्धाततः बन ही सकता था। इन महाकाव्यो की कई, एक दूसरे से भिन्न पांडुलिपियां मिलती है। ग्रीत्सेर ने यह दिखाया है कि मौखिक परम्परा की विशिष्टता पाठ का स्थायित्व नही, गतिशीलता है, और महाभारत व रामायण के सृजन के उत्तर काल मे ही नही, आरभिक दिनों में भी विभिन्न पाठभेद अस्तित्वमान थे। लेखक के मत मे, इन सस्कृत महाकाव्यों के मूलपाठ का निर्धारण असभव है, वैसे ही जैसे कि इनमें असगत प्रक्षेपो की खोज। लेकिन चूकि महाभारत और रामायण की रचना प्रक्रिया असाधारणतः लबी थी (लगभग चौथी सदी ई० पू० से तीसरी सदी ई० तक), सो यह कहा जा सकता है कि ये महाकाव्य बहुस्तरीय हैं, कि इनमे "वीर युग" की सामग्री पर बाद के काल की विचारधारात्मक और सौंदर्यबोधात्मक अवधारणाओ के अनुसार पुनर्विचार किया गया और इस तरह उत्पन्न नयी समझ को लिखित पाठभेदो में अभिव्यक्त किया गया।

सस्कृत महाकाव्य की मौखिक उत्पत्ति के निष्कर्ष के आधार पर लेखक ने महाकाव्य, मिथक और आख्यानो (लोक कथाओं) के कथानकों का एक सामान्य आदि-प्ररूप होने का प्रश्न उठाया है।

साथ ही लेखक यह दिखाता है कि लोक साहित्य की कथा-विधाओं की परम्परागत सरचनात्मक योजना महाकाव्य का स्रोत नही, बल्कि ऐसा साधन थी, जिसकी मदद से ऐतिहासिक अनुश्रुतियों, किवदतियों, आदि को विशाल महाकाव्य रूपो मे सगठित किया जाता था।

लेखक ने जो एकसमान सरचनात्मक योजना का होना इंगित किया है, वह सस्कृत के महाकाव्य तथा दूसरे जनगण के, सर्वप्रथम प्राचीन युग के जनगण के महाकाव्य मे कथानक के और कुछ केंद्रीय कथानक-रूढ़ियो के सामीप्य की भी पूर्वकल्पना करता है। इस सामीप्य की ग्रहण-सिद्धांत से व्याख्या नहीं की जा सकती, इसका अध्ययन तो केवल तुलनात्मक-प्ररूपात्मक विधि से ही सभव है। साथ ही एक सामान्य प्ररूप के अतर्गत अलग-अलग महाकाव्यों के अतर्य और समस्याओ मे पर्याप्त विविधता पाई जाती है और ये उस सांस्कृतिक-ऐतिहासिक पर्यावरण द्वारा निर्धारित होते हैं, जिसमें निश्चित महाकाव्य की रचना हुई। चूंकि महाभारत और रामायण की रचना का अतिम चरण ईसवी संवत की पहली शताब्दियो में था, सो दोनो महाकाव्यो मे उस काल में भारत के सांस्कृतिक जीवन का वातावरण प्रतिबिम्बित हुआ है। साथ ही महाभारत और रामायण में वीर-महाकाव्य सामग्री का रूपांतरण अलग-अलग ढग से हुआ। मौखिक परम्परा की रूढ़िबद्धता के फलस्वरूप महाभारत मे

वीर गाथा का अंतर्य और कथानक अक्षुण्ण रहे, लेकिन उनकी प्रस्तुति और व्याख्या नये ढंग से, नैतिक दृष्टिकोण से की गई। उस पर तब तक फैल चुके हिंदू धर्म की अवधारणाओं का प्रभाव पड़ा, जिनकी सर्वाधिक सुस्पष्ट अभिव्यक्ति भगवद्‌गीता में पाई जाती है। इसके विपरीत रामायण का विकास वीर-गाथात्मक से साहित्यिक महाकाव्य की ओर हुआ, जिसमें महाकाव्य की घटनाओं को सर्वप्रथम उनके भावनात्मक पक्ष से देखा जाता है और काव्यमय, आत्मगत भाव का वीर-गाथात्मक, वस्तुगत भाव पर पूर्ण प्रभुत्व होता है।

सोवियत विद्वान के निष्कर्षों का विदेशों में उच्च मूल्यांकन हुआ है।

या० वसिल्कोव के कुछ लेखों में भी महाभारत की मौखिक उत्पत्ति की समस्याओं पर ग़ौर किया गया है। इसके मुख्य तथा कुछ अन्य कथानकों की व्याख्या उन्होंने नृजातिवर्णन संबंधी सामग्री के आधार पर की है। अपने लेखों में वसिल्कोव ने महाकाव्य के कथानक के गठन पर कर्मकांडीय और मिथकीय "माडलों" के प्रभाव का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है। उन्होंने इस प्राक्कल्पना पर विस्तार में ग़ौर किया और महाभारत के उद्धरणों तथा नृजातिवर्णन संबंधी सामग्री में इसकी पुष्टि की कि भारत के महाकाव्य में पुरातन कर्मकांड प्रणाली "अंकित" हुई है। इस दृष्टिकोण से लेखक उन अनेक कथानकों और ब्योरों की व्याख्या करने में सफल रहा है, जिन्हें विद्वान प्रायः प्रक्षिप्त, प्रणाली-इतर और महाकाव्य की संरचना के लिए अलाक्षणिक मानते थे। भारतीय महाकाव्य की मौखिक उत्पत्ति का सिद्धांत विभिन्न जनगण के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की सामान्य समस्याओं को हल करने के लिए ही नहीं, बल्कि महाकाव्य के पाठ निर्धारण संबंधी प्रश्नों को ठीक समझने के लिए भी बहुत महत्त्व रखता है। **स० नेवेलेवा** की रचनाएं भी इन्हीं सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं पर आधारित हैं। उन्होंने महाभारत के तीसरे पर्व (वनपर्व) के आधार पर महाकाव्य में चर्चित देवी-देवताओं का विवरण दिया है ('प्राचीन भारतीय महाकाव्य के मिथक (देव गण)', १९७५) तथा एक विशेष ग्रंथ में भारतीय महाकाव्य के अलंकारों का विश्लेषण किया है ('प्राचीन भारतीय महाकाव्य के काव्यशास्त्रीय पहलू। रूपक और उपमा', १९७९)। इस दूसरी पुस्तक में तुलनात्मक सामग्री भी है, जिससे महाभारत और दूसरे जनगण के महाकाव्य के बीच प्ररूपात्मक समानताओं का पता लगाने में भी मदद मिलती है और साथ ही इसकी काव्य-विशेषताएं निर्धारित करने में भी। महाभारत पर सोवियत संघ में हुए शोधकार्य इस महाकाव्य की घटनाओं की ऐतिहासिकता और कालक्रम पर पिछले वर्षों में भारत में चल रहे वादानुवाद के संदर्भ में भी रोचक हैं।

भारतीय नाट्यकला पर व० एर्मन का लेख 'प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य में नाट्यकला' 'भारत की नाट्यकला और रंगमंच' नामक संग्रह में छपा था। इसके अलावा उन्होंने कालिदास पर शोध ग्रंथ लिखा है और ग्रीत्सेर ने भास की नाट्यकला पर। एर्मन ने मूल ग्रंथों के सूक्ष्म विश्लेषण के आधार पर प्राचीन भारत

में नाट्य सिद्धांत का उच्च स्तर दिखाया है, भारतीय नाट्यकला के स्रोतों पर प्रकाश डाला है और यह भी दिखाया है कि इसकी उत्पत्ति यूनानी नाट्यकला से स्वतंत्र रूप से हुई, न कि उसके प्रभाव में, जैसा कि कुछ यूरोपीय विद्वानों का कहना था।

भारत मे भी और दूसरे देशों में भी भारतविदों में इस बात पर बहुत मतभेद है कि परम्परानुसार जो नाटक भास के लिखे माने जाते हैं (तथाकथित 'त्रिवेंद्रम नाटक') क्या वे वास्तव मे भास द्वारा रचित हैं। इस विलक्षण नाटककार के रचनाकाल पर भी विद्वान एकमत नही हैं। इन समस्याओ पर ग्रीत्सेर ने अपनी पुस्तक में विस्तारपूर्वक विचार किया है। लेखक को प्राचीन यूनानी-रोमन साहित्य का भी गहरा ज्ञान है और उन्होंने अपनी पुस्तक में प्राचीन भारतीय और यूनानी-रोमन नाट्यकला के विकास के प्रम्पात्मक अध्ययन की सामान्य समस्याओ पर भी ग़ौर किया है। लेखक ने प्राचीन भारतीय नाट्यकला के विकास के सारे इतिहास को ध्यान मे रखते हुए, वैदिक युग से उसके स्रोतों पर दृष्टिपात करते हुए भास के सृजन का विश्लेषण किया है। भास को ही चर्चित नाटको का रचयिता माननेवालों के सभी तर्कोंवितर्कों का बारीकी से अन्वेषण करते हुए ग्रीत्सेर उनका ही (सर्वप्रथम गणपति शास्त्री) पक्ष लेते हैं। वे इस प्रश्न पर समसामयिक भारतीय विद्वानों की रचनाओं से भली-भाति परिचित हैं और पुस्तक में उन्होंने साहित्यिक समीक्षा और पाठ-मीमांसा की जटिल समस्याओं पर रोचक वादानुवाद प्रस्तुत किया है। पुस्तक के परिशिष्ट में भास के दो नाटकों 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'प्रतिमानाटक' के अनुवाद दिये गये हैं।

अलीख़ानोवा, त्योम्किन, इवानोव, येलिज़ारेन्कोवा और तोपोरोव ने अपनी रचनाओं मे क्लासिकीय भारतीय सौंदर्यशास्त्र और साहित्य-सिद्धांत का विवेचन किया है। प्राचीन भारतीय साहित्य-सिद्धात का अध्ययन मूल सस्कृत ग्रथों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए तथा भारतीय संस्कृति की परम्पराओं और देश के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास को ध्यान में रखकर किया जाता है, लेकिन साथ ही संसार के दूसरे प्राचीन साहित्यों (सर्वप्रथम यूनानी-रोमन साहित्य) की लाक्षणिक नियमसंगतियां इस अध्ययन की पृष्ठभूमि होती हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के विषयों की ओर ध्यान देते हुए समसामयिक सोवियत भारतविद निश्चित हद तक पुरानी रूसी भारतविद्या की उन परम्पराओ को जारी रख रहे हैं, जो श्चेर्बात्स्की और उनके शिष्यों (ब० लारिन) ने प्रतिपादित की थीं। **ऐ० त्योम्किन** की पुस्तक–'भामह का विश्व-दृष्टिकोण और उनके ग्रथ "काव्यालंकार" का काल निर्धारण' (१९७५)–में 'काव्यालकार' के पांचवें अध्याय का विश्लेषण किया गया है, जिसे त्योम्किन दो तरह की वर्णनशैलियो–वैज्ञानिक और ललित (शास्त्र और काव्य)–की तुलना तथा उनके सार एवं संरचना में सामान्य और विशिष्ट लक्षणों के निर्धारण को समर्पित मौलिक शोधकार्य मानते हैं। उनका यह दृष्टिकोण भारतविद्या में प्रचलित मान्यता से भिन्न है, जिसके अनुसार भामह के ग्रथ के पांचवें अध्याय को कवियो की रचनाओं

में सभव तार्किक त्रुटियों का विवरण तथा इन त्रुटियों से बचने के परामर्श के रूप में ही देखा जाता है। त्योम्किन के मत में भामह का दृष्टिकोण वैशेषिक दर्शन के समीप है और 'काव्यालंकार' को वसुबंधु व दिङ्नाग के काल (लगभग पांचवी सदी ई०) मे लिखा माना जा सकता है।

"कथा के अंदर कथा" क़िस्म की प्राचीन भारतीय रचनाओं का अध्ययन ग्रीं-त्सेर ने किया है। उन्होंने इस विधा की रचनाओ के स्रोत और विशिष्टताओं पर तथा इन रचनाओं मे भारत के सामाजिक संबधो के प्रतिबिम्बन का भी अन्वेषण किया है।

सेरेब्र्याकोव ने प्राचीन भारतीय साहित्य के इतिहास पर कुछ रचनाएं लिखी हैं। 'प्राचीन भारतीय साहित्य की रूपरेखा' (१९७१) नामक पुस्तक में वैदिक युग से लेकर क्षेमेन्द्र और सोमदेव जैसे मध्ययुगीन लेखकों तक भारतीय साहित्य के इतिहास की सर्वाधिक प्रमुख परिघटनाओं का विवरण दिया गया है। यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि लेखक ने अलग-अलग लेखको और नाटककारों के सृजन मात्र पर ही विचार नही किया, बल्कि साहित्यिक-ऐतिहासिक प्रक्रिया के सर्वप्रमुख लक्षण भी इंगित किये हैं। सेरेब्र्याकोव के मत मे प्राचीन भारतीय साहित्य की अतिम काल-सीमा ११वीं-१२वी शताब्दी है। इसमें वे संस्कृत की ही नही, प्राकृतों की रचनाओं को भी रखते हैं। सेरेब्र्याकोव की रचनाओं की निर्विवाद श्रेष्ठता यह है कि वे साहित्य के विकास का संबंध प्राचीन भारतीय समाज के विकास के सामान्य क्रम से जोड़ते हैं। 'भारत में साहित्यिक प्रक्रिया' शीर्षक अपने शोध ग्रंथ में सेरेब्र्याकोव ने प्राचीन भारतीय साहित्य में व्यक्ति तत्व की अत्यत महत्त्वपूर्ण समस्या का विवेचन किया है और सामाजिक विकास को तथा प्राचीन भारत के कवि, लेखक, नाटक-कार जिस पर्यावरण मे सृजन कार्य करते थे, उसको ध्यान मे रखते हुए इस प्रश्न पर ग़ौर किया है। बाण कृत 'हर्षचरित', दंडी और भर्तृहरि की रचनाओं के विश्ले-षण की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। भर्तृहरि के 'शतकत्रयम्' पर सेरेब्र्याकोव ने एक पुस्तक भी लिखी है। सेरेब्र्याकोव भर्तृहरि के सृजन के अध्ययन में भारतीय विद्वानो, सर्वप्रथम डी० डी० कोशाम्बी, की रचनाओं के असाधारण महत्त्व पर ज़ोर देते हैं। हिंदी में लिखे गये शोध ग्रंथों से भी वे परिचत हैं।

भारतीय भाषाविज्ञान पर हुए कार्यों में भाषाओं के निम्न सामान्य विवरण उल्लेखनीय हैं व० इवानोव और व० तोपोरोव, 'संस्कृत' (१९६०), त० येलि-ज़ारेन्कोवा और व० तोपोरोव, 'पाली भाषा' (१९६५), व० वेर्तोग्रादोवा, 'प्राकृत भाषाएं' (१९७८), म० अन्द्रोनोव, 'द्रविड़ भाषाएं' (१९६५), इत्यादि। ये पुस्तके रूसी मे ही नही, अंग्रेजी में भी छपी हैं। येलिज़ारेन्कोवा ने वैदिक भाषा के व्याकरण पर विशेष ग्रंथ भी लिखा है। व० कोचेर्गिना द्वारा संकलित पहले संस्कृत-रूसी शब्दकोश (लगभग २८ हज़ार शब्द) में अ० ज़लिज़्न्याक की लिखी संस्कृत व्याकरण की संक्षिप्त रूप-रेखा दी गई है। व० कोचेर्गिना ने १९५६ में संस्कृत की

एक आरंभिक पाठ्यपुस्तक भी लिखी थी। विश्वविद्यालय स्तर पर संस्कृत का अधिक गहराई से अध्ययन जी० ब्यूलर की पाठ्यपुस्तक के आधार पर ही होता है। सोवियत भारतविद-भाषाविद स्वनप्रक्रिया की ओर विशेष ध्यान देते हैं। इस विषय पर वेर्तो-ग्रादोवा का शोध ग्रंथ 'मध्य भारतीय स्वनप्रक्रिया प्रणालियों के संरचनात्मक प्ररूप', १९६७ तथा त० येलिज़ारेन्कोवा का 'भारतीय आर्य भाषाओं की कालक्रमिक स्वन-प्रक्रिया का अध्ययन', १९७४, (नूतन भारतीय आर्य भाषाओं की सामग्री सहित) उल्लेखनीय हैं। संस्कृतविद्या की अलग-अलग समस्याओं पर भी विशेष शोध रचनाएं (उदाहरणतः, त० येलिज़ारेन्कोवा, 'ऋग्वेद में अनिर्दिष्ट काल', ए० अलेक्सीद्ज़े, 'संस्कृत के प्रकारताबोधक निपात', त्बिलीसी, १९७३) तथा कई लेख प्रकाशित हुए हैं।

प्राचीन भारत की वैज्ञानिक उपलब्धियों का विश्लेषण अ० वोलोदार्स्की ('आर्य-भट', १९७७ तथा अन्य रचनाएं), बोगार्द-लेविन व अन्य विद्वानों ने अपनी रचनाओं में किया है। विज्ञान के इतिहास के अध्ययन का सुदृढ़ आधार है संस्कृत के वैज्ञानिक ग्रंथों के अनुवाद, जो ओ० वोल्कोवा तथा अन्य विद्वानों ने किये हैं। सोवियत विद्वान इस देश के इतिहास और संस्कृति के विकास की पृष्ठभूमि में ही प्राचीन भारतीयों की वैज्ञानिक उपलब्धियों का अध्ययन करते हैं। उदाहरणतः, आर्यभट का अध्ययन उनके गणित और खगोलविद्या के सिद्धांतों की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक और दार्शनिक के नाते उनके सामान्य दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए भी किया जाता है, उनके दार्शनिक विचारों का पता लगाया जाता है। ऐसे रुख की बदौलत यह दिखाया जा सका है कि आर्यभट भौतिकवाद के समीप थे, रूढ़िवादी दृष्टिकोणों का विरोध करते थे, इसीलिए उनके विचारों की लोकप्रियता के बावजूद ब्राह्मण परम्परा में उनकी तीव्र आलोचना हुई। १९७७ में आर्यभट की १५०० वीं वर्षगांठ के अवसर पर दिल्ली में हुए अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में सोवियत विद्वानों के इस मत को भारतीय विद्वानों का समर्थन मिला।

भारतीय दर्शन के अध्ययन के क्षेत्र में सोवियत विद्वानों का ध्यान आरंभ में भौतिकवादी धाराओं के इतिहास की समस्याओं पर केंद्रित था। चौथे-छठे दशकों में दर्शन के इतिहास का अध्ययन करने वाले सोवियत विद्वानों के कार्यों में भौतिक-वाद के इतिहास के अध्ययन का कार्यभार ही प्रमुख था। निश्चित हद तक ये विद्वान पुराने रूसी भारतविदों के कार्यों का अवलंब ले सकते थे (श्चेर्बात्स्की की रचना 'भारत में भौतिकवाद के इतिहास के कुछ प्रश्न')। अग्रणी भारतीय विद्वान देवीप्रसाद चट्टो-पाध्याय की निम्न पुस्तकें सोवियत संघ में अनूदित हुईं – 'लोकायत दर्शन। भारतीय भौतिकवाद का इतिहास', (१९६१), 'भारतीय दर्शन का इतिहास', (१९६६), 'भारतीय निरीश्वरवाद', (१९७३)। साथ ही सोवियत भारतविदों की अनेक मौलिक रचनाएं भी प्रकट हुईं, उदाहरणतः, न० अनिकेयेव की पुस्तक 'भारतीय दर्शन में भौतिकवादी परम्पराएं। प्राचीन और आदि मध्ययुग', १९६५। इस पुस्तक

में आदि मध्ययुग के सांख्य दर्शन में भौतिकवादी और निरीश्वरवादी प्रवृत्तियां देखने का प्रयास किया गया था। गोस्तेयेव की 'वैशेषिक दर्शन' पुस्तक भी इसी दिशा में एक प्रयास है। पिछले वर्षों में सेरेब्र्याकोव और बोंगार्द-लेविन ने प्राचीन भारत मे भौतिकवाद के बारे में लिखा है। भारत मे भौतिकवाद के इतिहास के क्षेत्र में भारतीय विद्वानों, सर्वप्रथम देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय की रचनाओ का अपार महत्त्व इंगित करने के साथ-साथ सोवियत भारतविदों ने उनके कुछ निष्कर्षों से असहमति प्रकट की है। उन्होंने इस बात की ओर ध्यान दिलाया है कि प्राचीन भौतिकवाद सीमित था और अधिभूतवादी भी। इसके अलावा सोवियत विद्वान इस बात के भी ख़िलाफ़ हैं कि दार्शनिक शिक्षाओं के सैद्धातिक अंतर्य की व्याख्या करते हुए उसे अत्यधिक समाजवैज्ञानिक पुट दिया जाये। किंतु चट्टोपाध्याय की प्रमुख रचनाओं के सोवियत संघ मे प्रकाशित होने का विद्वानों ने भी और आम पाठकों ने भी अपार स्वागत किया। सोवियत भारतविद्या मे इन पुस्तकों का उच्च मूल्यांकन हुआ। यह अकारण ही नही है कि सोवियत विज्ञान अकादमी के दर्शन संस्थान ने देवीप्रसाद चट्टोपध्याय को दर्शनशास्त्र के डाक्टर की मानद उपाधि से सम्मानित किया है।

पिछले वर्षों में सोवियत भारतविद क्लासिकीय भारतीय दर्शन में बढ़ती रुचि ले रहे हैं। व० तोपोरोव की रचनाओ में भारतीय दर्शन की विभिन्न दिशाओं पर व्यापक तुलनात्मक पहलू से गौर किया गया है। प्रज्ञापारमिता ग्रंथों के आधार पर बौद्ध मनोविज्ञान की समस्याओं के अध्ययन का प्रयास ल० म्याल्ल ने किया है। ग० ब्रियान्स्की वसुबधु के दर्शन का अध्ययन कर रहे हैं और व० शोखिन ने सांख्य दर्शन की उत्पत्ति के इतिहास पर एक पुस्तक तैयार की है। बहुसंख्य (संस्कृत और पाली) स्रोत ग्रंथो का बारीकी से विश्लेषण करके शोखिन ने एक दार्शनिक धारा के रूप मे साख्य के स्रोत इंगित किये हैं, बौद्ध तथा अन्य दर्शनों के साथ इसके संबंधों पर प्रकाश डाला है। मूल ग्रंथो पर आधारित इस रुख से सांख्य के अग्रिम विकास के चरणो पर अधिक विश्वसनीय रूप मे दृष्टिपात किया जा सकता है। पिछले वर्षों मे भारतीय दर्शन की दूसरी धाराओ – वैशेषिक और वेदांत – की ओर भी विशेष ध्यान दिया जा रहा है। एक लेखमाला में व० लिसेन्को ने वैशेषिकों के परमाणुवाद के सार का तथा वैशेषिकों के साथ शंकर के शास्त्रार्थ का विश्लेषण किया है। लोकायतों और जैनो के साथ शकर के शास्त्रार्थ पर न० इसायेवा ने काम किया है। मूल संस्कृत ग्रंथो के विश्लेषण पर आधारित इन शोध रचनाओं में यह दिखाया गया है कि भारत की प्रमुख दार्शनिक धाराओं का गठन और विकास कितने तीव्र वाद-विवाद के बीच हुआ। दर्शन के इतिहास पर समसामयिक सोवियत भारतविदों के कार्यों में हम भारतीय दर्शन के प्रति सुसंगत ऐतिहासिक रुख पाते हैं, इनमें मूल पाठों का बारीकी से विश्लेषण किया जाता है, विभिन्न धाराओं तथा प्राचीन गुरुओं की परम्पराओं के संघर्ष में दर्शन के इतिहास पर गौर किया जाता है, ग्रंथो के प्रकार्य की समस्याओं की ओर तथा दर्शन को मोक्षशास्त्र से अलग करने, आदि की ओर ध्यान दिया जाता है।

सोवियत विद्वान प्राचीन भारत के धर्मों का भी अध्ययन करते हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य वैदिक धर्म को समर्पित है, जिसे भारोपीय अनुसंधानों के व्यापक संदर्भ में देखा जाता है। इस दिशा में सर्वप्रथम तोपोरोव, इवानोव और येलिजारेन्कोवा की विभिन्न सम्प्रदायों, पथों, अनुष्ठानों को समर्पित रचनाएं हैं। ओ० वोल्कोवा, ल० म्याल्ल तथा अन्य भारतविदों ने बौद्ध धर्म की कुछ विशिष्ट समस्याओं पर काम किया है। हाल ही में प्रकाशित विश्वकोश 'विश्व जनगण के मिथक' प्राचीन भारतीय धर्मों और मिथकों का अच्छा संदर्भ ग्रंथ है।

नताल्या गूसेवा का शोध ग्रंथ 'हिंदू धर्म' (१९७७) इस धर्म के गठन के इतिहास तथा पूजाप्रणाली व कर्मकांड को समर्पित है। लेखिका ने हिंदू धर्म के नृजातीय मूल निर्धारित करने का प्रयास किया है, हिंदुओं की पूज्य वस्तुओं के प्रश्न पर प्रकाश डाला है और हिंदू धर्म द्वारा निर्धारित आचरण तथा पूजा-व्यवहार के बारे में बताया है।

हिंदू धर्म का अध्ययन करते हुए सोवियत विद्वान उसकी जटिलता और समन्वय-वाद, इसके गठन की लंबी प्रक्रिया, विभिन्न मतों और संप्रदायों के परस्पर संबंध, साहित्य और कला पर हिंदू आचार नियमों का प्रभाव दिखाने का प्रयास करते हैं। जैन धर्म पर भी नताल्या गूसेवा की पुस्तक १९६८ में छपी थी। भारत में इसका अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

प्राचीन भारतीय कला पर कार्य मुख्यतः स० त्युल्यायेव, अ० कोरोत्स्काया, व० सीदोरोवा, ओ० प्रोकोफ्येव, आदि कलाविदों द्वारा लिखी गयी सामान्य वि-वरणात्मक रचनाओं तक सीमित हैं। 'प्राचीन भारत की संस्कृति' नामक पुस्तक के लिए व० वेर्तोग्रादोवा द्वारा प्राचीन भरतीय कला पर लिखा गया अध्याय विशेषतः रोचक है। संप्रति वेर्तोग्रादोवा 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' के 'चित्रसूत्र' का अध्ययन कर रही हैं। प्राचीन मध्य एशिया के भारत से संबद्ध कला स्मारकों का अध्ययन कहीं अधिक बड़े पैमाने पर हो रहा है (इसके बारे में प्रस्तुत पुस्तक का अगला अध्याय देखिये)।

प्राचीन भारत की सांस्कृतिक धरोहर जैसी महत्त्वपूर्ण समस्या के अध्ययन की ओर सोवियत विद्वान बहुत ध्यान देते हैं। इस प्रश्न का महत्त्व विश्व सभ्यता में प्राचीन भारत के विशाल योगदान द्वारा ही नहीं, समसामयिक भारत में प्राचीन परम्पराओं के बल द्वारा भी निर्धारित होता है। सुदूर अतीत के अनेक बिम्ब, कथानक, अवधारणाएं, विचार रूपांतरित होकर भारत के समसामयिक जीवन में स्थान पाते हैं, समसामयिक भारतीय संस्कृति के विकास में भांति-भांति की, लेकिन महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। सोवियत भारतविद (सर्वप्रथम ये० चेलिशेव, अ० लित्मन) इस सामान्य धरोहर में मानवतावादी और जनवादी प्रवृत्तियां इंगित करने, उनका प्रगतिशील स्वरूप तथा विकास के मार्ग दिखाने का यत्न करते हैं।

कुल जमा यह कहा जा सकता है कि पिछले वर्षों में सोवियत भारतविदों ने

प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन में काफ़ी सफलता पायी है। अनुसंधान कार्यों का चहुंमुखीपन, उनका व्यापक परिमाण, वैज्ञानिक खोज़ की नयी विधियों का उपयोग, सामग्री की प्रस्तुति में वस्तुगतता समसामयिक सोवियत भारतविद्या के विशिष्ट लक्षण हैं, जिनके साथ यह देश मे इस विद्या की श्रेष्ठ परम्पराओं को संजोये विकसित कर रही है। भारत का अध्ययन करते हुए सोवियत विद्वान इस महान देश के जनगण के प्रति गहरा आदर रखते है, सस्कृति, विज्ञान, कला के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन करते है। अपने कार्य मे वे सोवियत संघ और भारत के जनगण को एक दूसरे के निकट लाने, दोनों देशों के बीच परम्परागत मैत्री सुदृढ़ करने के उदात्त कार्यभार की पूर्ति देखते हैं।

अध्याय ६

मध्य एशिया में पुरातत्वीय अनुसंधान और प्राचीन भारतीय सभ्यता

आजकल मध्य एशिया के विभिन्न इलाक़ो में सोवियत विद्वानों द्वारा किये जा रहे पुरातत्वीय अनुसंधानो के फलस्वरूप प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति की अनेक समस्याओं पर नया प्रकाश पड़ रहा है।

पिछले वर्षों में मध्य एशिया के सोवियत जनतंत्रो में अनेक महत्त्वपूर्ण खोजें की गई हैं, अब तक अज्ञात सस्कृतियों का अध्ययन हुआ है और बहुत से प्राचीन नगरो व बस्तियो की खुदाई हुई है। इन कार्यों के फलस्वरूप मध्य एशिया के इतिहास के अनेक पृष्ठो को नये ढग से पढा और अनेक अज्ञात पृष्ठो का पता लगाया जा सका है। पुरातत्वीय खोजों से यह प्रमाणित हुआ है कि मध्य एशिया मे अति प्राचीन काल मे भी विकसित समाज और स्थानीय मौलिक सस्कृतियों का अस्तित्व था, जिनका दूर और पास के क्षेत्रों की संस्कृतियों से घनिष्ठ सबध था। सोवियत विद्वानों द्वारा मध्य एशिया में खोजी गई पुरातत्वीय सामग्री भारत उपमहाद्वीप की प्राचीन सभ्यताओं के अध्ययन के लिए भी अत्यत महत्त्व-पूर्ण है। भारतविद्या के लिए मध्य एशियाई सामग्रियों के असाधारण महत्त्व को देखते हुए भारतीय पुराविद एस० पी० गुप्ता ने मध्य एशिया और भारत की प्राचीन संस्कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन पर एक विशेष शोध ग्रथ लिखा है—'सोवियत मध्य एशिया और भारतीय सीमांत प्रदेश का पुरातत्व', खण्ड १-२, दिल्ली, १६७६ (अंग्रेजी मे)।

गुप्ता ने अपनी पुस्तक भारतीय और सोवियत विद्वानों की मैत्री को समर्पित की है। व० मस्सोन, अ० बेलेनी-त्स्की, ग० पुगाचेन्कोवा, ब० लित्वीन्स्की, व० रानोव, यू० जाद्नेप्रोव्स्की, व० सरिआनिदी, म० अस्कारोव,

म० कोशेलेंको, ब० स्तवीस्की, ल० आल्बाउम, म० नेग्मातोव, आदि के नेतृत्व में मध्य एशिया में जो पुरातत्वीय शोध हो रहे हैं उनमें भारतीय विद्वानों की विशेष रुचि है।

अति प्राचीन काल से ही भारत और मध्य एशिया के बीच घनिष्ठ ऐतिहासिक-सांस्कृतिक सम्पर्क चले आ रहे हैं।

पुरातत्वीय सामग्री से यह पता चलता है कि पुराप्रस्तर युग में भी दक्षिणी ताजिकिस्तान की सस्कृतियो तथा उत्तर-पश्चिमी भारत की सोन (सोहन) सस्कृति के बीच निश्चित प्ररूपात्मक सामीप्य था। ताजिकिस्तान के पहाड़ी इलाकों में प्रो० व० रानोव द्वारा की गई खोजों से विशेषत: रोचक सामग्री प्रकाश मे आयी है। सोवियत विद्वान के निष्कर्षों का भारतीय पुराविदो (एच० सांकलिया, बी० के० थापर, एस० पी० गुप्ता, आदि) ने भी समर्थन किया है। सोवियत और भारतीय पुराविद खुदाई के दौरान प्राप्त सामग्री से एक दूसरे को परिचित कराते हैं। ऐसा सहयोग अत्यंत लाभदायक सिद्ध होता है। प्रो० रानोव ने भारतीय पुराविदो द्वारा खोजे गये पाषाण औज़ार देखे, जबकि भारतीय विद्वानो ने मध्य एशिया में सोवियत पुराविदों द्वारा एकत्रित संग्रहों का अध्ययन किया है।

नवप्रस्तर युग मे मध्य एशिया और उत्तरी भारत के बहुत से इलाके एक-दूसरी से मिलती-जुलती खेतिहर सस्कृतियों के प्रसार क्षेत्र मे आते थे। यहां सामाजिक विकास की ऐसी समान प्रक्रियाए घटी, जिनके फलस्वरूप नागर सभ्यताओं की उत्पत्ति हुई। मध्य एशिया और भारत की नवप्रस्तर संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन करके मध्य एशिया के दक्षिण की और उत्तरी भारत की खेतिहर सभ्यताओ के स्रोतों की अधिक ठोस कल्पना की जा सकती है, विशेषत: पूर्व-हड़प्पा और हड़प्पा बस्तियों के उद्भव के चरण देखे जा सकते हैं। उल्लेखनीय है कि अफ़ग़ानिस्तान, ईरान, मध्य प्रशिया और उत्तरी भारत के विशाल खेतिहर संस्कृति क्षेत्र मे मध्य एशिया और भारत में समानताएं पायी गयी हैं।

दक्षिणी तुर्कमानिस्तान मे अश्काबाद नगर मे कुछ दूर **अल्तीन तेपे** नामक स्थान पर सोवियत पुराविदों द्वारा किये गये नये अनुसंधानो के फलस्वरूप यह पाया गया है कि सिंधु घाटी के नगरों तथा दक्षिणी तुर्कमानिस्तान की कांस्य-युग की बस्तियों के बीच सम्पर्क थे। ये सम्पर्क हड़प्पा सभ्यता के उत्कर्ष के काल (ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी के अंत – दूसरी सहस्राब्दी के आरम्भ) में रहे। कुछ वस्तुओं का हड़प्पा संस्कृति से सादृश्य है – धातु और हाथीदांत की वस्तुएं, चित मिट्टी (फ़ेएन्स) और मृत्तिका (सेरेमिक्स) की खानेदार मालाएं। कुछ वस्तुएं भारत मे लायी गयी थीं (इनमें हड़प्पा मोहर की खोज विशेषत: रोचक है) और कुछ वस्तुओ पर स्पष्टत: भारतीय प्रभाव की छाप है।

एक बस्ती में हाथीदांत के तीन चौकोर पासे मिले हैं, जिनके तीन पहलुओ पर वर्तुल बने हुए हैं और एक पर डिज़ाइन। ऐसे पासे हड़प्पा सभ्यता के नगरों
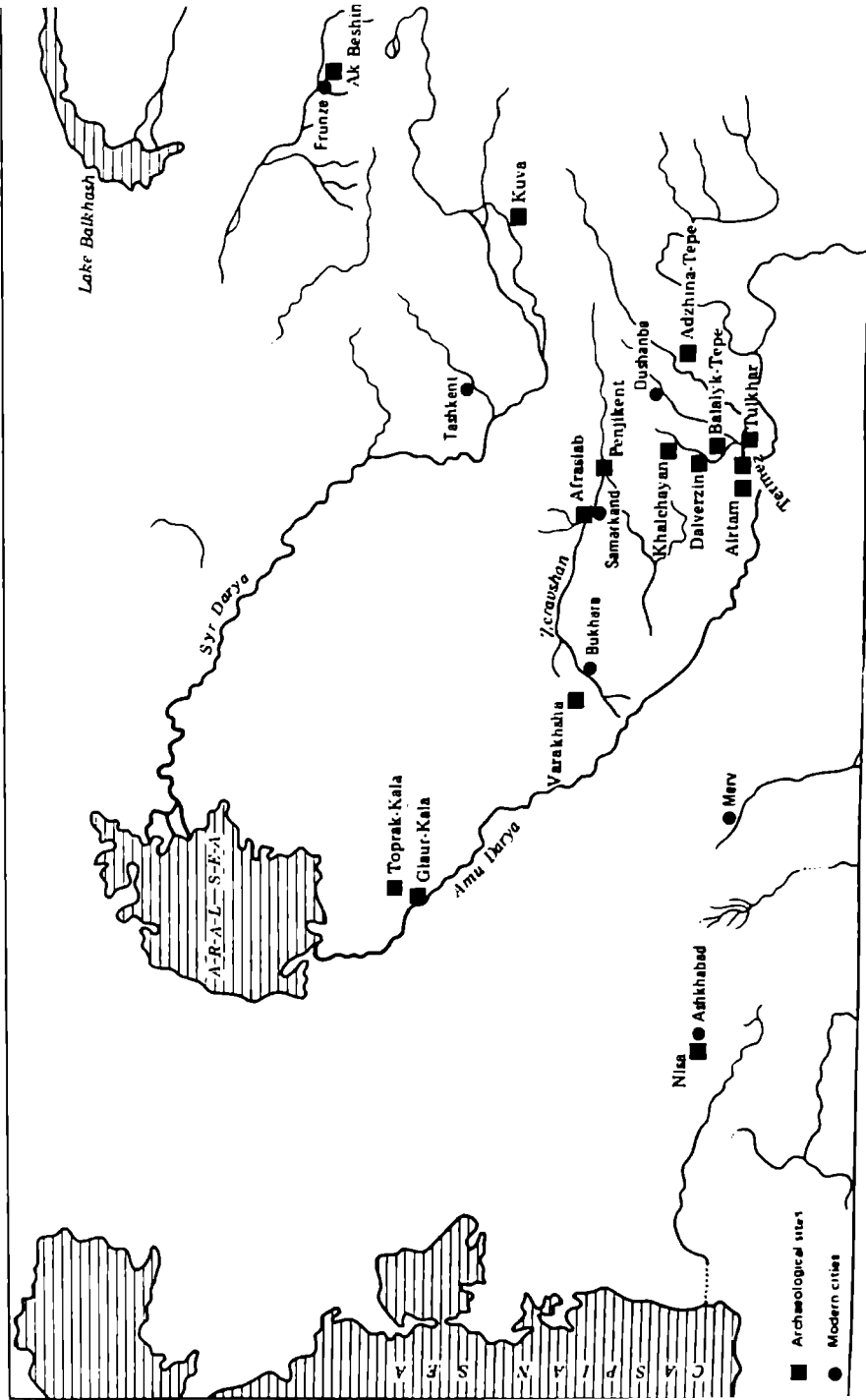
में बनाये जाते थे। ऐसे ही पासे मोहेंजोदडो और हड़प्पा की खुदाइयों में भी मिले हैं। अल्तीन तेपे के उत्खनक प्रो० मस्सोन का कहना है कि इन पासों का उपयोग भाग्य बताने के लिए भी होता था। प्रत्यक्षतः व्यापार की बदौलत वे दक्षिणी तुर्कमानिस्तान में पहुंचे। संभवतः मध्य एशियाई व्यापारी या तो खुद सिंधु घाटी नगरों में गया था, जहां चौसर खेलना और पासे से भाग्य बताना सीखा था, या फिर उसने यहां आये किसी व्यापारी से ये चीज़ें ख़रीदी थी। दक्षिणी तुर्कमानिस्तान में बनी, किंतु भारतीय परम्पराओं से प्रभावित वस्तुओ में सर्वप्रथम तीन सिर वाले जीव की आकृति से युक्त चांदी की मोहर उल्लेखनीय है। तीन सिरो वाले पशु हड़प्पा की मोहरों पर भी पाये गये हैं। मोहेंजोदडो की एक मोहर पर ऐसा तीन सिरों वाला जीव अंकित है, जिसके (दक्षिणी तुर्कमानिस्तान में मिली मोहर की ही भांति) दो सिर मेष के और एक सिर वृषभ का है। संभवतः, कांस्य युग के दक्षिणी तुर्कमानिस्तान के निवासियों मे तीन सिरों वाले जीवों की अवधारणा भारतीय परम्परा के प्रभाव में बनी। दक्षिणी तुर्कमानिस्तान की बस्तियो के भांड भी हड़प्पा के भांडों से मिलते-जुलते हैं। सर्वाधिक लाक्षणिक हैं आधार वाले कलश, जोकि मोहेंजोदडो और हड़प्पा के ऊपरी संस्तरो में बडी संख्या में पाये जाते हैं, तथा मृत्तिका धानियां, जो हड़प्पा सभ्यता की अनेक बस्तियो में प्रचलित थी। दक्षिणी तुर्कमानिया की मृण्मूर्तियां विशेषतः इंगित की जानी चाहिए, जो हड़प्पा सभ्यता के नगरों के निवासियों द्वारा बनायी गयी मृण्मूर्तियो के सदृश है। इन मूर्तिकाओं का अध्ययन दक्षिण तुर्कमानिस्तान के निवासियो की धार्मिक मान्यताओं के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण है। मूर्तिकाए, जिनमे देवी-माता की प्राचीन उपासना पद्धति प्रतिबिम्बित हुई है, संभवतः घरेलू मूर्तियां हैं, एक तरह के "इष्टदेव" हैं, जिनका सुमेरी तथा प्राचीन ईरानी सभ्यता में भी अस्तित्व सुविदित है। ऐसी मूर्तिकाओं की खोज से, जिन पर विभिन्न चिह्न साफ़-साफ़ देखे जा सकते हैं, विद्वानो के सम्मुख चित्रलिपि की उत्पत्ति की संभावना का प्रश्न उठा। ऐसे चित्र मृण्भांडों पर भी पाये गये। भांडों को आंवे में पकाने से पहले ही उन पर ये चिह्न बनाये जाते थे। भांडों पर चिह्न तो पुरातत्व में सुविदित परिघटना है, लेकिन मूर्तियों पर चिह्नों का पाया जाना अत्यंत रोचक परिघटना है। मूर्तियों पर चिह्न भांति-भांति के हैं – इनमें तरह-तरह के क्रास, अष्टकिरणीय तारे तथा वृक्ष जैसे चिह्न, आदि हैं। प्रत्यक्षतः ये जादूई और पूजा संबंधी चिह्न हैं। हो सकता है, कुछ चिह्न किन्ही निश्चित देवताओं के प्रतीक हो। देखने में ये चिह्न हड़प्पा मुद्राओं की अपेक्षा सुमेरी चित्रलिपि के अधिक निकट हैं, लेकिन कुल जमा यह अभी चित्रलिपि नहीं है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विकसित कांस्य युग के मध्य एशियाई समाज मे भी लिपि अभी निर्माणाधीन ही थी।

अल्तीन तेपे में दो चिह्नों वाली आद्य-भारतीय मोहर की खोज असाधारणतः रोचक है। प्रो० मस्सोन इस बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि इन चिह्नों में जीवाकृति अंकित नहीं है, बल्कि यह केवल चित्रलिपि लेख ही है। उनके विचार में इससे यह

अनुमान लगाया जा सकता है कि अल्तीन तेपे का कोई निवासी यह "पाठ" पढ़ सकता था। इस आधार पर मस्सोन ने यह रोचक विचार व्यक्त किया है कि मध्य एशिया के दक्षिण की प्राचीन आबादी को द्रविड़ भाषा वर्ग का (आद्य-द्रविड़) माना जा सकता है।

यदि यह प्राक्कल्पना सही सिद्ध हुई, तो इससे मध्य एशिया, भारत उपमहाद्वीप और इनसे लगे इलाक़ों में नृजातीय उत्पत्ति की समस्याओं के हल मे नये परिप्रेक्ष्य खुलेगे।

हड़प्पा लिपि और संस्कृति में सोवियत विद्वानों की रुचि भारत और मध्य एशिया के बीच सांस्कृतिक सबंधों के विज्ञान-प्रमाणित तथ्य तथा अल्तीन तेपे मे आद्य-भारतीय मोहरों की खोज द्वारा ही निर्धारित नही है। भारत उपमहाद्वीप और उससे लगे इलाक़ो के आदि प्राचीन काल के इतिहास और सस्कृति की अनेक समस्याओं को हल करने के लिए भी यह विषय असाधारण महत्त्व रखता है।

सुविदित है कि हड़प्पा सभ्यता की बस्तियों की खुदाई का काम पचास से अधिक वर्षों मे हो रहा है और अपार पुरातत्वीय सामग्री जमा कर ली गयी है, जिससे भारत उपमहाद्वीप की प्राचीनतम सभ्यता के अनेक लक्षणों का पता लगाया जा सकता हैं। लेकिन जब तक हड़प्पा की मुद्राओं का रहस्य नहीं खुलता, तब तक हड़प्पा समाज के स्वरूप के बारे मे पूरी तरह कुछ कहना असंभव है, इस संस्कृति के उद्भव, आबादी की नृजातीय उत्पत्ति और धार्मिक विश्वासो, आदि के बारे मे सिद्धांत अत्यधिक एकतरफ़ा और प्राक्कल्पनात्मक लगते हैं।

हड़प्पा के अभिलेखों से वैज्ञानिक इस सभ्यता की खोज से बहुत पहले ही परिचित हो गये थे। १८५३ मे ही आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया के पहले डायरेक्टर अलैक्ज़ेंडर कनिघम को हड़प्पा में संयोगवश काले पत्थर की एक मोहर मिली थी, जिस पर सांड और दो छोटे तारे अंकित थे तथा छह चिह्नों का रहस्यमय लेख था। ऐसी मोहरें २०वीं सदी के आरभ तक संग्रहालयो और निजी संग्रहों में आती रही। बीसवी सदी के तीसरे दशक में भारतीय पुराविद आर० साहनी और आर० डी० बैनर्जी द्वारा हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो में सिधु घाटी के प्राचीन नगरों का सुनियोजित उत्खनन शुरू किया गया, जिसे बाद मे ज० मार्शल, न० मजूमदार, ए० मैके, एम० वत्स, एम० व्हीलर, आदि ने जारी रखा। इन उत्खननों के फलस्वरूप ही शोधकर्त्ताओ को अभिलेखों की पूरी मालाएं मिलीं। यहां मिले लेख बहुत संक्षिप्त हैं—चार से आठ-दस चिह्न तक। इनमे अधिकतर सेलखड़ी की मोहरों पर अंकित हैं या चिकनी मिट्टी पर मोहर के ठप्पे के रूप मे हैं। कुछ सेलखड़ी या तांबे के पतले फलकों पर तथा सिरेमिक्स और कांस्य औज़ारों पर भी उत्कीर्णित हैं। ऐसे अभिलेख केवल भारत में ही नहीं, बल्कि मेसोपोटामिया, सीरिया, ईरान के कुछ प्राचीन नगरों मे, और जैसा कि कहा जा चुका है, सोवियत संघ मे भी मिले हैं। अब वैज्ञानिको के पास आद्य-भारतीय अभिलेख काफ़ी बड़ी सख्या में हैं ५ हज़ार

से अधिक ऐसे अभिलेख (१५०० से अधिक विभिन्न पाठ) मिल चुके हैं। यह विकोडन के लिए, यानी इन अभिलेखों की लिपि को समझकर पढ पाने के लिए काफ़ी अच्छा आधार प्रतीत होता है, लेकिन हडप्पा सभ्यता के नगरो में अभी तक कोई द्विभाषी अभिलेख नही मिला है। अधिकाश पाठ छोटे हैं और एकरूपी भी, इसके कारण भी विकोडन की सभावनाए बहुत सीमित रह जाती हैं।

हडप्पा लिपि को पढने के प्रयास पिछली सदी के छठे दशक में ही आरंभ हो गये थे। अनेक विद्वानो को इस रहस्यमय लिपि ने उद्विग्न किया था, लेकिन कोई भी इसके रहस्य को कमोबेश सफलता के साथ सुलझा नही सका। बीसवीं सदी के तीसरे दशक के अंत और चौथे के आरभ में जॉन मार्शल और उनके सहयोगी सिधु लिपि की प्रणाली के बारे मे कुछ मूल्यवान निष्कर्षो पर पहुचने में सफल रहे। आद्य-भारतीय लिपि के चिह्नों की पूरी सूची बनाकर (ऐसे कुल ४०० चिह्न निकले, कुछ दूसरे विशेषज्ञों के मत में इन्हे २५० तक, बल्कि १५० तक ही सीमित किया जा सकता है) तथा अभिलेखो में इनकी अवस्थिति के विकल्पों की गिनती करके वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यह लिपि "मिश्रित" या चित्रलेख क़िस्म की है अर्थात इसमें भावचित्रो के साथ-साथ अक्षरो के चिह्न भी हैं। इन्ही दिनों यह महत्त्वपूर्ण विचार भी व्यक्त किया गया कि हड़प्पा के कुछ चिह्नो की क्रीट तथा आदि-सुमेरी चिह्नों के साथ निश्चित सादृश्यता के बावजूद यह लिपि अन्य किसी भी लिपि से स्वतंत्र है।

विकोडन के असफल प्रयासों के कारण हडप्पा लिपि में और सारी आद्य-भारतीय सभ्यता मे ही रुचि बहुत कम हो गयी। तो भी सोवियत विद्वानो ने आद्य-भारतीय संस्कृति से सबंधित समस्याओ के हल के महत्त्व को समझते हुए १९६४ में हड़प्पा सभ्यता और उसकी लिपि के अध्ययन के व्यापक कार्यक्रम पर काम शुरू किया।

हडप्पा संस्कृति और लिपि के बहुमुखी अध्ययन का कार्यभार इस बात से काफ़ी आसान हो जाता था कि सोवियत विज्ञान अकादमी में इस तरह के व्यापक शोध-कार्यों के लिए सगठनात्मक आधार विद्यमान था। यह था – साइबरनेटिक्स वैज्ञानिक परिषद के संकेतविज्ञान (सेमियोटिक्स) विभाग के अंतर्गत ऐतिहासिक लिपि प्रणालियों के विकोडन का आयोग। इस परिषद की उच्च वैज्ञानिक प्रतिष्ठा के फलस्वरूप विज्ञान अकादमी के संस्थानों (नृजातिवर्णन, प्राच्यविद्या, वैज्ञानिक-तकनीकी सूचना संस्थानो) मे भी तथा दूसरे वैज्ञानिक संस्थानों और उच्च शिक्षालयों से भी विविधतम क्षेत्रों के विशेषज्ञो से इस काम के विभिन्न चरणों में सहायता ली जा सकी। अकादमी की वैज्ञानिक परिषद और उसके आयोग द्वारा तैयार किये गये कार्यक्रम पर विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों के सहयोग मे आद्य-भारतीय लिपि के विकोडन जैसी बहुपक्षीय समस्या पर काम संभव हो पाया। इस कार्य का सचालन प्रो० यू० क्नोरोज़ोव ने किया, जो इससे कुछ समय पहले माया लिपि का सनसनीखेज़ विकोडन कर चुके थे। आरंभ में इस कार्य में क्नोरोज़ोव का साथ व० वोल्चोक और न० व०

गूगेव दे रहे थे। अब उनके दल में म० अल्बेदिल और ब० वोल्चोक सम्मिलित हैं।

सोवियत विद्वानो ने विकोडन के सभी पूर्ववर्ती प्रयासों का विश्लेषण करके पाया कि इन सभी मे कार्यविधि संबंधी कुछ समान भूले और कमियां थीं, जिनके कारण इनका असफल रहना पूर्वनिश्चित था :

– अभिलेखों का अध्ययन अलग-अलग चिह्नों के सयोजन लक्षणो को ध्यान मे रखे बिना किया जाता था, जिसके कारण लिपि का प्ररूप और भाषा की संरचना का पता लगाना असभव था,

– पाठ सामग्री के प्रति दृष्टिकोण प्रणालीबद्ध नही था : पाठों के विकोडन में पाठ की रूपगत सरचना के सामान्य लक्षणो को नही, बल्कि ठोस चिह्नों, उनके वर्गों और अभिलेखों की आत्मगत व्याख्या को मानकर चला जाता था,

– अलग-अलग चिह्नों की पहचान करते समय इस बात का ख्याल नही रखा जाता था कि वैज्ञानिक दृष्टि से कौन से सादृश्य संभव है और कौन से असंभव, जिसके कारण पूर्णत: अतुलनीय दत्तों की तुलना की जाती थी ;

– अभिलेखो की भाषा के बारे में की जाने वाली प्राक्कल्पनाएं तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की विधि पर आधारित नही थीं।

कार्यक्रम के अनुसार सबसे पहले लिपि की दिशा (दाये से बाये या बायें से दाये) और उसका प्ररूप (वर्णात्मक, अक्षरमूलक, चित्रात्मक, आदि) निर्धारित करने थे, दूसरी भाषाओ के साथ रूपगत-प्ररूपात्मक तुलना के आधार पर आद्य-भारतीय लेखों की भाषा की रूपगत संरचना का पता लगाना था और अतत: विकोडन से पहले ही अभिलेखो के अतर्य को जहां तक संभव हो स्पष्ट करना था।

लिपि की दिशा का प्रश्न अभिलेखो की पुरालिपिक विशिष्टताओं के सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर हल किया गया। यह पता चला कि ये अभिलेख दायें से बाये (तदनुसार, मोहरो पर बाये से दाये) लिखे गये थे। उल्लेखनीय है कि सुवि-ख्यात भारतीय पुराविद, आद्य-भारतीय सस्कृति के एक प्रमुखतम समसामयिक अध्ये-ता बी० बी० लाल भी सोवियत विद्वानों के साथ-साथ प्राय: एक ही समय पर इस महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुचे।

स्वाभाविक ही है कि नये कार्यक्रम के अनुरूप पाठो के विश्लेषण की नयी विधि की भी आवश्यकता हुई, विशेषत: कम्प्यूटर के उपयोग की। आद्य-भारतीय लिपि के विकोडन का कार्य शुरू करने से पहले सोवियत गणितज्ञों और भाषाविदो का एक दल कई वर्ष से अविकोडित पाठों समेत विभिन्न पाठों मे प्रकट होने वाली अव-स्थितिक-सांख्यिक नियमसंगतियो का पता लगाने की विधि तैयार करने मे लगा हुआ था। इसलिए क्नोरोज़ोव और उनके सहयोगी आद्य-भारतीय लिपि के प्ररूप तथा अभिलेखों की भाषा की संरचना का प्रश्न हल करते हुए इक्के-दुक्के आनुभववक प्रेक्षणों को नही, बल्कि पाठो के सारे समूह के सयोजन-सांख्यिक लक्षणो को आधार बना सकते थे। अब पूर्णत: रूपगत आधार पर पाठों को "ब्लाको" में, यानी चिह्नों

के उन स्थायी संयोजनों मे, जो अनेक पाठो मे प्राय: दोहराये जाते हैं और अनु-मानत: अभिलेख के अर्थगर्भित तत्व हैं, विभाजित करना संभव हो गया। पाठों के सारे समूह को अक लिपि में रूपांतरित किया गया और एक ही अविच्छिन्न पाठ (लगभग १२ हज़ार इकाइया) की भांति इसे मशीन को प्रोग्राम के रूप में "प्रस्तुत" किया गया। इस तरह ब्लाको ("यथार्थ पोलीग्रामो") को चिह्नो के सांयोगिक संयोजनों ("सायोगिक पोलीग्रामो") से अलग किया गया और चिह्नो के प्रयोग की कुल तथा आनुपातिक प्रायिकता के अनुसार उनके वर्ग निर्धारित किये गये। प्राप्त उत्तरो की विश्वसनीयता परखने के लिए मशीन को इतना ही बड़ा प्राचीन मिस्री पाठ दिया गया। पाठों के समांतर संसाधन से इस बात की पुष्टि हुई कि आद्य-भारतीय लिपि को चित्र लिपि माना जाना पूर्णत: सही है: दोनो मामलों में मशीन ने प्रायिकता की दृष्टि से चिह्नों तथा पोलीग्रामो के वितरण में समानता दर्शायी।

यह सुझाया गया कि सर्वाधिक प्रायिकता वाले चिह्नो ("परिवर्ती चिह्नों") को व्याकरणिक सूचकों के चिह्न माना जाये (मशीन पर प्राचीन मिस्री पाठ के संसाधन से ऐसे ही परिणाम मिले थे)। कहना न होगा कि "परिवर्ती चिह्नो" के प्रयोग की प्रायिकता को ही नही, बल्कि अभिलेख या ब्लाक में उनकी स्थिति को भी तथा "परिवर्ती चिह्नों" के संभाव्य सयोजनों के प्ररूपो (पाठो की सूक्ष्म रूपावलियों) को भी ध्यान में रखा गया। इन बहुत हद तक आशादायक परिणामों को देखते हुए आद्य-भारतीय अभिलेखों को भाषा के कुछ व्याकरणिक लक्षण मोटे तौर पर इंगित किये जा सकते हैं, यथा – इस भाषा मे पूर्वप्रत्ययो का नहीं, अपितु परप्रत्ययों का होना, विशेषक का विशेष्य शब्द से पूर्व स्थित होना, विशेषक और विशेष्य मे व्याकरणिक अन्वय का न होना, इत्यादि।

अगला क़दम पूर्णत: नियमसगत था इन दत्तों की उन भाषाओं के लक्षणो से तुलना की जानी थी, जिनका तीसरी-दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० में सिंधु घाटी में अस्तित्व इस क्षेत्र के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास के बारे में हमारी अवधारणाओं को देखते हुए सैद्धांतिक तौर पर सभव था। ये भाषाए हो सकती थीं: भारोपीय भाषाएं – संस्कृत (भारत में इसकी प्राचीनतम रचनाएं द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के अंत मे ज्ञात हैं) और हित्ती भाषा; प्राचीन पश्चिमी एशिया की अभारोपीय भाषाएं – सुमेरी और एलामी; भारत की अभारोपीय भाषाएं – द्रविड़ और मुंडा भाषाएं और बुरुशस्की भाषा (उत्तर-पश्चिमी भारत की एक भाषा, इसका उत्प-त्तिमूलक संबंध अभी तक निर्धारित नही हो पाया है)।

पता चला कि आद्य-भारतीय पाठों की संरचना के सभी विशिष्ट रूपगत लक्षण केवल द्रविड़ भाषाओं के ढांचे के ही अनुरूप हैं। हड़प्पा सस्कृति और भाषा के द्रविड मूलतत्व का विचार विद्वानों ने पहले भी व्यक्त किया था, लेकिन अब यह निष्कर्ष प्रागनुभव आम अवधारणाओं पर नहीं, बल्कि प्रमाणों की ऐसी सुघड़, सख़्त प्रणाली पर आधारित था, जो संयोगो के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ती।

अब आद्य-भारतीय पाठों की सामग्री की द्रविड़ भाषाओ के दत्तों से तुलना करने की आवश्यकता थी।

सोवियत विद्वानों के मत मे किसी भी सजीव द्रविड भाषा को मानक के रूप मे नही चुना जा सकता तुलनात्मक-ऐतिहासिक द्रविडविद्या के अधिनूतन दत्तों तथा द्रविड़ भाषाओ के भाषा-तैथिक अनुसंधानो के परिणामों से पता चलता है कि आधुनिक द्रविड भाषाओ का निर्माण लगभग चौथी-दूसरी सदी ई० पू० से १०-११वीं सदी ई० तक के काल मे हुआ। इस लंबी प्रक्रिया से पहले किसी एक आद्य-द्रविड भाषा का बोलियों के अलग-अलग वर्गों में विघटन हुआ था, जो द्रविड़ भाषाओं के वर्तमान वर्गों – उत्तरी, केंद्रीय और दक्षिणी – का आधार बने। भाषा-तैथिक गणनाओं के अनुसार बोलियों के इन वर्गों का पृथक्करण कई सहस्राब्दियों के दौरान – चौथी सहस्राब्दी ई० पू० के अंत मे प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य तक – हुआ। अतः हड़प्पा सभ्यता के काल में सिंधु घाटी में या तो तब तक अविघटित आद्य-द्रविड़ भाषा या उसके एक पहले "वंशज" का अस्तित्व था। अब वैज्ञानिको के सम्मुख इस आद्य भाषा का स्वनप्रक्रियात्मक और व्याकरणिक पुनर्निर्माण करने की समस्या उठी। इसे हल करने में भी प्रो० क्नोरोज़ोव के संचालन में वैज्ञानिकों का एक दल कार्यरत है।

आद्य-भारतीय पाठों के विकोडन संबंधी शोधकार्यों के परिणामों पर सोवियत विद्वानों ने चार विशेष लेख-संग्रह प्रकाशित किये और कई विदेशी वैज्ञानिक पत्रिकाओं में भी लेख छपवाये। उनकी रचनाएं भारत, सं० रा० अमरीका और हालैंड में छपी और भारतीय विद्वानों ने उनका उच्च मूल्यांकन किया।

सोवियत विद्वानों की एक बहुत बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने आद्य-भारतीय अभिलेखो के कुछ संरचनात्मक-आर्थिक प्ररूप निर्धारित किये हैं। पता चला कि अभिलेख देवार्पण, विपत्ति-रक्षा और मंदिरो से संबधित हैं। आद्य-भारतीय लिपि के अध्ययन के प्रति बहुमुखी रुख की बदौलत हड़प्पा समाज की आत्मिक संस्कृति और सामाजिक ढांचे की बहुत सी विशिष्टताएं समझी जा सकीं। पुरातत्व, तुलनात्मक मिथकविज्ञान और प्राचीन भारतीय साहित्य की सारी उपलब्ध जानकारी को ध्यान में रखकर इन पाठो पर काम किया गया। इसलिए मोहरो पर अंकित प्रत्येक चित्र, प्रत्येक प्रतीक का अपने आप मे क्या अर्थ है – इसका नहीं, बल्कि जिस सांस्कृतिक-मिथक प्रणाली की पुनर्रचना की जा रही थी, उसके एक तत्व के नाते इसका क्या महत्त्व है – इस बात का पता लगाया गया।

आद्य-भारतीय लिपि के अध्ययन के फलस्वरूप सोवियत विद्वान हड़प्पा बस्तियों के निवासियों की धार्मिक-मिथकीय अवधारणाओं के कुछ लक्षणो का पता लगा पाये, सर्वप्रथम विभिन्न रूपों की पूजा वस्तुओं का (मानवरूप, पशुरूप, वृक्षरूप और "पवित्र पात्र")। सबसे बड़ी बात यह कि वे उस काल की विश्वोत्पत्ति संबंधी अवधारणाओं और पंचांग प्रणाली के सामान्य स्वरूप का भी पता लगा पाये।

सोवियत शोधकर्त्ता इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि हड़प्पा बस्तियो के निवासी वर्ष

को तीन दीर्घ और छह लघु ऋतुओ मे विभाजित करते थे और उनमें से हर किसी का एक प्रतीक-पशु होता था। लघु ऋतुओ के प्रतीक-पशुओ के चित्र थे – आद्य वृषभ (एकशृंग ; यही वर्ष का भी प्रतीक था), मेष, व्याघ्र, छोटे सींगों वाला आद्य वृषभ (औरक्स), वृषभ। प्रत्यक्षत दीर्घ ऋतुए भी पशुरूपी प्रतीको में कोडित थी : बाढ़ों की ऋतु का प्रतीक घडियाल था ; वर्ष का आरभ आद्य वृषभ ऋतु से होता था ; ककुद्मी वृषभ (कूबड़वाला साड) और वृश्चिक क्रमश वसन्त-विषुव और शरद-विषुव के प्रतीक थे। प्राचीन भारत में बहुत बाद तक प्रचलित रहे साठवर्षीय चक्र का आरभ प्रत्यक्षत हड़प्पा काल में ही हुआ था, आद्य-भारतीय इस चक्र को बारह वर्षो के पाच भागो में विभाजित करते थे।

आद्य-भारतीय लेखो की व्याख्या पर कार्य हडप्पा नगरो के निवासियों के सामाजिक संबंधो, धार्मिक धारणाओं और पूजा विधियो, आदि के बारे में अधिनूतन जानकारी काफ़ी बढ़ाते हैं।

अभिलेखों से यह पता चलता है कि हड़प्पा नगरो में सुव्यवस्थित पूजा पद्धति थी। "देवार्पण अभिलेख" विशेषत तैयार की गई पट्टिकाओ पर अकित होते थे, जो या तो पवित्र पशु (मीन, शशक, आदि) या पवित्र वृक्ष के पत्ते की शक्ल की होती थी। ये पट्टिकाए इक्की-दुक्की नहीं, बल्कि बडी सख्याओ में मिली हैं। इससे यह पता चलता है कि अनुष्ठान केवल घरेलू ही नही होते, बल्कि "सामूहिक" भी। भारतीय पुराविदों के अधिनूतन उत्खननों से इस अनुमान की पुष्टि होती है : कालीबगन में नगर के "ऊपरी" भाग (दुर्ग) में कई बडी-बडी वेदियां मिली हैं, जो विशेष चबूतरे पर स्थित हैं, और इसके पास ही कुआं तथा स्नान करने का स्थान है। वेदियों पर राख के अवशेषो समेत पात्र थे और देवार्पण के लिए पक्वमृदा पिड। दुर्ग में वेदियों के बने होने से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यहां ऐसे भव्य समारोह होते थे, जिनमें पुरोहित तथा नगर के अधिकारी भाग लेते थे।

सोवियत विद्वानों ने यह दिखाया है कि समय बीतने के साथ-साथ अभिलेखों के प्रकार बदले और उन्हें बनाने की विधि में भी परिवर्तन आये। उत्तर काल में "देवार्पण अभिलेख" सेलखडी पर उत्कीर्णित नही किये जाते थे, बल्कि चिकनी मिट्टी की मोहरो पर ठप्पो से अकित किये जाते हैं। मोहरों पर बलि के, देवता को भेंट के विभिन्न प्रकारो के दृश्यों का अकित होना यह प्रमाणित करता है कि पूजा विधि अधिक जटिल हो रही थी। एक ओर जहा बडे पशुओ की बलि के, "रजत जल" अर्पण के दृश्य मोहरों पर अंकित है, वही दूसरी ओर पूजा के आदिम रूप भी अंकित हैं। सोवियत विशेषज्ञों के मत में यह हड़प्पा समाज में सपत्तिमूलक भेद के काफ़ी बढ़ जाने का प्रमाण है, जोकि अन्य पुरातत्वीय प्रमाणों से भी सिद्ध होता है (धनिकों और निर्धनों के घरो मे अंतर, शवाधानो में अलग-अलग तरह के सामान का पाया जाना, इत्यादि)।

आद्य-भारतीय अभिलेखों के अध्ययन के फलस्वरूप सोवियत विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि दिव्य राजा की अवधारणा से संबंधित पचांग चक्रों का प्रवर्तन राजा की सत्ता के प्रबल होने का प्रमाण था और इस सत्ता को आजीवन और मौरूसी बनाने की शासकों की चेष्टा को प्रतिबिम्बित करता था। मोहरों पर "दिव्य राजा" भैसे के सीगो के साथ अंकित होता था, इसलिए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वास्तविक शासक उस प्राचीन गोत्र के थे, जिसका टोटेम भैंसा था। आद्य-भारतीय अभिलेखो और मोहरो पर अंकित चित्रों के आधार पर निकाले गये निष्कर्ष पुरातत्वीय सामग्री के अनुरूप हैं। इस सामग्री से भी यही पता चलता है कि हड़प्पा समाज आदिवर्गीय समाज था।

हडप्पा समाज के वर्ग स्वरूप तथा वहा राज्य के विकास के बारे मे सोवियत विद्वानो के निष्कर्ष अनेक पश्चिमी यूरोपीय विद्वानो के इस मत का पूरी तरह खंडन करते है कि भारत में राज्यत्व के विचार आर्यों के आगमन के साथ ही प्रकट हुए या फिर ये सुमेर से लिये गये थे। हड़प्पा काल मे "पूर्ण सामंजस्य" होने तथा सामाजिक भेदो के न होने की धारणा पर भी आमूल पुनर्विचार किया जाना चाहिए।

हडप्पा लेखो के अध्ययन के लिए सोवियत संघ में जो शोधकार्य हुआ है, उससे यह कहने का भी आधार मिलता है कि हड़प्पा परम्पराओं का बौद्ध, हिंदू, जैन धर्मों पर, नगरो के निर्माण पर, उससे कही बाद के प्राचीन भारतीय समाज के सामाजिक ढाचे पर काफ़ी प्रभाव पडा।

सोवियत विद्वानो ने अब ब्लाकों के कोश का संकलन पूरा कर लिया है, जिसमे इनकी चित्रलेख व्याख्या दी गई है और यह भी बताया गया है कि इन्हें अनुमानत कैसे पढ़ा जा सकता है, साथ ही "पढ लिये गये" अभिलेखों का सग्रह भी दिया गया है। ब्लाकों के कोश में आद्य-भारतीय लिपि के लगभग ८० % चिह्न हैं और पढ़ लिये गये अभिलेखो के संग्रह में अब तक ज्ञात सभी अभिलेखो का प्रायः इतना ही अश दिया गया है। आगे के काम में न केवल इनके पठन को परखा जाना है, बल्कि अभिलेखो की भाषा का अधिक ब्योरेवार ऐतिहासिक-भाषावैज्ञानिक अध्ययन भी किया जाना है। इस कार्य के दौरान यह संभव है कि कुछ चिह्नों अथवा उनके ग्रुपों के पठन पर पुनर्विचार करना पडे, लेखो की वाक्य-रचना के बारे में जानकारी अधिक सही हो, लेकिन सोवियत विद्वानो द्वारा निकाले गये मूलभूत निष्कर्षो का महत्त्व प्रत्यक्षतः बना रहेगा।

उल्लेखनीय है कि भारतीय विद्वानों ने आद्य-भारतीय अभिलेखो पर सोवियत संघ मे हो रहे शोधकार्य में गहरी रुचि दर्शाई है। कतिपय प्रकाशनो का भारत मे अंग्रेज़ी में अनुवाद हुआ है। सोवियत विद्वानों को अपने कार्य में सफलता निश्चित हद तक भारतीय विद्वानों के साथ स्थायी सम्पर्कों के फलस्वरूप ही मिली है। कुछ वर्ष पूर्व भारतीय विद्वान महादेवन ने सभी ज्ञात आद्य-भारतीय अभिलेखों का सग्रह प्रकाशित किया था, जिसमे विस्तृत तालिकाए हैं, लेखों की संगति इंगित है और

मोहरों पर अंकित चित्रों की पूर्ण सदर्भसूची दी गयी है। डा० महादेवन के संदर्भ ग्रंथ के विना आज इस क्षेत्र में कोई भी वैज्ञानिक खोज असभव है, सोवियत विद्वान भी विकोडन कार्य में इसका व्यापक उपयोग कर रहे हैं। डा० महादेवन के सचालन में मद्रास मे इन लेखों का कम्प्यूटर पर संसाधन किया गया। इस तरह आद्य-भारतीय लिपि की प्रणाली, लेखों के "ब्लाकों" में विभाजन और व्याकरणिक सूचकों के बारे में जो जानकारी मिली, वह मूलत: सोवियत विद्वानों के कार्यो से प्राप्त परिणामों के साथ मेल खाती है, हालाकि भारतीय विद्वानों ने कम्प्यूटर के लिए प्रोग्राम पूर्णत: स्वतंत्र रूप से तैयार किया था और वह सोवियत गणितज्ञों द्वारा कम्प्यूटर में भरे गये प्रोग्राम से काफ़ी हद तक भिन्न था।

हड़प्पा सभ्यता की लिपि और सम्कृति का अध्ययन समस्त द्रविड़ जनगण की नृजातीय उत्पत्ति की समस्या का हल ढूंढने के लिए भी बहुत माने रखता है। यह समस्या अत्यंत विवादपूर्ण है और इसका अभी तक बहुत कम अध्ययन हुआ है। अभी तक द्रविड़ो की आद्य जन्मभूमि और उनके देशातरण के संभाव्य मार्गो के बारे में सभी प्राक्कल्पनाए, समसामयिक द्रविड़ भाषाओं के प्रसार, दूसरी भाषाओ के साथ इस वर्ग की भाषाओं के प्ररूपात्मक या उत्पत्तिमूलक सबधो के बारे मे तथा तिहास, नृजातिवर्णन और पुरातत्व के थोडे मे साक्षात्कारो पर आधारित होती ं। यह अकारण ही नही है कि विद्वान न केवल अलग-अलग, बल्कि परस्पर-वरोधी दृष्टिकोणो पर पहुचने थे। उदाहरणत, यह प्राक्कल्पना बहुत प्रचलित थी कि द्रविड़ो की आद्य जन्मभूमि भारत के दक्षिण मे ही थी, जबकि उत्तर में द्रविड़-भाषी लोग (ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और पाकिस्तान के कुछ इलाक़ों में आजकल रह रहे ब्राहुई लोग) दक्षिण से यहा आकर बसे थे।

स्वय द्रविड़ भाषाओं के दत्तो (तथाकथित भाषावैज्ञानिक पुरातत्व) का उपयोग अब तक वस्तुत: नही किया गया था, हालांकि विभिन्न भारोपीय जनगण के देशां-तरण के मार्गो और सम्कृति के विकास के आरंभिक चरणो के प्रश्न को हल करने में ऐसी सामग्री ही अत्यत उपयोगी सिद्ध हुई थी।

सोवियत संघ में इधर कुछ समय मे "भाषावैज्ञानिक पुरातत्व" के दत्तों का द्रविडविद्या के लिए उपयोग करने के प्रयास किये जा रहे हैं (सर्वप्रथम ये न० गुरोव और म० अन्द्रोनोव के कार्य हैं) और इनके लिए प्रेरणा बहुत हद तक आद्य-भारतीय लिपि के विकोडन के कार्यो से मिली है।

इस विधि से द्रविडों की आद्य जन्मभूमि का प्रश्न तथा इससे भी अधिक व्यापक प्रश्न – प्राचीन भारतीय सभ्यता की उत्पत्ति की समस्या – के हल के लिए कैसे परिप्रेक्ष्य खुलते हैं?

द्रविड शब्द भंडार का तुलनात्मक-ऐतिहासिक अध्ययन करके सोवियत शोधकर्त्ता इसमें तथाकथित सांस्कृतिक स्तर – भौतिक और आत्मिक सम्कृति से सबधित शब्द-समूह – निर्धारित कर सके और इस स्तर को कतिपय कालक्रमिक सस्तरों में विभाजित कर सके।

सर्वाधिक प्राचीन सम्स्तर में वे शब्द आते हैं, जो सभी द्रविड भाषाओ मे पाये गये हैं और सभवत आद्य-द्रविड सांस्कृतिक एवं भाषायी समष्टि के काल के हैं। भाषा-तैथिकी की गणनाओ मे पता चलता है कि यह चौथी सहस्राब्दी ई० पू० के अंत से पहले का काल होना चाहिए।

द्रविड जनगण की नृजातीय उत्पत्ति पर सोवियत शोधकर्त्ताओ का कार्य अभी पूरा नही हुआ है, तथापि अब आद्य द्रविडो की भौतिक और आत्मिक संस्कृति के कुछ विशिष्ट लक्षणों के बारे में अधिक निश्चित तौर पर कुछ कहा जा सकता है, यानी हडप्पा सभ्यता के मूल को, उस आधार को उजागर किया जा सकता है, जिस पर तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० मे सिंधु घाटी की प्राक्नगर और नगर सस्कृति विकसित हुई।

सोवियत विद्वानो (सर्वप्रथम न० गूरोव) द्वारा किये गये भाषावैज्ञानिक पुनर्निर्माण के अनुसार द्रविड़भाषी समष्टि के विघटन से पहले ही द्रविडभाषी आबादी शिकार और मछली पकडने के साथ-साथ एकस्थानवासी और उच्चत विकसित कृषि मे तथा पशुपालन मे भी परिचित थी। सामान्य द्रविड शब्द भडार में कृषि प्रक्रिया के सभी प्रमुख चरणो मे सबधित शब्द – जुताई, बुवाई, कटाई, ओसाई, आदि हैं। निस्सदेह विकसित कृषि शब्दावली का होना सामान्य द्रविड़ काल मे द्रविड़ क़बीलों के जीवन में कृषि की प्रमुख भूमिका को इंगित करता है। पशुपालन, शिकार और मछली पकड़ने से सबधित शब्द भी प्रचुरता में हैं। सामान्य द्रविड़ काल मे द्रविड क़बीलो के भौतिक जीवन के स्वरूप का पुनर्निर्माण करने के लिए गृहनिर्माण शिल्प से, गृहो के प्रकारों और रूपो से संबधित शब्दावली नितात महत्त्वपूर्ण है। इन शब्दो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उस काल में भी द्रविड पर्याप्त विकसित स्थापत्य वाली स्थायी बस्तियों मे रहते थे। मकान लकड़ी के बनाये जाते थे, ये दोमज़िला भी हो सकते थे ("ऊपरी मंजिल" के लिए विशेष शब्द है), छतें न केवल फूस की, बल्कि खपडैल की भी होती थी और मकान काफी बडे होते थे।

"ऋण लेना", "ऋण चुकाना", "चुराना – चोर", "झुड की रखवाली करना" जैसी अवधारणाओ के सामान्य द्रविड शब्दों का होना तथा "चाकर, दास – स्वामी", इत्यादि अवधारणाओं का विकास सामाजिक सबधों का स्वरूप तथा स्वामित्व की सस्था का विद्यमान होना इंगित करता है। पूजा-पाठ से संबधित शब्द यह दर्शाते है कि विभिन्न विश्वासों की प्रणाली कुल जमा उन धार्मिक धारणाओ के अनुरूप थी, जो आदि खेतिहर सस्कृतियो मे पायी जाती हैं। इस प्रकार सामान्य द्रविड-भाषी एकता के काल मे "द्रविड़ समाज" में भौतिक सस्कृति का भी और सामाजिक सबधो का भी स्तर उन्नत था। इन सामग्रियों के तथा इनके पुनर्निर्माण और व्याख्या की नई विधि के प्रकाश मे इस परम्परागत दृष्टिकोण पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है कि द्रविडभाषी एकता के काल में द्रविड़ समाज का स्वरूप काफ़ी हद तक आदिम ही था। सोवियत भारतविद जिस निष्कर्ष पर पहुचे हैं, वह द्रविड

जनगण के इतिहास के आरभिक चरण में नृजातीय-सांस्कृतिक विकास की सामान्य प्रक्रियाओं को समझने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सामान्य द्रविड़ शब्द भंडार के तुलनात्मक-ऐतिहासिक अध्ययन के फलस्वरूप द्रविड़ समष्टि का भौगोलिक क्षेत्र भी मोटे तौर पर निर्धारित किया जा सकता है। वनस्पति और जीव जगत से सबधित तथा, अधिक व्यापक रूप मे, पारिस्थितिकी से सबधित शब्द इस बात के साक्षी हैं कि द्रविडभाषी समष्टि का विघटन भारत उपमहाद्वीप पर ही या भौगोलिक दृष्टि से इससे मिलते-जुलते क्षेत्र में हुआ।

चहुंमुखी अध्ययन से यह पता चलता है कि हड़प्पा सभ्यता स्थानीय, पर्याप्त विकसित संस्कृतियों के आधार पर उत्पन्न हुई और इस प्रक्रिया की नियमसंगत परिणति थी। इस सभ्यता के किसी "एकाएक उद्‌भव" का, जैसा कि पहले बहुत से विद्वान मानते थे, सवाल ही नही उठता। नई पुरातत्वीय सामग्री ही नही, बल्कि आद्य-भारतीय लिपि और संस्कृति के सोवियत विद्वानो द्वारा किये जा रहे अध्ययन के परिणाम भी यही इगित करते हैं। हड़प्पा सभ्यता के उद्‌भव की नियमसंगति का निष्कर्ष उन कार्यों के परिणामो के पूर्णतः अनुरूप है, जो बरसो से भारतीय विद्वान सफलतापूर्वक कर रहे हैं। सोवियत और भारतीय विद्वानो का घनिष्ठ सहयोग इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में सफलता की प्रत्याभूति है।

मध्य एशिया मे सोवियत पुराविदो द्वारा किये गये उत्खननो से विद्वजगत में एक सर्वाधिक चर्चित समस्या – **आर्य समस्या** – के हल के लिए नई और महत्त्वपूर्ण सामग्री मिली है। सुविदित है कि विद्वानो के वर्षों के परिश्रम के बावजूद यह समस्या बहुत हद तक अभी हल नही हुई है और यह स्पष्ट नही है कि भारतीय आर्य कहां से और किन मार्गो से होते हुए उत्तरी भारत में पहुचे। सोवियत विद्वानों द्वारा मध्य एशिया मे किये जा रहे अनुसधानों मे यह पता चला है कि द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य से ही स्तेपियाई क़बीलों का सक्रिय देशांतरण शुरू हो गया था और ये क़बीले खेतिहर संस्कृतियो के केंद्रों की ओर बढ़ रहे थे। प्रो० लित्वीन्स्की और प्रो० मंदेलश्ताम के अनुसार दक्षिणी ताजिकिस्तान के शवाधान स्थलों की सामग्री आर्यों (या भारतीय आर्यो) से सबद्ध हो सकती है। उनका यह अनुमान इस बात पर आधारित है कि यहा मिली शवाधान सामग्री स्पष्टतः ऋग्वेद में प्रतिबिम्बित वैदिक क़बीलो के अत्येष्टि अनुष्ठानों के अनुरूप है। पाकिस्तान में स्वात नामक स्थान में हुई नई खोजों के प्रकाश मे इस अनुमान की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। पाकिस्तान के शवाधान स्थलो मे मिली सामग्री में मध्य एशियाई और भारतीय सामग्री के साथ बहुत समानता है।

मध्य एशिया मे नये उत्खननो से यह अनुमान लगाने का आधार मिलता है कि द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० के मध्य और उत्तरार्द्ध मे स्तेपियाई क़बीले मध्य एशिया से ही भारत की ओर बढे थे। इनके कुछ ग्रुप उन भारतीय आर्यों के सीधे पूर्वज थे, जिनके साथ विद्वान ऋग्वेद के रचयिताओं का सबंध जोड़ते हैं। वैसे इस अनुमान

की आगे पुष्टि करने की आवश्यकता है। यह संयोग की बात नहीं है कि अनेक भारतीय विद्वान आर्य समस्या के विश्लेषण के लिए मध्य एशिया में सोवियत पुरातत्वविदों द्वारा की गयी खुदाइयों के परिणामों का व्यापक इस्तेमाल और समान ऐतिहासिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाएं खोजने का प्रयत्न करते हैं।

हमने हड़प्पा सभ्यता की समस्याओं और आद्य-भारतीय लिपि के पठन से संबधित सोवियत विद्वानों के कार्यों की इतने विस्तार से चर्चा जान-बूझकर की है, क्योंकि इन प्रश्नों में भारत के विद्वज्जगत की गहरी रुचि है।

एक सर्वाधिक विवादास्पद प्रश्न यह है कि हड़प्पा सभ्यता, अथवा यदि ठीक-ठीक कहें, तो सिंधु घाटी के नगरों के पतन के क्या कारण थे। विद्वानों ने अनेक कारण बताये हैं। मध्य एशिया में सोवियत पुरातत्वविदों की खुदाइयों ने दिखाया है कि तीसरी सहस्राब्दी ई० पू० के अंत – दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के आरंभ में दक्षिणी मध्य एशिया की खेतिहर संस्कृति एक तरह के आंतरिक संकट से गुज़र रही थी, जिसका प्रमाण यह हुआ कि उनका नगरीय जीवन ह्रासोन्मुख हो गया, आबादी नगरों को छोड़कर अन्यत्र, नये इलाक़ों में बसने लगी और इस तरह संस्कृति का "बर्बरीकरण" होने लगा। बहुत कुछ ऐसी ही प्रक्रियाएं हड़प्पा सभ्यता के उत्तर काल में भी घटीं।

मध्य एशिया और भारत के संबंधों के इतिहास में अखामनीष राज्य के काल तथा सिकंदर महान के अभियान को एक विशेष काल में रखा जाना चाहिए। सुविदित है कि मध्य एशिया के कुछ क्षेत्रों (बाख़्त्री, सोग्द, पार्थिया, ख़्वारज़्म) के साथ-साथ उत्तर-पश्चिम भारत के कुछ क्षेत्र (गांधार और सिंधु नदी तक का इलाक़ा) एक साम्राज्य में शामिल थे। प्राचीन यूनानी स्रोतों से यह पता चलता है कि अखामनीष सेना में भारतीय सैनिक थे और मध्य एशिया के निवासी भी। सिकंदर महान के अभियान के दौरान जब उसने मध्य एशिया के क्षेत्र और उत्तर-पश्चिमी भारत के इलाक़े जीते, तो ये संबंध विशेषतः सक्रिय हुए।

द्वितीय शताब्दी ई० पू० में जब शक और दूसरे क़बीले पामीर से होते हुए उत्तरी भारत की ओर बढ़े, तो वे अपने साथ मध्य एशियाई संस्कृति के बहुत से तत्व और परम्पराएं भी ले गये। उदाहरणतः, तक्षशिला में लौह तलवारों की, जो प्रत्यक्षतः मध्य एशियाई क़बीलों की हैं, तथा विशेष कांस्य चक्र दर्पणों की, जैसे मध्य एशिया में पाये जाते थे, खोज इंगित की जा सकती है। प्रत्यक्षतः उत्तरी भारत में अश्वारोही सेना और घोड़ों के साज़ का व्यापक प्रसार शक क़बीलों से ही संबंधित है। संस्कृत शब्द "जयन" प्राचीन ईरानी शब्दों "ज़य" – "अस्त्र, औज़ार", तथा "ज़एना" – "शस्त्र", "ज़यन" – "सशस्त्र, शस्त्र-सज्जित" जैसा है, जो 'अवेस्ता' में भी मिलते हैं। संस्कृत में यह शब्द और "वरबन" शब्द छठी-चौथी सदी ई० पू० से पहले नहीं आये थे और उत्तर-पश्चिमी भारत के मध्य एशियाई यायावर क़बीलों, सर्वप्रथम शकों के साथ सम्पर्कों से उत्पन्न हुए थे।

पामीर में सोवियत पुराविदो द्वारा किये गये नये उत्खननो मे पामीरी शको के अनेक शवाधान स्थल मिले हैं। पूर्वी पामीर की घाटियो में और पहाड़ी ढलानों पर कही-कही तो ४००० मीटर मे अधिक ऊचाई पर २५० से अधिक शक टीले मिले हैं। शवाधान सामग्री यह बताती है कि पामीरी शको का शक (मीथियन) जगत से निकट संबध था, "पशु शैली" की वस्तुओ की खोज इस बात की पुष्टि करती है। साथ ही उत्खननो से पामीरी शको के भारत के साथ संबध भी प्रकट हुए हैं। पूर्वी पामीर के शवाधानों मे तामड़ा पत्थर की मालाए मिली हैं, जिन पर विशेष भारतीय डिज़ाइन बने हुए है। प्रत्यक्षत ये भारत मे पामीर में पहुंची थी। शख के अखौड़ो (अक्षि वेष्टको) की खोज विशेषत रोचक है। ऐसे ही भारत में भी मिले हैं। अभी तक कई भारतीय जनजातियो मे शंख चक्षु का प्रतीक है। इस प्रकार यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पामीर के शको के भारत के संबंध उस समय से बहुत पहले ही स्थापित हो चुके थे, जब शक क़बीले "निलबी मार्ग" को पार करके कश्मीर पहुचे थे। प्राचीन चीनी इतिवृत्तो मे "निलबी मार्ग" पर शकों की गति का उल्लेख मिलता है, लेकिन शोधकर्त्ता इस मार्ग के स्थान-निर्धारण पर एकमत नही थे। अनेक विद्वान इस संभावना पर सदेह प्रकट करते थे कि शक पामीर पार करके भारत में पहुचे। पामीर में नये उत्खननो से पता चलता है कि दूसरी सदी ई० पू० से पहले ही, जबकि लिखित स्रोतो के अनुसार, शक क़बीले भारत की ओर वढ़े, पामीर के भारत के साथ संबंध काफ़ी सुदृढ थे।

भारत के साथ मध्य एशिया के सबधों का सबसे अधिक प्रसार कुषाण साम्राज्य की स्थापना के काल में हुआ, जब मध्य एशिया के बहुत से इलाक़े और उत्तरी भारत का बड़ा भाग एक राज्य मे समाविष्ट हुए। कुषाण काल पूरब के ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास में एक विलक्षण चरण था। इतिहास में पहली बार मध्य एशिया, उत्तरी भारत, पाकिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान और पूर्वी ईरान एक राज्य में शामिल हुए, विभिन्न नृजाति, भाषा, मस्कृति और धर्मों के जनगण व क़बीलो के बीच घनिष्ठ मम्पर्क स्थापित हुआ। यह शक्तिशाली राज्य अराल मागर से हिंद महासागर के तट तक फैला हुआ था।

कुषाण युग मे भारत उपमहाद्वीप के इलाक़ो, अफ़ग़ानिस्तान और ईरान के साथ मध्य एशिया के बहुविध मांस्कृतिक, व्यापारिक और आर्थिक संबंध उन घनिष्ठ मबधो के क्रम मे थे जो इम क्षेत्र के जनगण के बीच अखामनीष काल से चले आ रहे थे। संस्कृतियों का मामीप्य नृजातीय-मांस्कृतिक धरोहर के अनेक सामान्य लक्षणों द्वारा निर्धारित होता था।

कुषाण काल के अभिलेखो से यह पता चलता है कि मध्य एशिया के बहुत मे निवामियो ने भारत मे बसने पर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और वे उच्च राजकीय पदो पर भी आसीन थे। तक्षशिला के एक कुषाण अभिलेख में बाख़्त्रीय लोगों द्वारा बौद्ध मठ के निर्माण का उल्लेख किया गया है। सारनाथ के अभिलेखों

में वनस्पर और खरपल्लन नामक क्षत्रपो का ज़िक्र आता है, जो बौद्ध थे। बाख्त्री लिपि मे उत्कीर्णित कुषाण अभिलेखो मे से एक में, जिन्हें कनिंघम ने प्रकाशित किया, हारोवाला नाम के एक व्यक्ति का उल्लेख है, इससे इस नाम को सारनाथ अभिलेख के खरपल्लन के समकक्ष रखा जा सकता है। प्रत्यक्षत: किसी बाख्त्री की चर्चा है। इसी तरह दूसरे नाम "वनस्पर" की भी व्याख्या की जा सकती है (बाख्त्रीय शब्द "वनस्पर" का अर्थ है – "विजय का आह्वान करने वाला")।

कुषाण सिक्को से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि भारतीय धर्मो(बौद्ध और शैव धर्म) के साथ-साथ जरथुष्ट्र धर्म का भी, जो उस काल में मध्य एशिया मे प्रचलित था, सह-अस्तित्व था। भारत मे मिले सिक्को पर ईरानी देवता – मित्र और व्रेत्रग – अंकित हैं तथा मध्य एशियाई दरिया वख्श का देवता ओहशो भी, जिसकी छवि कुछ विद्वानों के मत मे शिव की छवि मे विलय हो गई। मथुरा की कुषाण काल की मूर्तियां शस्त्रास्त्रो, वस्त्रों, इत्यादि पर मध्य एशियाई परम्पराओ का प्रभाव इंगित करती हैं। उदाहरणत., मथुरा की राजाओ की मूर्तियों की "शक" पगड़ी इंगित की जा सकती है, जो भारत के लिऐ अनोखी है और मध्य एशिया के लिए लाक्षणिक।

कुषाण राज्य के अस्तित्व के आरंभिक काल में भारत के साथ परस्पर सबंध में मध्य एशिया की भूमिका प्रमुख थी। भारत का प्रभाव काफ़ी क्षीण ही था। बाद में बौद्ध धर्म के फैलने पर ही भारतीय सास्कृतिक परम्पराओं का प्रभाव काफी महत्त्वपूर्ण हुआ। यह बात बाख्त्रीय कुषाण कला स्मारको का अध्ययन करते समय स्पष्टत: देखी जा सकती है।

स्थानीय मध्य एशियाई परम्पराओं पर आधारित बाख्त्रीय-तुखारिस्तानी धारा ने पूरब की और शायद सारी मानवजाति की ही सस्कृति के इतिहास मे एक सर्वाधिक उज्ज्वल पृष्ठ लिखा है, हालांकि अभी हाल ही तक कुषाण-काल की बाख्त्री कलाकृतियों को भारत की गांधार धारा का अनुकरण मात्र या इसकी परम्पराओ से विचलन मात्र माना जाता था। गांधार धारा को उस काल की प्राचीन भारतीय सस्कृति के इतिहास मे एकमात्र और सर्वव्यापी माना जाता था।

कुषाण कला को प्राय: अपने स्वरूप मे शुद्धत: बौद्ध कला माना जाता था। कुछ विद्वानो का मत था कि गाधार कला अपने अतर्य मे यूनानी-बौद्ध कला है और यह यूनानी कला व बौद्ध धर्म के परस्पर प्रभाव का परिणाम है। दूसरे विद्वानो का कहना था कि गांधार कला भारतीय धरती पर रोमन परम्पराओं के सुदृढ़ीकरण का प्रभाव है। मध्य एशिया के स्मारकों को प्राय: भारतीय और यूनानी-रोमन परम्पराओ का संश्लेषण बताया जाता था, जिसमे "बर्बर तत्व" का प्रबल मिश्रण है।

अफ़ग़ानिस्तान में फ्रांसीसी विद्वानों की खोजों (सर्वप्रथम डी० श्लुम्बेर्जे के संचालन मे पुरातत्वीय उत्खननों) तथा प्रो० पुगाचेन्कोवा के सचालन में दक्षिणी उज़्बेकिस्तान के हलचयन और दल्वेर्जिन तेपे मे सोवियत विद्वानो द्वारा की गयी खोजो को देखते हुए कुषाण कला

की उत्पत्ति एव स्वरूप के बारे में पुरानी अवधारणाओं पर पुनर्विचार करना पडा। "गांधार कला" नाम भी सोपाधिक हो गया। गांधार में मिली पहली मूर्तियों की खोज का क्षेत्र पजाब, अफ़ग़ानिस्तान और मध्य एशिया के विभिन्न भागों में पुरा-तत्वीय उत्खनन के फलस्वरूप कही अधिक व्यापक हो गया। सुर्ख-कोटला में उत्खनन के बाद पुराविद श्लुम्बेर्जे ने गाधार कला का नया मूल्यांकन प्रस्तुत किया। ऐसा करते हुए उन्होंने यूनानी-ईरानी और यूनानी-बाख्त्रीय तत्व के महत्त्व पर ज़ोर दिया, जो एशिया के केंद्र में मकदूनियाइयो और उनके पूर्ववर्तियो से सबधित यूनानी परम्परा का सच्चा रक्षक बना। श्लुम्बेर्जे कुषाण कला मे स्थानीय बाख्त्रीय सस्तर के विशाल योगदान सबंधी अपने निष्कर्ष के लिए आधार प्रस्तुत करना चाहते थे, लेकिन मध्य एशिया में बाख्त्रीय स्मारको की खोज से पहले सामग्री के अभाव मे ऐसा कर पाना असभव था। श्लुम्बेर्जे को विवश होकर यह कहना पडा : "मैं स्वयं को ऐसे खगोल-विज्ञानी की स्थिति में अनुभव करता हू, जो ग्रह की कक्षा मे अनबूझ विशिष्टताएं पाकर यह निष्कर्ष निकालता है कि इसकी व्याख्या किसी अन्य ग्रह के अस्तित्व से ही की जा सकती है। यह अन्य ग्रह – 'यूनानी-बाख्त्रीय कला' – अभी तो बाख्त्री के क्षितिज पर कही छिपा हुआ है।" अब विद्वानो के पास यह कहने के लिए पर्याप्त सामग्री है कि कुषाण कला की मौलिक और पूर्णतः स्वतंत्र बाख्त्रीय धारा का अस्तित्व था, जिसका प्रादुर्भाव भारत की गाधार धारा के गठन से पहले और उससे स्वतंत्र रूप मे हुआ। यही नही, बाख्त्रीय धारा का (जिसमें लौकिक पक्ष प्रबल था) भारत की गांधार धारा के तथा सारी कुषाण कला के ही गठन पर भारी प्रभाव पडा। कालांतर में बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ कुषाणकालीन बाख्त्री की कला में भी और सारे मध्य एशिया की कला में भी भारतीय-बौद्ध परम्परा का प्रभाव देखा जा सकता है, हालांकि स्थानीय बाख्त्रीय धारा का अस्तित्व बना रहा और वह आगत तत्वो एवं परम्पराओं को पोषित करती रही। तेमेर्ज़ के बौद्ध स्मारक (कारा तेपे का उत्खनन), ऐर्ताम की उद्भृत मूर्तियां और दल्वेर्ज़िन तथा हलचयन की मूर्तियां इसका प्रमाण हैं।

बाख्त्रीय कला की विशिष्टता और उसके विकास के प्रमुख चरणो को अधिक अच्छी तरह समझ पाने के लिए यूनानी-बाख्त्रीय राज्य तथा उसके बाद के राज्यों के विकास के इतिहास के प्रमुख चरणो को देखना चाहिए। तीसरी सदी ई० पू० मे मध्य एशिया में यूनानी-बाख्त्रीय राज्य की स्थापना से यहां यूनानी परम्पराएं प्रबल हुई, हालांकि यूनानी तत्वों के साथ-साथ सुदृढ़ स्थानीय आधार भी अस्तित्वमान था। इस राज्य की सीमाओं का दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व की ओर (उत्तर-पश्चिमी भारत के कुछ इलाको सहित) विस्तार भारतीय सस्कृति से परिचय में सहायक हुआ। यही **हलचयन** का भी (सुर्खान दरिया के तट पर) उत्कर्ष काल है – यहां दुर्ग का निर्माण हुआ, नगर के चारो ओर परकोटा बना। यहां मिले सिक्के हमें देमेतर के भारत अभियान की याद दिलाते हैं : राजा के सिर पर हाथी का कपाल है।

कुछ समय बीतने पर पहले शक कबीले और फिर यूह-ची कबीले सुर्खान की घाटी में पहुचे। बाख्त्री में पांच छोटे-छोटे राज्य बने। हेरायोस नामक एक शासक ऐसे सिक्के चलाने लगा, जिन पर अंकित अभिलेख मे हेरायोस और उसके वंश की चर्चा है। कुषाण राज्य की नींव पड़ी। कद्फ़िस प्रथम के काल में यूह-ची शासको के राज्यो का एकीकरण हुआ।

हलचयन भी बढ़ा, इसका मानो नया जन्म हुआ। यहां अनुपम मूर्तियों और चित्रों वाला महल बनाया गया। हलचयन के उत्खनक पुराविद दल की प्रधान प्रो० ग० पुगाचेन्कोवा के मत में महल मे दरबार लगता था और राज-भोज होते थे, महल की सारी सज्जा का ध्येय शासक परिवार का यशगान करना ही था। इस महल के समरूपी भवन तक्षशिला में मिले हैं, जो ईसापूर्व और ईसवी शतियों के संधिकाल के माने जाते हैं।

हलचयन महल की सामग्री से मौलिक बाख्त्रीय धारा के बारे मे तथा गांधार धारा के और सारी कुषाण कला के गठन में बाख्त्रीय योगदान के बारे मे सर्वाधिक मूल्यवान जानकारी मिलती है। लेकिन हलचयन के अनुसंधानों का महत्त्व इससे कही अधिक व्यापक है। शक और यूह-ची काल का (अर्थात उत्तरी बाख्त्री में कुषाण राज्य के गठन के आरंभिक काल का) हलचयन वास्तुकला और मूर्तिकला की स्थानीय परम्पराओ के स्वतंत्र विकास का साक्षी है। यूनानप्रभावित परम्पराओं को आत्मसात करके भी हलचयन एक संकर कला का नहीं, बल्कि मौलिक बाख्त्री कला-संस्कृति का नमूना बना रहा है।

प्रो० पुगाचेन्कोवा ने हलचयन महल की तिथि प्रथम शती ई० पू० निर्धारित की है, लेकिन कुछ सोवियत विद्वानो के मत में यह तिथि कुछ त्रुटिपूर्ण है और उनके विचार में हलचयन को ईसवी संवत् के आरंभिक वर्षों का माना जाना चाहिए (कुषाण राज्य के कालानुक्रम का प्रश्न आज भी प्राच्यविद्या का एक जटिलतम प्रश्न बना हुआ है)। हलचयन महल के उत्खनन से यह पता चला कि स्थानीय वास्तुकार आंतरिक सज्जा को बहुत महत्त्व देते थे और रंग का व्यापक उपयोग करते थे। मूर्तियों की अवस्थिति एक सामान्य योजना तथा निश्चित ताल मे थी। भित्ति-मूर्तियां दीवारो के ऊपरी भाग पर बनायी जाती थी। नीचे से दीवारों पर पलस्तर किया जाता था, उसके ऊपर दो मीटर की सत्व वल्लरी (ज़ूफ़ारस) होती थी और उसके ऊपर आधे मीटर की चित्र वल्लरी। चित्र वल्लरी पर माला लिये बच्चे, वादिकायें, बहुरूपिये, आदि अंकित हैं। इन चित्रों के सीधे-सीधे अनुरूप तो यूनानी-रोमन कला में नहीं मिलते, लेकिन ये मध्य एशिया में प्रचलित तथाकथित डायोनिशस चक्र का अंश हैं। हलचयन महल से साफ़-साफ़ पता चलता है कि उत्तरी-बाख्त्रीय कला में बैकेनेलियाई विषयवस्तु किस प्रकार रूपांतरित हुई। यहां हम उत्तर-पश्चिमी भारत के डायोनिशसउत्सवों को भी स्मरण कर सकते हैं, जिनका उल्लेख सिकंदर के अभियानों के बारे मे लिखने वाले पुरायुगीन लेखकों ने किया है।
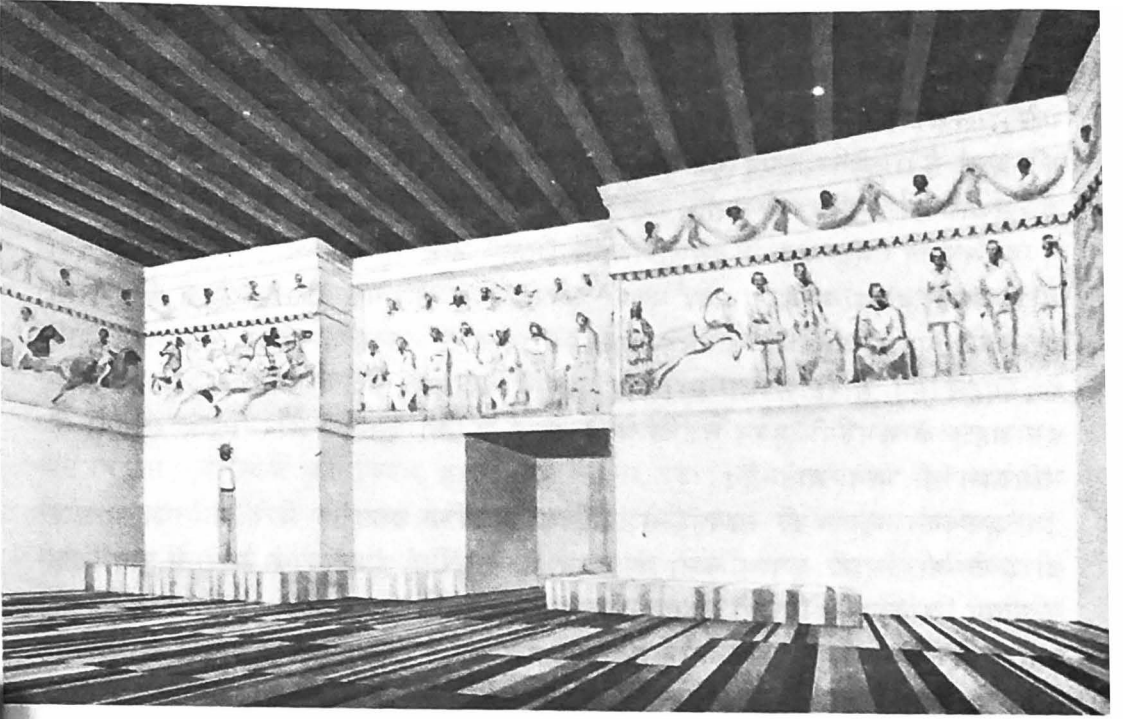
राजप्रासाद। हलचयन। (पुनर्कल्पित)
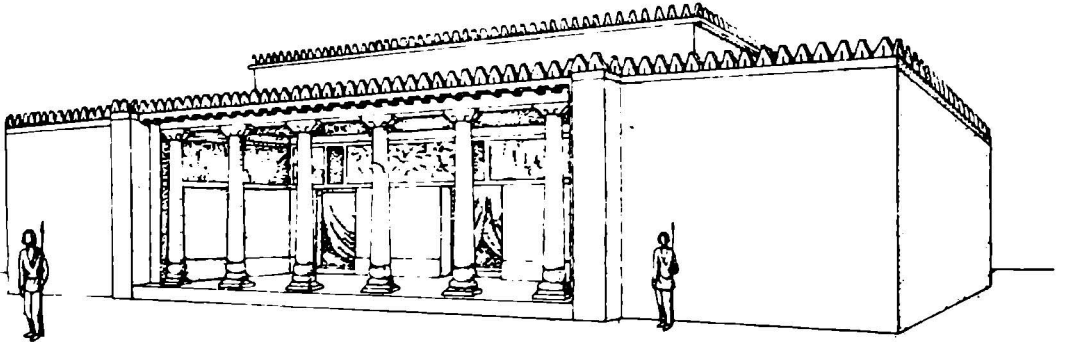
एक भवन का अग्रभाग। हलचयन।
(पुनर्कल्पित)

सत्व वल्लरियों पर निर्मित आकृतियां विशेषतः उल्लेखनीय हैं। यहां छविचित्रों की पूरी गैलरी है। ये प्रत्यक्षतः ऐतिहासिक व्यक्तियों के चित्र हैं, सत्तारूढ़ कुषाण वंश के पहले प्रतिनिधियों के, संभवतः हेरायोस वंश के, जिनके बारे में हम सिक्कों से जानते हैं। राज वंश की और उसकी जीतों की स्तुति की गयी है। तेज़ी से दौड़ते जा रहे अश्वों पर सवार धनुर्धारी सैनिकों का दृश्य मध्य एशियाई स्तेपी की शक

निम्न उद्भृत चित्र वल्लरी। हलचयन

कला की परम्पराओं को दोहराता है। सुविदित है कि कुषाण राज्य के नृजातीय गठन में तथा कुषाण संस्कृति के गठन मे शक-सार्मेशियाई मूल के मध्य एशियाई क़बीलों ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की। मध्य एशिया मे सोवियत पुराविदों द्वारा हाल ही में की गई खुदाई से यह बात स्वतःस्पष्ट हो गई है। हार्प-वादिका और ल्यूट-वादिका के चित्रण मे भारतीय कला की कुछ परम्पराएं भी प्रतिबिम्बित हुई हैं। वैसे यह भारतीय प्रभाव का नही, बल्कि इसके विपरीत इस बात का साक्षी भी हो सकता है कि बाख्त्री में गठित हुए कलात्मक लक्षण उत्तर-पश्चिमी भारत में पहुचे और वहां अभिपुष्ट हुए। ल्यूट-वादिका के वाद्य का प्रमुख भाग गोलाकार है। गांधार कला मे ऐसे ल्यूट ईसवी सवत् की पहली सदियो में ही चित्रित किये जाने लगे थे। इस आधार पर प्रो० पुगाचेन्कोवा ने यह अनुमान व्यक्त किया है कि यह

वाद्य कुषाण काल में बाख्त्री से ही भारत पहुचा, क्योकि भारत मे ल्यूट का प्रतिरूप नहीं था।

स्थानीय शासको की आकृतियो से बाख्त्रीय क्षेत्र मे, जहां से कुषाण भारत को गये, आदि कुषाण राज्य के बारे में जानकारी मिलती है। कुषाण इतिहास और संस्कृति के उत्तर काल की मथुरा मूर्तियो के साथ तुलना के लिए यह अमूल्य सामग्री है। उदाहरणतः, हलचयन के शासक, उसके दरबारियो और सैनिकों के वस्त्रों और शिरोवस्त्रों के समरूप मथुरा मूर्तियों मे भी है – यह तथ्य कुषाण भारत पर मध्य एशियाई प्रभाव का साक्षी है। हलचयन की मानव मूर्तियो के वस्त्रों की तुलना मथुरा की सुविख्यात कनिष्क मूर्ति के वस्त्रों के साथ तथा ईसवी सवत् की पहली सदियों की गाधार उद्भृत मूर्तियो के साथ की जा सकती है।

हलचयन के उत्खनन का विशाल महत्त्व इस बात मे निहित है कि इससे स्थानीय बाख्त्रीय और कुषाण परम्पराओ के सश्लेषण का आरंभिक चरण उजागर होता है। यहां यह बात बहुत मानी रखती है कि हलचयन स्मारक एक तरह से "शुद्ध रूप में" है – इस पर बौद्ध कला की छाप नही पड़ी है। ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी की अतिम सदियो में भारत ने बाख्त्रीय वास्तुकला और मूर्तिकला के गठन में कोई महत्त्व-पूर्ण भूमिका अदा नही की। उलटे बाख्त्री और पूर्वी पार्थिया ही वह पोषक माध्यम बना, जिसने शुद्ध भारतीय कला परम्परा के साथ सश्लेषण के आधार पर भारत की गाधार मूर्तिकला के गठन पर प्रभाव डाला। ईसवी सवत् की पहली सदियों में उलटी प्रक्रिया हुई, जब महान कुषाणो के राज मे गाधार कला और उसकी प्रेरक बौद्ध शिक्षा तुख़ारिस्तान की कला पर पूरे ज़ोरों से छा गयी। मध्य एशिया के बाख्त्रीय स्मारकों के रोचक समरूप सुर्ख़-कोटला की सामग्रियों में मिलते हैं, जिनकी खोज प्रो० श्लुम्बेर्जे के फ़ासीसी अभियान दल ने की थी। सुर्ख़-कोटला की मूर्तियो को गांधार और मथुरा के स्मारको मे जो कुछ भी जोडता है वह अपने मूल की दृष्टि से यूनानी या ईरानी, बल्कि सही-सही कहा जाये तो बाख्त्रीय है, भारतीय नहीं। "बौद्ध धर्म के साथ आया भारतीय प्रभाव इस स्मारक पर अभी नहीं पडा है," श्लुम्बेर्जे ने लिखा था। लेकिन सुर्ख़-कोटला के दुर्ग के पास बौद्ध स्मारक भी मिला है, जिसमें दूसरा चरण – उत्तरी बाख्त्री मे भारतीय प्रभाव का चरण – प्रतिबिम्बित हुआ है। ये दो धाराए – स्थानीय अबौद्ध बाख्त्रीय कला तथा गांधार की भारतीय-बौद्ध कुषाण कला – एक दूसरे को प्रभावित करती रही और श्लुम्बेर्जे के शब्दो मे बाख्त्री मे जुड़वा बहनें थीं।

उज़्बेकिस्तान के दक्षिण में **दल्वेर्ज़िन तेपे** मे उत्खनन मे सोवियत पुराविदों को कुषाण काल मे बाख्त्रीय कला के विकास तथा उस पर भारतीय संस्कृति के प्रभाव के बारे में रोचक सामग्री मिली है। इस उत्खनन कार्य की सचालक प्रो० पुगाचेन्कोवा के मत मे दल्वेर्ज़िन तेपे में ही यूह-ची शासकों की आरंभिक राजधानी थी (लिखित स्रोतों के अनुसार यह आमू दरिया मे उत्तर की ओर स्थित थी)। खुदाई से यह

पता चलता है कि तीसरी-दूसरी सदी ई० पू० में ही यहां एक यूनानी-बाख्त्रीय नगर बस चुका था, पहली सदी ई० पू०—पहली सदी ई० में जिसका महत्त्व विशेषतः बढ़ गया और तीव्र विकास हुआ। पुराविदों को यहां काफ़ी विशाल आकार के समुच्चय मिले हैं धनिकों और शिल्पियों के मोहल्ले, रिहायशी मकान और प्रशासकीय भवन, मंदिर और दूसरे भवन। कद्फ़िस द्वितीय और कनिष्क के शासनकाल में नगर की सबसे अधिक उन्नति हुई। दल्वेर्ज़िन तेपे के परकोटे से थोड़ी दूर ११×१० मीटर आकार का बौद्ध मंदिर मिला है। यहां एक स्तूप के अवशेष भी हैं, जो बहुसंख्य मूर्तियों से सुसज्जित था। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा करने का विशेष गलियारा था। पुराविद मंदिर में दो प्रमुख भवन इंगित करते हैं—गर्भगृह और सभामंडप। प्रत्यक्षतः, यह बौद्ध मंदिर ईसवी संवत् के आरम्भ में बनाया गया था। यहां पर मिले कद्फ़िस प्रथम और कद्फ़िस द्वितीय के सिक्के इस बात के साक्षी हैं। वैज्ञानिक जानते हैं कि बाख्त्री में बौद्ध धर्म का चरमोत्कर्ष ईसवी संवत् की पहली सदियों में महान कुषाणों के काल में ही हुआ। गर्भगृह का आकार छोटा सा ही था—५.५×१.८ मीटर, लेकिन इसमें बुद्ध और देवताओं की मूर्तियां थीं। देवता मानो केंद्र में खड़े बुद्ध को घेरे हुए थे। सभामंडप की सज्जा भी भव्य थी—यहां की मूर्ति रचना में बुद्ध की आकृति, भिक्षुओं की आकृतियां, अभिजातों (प्रत्यक्षतः, शासक कुल के सदस्यों), उनकी पत्नियों और सामंतों की आकृतियां थीं। संभवतः बुद्ध की शिक्षा में स्थानीय शासक और उसके दरबार की निष्ठा दर्शाने के लिए ही ऐसी सज्जा की गई थी। बौद्ध मंदिर की मूर्तियां दीवार से सटी हुई थीं (पीठ की ओर से इन्हें सफ़ाई से नहीं गढ़ा गया था)। मूर्तियां मृदा और जिप्सम की बनी थीं। इन पर लाल, सफ़ेद, आसमानी रंगों के अवशेष मिले हैं। मूर्तियां शैली की दृष्टि से भारतीय-बौद्ध परम्परा में ही बनायी गयी हैं, यद्यपि स्थानीय बाख्त्रीय मूर्तिकला का प्रभाव भी प्रबल है। हलचयन और दल्वेर्ज़िन तेपे की मूर्तियों की तुलना से रोचक परिणाम निकलते हैं। हलचयन की आकृतियां छविचित्रात्मक तथा अधिक यथार्थ-परक हैं, उन पर बौद्ध परम्पराओं का प्रभाव अभी नहीं पड़ा है। दल्वेर्ज़िन तेपे की मूर्तियां बाद के काल की हैं और स्थानीय बाख्त्रीय कला का, जो इस चरण में यूनान-प्रभावित और भारतीय-बौद्ध परम्पराओं से संबद्ध हो चुकी थी, विकास प्रतिबिम्बित करती हैं। दल्वेर्ज़िन तेपे की बौद्ध मूर्तियां ही नहीं, बल्कि लौकिक मूर्तियां भी ध्यान देने योग्य हैं। बुद्ध, बोधिसत्व और श्रमणों की आकृतियां जहां गांधार बौद्ध मूर्तियों से मिलते-जुलते रूढ़िबद्ध ढंग से बनाई गई हैं, वहीं लौकिक मूर्तियां स्थानीय कला परम्परा के अनुसार बनायी गयी हैं। हलचयन की मूर्तियों की ही भांति दल्वेर्ज़िन तेपे की लौकिक मूर्तियां भी छविचित्रात्मक हैं, लेकिन ये इतनी यथार्थपरक नहीं हैं, अधिक सामान्यीकृत हैं और आकृतियों के आदर्शीकरण की शुरू-आत की सूचक हैं। पुगाचेन्कोवा का अनुमान है कि गौण बौद्ध पात्रों के चित्रण में विशिष्ट प्रतिमा-लक्षणों का अनुसरण बाख्त्री में ही ईसवी संवत् की पहली सदियों

मे किया जाने लगा तथा इसका उत्तर-पश्चिमी भारत में बौद्ध परम्पराओं पर प्रभाव पड़ा।

महान कुषाणों के काल मे छविचित्रात्मक मूर्तियो के बनाने की दल्वेर्ज़िन तेपे विधि का और आगे विकास हुआ, जोकि मथुरा की कला मे सर्वाधिक ज्वलंत रूप मे प्रतिबिम्बित हुआ। दल्वेर्ज़िन तेपे का मूर्तिशिल्प मूर्ति निर्माण में मृदा (हलचयन) मे जिप्सम की ओर सक्रमण को प्रतिबिम्बित करता है।

भारतीय-बौद्ध और स्थानीय बाख्त्रीय परम्पराओ का संगम युवा उपासकों के छविचित्रो मे मूर्तित हुआ है – इनके चेहरे स्थानीय शैली मे बनाये गये हैं, जबकि कुंडलदार केश स्पष्टत बौद्ध शैली मे। सभामडप की मूर्तियो मे राजकुमार का सिर अत्यत रोचक है – यह कुषाण लौकिक मूर्तिकला की परम्पराओं मे बना स्थानीय कला धारा का विलक्षण उदाहरण है। राजकुमार का शकुरूपी शिरोवस्त्र प्राय. कुषाण शासको के सिक्को पर देखा जाता है और मथुरा की मूर्तियो मे भी पाया जाता है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि शिरोवस्त्र का यह रूप मध्य एशिया मे बना, जबकि मथुरा की मूर्तियों मे यह मध्य एशियाई परम्पराओ का प्रतिबिम्ब ही है। स्थानीय सामंतो की मूर्तिया भी मौलिक है। इन मूर्तियो को देखकर पहली-दूसरी सदी ई० की बाख्त्रीय कला की विशिष्टता ही नही समझी जा सकती, बल्कि विभिन्न सामाजिक स्थिति वाले स्थानीय निवासियो के "जीते-जागते छविचित्र" भी देखे जा सकते हैं। यहा के प्राचीन निवासियो की वेश-भूषा के लिए लाक्षणिक विशेष सलवार-कमीज़ मथुरा के स्मारको मे भी ज्ञात है, और यह भी भारत की कुषाण संस्कृति पर बाख्त्रीय प्रभाव का साक्षी है।

स्थानीय शासको के समर्थन के बावजूद बौद्ध धर्म को निरतर स्थानीय धर्मों और विश्वासो मे स्पर्धा करनी पड़ती थी। दल्वेर्ज़िन तेपे का बौद्ध मदिर भी इसका शिकार हुआ प्रत्यक्षत, तीसरी सदी मे या चौथी सदी के आरभ में ज़रथुष्ट्र धर्म के अनुयायियो ने इसे नष्ट कर दिया, बुद्ध और श्रमणो की मूर्तियां तोड दी।

दल्वेर्ज़िन तेपे के उत्खनन मे और भी बहुत सी वस्तुए मिली, जिनके स्पष्ट भारतीय समरूप ज्ञात है या जो भारत मे लाई गई थी। हाथीदात का एक कघा भारत मे ही दल्वेर्ज़िन तेपे पहुचा था। इसके एक ओर कुलीन महिला और उसकी दासी तथा दूसरी ओर हाथी पर जा रहे दपति व उन्हे रास्ता दिखा रही युवती चित्रित हैं। हाथीदात के शतरंज के मोहरे (ककुदमान वृषभ और हाथी), सोने के कगन, जिनके समरूप तक्षशिला के प्रथम शती ई० के सस्तर मे मिले हैं और पासा – यह सब भी भारत मे ही यहां आया। शतरंज (चतुरग) के मोहरों की खोज से यह पता चलता है कि मध्य एशिया के निवासी इस भारतीय खेल मे बहुत पहले ही परिचित हो गये थे। ककुदमान वृषभ को शतरंज का मोहरा मानना भारत की बहुत प्राचीन परम्परा मे जुड़ा हुआ है। एक ईंट पर मोहर का ठप्पा भी

कोस्मस इंदिकोप्लेउस्तम के 'ख्रीस्तीय देशवर्णन में
एक भारतवासी का चित्र
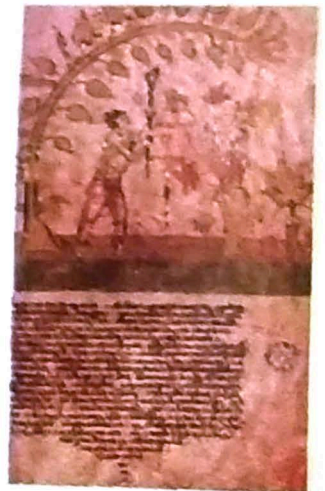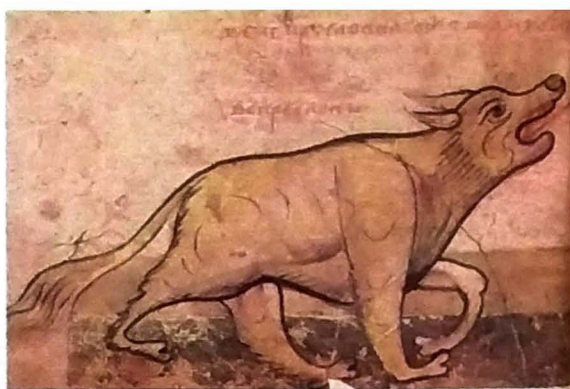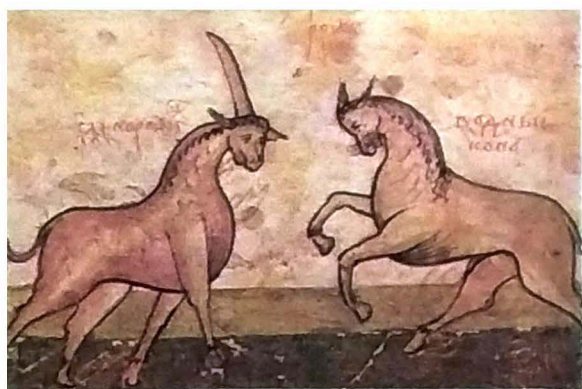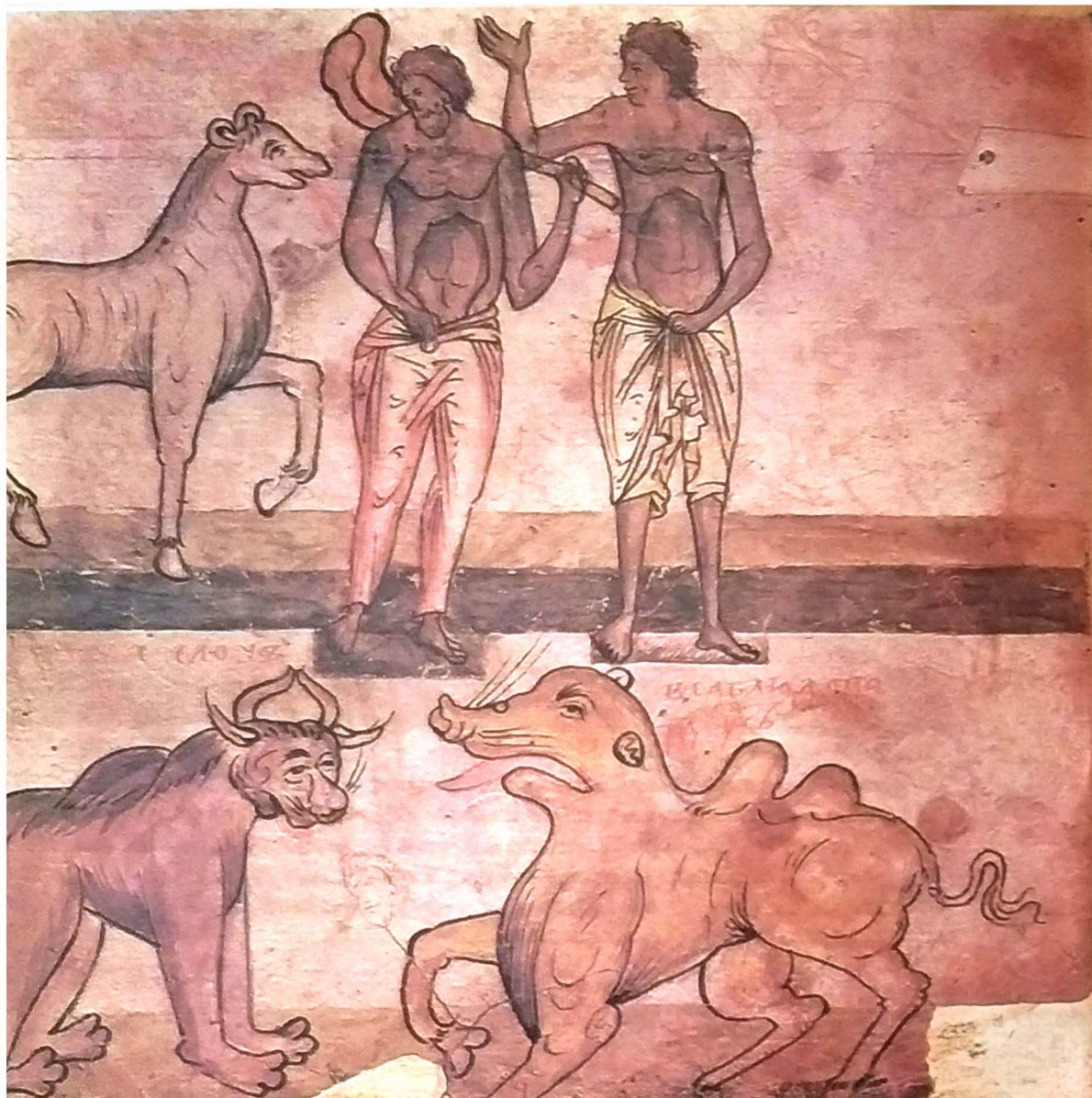
कोस्मस इंदिकोप्लेउस्तस के 'खीस्तीय देशवर्णन' की हस्तलिखित प्रति (१६वीं शती) में चित्रित काल्पनिक जीव

मूर्तिशिल्प। हलचयन →

हेराइच का शीर्ष। हलचयन

योद्धा का शीर्ष। हलचयन
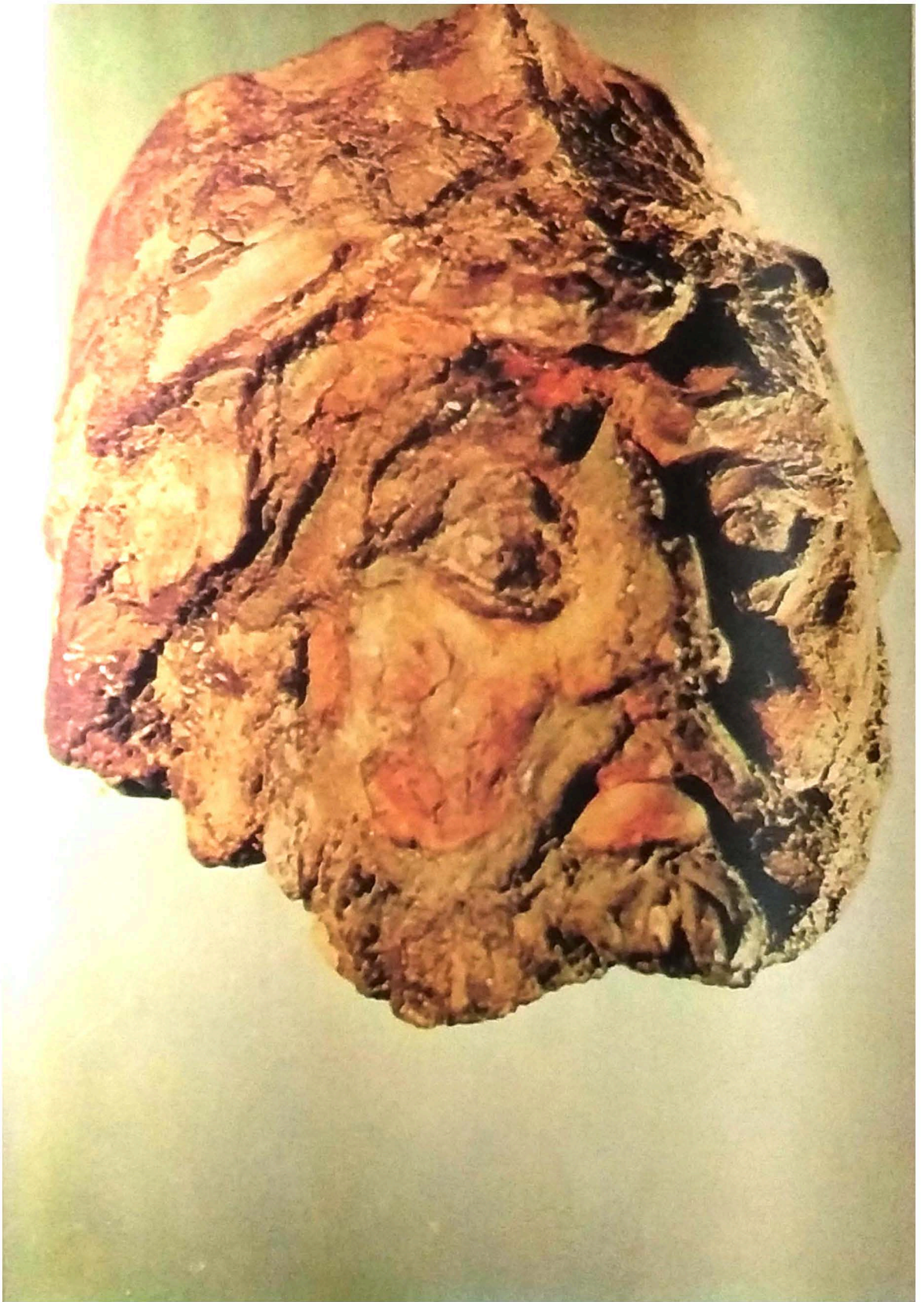
मूर्तिशिल्प। हलचयन

योद्धा की मूर्ति। हलचयन

ल्यूटवादिका । हलचयन

योद्धा का शीर्ष । हलचयन

एक बाल्त्रीय देवी का शीर्ष। प्रथम शती। दल्वेर्ज़िन तेपे

हाथीदांत की कंघी। दूसरी-तीसरी शती। दल्वेर्ज़िन तेपे

सामंत की मूर्ति। दल्वेर्ज़िन तेपे

उपासक का शीर्ष। प्रथम शती। दल्वेर्जिन तेपे

उपासक का शीर्ष। प्रथम शती। दल्वेर्जिन तेपे
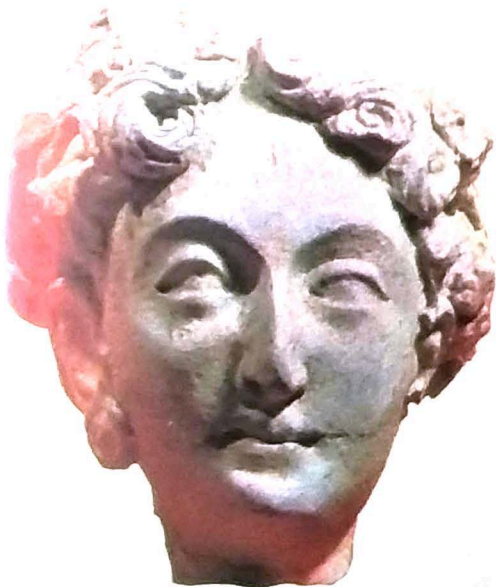
एक देवता का शीर्ष। प्रथम शती। दल्वेर्जिन तेपे
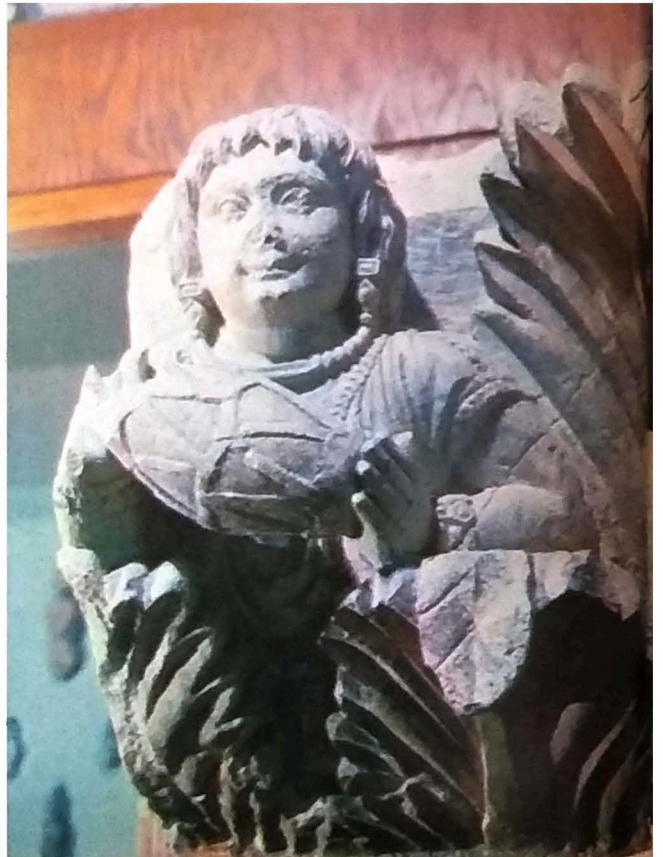
एक योद्धा की मृण्मूर्ति का शीर्ष। ख्वारज़्म

ल्यूटवादिका। "वादिकाएं" चित्र वल्लरी का एक अंश। ऐर्ताम

स्तूप अभिरेखण। कारा तेपे कमल
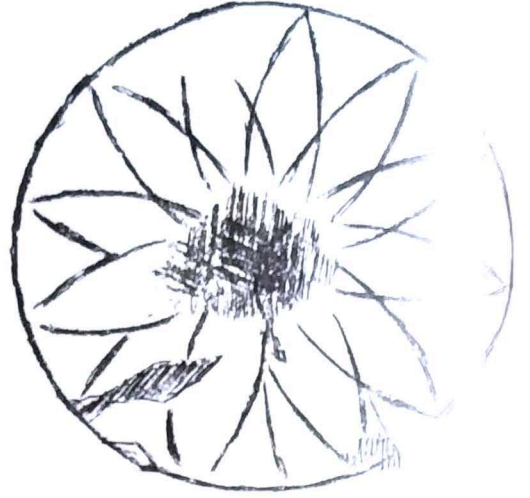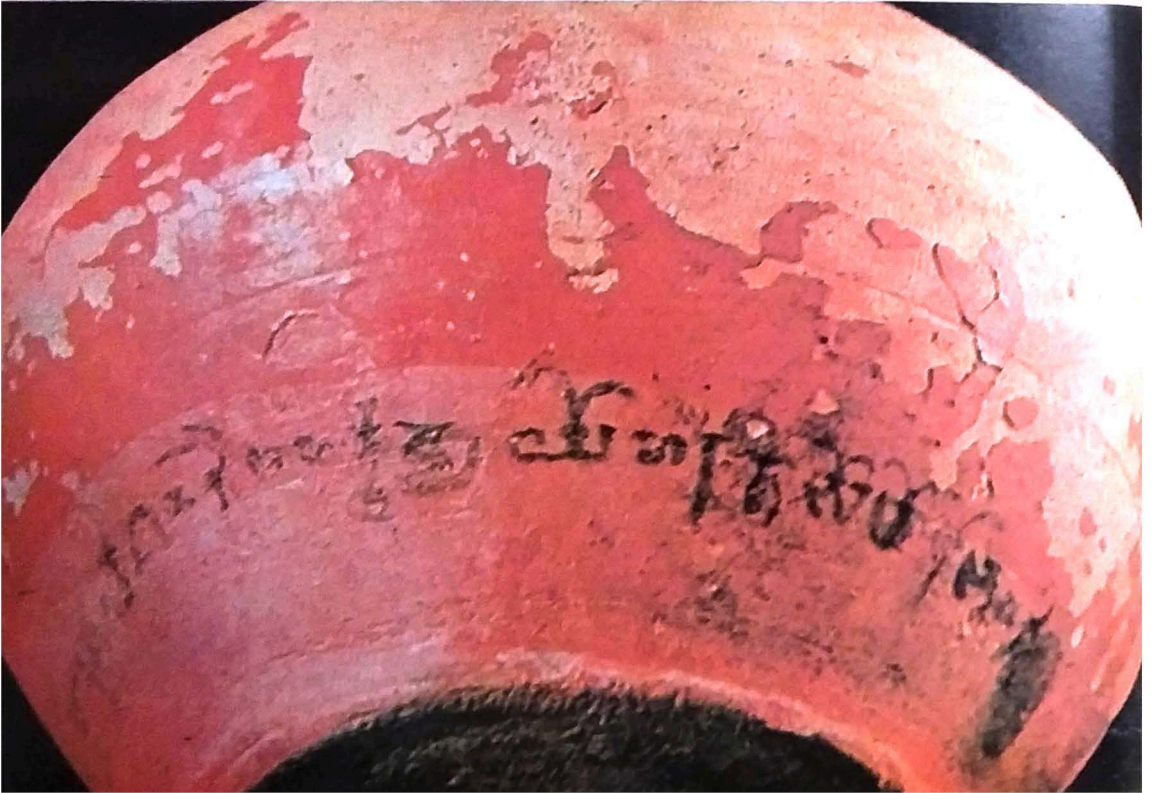
मृण्भांड पर ब्राह्मी लेख। कारा तेपे
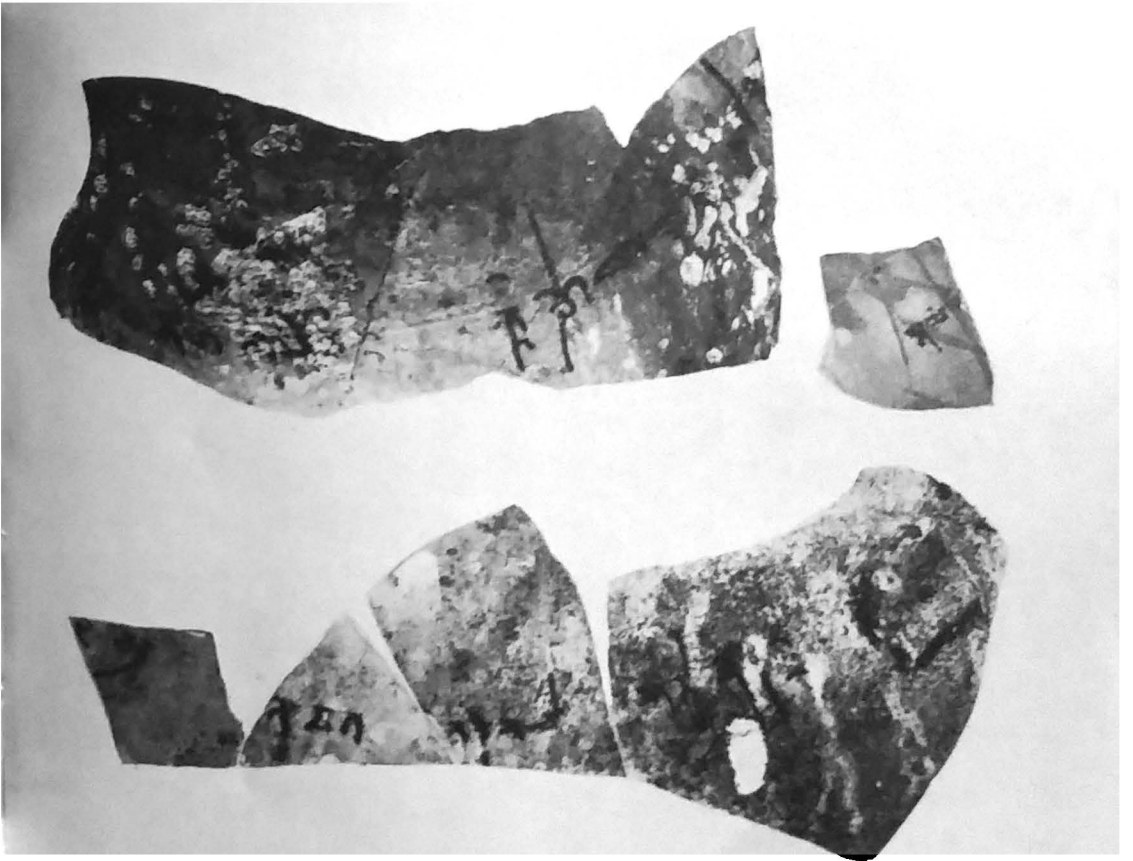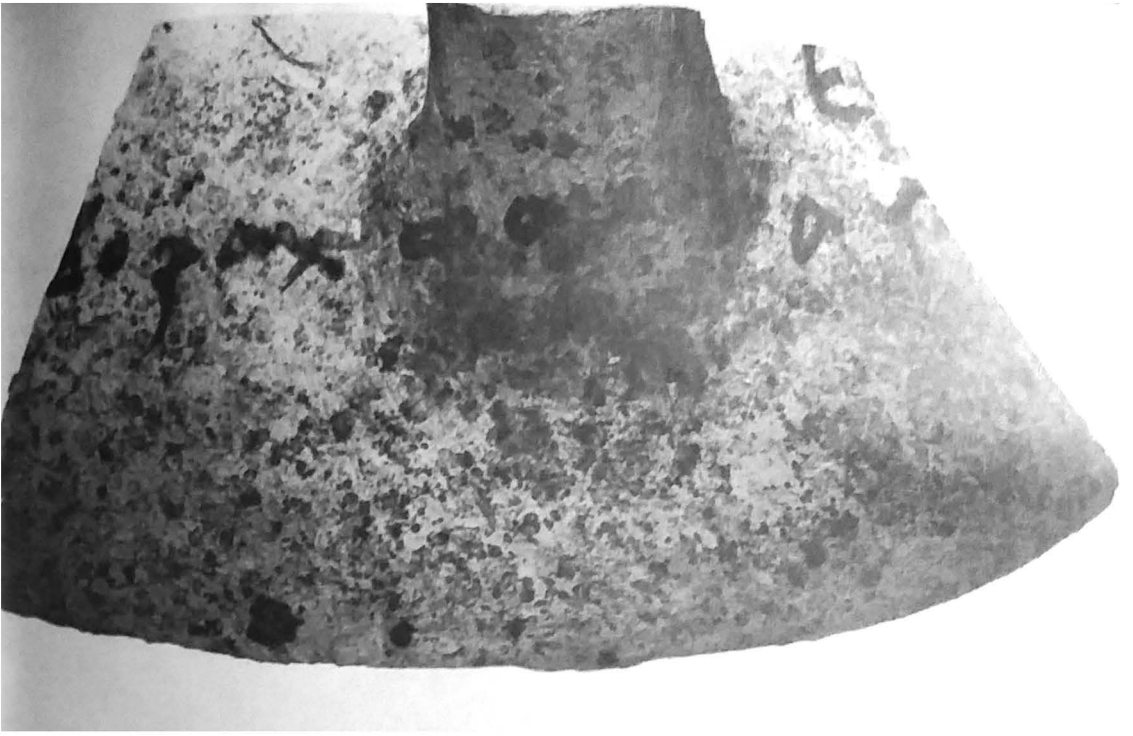
मृण्मांड पर कुषाणकालीन ब्राह्मी लेख। कागा नेर
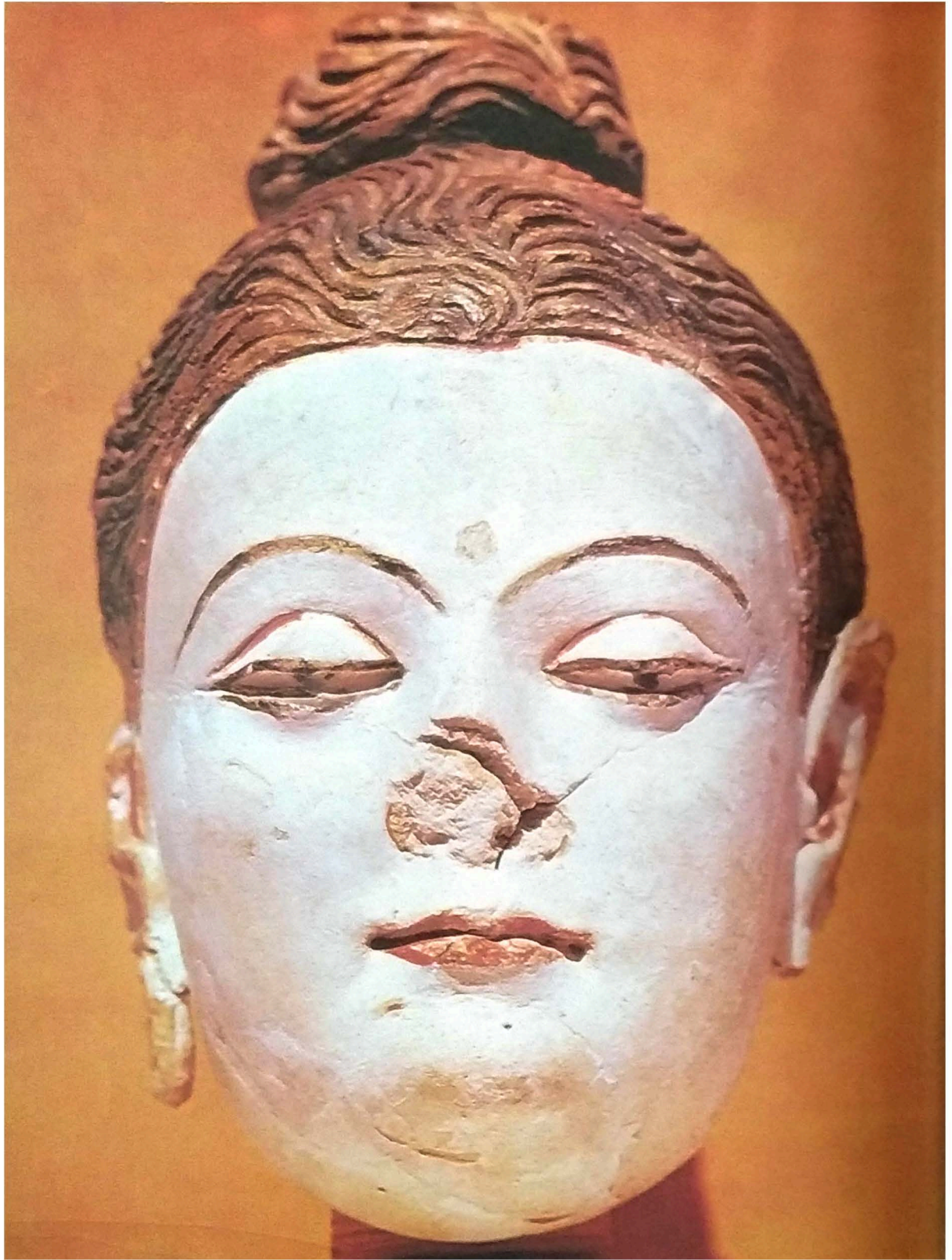
बुद्ध-शीर्ष। पहली-दूसरी शती। फ़याज़ तेपे
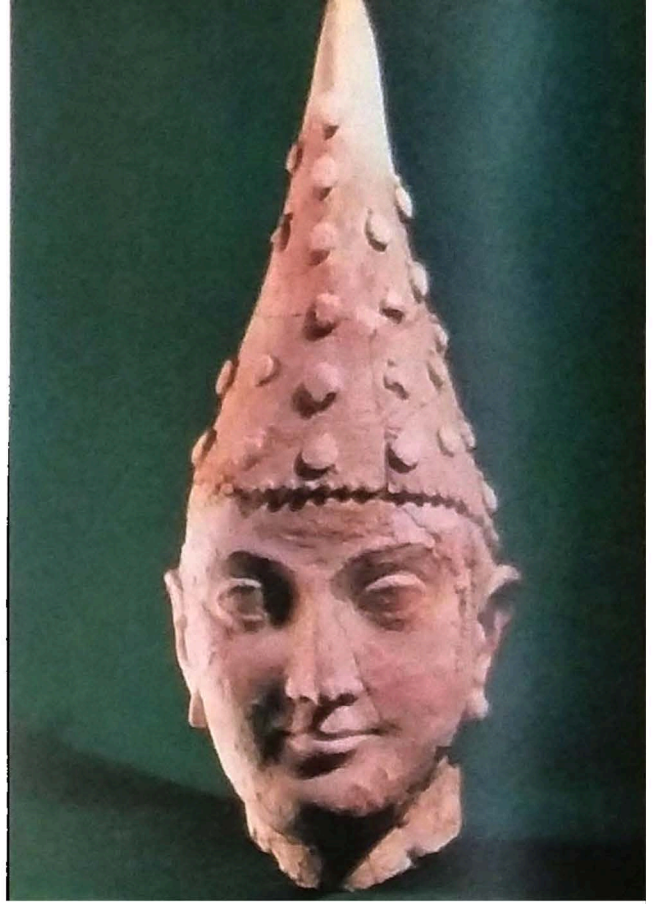
राजकुमार का शीर्ष। प्रथम शती।

दल्वेर्ज़िन तेपे
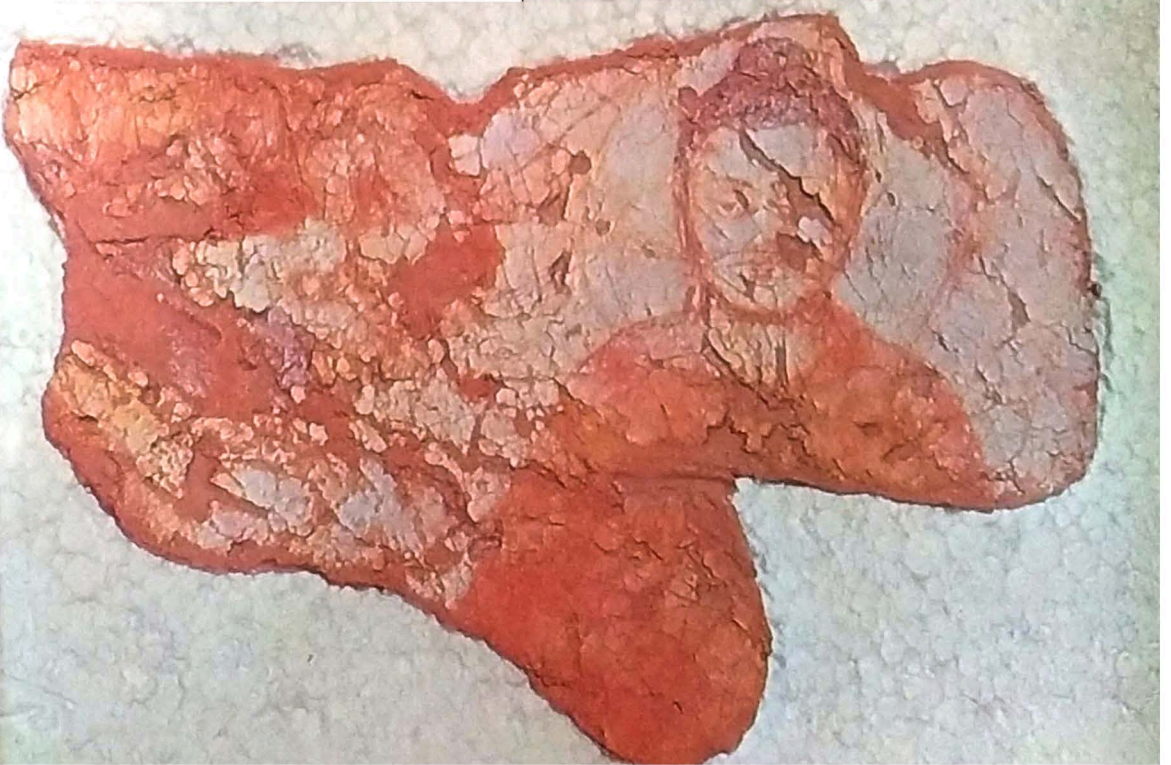
बुद्ध की आकृति युक्त मित्तिचित्र का एक अंश। फ़याज़ तेपे

भेटवाहक। भित्तिचित्र। अजीना तेपे

श्रमण का शीर्ष। अजीना तेपे

बुद्ध-शीर्ष। अजीना तेपे
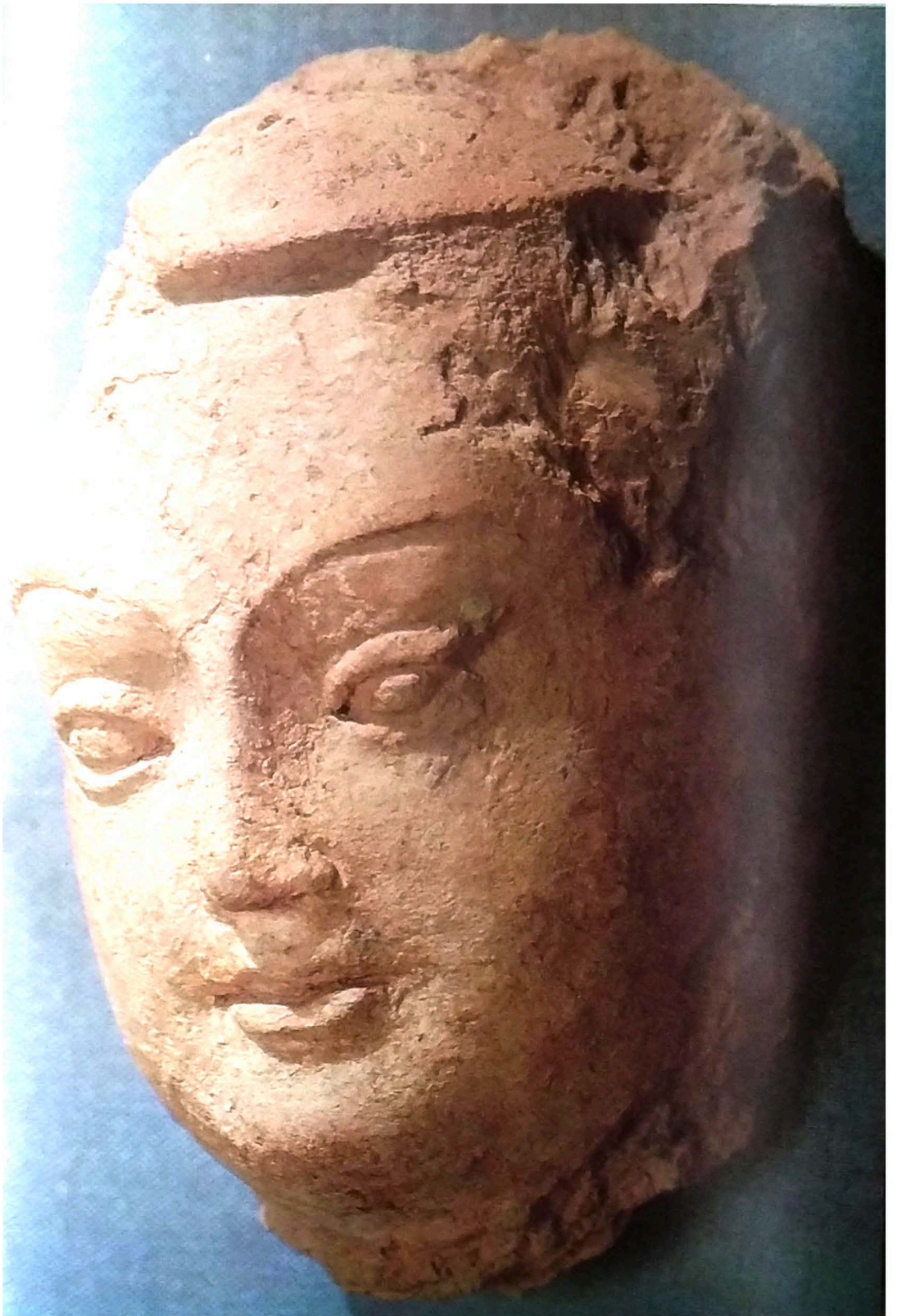
नारी-शीर्ष। अजीना तेपे

देव-शीर्ष। अजीना तेपे
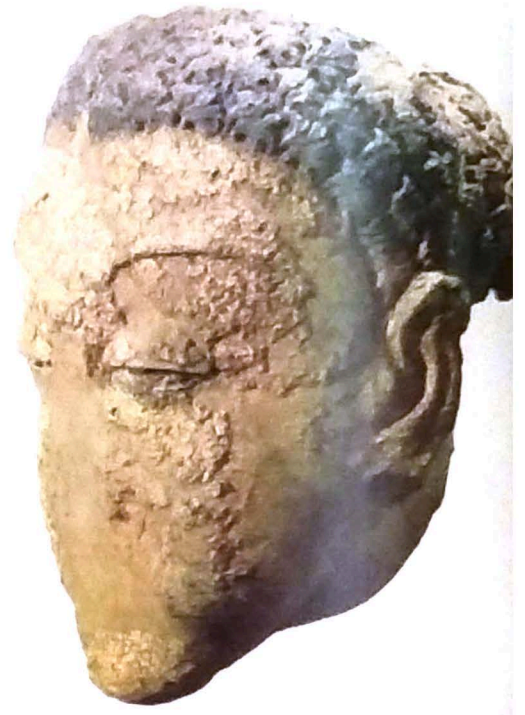
देव-शीर्ष। अजीना तेपे

बुद्ध-शीर्ष (?)। अजीना तेपे

नारी-शीर्ष। अजीना तेपे

चौपड का खेल। भित्तिचित्र। पजीकद

काष्ठमूर्ति। पंजीकंद

नर्तकी। काष्ठमूर्ति। पंजीकंद

भित्तिचित्र। पंजीकंद

सपक्ष सिंह। भित्तिचित्र। वरख़्शा

व्याघ्र। भित्तिचित्र। वरल्श

दूतमंडल। एक भित्तिचित्र का अंश। अफ़्रासिआब

भित्तिचित्रों के अंश। अफ़ासिआब
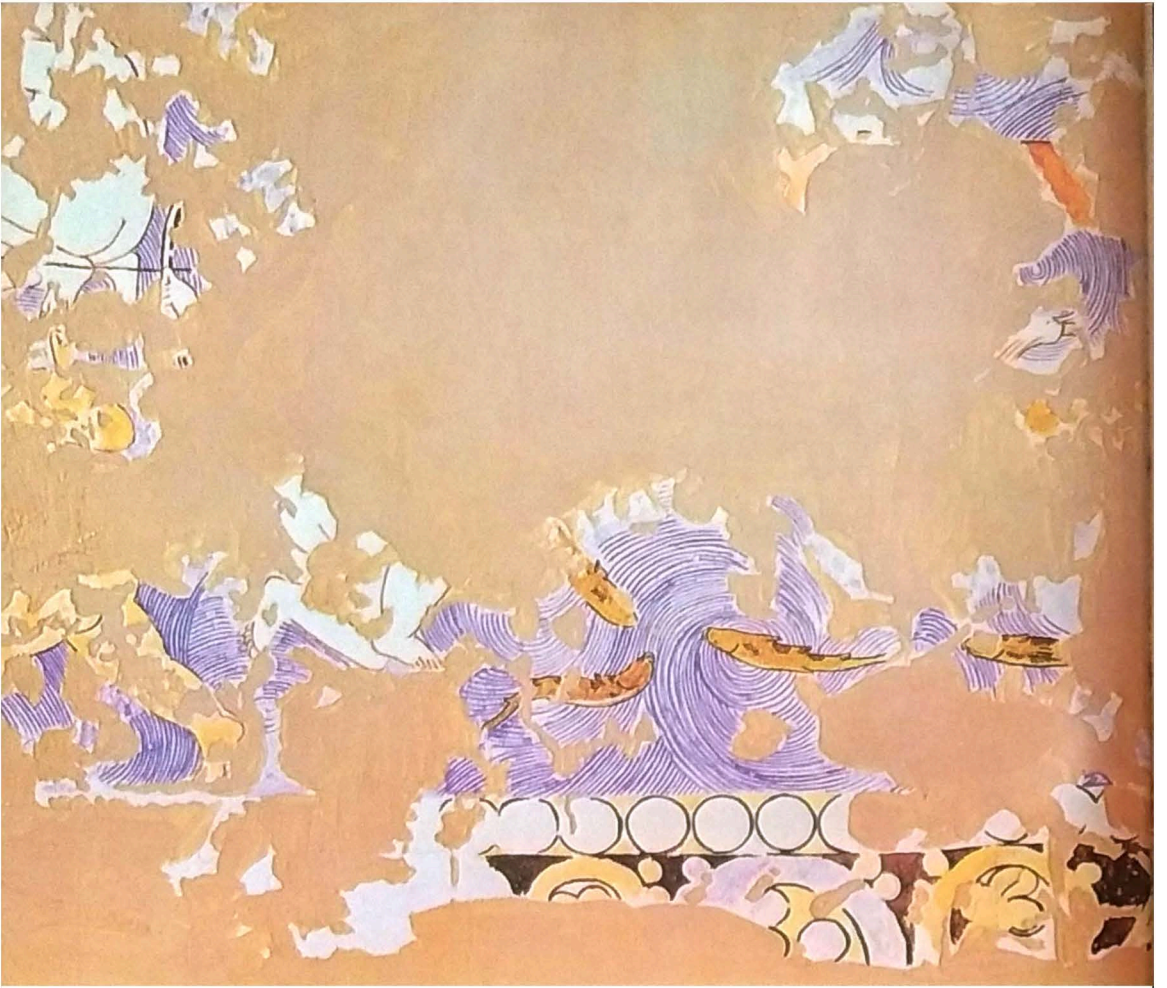
सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान की
लेनिनग्राद शाखा के संग्रह में स्थित भारतीय मिनियेचर चित्र। →
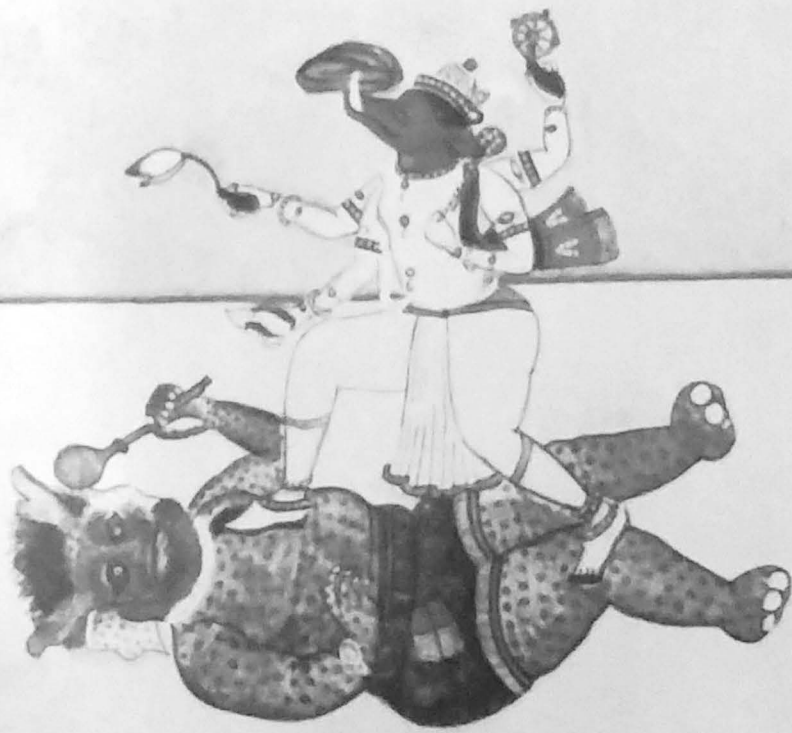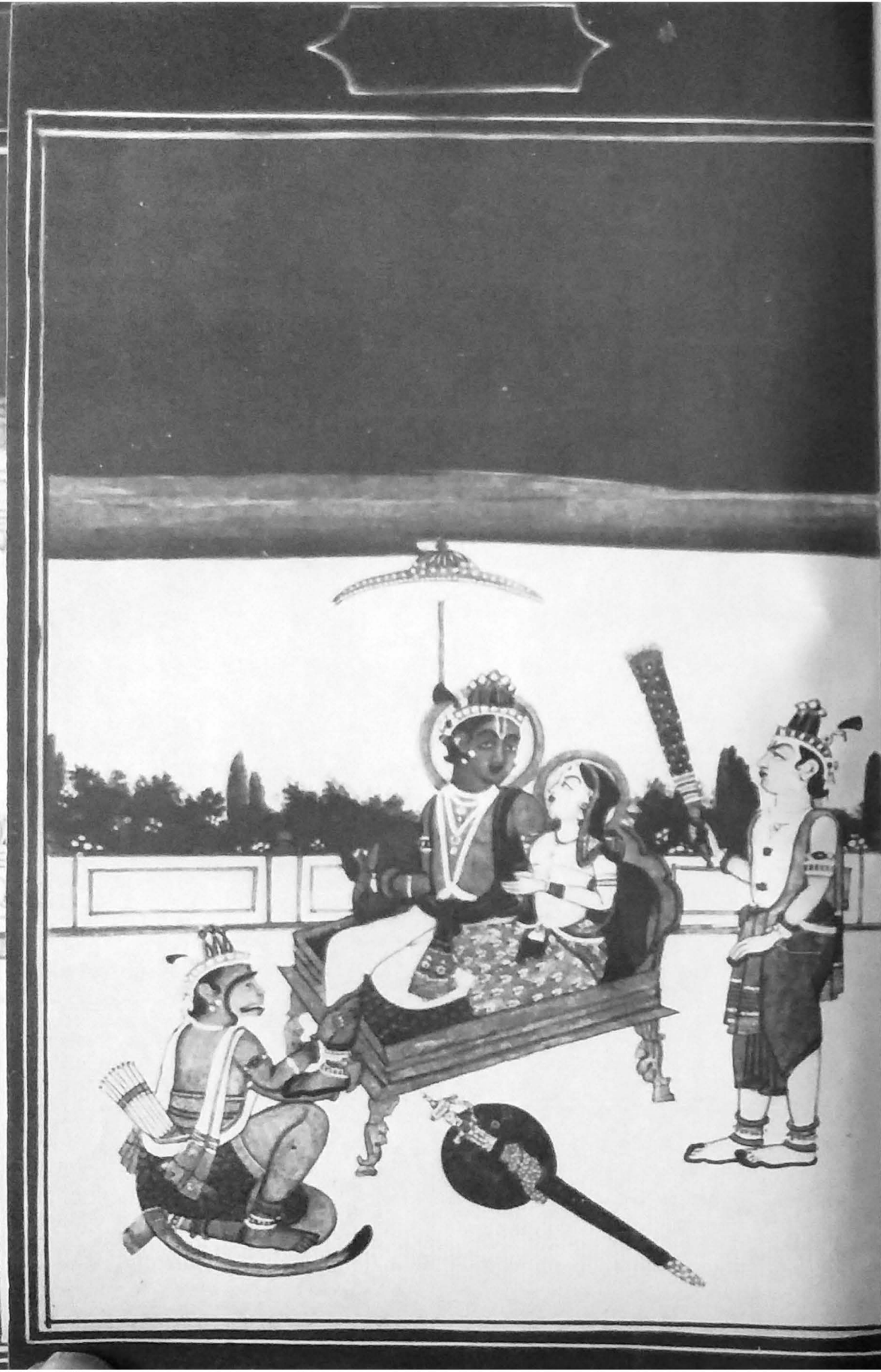
उल्लेखनीय है इसमे पद्मासन मुद्रा मे बैठे हुए बुद्ध चित्रित है। प्रत्यक्षत यह मोहर बुद्ध के अनुयायी किसी स्थानीय कारीगर की थी।

दल्वेर्ज़िन तेपे की सबसे महत्त्वपूर्ण खोज है – प्रथम शती ई० के उत्तरार्द्ध की सोने की वस्तुए। एक कलश मे विभिन्न स्वर्ण आभूषण (हसली, कर्णफूल, आदि) थे, जिनके समरूप गाधार कला मे मिलते है। लेकिन सबसे मूल्यवान वस्तु थी खरोष्ठी लिपि के अभिलेखो वाली स्वर्ण इष्टिकाए। कुल ११ अभिलेखो की खोज हुई है – दस स्वर्ण इष्टिकाओ पर और एक स्वर्ण पत्र पर। ये अभिलेख गांधार प्राकृत मे हैं, जो कुषाण साम्राज्य मे शामिल भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो मे प्रचलित थी। ये अभिलेख अपने अनर्थ की दृष्टि से ज़्यादातर दूसरे अभिलेखो से भिन्न हैं, जो मुख्यत समर्पणात्मक होते हैं। इन अभिलेखो मे इष्टिका का भार, इसके स्वामी का नाम और कभी-कभी उस व्यक्ति का भी नाम दिया गया है, जिससे सोना मिला। नामो में मित्र ("मित्रेण दिते") और कल्याण ("कल्याणस्य") नाम है, श्रमणो का भी उल्लेख है, जिनके पास प्रत्यक्षत आरम्भ मे यह स्वर्ण था। हो सकता है, ये स्वर्ण इष्टिकाए बुद्ध की मूर्तिया बनाने तथा पूजा वस्तुओं की सज्जा के लिए रही हो।

यो तो दल्वेर्ज़िन तेपे के अभिलेखो मे बहुत सक्षिप्त जानकारी मिलती है, तथापि इनका महत्त्व बहुत अधिक है – इनमे न केवल प्राचीन बाख्त्री के भारत के साथ सबधो के बारे मे अतिरिक्त सूचना मिलती है, बल्कि मध्य एशिया मे बौद्ध सघो के जीवन के बारे मे भी। कुल जमा, दल्वेर्ज़िन तेपे की खोजो के फलस्वरूप कुषाण युग मे बाख्त्रीय सस्कृति के बारे मे नई और मूल्यवान सामग्री मिली है, ऐसी सामग्री, जो मध्य एशिया के भारत के साथ सबधो के स्वरूप को, सांस्कृतिक उपलब्धियो के आदान-प्रदान के रास्तो और रूपो को उजागर करती है। इस मौलिक कला का आधार बने स्थानीय बाख्त्रीय, यूनान-प्रभावित और भारतीय घटको के जटिल सश्लेषण का अध्ययन अपार वैज्ञानिक रुचि का प्रश्न है।

कुषाण काल की बाख्त्रीय कला की तथा स्थानीय, यूनान-प्रभावित और भारतीय परम्पराओ की अन्योन्यक्रिया की समस्या के प्रसग में पहली-दूसरी सदी ई० के **ऐर्ताम** चैत्य की मूर्ति-वल्लरी विशेषत रोचक है। ऐर्ताम मे बस्ती यूनानी-बाख्त्रीय काल में ही बस गई थी, लेकिन कुषाण युग मे ही इसे विशेष महत्त्व मिला, जब यहा बौद्धो का आवास हुआ और बौद्ध स्मारक बने। यहा मिले सिक्को से यह पता चलता है कि कनिष्क के राज मे यहा मदिर बनाये गये और बौद्ध विहार की स्थापना हुई। बौद्ध मूर्तियो के अश, जिनमें बुद्ध की मूर्ति के अश भी है, इस बात के साक्षी हैं कि कभी यहा बडा धार्मिक केंद्र था। ऐर्ताम की विख्यात वल्लरी एक मूर्ति समुच्चय का अश थी, जो मदिर के प्रवेशद्वार को सुशोभित करता था। वल्लरी सफेद चूना-पत्थर के ४० सेटीमीटर तक ऊचे ब्लाको से बनायी गयी थी। इस पर आकृतिया उच्च उद्भृत हैं। ऐकेंथस की बडी-बडी पत्तियो के बीच मानव आकृतिया स्थित हैं।

ये एक तरह से गोलाकार मूर्तियां हैं जो गांधार कला के लिए लाक्षणिक तकनीक है। लेकिन ऐर्ताम आकृतियों की शैली और परम्पराएं काफ़ी मौलिक हैं और स्थानीय कला से संबंधित हैं। वल्लरी पर १४ आकृतियां थीं। इनमें पांच वादिकाएं – हार्प, ल्यूट, दोहरी बांसुरी, मंजीरा और ढोलक बजाती वादिकाएं – हैं, दो मालाधारी, एक के हाथों में पात्र है, दूसरो का रूप निर्धारित करना कठिन है (ये आकृतियां पूरी नही बची है)।

हार्प, ल्यूट वादिकाओ और ढोलक बजाती युवती की आकृतियां विशेषत: अभिव्यंजनात्मक हैं। विद्वान ऐर्ताम वल्लरी की रचना की व्याख्या के बारे में एकमत नही हैं। अकादमीशियन ओल्देनबुर्ग का मत था कि वादिकाओं का चित्रण "पंचमहा-शब्द" का प्रतीक है। कतिपय समसामयिक पुराविद (उदाहरणत: पुगाचे-न्कोवा) ऐर्ताम वल्लरी की व्याख्या 'महापरिनिर्वाणसूत्र' (बुद्ध के निर्वाण की कथा) के प्रतिबिम्ब के रूप में करते हैं। ऐर्ताम वल्लरी में भारतीय कला परम्पराओं (सर्वप्रथम, मथुरा) का प्रभाव महसूस होता है, हालांकि कुल जमा यह बाख़्त्रीय कला की स्थानीय परम्परा के आधार पर ही, जिसके लिए लौकिक दिशा लाक्षणिक है, बनाई गई थी।

यद्यपि वल्लरी पर चेहरे सामान्यीकृत ढंग से, किन्हीं विशेष व्यक्तिगत लक्षणों के बिना, एक तरह से आदर्शीकृत बिम्बों की भारतीय-बौद्ध परम्परा में बनाये गये हैं, तथापि इस स्मारक का लोक आधार स्पष्टत: दृष्टिगोचर होता है। हो सकता है कि स्थानीय शिल्पियों ने बौद्ध कला के नियमों का और केवल उनका पालन न किया हो, जितना कि बाख़्त्रीय शोभा-यात्राओं की शैली और स्वरूप को व्यक्त किया हो। भारतीय-बौद्ध और बाख़्त्रीय लक्षणों का सृजनात्मक संगम वल्लरी के पात्रों के वस्त्रों और आभूषणों के चित्रण में भी प्रकट हुआ है – हार्प वादिका के आभूषण और वस्त्र मानो गांधार परम्परा को व्यक्त करते हैं (पुष्पों, चषकों, मालाओं का चित्रण भी बौद्ध शैली में हुआ है), लेकिन हार्प का विशेष (तिकोना) रूप और हार्प वादिका का शिरोवस्त्र मध्य एशियाई कलाकृतियों का विशेष लक्षण हैं।

१९७९ में ऐर्ताम के बौद्ध स्मारकों की खुदाई के दौरान वहां एक और बड़ा मूर्ति-खंड पाया गया, जिसके पादपीठ के ऊपरी भाग पर छह पंक्तियों का एक बाख़्त्रीय अभिलेख खुदा हुआ था। इसके कोई २६० अक्षर अवशिष्ट रहे हैं। मध्य एशिया से प्राप्त यह पहला बड़ा बाख़्त्रीय अभिलेख है और यह अभिलेख इसलिए विशेषत: महत्त्वपूर्ण है कि इसमें तिथि कुषाण सम्राट् हुविष्क के शासन-काल में दी गयी है (उल्लेखनीय है कि भारत से प्राप्त जिन भी कुषाण अभिलेखों में हुविष्क का नाम आया है, उनमें तिथि कनिष्क संवत् के अनुसार दी गयी है) और इस तरह वह अपने प्रकार का एकमात्र अभिलेख है। संभव है कि उत्तरी बाख़्त्री में ऐसी ही परंपरा रही हो। अभिलेख में उसके उत्कीर्णक का नाम भी मिलता है: "मित्रजात"।
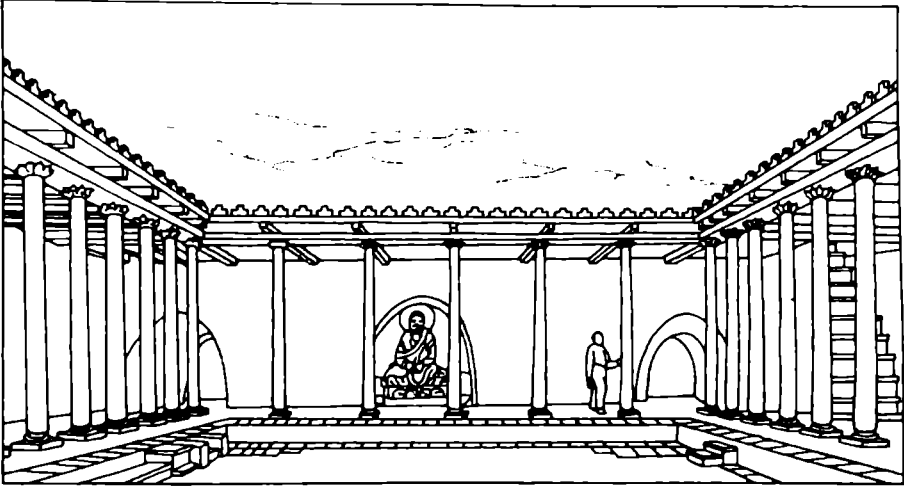
बौद्ध विहार का भीतरी प्रांगण। कारा तेपे
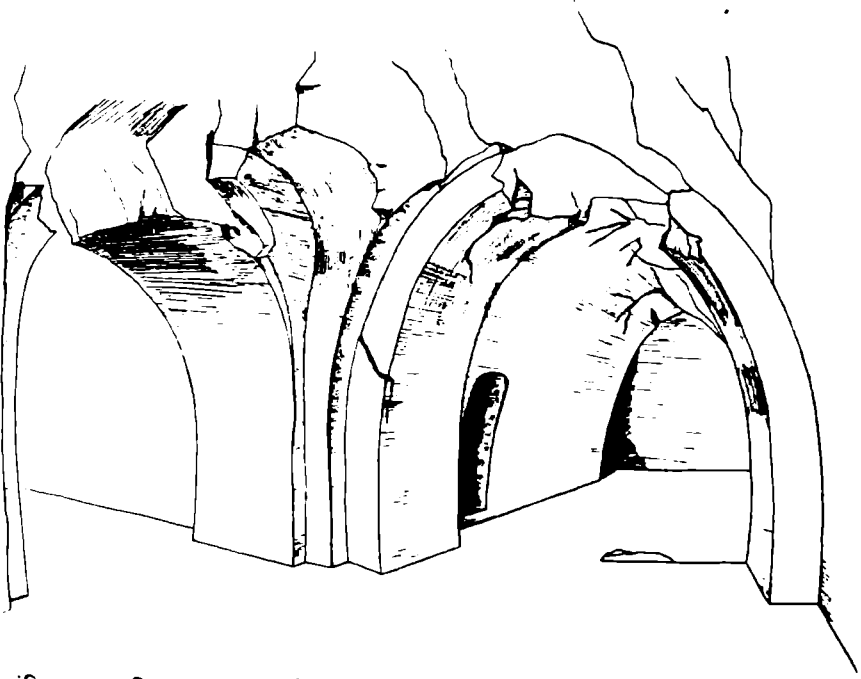
बौद्ध गुफा-मंदिर का गलियारा। कारा तेपे

प्रो० व० लीव्शित्स (लेनिनग्राद) और ए० रतवेलाद्ज़े (ताशकंद) ने इस लेख का पाठ-वाचन और प्रकाशन किया है।

भारतीय-बौद्ध परम्पराओ के प्रबल प्रभाव से संबंधित अगला चरण **कारा तेपे** की खुदाई की सामग्रियो मे अच्छी तरह देखा जा सकता है। (कारा तेपे में उत्खनन कार्य प्रो० स्तवीस्की के सचालन मे हुआ।)

आधुनिक नगर तेर्मेज़ से कुछ दूर कारा तेपे मे पुराविदो द्वारा उत्खनित बौद्ध विहार मध्य एशिया मे भारत मे आये बौद्ध धर्म के प्रचार का ज्वलत प्रमाण है (सिक्को की खोजो से पता चलता है कि तेर्मेज़ का अस्तित्व तीसरी-दूसरी सदी ई० पू० मे भी था, लेकिन कुषाण काल मे ही उसका विशेष विकास हुआ। इस गुफा विहार की वास्तुकला (फिलहाल यह मध्य एशिया मे मिला एकमात्र बौद्ध गुफा समुच्चय है), यहां मिली कुछ वस्तुए (कमल रूपी ढकने, छत्र, इत्यादि) तथा भाडों पर और दीवारो पर अभिलेख व स्तूप का विचार भी – यह सब भारतीय परम्पराओं के प्रत्यक्ष प्रभाव का साक्षी है। मध्य एशिया में गुफा समुच्चय प्रायः नही हैं, जबकि प्राचीन भारत की यह एक लाक्षणिकता है।

उत्खनन मे कुछेक गुफा-भवन मिले हैं, जिनका एक भाग छोटे-छोटे गुफा मंदिर हैं। इन मदिरों मे बद गर्भगृह हैं, जो परिक्रमा पथों से चारो ओर से घिरे हैं (इन गलियारो की लबाई १७ मीटर, चौडाई २.९ मीटर और ऊचाई ढाई मीटर तक है)। हर मदिर मे दो बाह्य द्वार थे, इनमें एक के पास भिक्षु, प्रत्यक्षतः, पुजारी भिक्षु की गुफा कोठरी थी। गुफा मदिर के प्रवेश के पास की दीवारो पर चित्रों के अवशेष बचे रहे है। इनमे ज्यामितीय आकृतिया और बौद्ध स्तूप के चित्र हैं। गुफा मदिर मे मिले प्रस्तर उद्भृत मूर्तियो के अशो से ये अनुमान लगाया जा सकता है कि ये गुफा मदिर प्रस्तर उद्भृत मूर्तियो और मूर्तियो से सजाये गये थे। प्रत्यक्षतः, अहातो मे भी गच की मूर्तिया थी, जिनके छोटे-छोटे टुकडे उत्खनन के दौरान मिले। मूर्तियो के जो बडे भाग मिले हैं, उनमे ज़्यादातर अदर से खोखले हैं। हाथो की उगलियो मे लकडी की डडियो मे बने छेद देखे जा सकते हैं, कुछ हिस्सों के अंदर कपडे की छाप बनी रही है। हो सकता है, कारा तेपे में उस तकनीक से मिलती-जुलती तकनीक रही हो, जो कुषाणोत्तर काल मे और आदि मध्य युग में पूर्वी तुर्किस्तान मे मृदा और गच की बौद्ध मूर्तियां बनाने मे प्रयुक्त होती थी। सुविदित है कि वहा मूर्तियां लकड़ी के ढाचे पर बनाई जाती थी, जिस पर घास के गट्ठर और कपडे के टुकडे बांधे जाते थे, और हाथ, पाव तथा कभी-कभार सिर भी डडियों पर लगाये जाते थे। मूर्तिया बनाने की इस तकनीक का पुराविदों को मध्य एशिया के कुछ दूसरे स्थानो मे भी पता चला है, उदाहरणतः, ख्वारज़्म और पार्थिया मे। कारा तेपे मे लकड़ी के ढाचे के बिना, मृदा पिड पर मूर्तिया बनाने की तकनीक का भी उपयोग होता था।

स्तभशीर्षों की उद्भृत मूर्तियो के अवशेष यह दिखाते है कि इनपर लोग, मकर, व्याघ्र या सिंह, एकेंथस की पत्तिया अकित होते थे, यानी कुछ ऐसे डिज़ाइन, जो गाधार कला मे भी प्रयुक्त हो सकते थे, लेकिन यहां मिले स्तभशीर्ष गाधार स्तंभ-शीर्षों से भिन्न हैं और कुषाण काल के वाख्त्रीय स्तभशीर्षों का समूह बनाते हैं।

उल्लेखनीय है कि स्पष्टतः बौद्ध समुच्चय मे भी स्थानीय वाख्त्रीय कला के लक्षण, स्थानीय सांस्कृतिक परम्पराए बनी रही।

साथ ही यहां यह भी देखा जा सकता है कि स्थानीय आबादी ने किस प्रकार बाह्य परम्पराओं को, जिनमें भारतीय परम्पराएं भी थीं, सृजनात्मक ढंग से आत्मसात किया। उदाहरणतः, इमारतों का विन्यास इस बात का प्रमाण है (परिक्रमा पथों का बनाया जाना स्थानीय स्थापत्य का अंग ही बन गया)। कारा तेपे विहार के भवनों का विशेष विन्यास (३-४ परिक्रमा गलियारों वाले चैत्य) देखते हुए इसे स्थानीय बौद्धों का बौद्ध स्थापत्य में योगदान माना जा सकता है। ऐसा विन्यास मध्य एशिया, ईरान और निकट पूर्व के पूजा स्थलों की लाक्षणिकता है, लेकिन आदि बौद्ध स्थापत्य के लिए परकीय है और कालांतर में आदि मध्य युग में ही बौद्ध वास्तुकला में देखने में आता है।

पुरालेखों की सामग्रियां भी भारतीय-बौद्ध परम्पराओं के आत्मसात्करण के प्रति सृजनात्मक रुख का प्रमाण है। बाख्त्री में बौद्ध धर्म के अनुयायी संस्कृत में बौद्ध पाठों का अनुवाद ही नहीं करते थे, बल्कि अपने ढंग से उनकी व्याख्या भी करते थे। भारतीय लिपियों के स्थानीय भेद यहां तैयार किये गये। एक द्विभाषीय अभिलेख की खोज उल्लेखनीय है – ब्राह्मी और कुषाण लिपियों में लिखे इस लेख में बुद्धशिर नाम के व्यक्ति की चर्चा है, जिसे धर्मोपदेशक कहा गया है। कारा तेपे के अभिलेखों की भारत के कतिपय पुरालेखों के साथ समीपता यह इंगित करती है कि लेखन परम्परा यहां सीधे भारत से ही आयी। अभिलेख नियमतः आंशिक हैं, तथापि विद्वान कुछ शब्द, जैसे कि "पात्र", "दान", "दिवस", आदि पढने में सफल रहे हैं। ये ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में अंकित है। इनमें एक भिक्षु का नाम – संघ-पाल – आया है। कारा तेपे के खरोष्ठी लिपि में लिखे संकल्प-अर्पित लेख उत्तर-पश्चिमी भारत के प्राकृत अभिलेखों से मिलते-जुलते हैं, तथापि मध्य एशिया की लिपि में कुछ चिह्न विशिष्ट हो गये हैं (कुछ विद्वानों के मत में, ऐसा ब्राह्मी लिपि के प्रभाव से हुआ है, जो यहां खरोष्ठी के साथ-साथ प्रयुक्त होती थी)। खरोष्ठी लिपि के अभिलेख प्राकृत में हैं, तो ब्राह्मी लिपि के अभिलेख मिश्र संस्कृत में। प्राकृत अभिलेखों को देखकर यह पता लगता है कि प्राकृत पर संस्कृत का प्रभाव पडा। यह प्रक्रिया भारत के कुषाण अभिलेखों में भी पाई जाती है। कुछ अभिलेख स्थानीय बाख्त्रीय भाषा का प्रभाव भी स्पष्टतः इंगित करते हैं। दिलचस्प बात यह है कि कारा तेपे के खरोष्ठी अभिलेखों में स्थानीय बाख्त्रीय नाम "राज विहार" आया है ("राजा" के लिए प्रयुक्त बाख्त्रीय शब्द "खदेवक" खरोष्ठी लिपि में दिया गया है)। ब्राह्मी लिपि के संस्कृत अभिलेखों में से एक भांड पर लेख विशेषतः रोचक है, जो पूरी तरह बचा रहा है। सोवियत भारतविद व० वेर्तोग्रादोवा इसे पढ़ने और इसका अनुवाद करने में सफल रही है : "जो अपने 'अहं' और दूसरे जीवों के 'अहं' के बीच भेद मिटा लेता है, वह पथ के चरम बिंदु को प्राप्त होता है।" वेर्तोग्रादोवा ने इस अभिलेख की रोचक व्याख्या भी प्रस्तुत की है। उनके विचार में इस अभिलेख का अंतर्य थेरवादियों के आदर्श – अर्हत – के विरुद्ध लक्षित है और

बोधिसत्व का नया आदर्श घोषित किया गया है। यह संभव है कि कारा तेपे के विहार मे हीनयान और महायान के समर्थको के बीच संघर्ष चल रहा हो (इस काल में महायान का महत्त्व विशेषत: बढ़ रहा था)। भारत के भी अनेक बौद्ध विहारों में विवाद हो रहे थे। यदि वेर्तोग्रादोवा द्वारा प्रस्तावित व्याख्या सही है, तो कारा तेपे के विहारो मे चल रहे विवाद का प्रमुख विषय भी इंगित किया जा सकता है विवाद अर्हत के सार-तत्व के बारे में था।

यह निष्कर्ष हंगरी के सुविख्यात विद्वान य० हरमत्त द्वारा किये गये कारा तेपे के अभिलेखो के अध्ययन के परिणामो मे अच्छी तरह मेल खाता है। हरमत्त इस निष्कर्ष पर पहुंचे है कि कुषाण काल मे कारा तेपे में सर्वास्तिवादी और महासांघिक बौद्ध थे। उनके विचार में खरोष्ठी लिपि के अभिलेखों का संबंध महासांघिको से है, जबकि ब्राह्मी अभिलेख सर्वास्तिवादियो से संबधित है, जो यहां महान कुषाणो के दिनो में आये।

कारा तेपे के उत्खनन मे कुषाण काल में मध्य एशिया में चित्रकला के विकास के बारे मे रोचक सामग्री मिली है। यहां चित्रकारी के जो अवशेष मिले हैं, उनमें बुद्ध या बोधिसत्व चित्रित हैं, यही बुद्ध और श्रमण भी हैं। इस शुद्धत: बौद्ध चित्रकारी मे भी स्थानीय कला परम्पराओं का प्रभाव महसूस होता है दानियों के चेहरे गांधार शैली में नही हैं, बल्कि कुषाण काल के शास्त्रीय नियमो मे मिलते-जुलते ढंग से बनाये गये हैं। लेकिन बुद्ध को विशिष्ट मुद्रा में चित्रित करने का विचार निस्संदेह
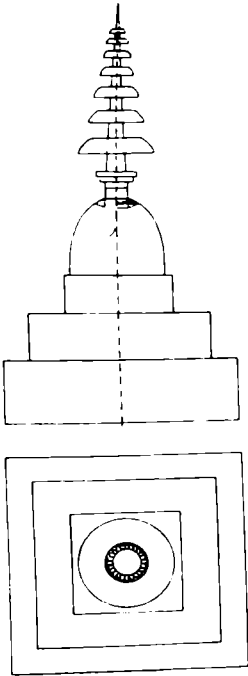
स्तूपाकृति। कारा तेपे

बुद्ध-शीर्ष। फ़याज़ तेपे

बुद्ध-शीर्ष। हड्डा, अफ़ग़ानिस्तान

भारत से ही आया था। प्रो० स्तवीस्की का अनुमान है कि कारा तेपे के भित्तिचित्रों मे दानियो के चित्रण की तकनीक ने, जो कुषाण काल की स्थानीय कला के अनुरूप है, भारत की कला पर प्रभाव डाला।

कारा तेपे से थोडी दूर उज़्बेकिस्तान के पुराविद ल० आल्बाउम ने एक दूसरा बौद्ध समुच्चय –**फ़याज़ तेपे**– खोजा है, जो कारा तेपे से कम रोचक नहीं है। उत्खनन मे यहा का प्रमुख स्थापत्य स्वरूप – मंदिर और स्तूप तथा उनसे लगा विहार का अंश व अन्य इमारते – उघाडा जा सका है। यहां मिले सिक्कों से, जिनमें कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के सिक्के भी हैं, इस स्मारक का तिथ्यांकन पहली-तीसरी सदी ई० किया जा सकता है, जब यह विहार निस्संदेह कार्य कर रहा था। इमारतो की खुदाई मे यहां भित्तिचित्र मिले हैं, जो मुख्यत: बौद्ध हैं (बुद्ध और दानियो के चित्र)। गच की मूर्तियां भी यहां मिली हैं। सबसे रोचक वह मूर्ति रचना है जिसमें बुद्ध को वृक्ष तले बैठा दिखाया गया है और उनके दोनों ओर भिक्षु हैं। यह रचना बहुत सफाई से बनाई गई है और शैली की दृष्टि से गांधार कला की याद दिलाती है।

फ़याज़ तेपे मे उत्खनन जारी है और यह आशा की जा सकती है कि यहां प्राचीन बाख्त्री में बौद्ध धर्म के विकास के बारे में महत्त्वपूर्ण सामग्री मिलेगी।

फ़याज़ तेपे में कतिपय अभिलेखो की खोज पुराविदों की विशाल उपलब्धि है (लेनिनग्राद की विद्वान म० वोरोब्योवा-देस्यातोव्स्काया इनका अध्ययन कर रही हैं)। ये अभिलेख खरोष्ठी लिपि में हैं, इनकी भाषा प्राकृत है। प्राय: इनमें बौद्ध दानियो के नाम और बौद्ध मंत्रो के अंश हैं। कुछ अभिलेखो में महासांघिक सम्प्रदाय का उल्लेख है, यह बात कारा तेपे के अभिलेखों से मेल खाती है। कारा तेपे और फ़याज़ तेपे में काफ़ी बड़े बौद्ध विहारो की खोज को देखते हुए कुषाण काल में बाख़्त्री में बौद्ध धर्म के विशाल प्रभाव की चर्चा की जा सकती है। कारा तेपे का द्विभाषी लेख यह इंगित करता है कि भिक्षु भारतीय और स्थानीय भाषाओं से तथा विभिन्न लिपियो से परिचित थे। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बाख़्त्री में भारतीय रचनाओ का स्थानीय बाख़्त्रीय भाषा में अनुवाद किया जाता था, इस भाषा में ही प्रवचन भी होते थे। प्रत्यक्षत:, धार्मिक ग्रंथो के साथ साहित्यिक रचनाएं भी मध्य एशिया मे पहुचती थीं और मध्य एशिया के जनगण सीधे-सीधे प्राचीन भारतीय संस्कृति की उपलब्धियों से परिचित होते थे।

कुषाण काल में मध्य एशियाई बौद्ध धर्म के स्वरूप का प्रश्न काफ़ी जटिल है, लेकिन लिखित स्रोतो से यह ज्ञात है कि बाख़्त्रीय बौद्ध भिक्षुओं ने बौद्ध धर्म के विकास और प्रचार में महती भूमिका अदा की। बौद्ध परम्परा के अनुसार तुखारिस्तानी भिक्षु घोषक सूत्र, विनय और अभिधर्म-पिटक की "विभाषा" (टीका) लिखने वालों में एक था। इस विभाषा की पुष्टि कनिष्क के दिनों मे पुरुषपुर में हुई तृतीय बौद्ध संगीति में की गई थी। इस संगीति के बाद घोषक फिर से मध्य एशिया लौट आया। ऐसा माना जाता है कि 'अभिधर्मामृतशास्त्र' की रचना भी घोषक ने ही

की। चीनी स्रोत तर्मित नगर (आधुनिक तेर्मेज़) मे जन्मे धर्ममित्र को विनयसूत्र का विभाषाकार बताते हैं। तुख़ार भाषा में वैभाषिक सम्प्रदाय की रचनाओं के अनुवाद का श्रेय भी धर्ममित्र को ही दिया जाता है।

यदि इन सूचनाओं को सही माना जाये, तो कुषाण काल में बाख्त्री-तुख़ारिस्तान में वैभाषिक सम्प्रदाय अभिपुष्ट हो गया था, जो सर्वास्तिवाद का अग था। सुप्रसिद्ध बौद्ध लेखक और विद्वान अश्वघोष की लिखी मानी जाने वाली रचना 'सूत्र-अलकार' में मध्य एशिया के बौद्धो के उनके पडोसियो के साथ सबंध के बारे मे बताया गया है। आज जहा ताशक़ंद प्रदेश स्थित है, वहा के एक विहार की सज्जा, 'सूत्र-अलकार' के अनुसार, पुष्करावती (पेशावर) से आये एक व्यक्ति ने की थी।

मध्य एशिया के रास्ते बौद्ध धर्म पूर्वी तुर्किस्तान, चीन और सुदूर पूर्व पहुचा। ईसवी संवत् की पहली सदियो में बहुत से मध्य एशियाई भिक्षु चीन में थे, जहा उन्होंने बौद्ध रचनाओं के अनुवाद किये, उनपर टीकाए लिखीं तथा वस्तुत: चीन को बौद्ध धर्म से परिचित कराया। तीसरी सदी के चीनी ग्रथ 'वेइ-ल्यू' में यह सूचना निहित है कि ई० पू० सन् २ मे चीनी लोग यूह-ची अर्थात कुषाणो के माध्यम से बौद्ध धर्म से परिचित हुए थे। यूह-ची – कुषाणो – का देश चीनी परम्परा के अनुसार बौद्ध धर्म का केंद्र था। चीन में बौद्ध धर्म के पहले उपदेशकों में मध्य एशियाई मूल के बहुत से लोग थे। उदाहरणत:, हमें पार्थियाई आन-शी-गाओ और आन स्युआन, यूह-ची जाति के ची लोउत्स्ज्या चान (संस्कृत में सोमक्षेम), ची याओ, और ची-ल्यान, सोग्दी कान मेन-स्यान और कान त्सजुइ के नाम ज्ञात हैं। पार्थियाई आन-शी-गाओ सर्वाधिक विख्यात था, उसने सन् १४८ से १७८ तक लोयान मे रहकर हीनयान की बौद्ध रचनाओं का चीनी भाषा में अनुवाद किया। वह खगोलविद्या का भी जानकार था। इस प्रकार, बौद्ध धर्म के साथ न केवल भारतीय, अपितु मध्य एशियाई संस्कृति के तत्व भी चीन पहुंचे। चीन की संस्कृति ने मध्य एशियाई सभ्यता के बहुत से तत्वों को ग्रहण किया। पार्थियाई आन स्युआन ने महायान के ग्रंथों का अनुवाद किया। कालांतर में, चौथी सदी में तुख़ारिस्तान से ("तो-खो-लो" देश मे) धर्मनन्दिन चीन गया। वह हीनयान की रचनाओं का अनुवाद करता था। पश्चिमी त्सिन वंश के लगभग अंतिम दिनों तक चीनी भाषा मे बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद करने वालों में ६ या ७ चीनी और ६ भारतीय मूल के थे, जबकि १६ अनुवादक मध्य व केंद्रीय एशिया की विभिन्न जातियो के थे – ६ यूह-ची, ४ पार्थियाई, ३ सोग्दी, २ कूचाई और १ ख़ोतानी। बेशक, ये आंकड़े शतश: सत्य नही हो सकते, लेकिन वे सामान्य प्रवृत्ति को अवश्य प्रतिबिम्बित करते है, जो दिखाती है कि सुदूर पूर्व में बौद्ध धर्म के प्रचार में मध्य एशिया की विशाल भूमिका थी। चीन में काफ़ी बड़ी संख्या में मध्य एशियाई भिक्षुओं का होना, जो अनुवादक और टीकाकार थे, उनकी जन्मभूमि – मध्य एशिया – में बौद्ध धर्म के प्रसार का स्तर इगित करता है। पुरातत्व और लिखित स्रोतों की सामग्री के अनुसार ईसवी सवत् की पहली सदियों में बौद्ध

धर्म मध्य एशिया में काफी फैला हुआ था और इस क्षेत्र की विचारधारा में काफी बड़ी भूमिका अदा करता था। बौद्ध धर्म के प्रचार से मध्य एशिया और भारत के सांस्कृतिक संबंध व्यापक व सुदृढ हुए, इसके फलस्वरूप वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्र-कला, प्रतिमाविज्ञान मे नये रूप प्रकट हुए तथा आयुर्विज्ञान, खगोलविद्या, आदि मे ज्ञान का आदान-प्रदान हुआ। हां, इन सभी नई बातों को मध्य एशिया मे सृजनात्मक ढग से आत्मसात किया जाता था। मध्य एशिया और भारत के सबध दोतरफ़ा थे – मध्य एशियाई संस्कृति के बहुत से तत्व भारत पहुचे और साथ ही मध्य एशिया बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति के अनेक तत्वों को आगे पूरब में फैलाने वाला विशाल "रिले स्टेशन" था।

कारा तेपे और फयाज़ तेपे में विहारो के उत्खनन से ईसवी संवत् की पहली सदियो में मध्य एशिया मे बौद्ध धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका के बारे में लिखित स्रोतो की जानकारी की पुष्टि हुई है। अभी कुछ वर्ष पहले तक विद्वानों के पास एशिया में बौद्ध स्मारको के बारे में पुरातत्वीय जानकारी नही थी। अब बौद्ध धर्म और बौद्ध संस्कृति के स्मारको की मध्य एशिया के अनेक इलाक़ो मे खोज हो चुकी है। मध्य एशियाई बौद्ध धर्म के इतिहास के प्रमुख चरणो का पुनर्निर्माण करने की तथा उसका स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास करने की यथार्थ सभावनाए बन गई हैं। मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का इतिहास बौद्ध धर्म के विकास के सामान्य इतिहास का एक सबसे ज्वलंत पृष्ठ बन गया है।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि बुद्ध के पहले अनुयायी अखामनीष काल मे ही मध्य एशिया में पहुंच गये थे। पर इस बारे मे कोई प्रत्यक्ष जानकारी अभी उपलब्ध नही है।

सर्वाधिक संभव यह है कि सम्राट अशोक (तीसरी सदी ई० पू०) के शासन काल मे ही बुद्ध और उनकी शिक्षा के बारे में पहली जानकारी मध्य एशिया में पहुची। ज्ञात है कि पिछले वर्षों मे अशोक के लेख कंधार में मिले हैं। यही नहीं, इन लेखों मे धर्म के बारे में अशोक के जो उपदेश हैं, वे स्पष्टत: स्थानीय आबादी के लिए ही हैं – एक लेख यूनानी और अरामाइक दोनों ही भाषाओ में है। सभवत: इस काल में आर्कोशिया में बुद्ध के अनुयायी थे या बुद्ध की शिक्षा से परिचित लोग।

श्रीलका के इतिवृत्त तथा सिहल देश का निवासी भिक्षु बुद्धघोष, जिसका काल पांचवी सदी है, यह सूचित करते हैं कि अशोक के शासन काल मे (पाटलिपुत्र मे तृतीय बौद्ध सगीति के बाद) बौद्ध धर्म के प्रचारक कश्मीर, गांधार, हिमालय देश और योनको के देश भेजे गये थे। योनको के देश से अभिप्राय आर्कोशिया का था, जहां योन रहते थे, सभवत: अफ़ग़ानिस्तान में मिले अशोक के यूनानी मे लिखे अभि-लेख उन्हीं को सबोधित थे। उपरोक्त इलाक़ो को बौद्ध धर्म प्रचारकों के भेजे जाने के बारे मे श्रीलका के इतिवृत्तों की सूचना की पुष्टि अफ़ग़ानिस्तान मे मिले अभिलेखो से हुई है। इनमे उन उपदेशको के नाम हैं, जिनका उल्लेख श्रीलका के

इतिवृत्तो में है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अफ़गानिस्तान, कश्मीर तथा मध्य एशिया से घनिष्ठ रूप से जुडे पडोसी इलाक़ों से बौद्ध धर्म मध्य एशिया के दक्षिणी प्रदेशों में पहुंचा और बौद्ध उपदेशकों ने बाख़्त्री के निवासियों को बुद्ध की शिक्षा से परिचित कराया।

मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का इतिहास पूरे विश्वास के साथ यूनानी-बाख़्त्री राज्य के गठन के काल से शुरू किया जा सकता है। इस राज्य में उत्तरी भारत के इलाक़े, अफ़गानिस्तान के कुछ भाग और मध्य एशियाई प्रदेश शामिल थे।

कतिपय यूनानी-बाख़्त्री शासको के सिक्को पर बौद्ध स्तूप का चित्र मिलता है, जबकि राजा मेनेन्डर के सिक्कों पर उसकी शक्ति के प्रतीक के रूप में बौद्ध चिन्ह — चक्र — दिया गया है। बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध की शिक्षा का अनुयायी राजा मेनेन्डर मिलिंद के नाम से जाना जाता है। यह माना जाता है कि उसने बौद्ध विद्वान नागसेन के साथ बुद्ध की शिक्षा के सारतत्व पर शास्त्रार्थ किया। खेदवश, मध्य एशिया मे बौद्ध धर्म के पहले क़दमो के बारे में साक्षियां अभी कम ही हैं, लेकिन वर्ष प्रति वर्ष सामग्री बढती ही जा रही है। मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के अध्ययनकर्त्ता अभिलेखो और सिक्को का ही नही, लिखित स्रोतो का भी (जो कभी-कभी रचना काल और स्थान मे भी यहा से बहुत दूर के होते हैं) अध्ययन करते हुए मध्य एशिया के अपने पडोसियों के साथ ऐतिहासिक-सांस्कृतिक संबधों के बारे में कोई नया तथ्य या नया प्रमाण खोजने के प्रयास कर रहे हैं।

प्रो० लित्वीन्स्की ने श्रीलंका में 'महावंश' नामक इतिवृत्त की ओर ध्यान दिया है, जो पांचवी-छठी शती ई० में लिखा गया था, लेकिन जो बौद्ध मठों के अधिक प्राचीन सिहल इतिवृत्तों पर आधारित है। 'महावंश' में यह रोचक सूचना दी गई है कि राजा दुत्तगमन के शासन काल (द्वितीय शती ई० पू० के अंत — प्रथम शती ई० पू०) में एक महास्तूप के शिलान्यास में भाग लेने विभिन्न देशों के भिक्षु आये थे जिनमें "पल्लवभोग" देश के तथा योनम देश के "अलमदा" नगर के भिक्षु भी थे। प्रत्यक्षतः, "पल्लव" से अभिप्राय पहलवो (पार्थियाइयों) से है और अलसदा तो, जैसा कि फ़्रांसीसी विद्वान लेवी ने दिखाया है, काबुल के पास पेरेपेमीज़ पर्वत श्रेणी में स्थित सिकंदरिया है। बहुत मुमकिन है कि 'महावंश' के इस वर्णन में द्वितीय-प्रथम शताब्दी ई० पू० मे पार्थिया में बौद्ध धर्म के प्रचार से संबंधित यथार्थ घटनाएं प्रतिबिम्बित हुई हों।

इस प्रकार यह कहने के लिए पर्याप्त आधार है कि मध्य एशिया में बौद्ध धर्म ई० पू० दूसरी-पहली सदी मे पहुंचा। लेकिन इसका व्यापक प्रचार ईसवी संवत् की पहली सदियो मे महान कुषाणो के काल में ही हुआ। कुषाण शासको की धार्मिक सहिष्णुता की नीति इसमें बहुत हद तक सहायक थी। धार्मिक समन्वयवाद और सहिष्णुता का ज्वलंत प्रमाण है कुषाण देवगण, जिनके चित्र हम कुषाण शासकों के सिक्को पर पाते हैं। सिक्कों पर तीन देवगण अंकित हैं — ईरानी, भारतीय और

यूनानी। ईरानी देवता मिथ्र (मित्र), जो ईरानी जनगण के विश्वासो में बहुत बडी भूमिका अदा करता था, उर्वरता की देवी अर्दोह्रश, रण देवता व्रत्रग्न (वृत्रघ्न) तथा ईरानी देवराज अहुरमज्दा, भारतीय देवता शिव, स्कंद-कुमार और वुद्ध — साकानावो (शाक्यमुनि बुद्ध) और वागो बोद्दो (भगवान बुद्ध) — तथा यूनानी देवता — हीलियम, हेफेस्टोस, सिलीन, हर्क्युलिस और सेरापिस देवता, जिसकी पूजा यूनान-प्रभावित मिस्र मे विशेषत प्रचलित थी — ये सब कुषाण सिक्को पर पाये जाते हैं। कुषाण राज्य की आबादी की नृजातीय और सांस्कृतिक विविधता प्रतिबिम्बित करने के साथ-साथ ये देवगण सारे राज्य के लिए समान परम्पराओ और मानको का, जो सम्पर्क और परस्पर-प्रभाव की लबी प्रक्रिया के दौरान बने, प्रचलन भी प्रदर्शित करते है।

कुषाण काल मे धार्मिक ही नही, सांस्कृतिक सहिष्णुता भी व्याप्त थी, जिसके फलस्वरूप सामान्य सांस्कृतिक मूल्यो के निर्माण के साथ-साथ स्थानीय परम्पराओ की विशिष्टता बनाये रखना भी सभव हुआ।

कुषाण काल में कुषाण राज्य के विभिन्न भागो में बौद्ध, जैन, जरथुष्ट्र धर्म, शिव पूजा, मानीवाद तथा स्थानीय विश्वास प्रचलित थे।

धार्मिक-दार्शनिक प्रणालियो एव धाराओ की इतनी अधिक विविधता तथा एक ही राजनीतिक गठन के अतर्गत उनका सह-अस्तित्व विश्व सभ्यता के इतिहास में एक अद्वितीय उपलब्धि है।

बौद्ध धर्म जैसे विश्व धर्म के स्थानीय विश्वासो के साथ परस्पर सबंध का प्रश्न विशेषत रोचक है, क्योकि बौद्ध धर्म का प्रचार स्थानीय धार्मिक धाराओ को आत्म-सात करने से नही जुडा हुआ था। इस दृष्टि से मध्य एशिया में ईसवी सवत् की पहली सदियो में मानीवाद के साथ बौद्ध धर्म के सबध सर्वाधिक लाक्षणिक हैं। बौद्ध धर्म ने पूर्वी मानीवाद के देवगण, धार्मिक कृत्यो तथा कुछ विचारो पर प्रभाव डाला। शोधकर्त्ताओं का विचार है कि मानीवाद का एक केंद्रीय विचार — पापों की स्वीकृति — बौद्ध धर्म से लिया गया था। मानीवाद के कुछ ग्रंथ बौद्ध सूत्रों की भांति लिखे गये हैं, मानी को बोधिसत्व और कभी-कभी तो मानी बुद्ध कहा गया है और उनके देहांत को निर्वाण बताया गया है।

मध्य एशिया और भारत के सबधों की चर्चा करते हुए ख्वारज़्म जैसे महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केंद्र पर भी ग़ौर किया जाना चाहिए। यहां सोवियत विद्वानो ने वर्षों की खुदाई के फलस्वरूप रोचक खोजे की हैं।

रेगिस्तानों से घिरा ख्वारज़्म भारत से दूर था, लेकिन यहां भी ख्वारज़्म सभ्यता के स्मारकों में इस देश के साथ सांस्कृतिक संबंधो के चिह्न मिलते हैं।

पिछले कई दशको से सोवियत पुराविद ख्वारज़्म के इतिहास और सस्कृति का अध्ययन कर रहे हैं। स्व० प्रो० स० तोल्स्तोव के सचालन मे वहां कार्य करते रहे अभियान दल ने अच्छे परिणाम पाये।

ख्वारज़्म के शासको का महल **तोप्राक क़ला** विशेषत: रोचक है, जो लोनी ज़मीनो के बीच मिला है।

तोप्राक क़ला बहुसंख्य बुर्जियों वाली समकोणिक नगरी है। इसका तिथ्यांकन तीसरी-चौथी सदी ई० किया गया है। प्राचीन नगर के ऊपर विराट पर्वत सरीखा ख्वारज़्मी शासको का महल उठा हुआ था जो १२ मीटर ऊंचे आधार पर बनाया गया था। इस आधार का प्रयोजन भूमिगत जल तथा भूकंपो से महल की रक्षा करना था।

महल में कई कक्ष मिले है, जिनके नाम "हार्प वादिका का कक्ष", "राजाओं का कक्ष", "सेनानियों का कक्ष", "हिरणों का कक्ष", "विजय कक्ष", "वारांगना कक्ष", आदि रखे गये हैं।

भवनों के उत्खनन मे भित्तिचित्रों और मूर्तियो के अवशेष मिले हैं, जिनसे भारत के साथ सांस्कृतिक सम्पर्कों का अनुमान लगाया जा सकता है।

"हार्प वादिका के कक्ष" मे हार्प बजाती युवा नारी का चित्र विशेषत: रोचक है। इसमे गांधार कला का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है, हालांकि स्थानीय लक्षण और परम्पराएं भी इसमे साफ दृष्टिगोचर होती है। यूनानप्रभावित लक्षण भी निस्संदेह हैं, यह आकृति ऐकेंथस के कुंज में से उभरती प्रतीत होती है। इस दृश्य को देखकर अनायास ही ऐर्ताम चित्र वल्लरी के साथ इसकी समानता का विचार मन मे आ जाता है।

तोप्राक क़ला की सज्जा मे मूर्तिकला की विशेष भूमिका थी। किसी ज़माने मे "राजाओं के कक्ष" मे खास आलो मे मूर्ति समूह रखे हुए थे। अब मूर्तियों के टुकडे ही बचे है। प्रत्यक्षत: यहां ख्वारज़्म के राजाओं और संभवत: संरक्षक देवताओं की मूर्तिया रखी हुई थी। कुछ आकृतियो में कुषाण काल की भारतीय मूर्तियों से समानता है (मुद्रा में, वस्त्रों मे)।

ख्वारज़्म-भारत संबंधो की समस्या के सिलसिले मे "सेनानियो के कक्ष" की आकृतिया, तथाकथित "श्यामवर्णी अंगरक्षकों" की आकृतियां विशेष महत्त्व रखती हैं। इनके चेहरे सांवले है, होठ मोटे। प्रो० स० तोल्स्तोव के मत में, नीग्रोसम, द्रविडसम नाक-नक्शों वाले ये सैनिक ख्वारज़्म के शासको के निजी अंगरक्षक थे और दक्षिणी भारत से ख्वारज़्म लाये गये थे। कहना न होगा कि इस साहसपूर्ण प्राक्कल्पना के लिए ठोस आधार प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, तथापि कुषाण काल में ख्वारज़्म के भारत के साथ सीधे संबंधों की संभावना वास्तविक है।

कुषाणों के बाद के काल मे भी मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का महत्त्व बना रहा। इसके बारे में हम लिखित स्रोतो से ही नही, बल्कि सर्वप्रथम सोवियत पुराविदों की खोजों की बदौलत जानते है। इस सिलसिले मे ताजिकिस्तान में **अजीना तेपे** में हुई खुदाई सर्वाधिक रोचक है।

अजीना तेपे १००×५० मीटर का छोटा सा टीला है। यहां प्रो० लित्वीन्स्की के
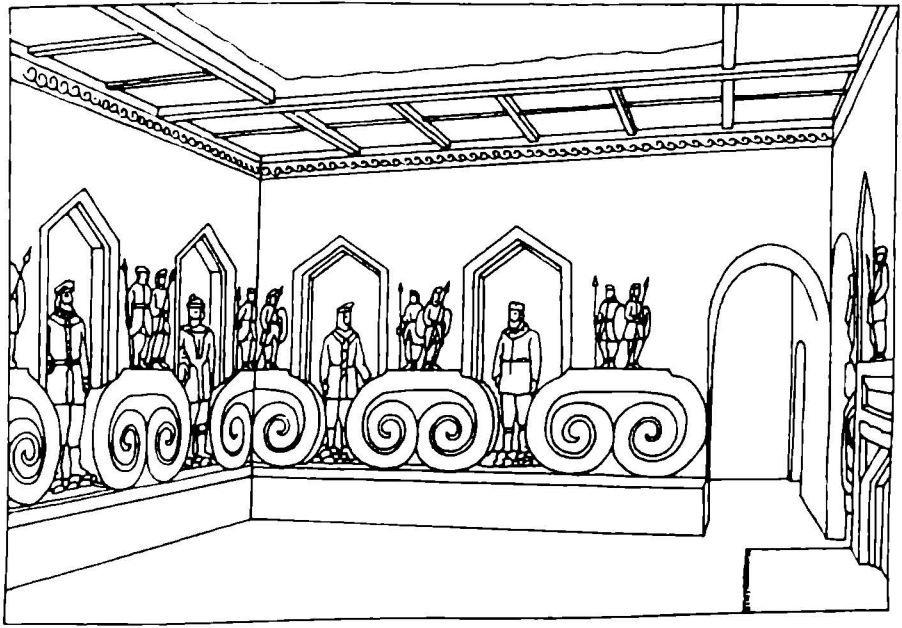
सेनानियों का कक्ष। तोप्राक क़ला। (पुनर्कल्पित)
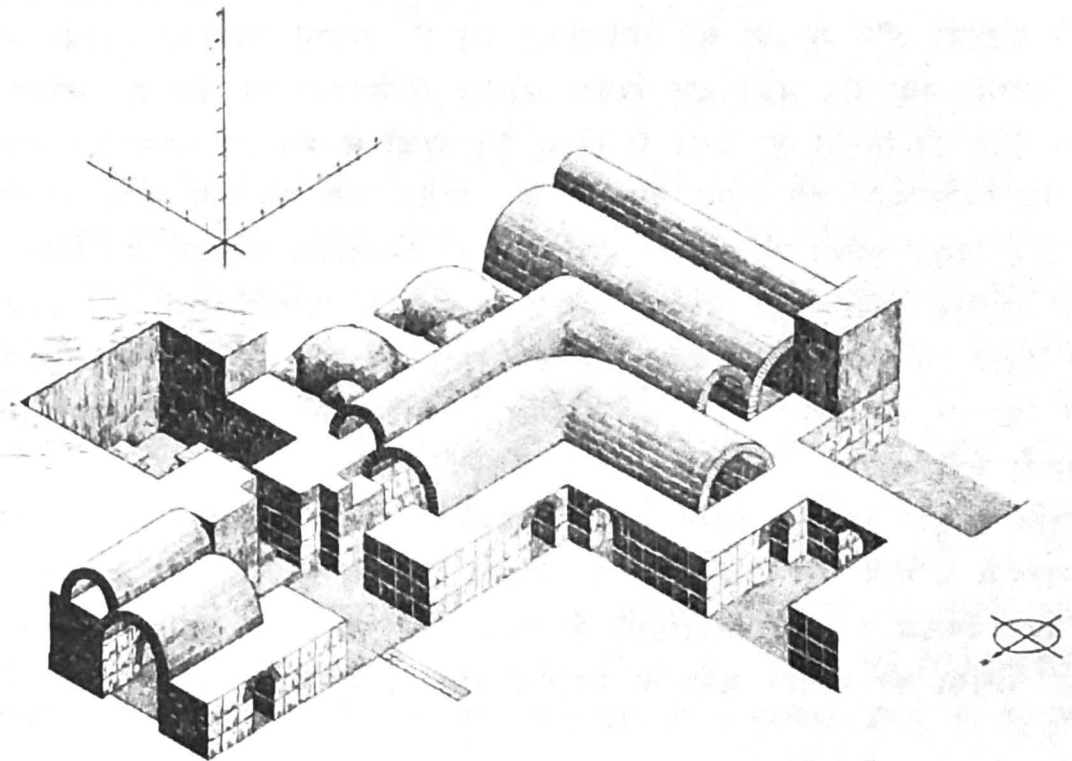
बौद्ध विहार के दक्षिण-पूर्वी कोने का पुनर्कल्पित दृश्य। अजीना तेपे।

सचालन में पुराविदो ने एक बौद्ध विहार का उत्खनन किया है. जिसमें मूर्तिया और भित्तिचित्र मिले है। यहां से प्राप्त ३०० से अधिक सिक्को से यह पता चलता है कि यह सातवी सदी – आठवी सदी ई० के आरभ का विहार था। अजीना तेपे का ब्राह्मी अभिलेख भी इसी बात का साक्षी है. पुरालिपि विशेषज्ञो ने इसे सातवीं-आठवी सदी का माना है। खेदवश लेख का पाठ ऐसी दशा मे नही रहा कि इसे पढ़ा जा सके, तो भी इसके बौद्ध स्वरूप के बारे मे कोई संदेह नही है। सभी बौद्ध विहारो की भाति यह विहार भी दो भागो से बना था – चैत्य भाग और आवासीय भाग। आवासीय भाग में एक अहाते (१६×१६ मीटर) के चारो ओर भिक्षुओ की कोठरियां और संघ के सभामडप अच्छी तरह सरक्षित रहे हैं। पिछले वर्षो के उत्खनन कार्य से पता चलता है कि आवासीय भाग दुमज़िला था। इसकी साक्षी हैं – दूसरी मज़िल पर जाती सीढियां। केंद्रीय सभामंडप का आकार काफ़ी बड़ा था – १०.२५ × ६.५ मीटर। इसकी छत खभो पर टिकी हुई थी। प्रवेश द्वार के पास आधार पीठिका पर खडे बुद्ध की विशाल मूर्ति थी। खुदाई मे मिले इसके सिर को देखकर कहा जा सकता था कि मूर्ति की ऊंचाई कम से कम ४ मीटर थी। चैत्य वाले भाग के केंद्र में स्तूप था, जिसके ऊपर को सीढिया जाती थी। विहार के दोनो भाग जुडे हुए थे। स्तूप के गिर्द गलियारे थे, जिनमें भिक्षु तथा गृहस्थ बौद्ध परिक्रमा करते थे।

गलियारो के अग़ल-बग़ल की दीवारो में आले थे, जिनमे बुद्ध की मूर्तियां रखी हुई थीं। आकृतियों के आकार विभिन्न थे, कभी-कभी ये आदम क़द से ड्योढ़ी तक होती थीं। दीवारों और गुम्बदो पर भित्तिचित्र बने हैं, जिनमें विभिन्न मुद्राओं में बुद्ध को दिखाया गया है। सभी बुद्ध विशेष आधार पीठिकाओं पर बैठे हैं, लेकिन हाथो और सिर की स्थिति हर चित्र मे भिन्न है। वस्त्रों के रंग भी भिन्न हैं। अब तो बचे रहे भित्तिचित्रों की सख्या कम ही है, लेकिन जब संघाराम काम करता था, तब सभी प्रमुख भवनो की दीवारो और छतों पर भित्तिचित्र बने हुए थे। भित्ति-चित्रों की तकनीक भारत और श्रीलंका की परम्पराओ से मिलती-जुलती है: पहले रेखाचित्र बनाये जाते थे, फिर उनके अंदर के विस्तार में रग भरे जाते थे। तैयार चित्र पर फिर से रग किया जाता था (इससे मिलती-जुलती ही विधि अजंता में भी अपनायी गयी थी)।

प्रणिधि के दृश्य विशेषत ध्यान आकर्षित करते हैं श्वेत वस्त्रधारी समृद्ध दानी बुद्ध के सम्मान मे सोने और चादी के पात्र, जिनमें फूल रखे हैं, चढ़ा रहे हैं। दानि-यों के चेहरे एकदम स्थानीय निवासियो के चेहरों जैसे लगते हैं। अजीना तेपे का यह दृश्य श्रीलंका की प्राचीन कला के स्वर्णिम पृष्ठ – सिगेरिया के भित्तिचित्रों – के समरूप है।

पुष्पार्पण भारत के धार्मिक व्यवहार में बहुत प्रचलित प्रथा है, गांधार कला में भी और अजता मे भी यह प्रतिबिम्बित हुई है। दानियों के वस्त्र रोचक हैं. अंग वस्त्र पर खुली खुली चुन्नटे पडी हैं, चोगा कटिबध मे बंधा हुआ है, जिस पर तलवार
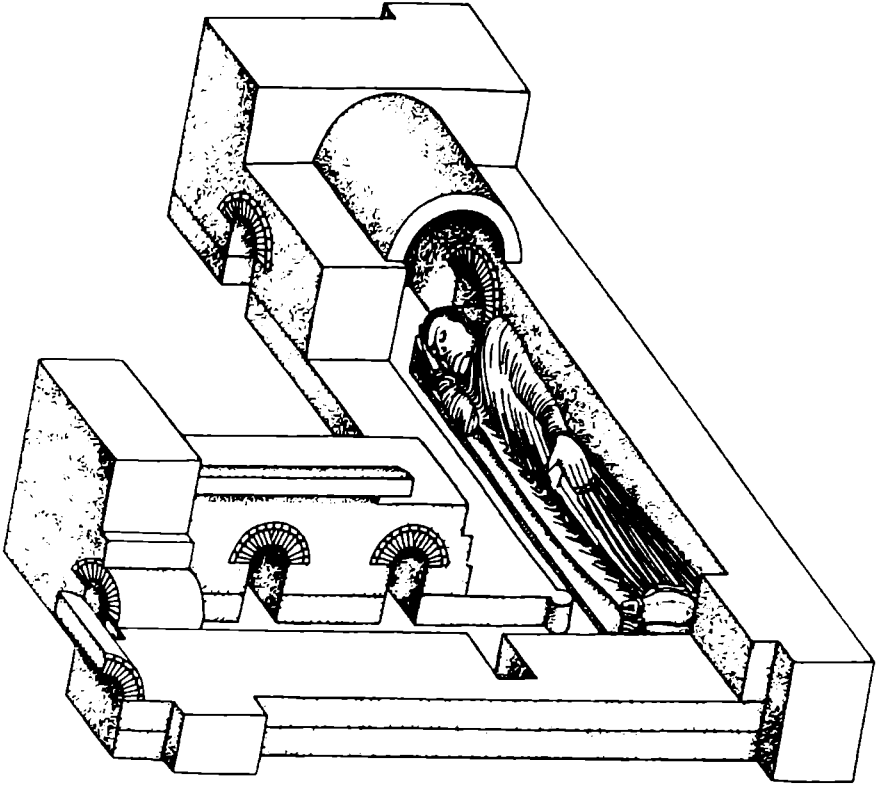
महापरिनिर्वाण मुद्रा में लेटे हुए बुद्ध। अजीना तेपे। (पुनर्कल्पित)

और कृपाण लटक रहे हैं। दानियों के वस्त्र और शस्त्र यह इंगित करते हैं कि यहां साधारण दानी नही, बल्कि संपन्न श्रेणी के प्रतिनिधि चित्रित हैं।

हालाकि चित्रकारों को अपनी योजना को उपासना के ध्येयों के अनुरूप ढालना चाहिए था, लेकिन उन्होने दृढ़तः धार्मिक कला नियमों का अनुसरण नही किया, बल्कि कलाकृति में विश्व की अपनी समझ को स्थान दिया। चित्रकार के उच्च कौशल ने चित्रों में जीवन भर दिया, रूढ़िवद्ध रूपों को भी काफ़ी सजीव वना दिया। धार्मिक चित्रों के साथ-साथ लौकिक दृश्यों को भी काफ़ी स्थान प्राप्त है।

विहार की सभी इमारतें कच्ची ईंट और कच्चे ब्लाकों से बनी हुई हैं। संकरे और लबे कमरों पर चापछते थीं, जबकि वर्गाकार कोठरियो पर गुम्बद बनाये गये थे, द्वारक मेहराबदार थे – ये सब कच्ची ईंट के थे। विहार की शोभा बढ़ाने वाली सभी मूर्तियां भी मृदा की बनी हुई थीं। मृदा से आकृतियां बनाने के पश्चात उन्हें रंगा जाता था (बुद्ध की आकृतियां अलग-अलग रंगों से रगी गई थी. संघाटी – लाल रंग से, तलवे – सफ़ेद, बाल – काले या नीले रग से।

चैत्य मे सबसे अधिक प्रभावोत्पादक है – बुद्ध की विशाल (लगभग १२ मीटर की) निर्वाण मूर्ति। इस मूर्ति के आकार का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता

बोधिसत्व का शीर्ष। अजीना तेपे

है कि बुद्ध की हथेली १३७ सेंटीमीटर लंबी है, तलवा – १६५ से १६० सेंटीमीटर तक लंबा है। बुद्ध के हाथों और पांवों के अलावा शेष सारा शरीर संघाटी में लिपटा हुआ है, जो डोरी से कमर पर बंधी हुई है; पांवों में पादुकाएं हैं। रंगों के अवशेषों को देखकर पता चलता है कि संघाटी पर लाल रंग किया गया था, जबकि चेहरे, हाथों और पांवों पर सफेद। इस आकृति का ढांचा कच्ची ईंट से बनाया गया था और फिर उसपर मृदा का लेप किया गया था।

दक्षिणी ताजिकिस्तान की बुद्ध की यह विशाल मूर्ति श्रीलंका की प्राचीन राजधानी पोलोन्नारुवे में मिली मूर्ति से समानता रखती है। श्रीलंका की विराट मूर्ति मध्य एशियाई मूर्ति से आकार में कुछ छोटी है और इसका रचनाकाल भी बाद का – १२वीं सदी ई० – माना जाता है। लेकिन दोनों मूर्तियां एक ही शैली में बनाई गई हैं। यह समानता संयोग मात्र नहीं है। यह इस बात की साक्षी है कि दक्षिणी शाखा – हीनयान – के बौद्ध सांस्कृतिक जगत में वे कलात्मक सिद्धांत व्यापक रूप से प्रचलित थे, जिन्होंने स्थानीय संस्कृतियों और परम्पराओं के प्रभाव के बावजूद अपना एकीकृत आधार बनाये रखा। इस सिलसिले में 'महावंश' की यह सूचना याद की जा सकती है कि पार्थिया के बौद्ध श्रीलंका आये थे।

अजीना तेपे का संघाराम अखिल बौद्ध परम्परा के अनुसार बनाया गया था, जिसके दर्शन भारत और अफ़ग़ानिस्तान के स्मारकों में सबसे अच्छी तरह होते हैं। भारतीय बौद्ध कला का प्रभाव एकदम स्पष्ट है। लेकिन यह भी कहा जाना चाहिए कि तुखारिस्तानी शिल्पियों ने सर्वसम्मत नियमों का आंख मूंदकर अनुकरण नहीं किया। अजीना तेपे के उत्खनन से ही यह पता चला है कि स्थानीय परम्पराएं कितनी सुदृढ़ थीं और प्राचीन तुखारिस्तान का स्थापत्य और कला कितने मौलिक थे। स्थानीय मूर्तिकार और चित्रकार, निर्माणकर्ता और वास्तुकार मध्य एशिया में चली आ रही परम्पराओं और यहां की दक्षताओं का उपयोग करते थे, पड़ोसी देशों, सर्वप्रथम भारत और अफ़ग़ानिस्तान की सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ उनका सामंजस्य बिठाते थे। इसका उदाहरण है प्राचीन भारतीय कला के स्वर्ण युग – गुप्त काल – की सांस्कृतिक परम्पराओं का उपयोग।

यह एक तरह से भारतीय (भारतीय-बौद्ध) और बाख्त्रीय कला परम्पराओं का सृजनात्मक संश्लेषण था, जिसके फलस्वरूप मौलिक तुखारिस्तानी कला उत्पन्न हुई। अजीना तेपे की सामग्री स्थानीय बाख्त्रीय कला का विशेष महत्त्व इंगित करती है। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि अफ़ग़ानिस्तान से लेकर पूर्वी तुर्किस्तान तक के काफ़ी बड़े इलाके में आदि मध्ययुगीन कला के गठन में मध्य एशियाई परम्पराओं ने कितनी महती भूमिका अदा की। मध्य एशिया में उत्खननों के फलस्वरूप प्राच्य कलाविदों को यह स्वीकार करना पड़ा है कि ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और पूर्वी तुर्किस्तान की कला के गठन पर मध्य एशिया की परम्पराओं का अपार प्रभाव पड़ा। पिछले वर्षों के उत्खनन कार्यों से सुप्रसिद्ध इतालवी विद्वान बुस्साली के इस विचार की पूर्ण पुष्टि हुई है कि सेरेंदिया में जो परम्पराएं विकसित हुईं, वे वास्तव में मध्य एशियाई कृतियों की प्रतिध्वनि थीं।

अजीना तेपे की असल सम्पदा है – मृण्मूर्तियां। इनमें भी स्थानीय बाख्त्रीय-तुखारिस्तानी लक्षणों के साथ-साथ भारतीय कला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। गांधार परम्पराओं के अलावा गुप्त कला का प्रभाव भी प्रबल है यह बुद्ध के वस्त्रों में भी तथा केश-विन्यास में भी प्रकट होता है। उल्लेखनीय है कि बौद्ध विहार में

न केवल धार्मिक मूर्तियां (बुद्ध और बोधिसत्व), बल्कि लौकिक मूर्तियां भी मिली है। और जहां बुद्ध का चित्रण पूर्णत नियमानुसार है तथा बोधिसत्वो की आकृतियां भारतीय परम्परा मे हैं, वही गृहस्थों और भिक्षुओ के चित्रण मे बाख्त्रीय कला का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है, उस कला का जो कुषाण काल में विकसित हुई और फली-फूली, जब बाख्त्री एक शक्तिशाली साम्राज्य का नाभिक बना था।

दानियो की आकृतियां बहुत रोचक है। विद्वानो के मत मे एक मूर्ति कश्यप मुनि की है। कुछ मूर्तियां इतनी अभिव्यंजनात्मक और यथार्थपरक है कि अनायास ही प्राचीन शिल्पियों की प्रतिभा, उनके सौंदर्यबोध और सुरुचि पर आश्चर्य होता है। पिछले वर्षो में हुई खुदाई में एक अत्यंत रोचक मूर्ति रचना मिली है, जिसमे महाभिनिष्क्रमण के समय राजकुमार सिद्धार्थ को अपने घोड़े कंटक से विदाई लेते दर्शाया गया है।

अजीना तेपे मे उत्खनन के फलस्वरूप केंद्रीय एशिया की बौद्ध कला में बाख्त्रीय-तुखारिस्तानी धारा के योगदान का नये सिरे से मूल्यांकन किया जा सका है। और सब बातों के अलावा तुखारिस्तान वह इलाका भी था जहां से सुदूर पूर्व की ओर बौद्ध संस्कृति का प्रचार आरंभ हुआ। भारतीय संस्कृति की अनेक उपलब्धियां तुखारिस्तान में स्थानीय परम्पराओं के प्रभाव मे काफ़ी परिवर्तित होकर ही अपने नये रूप में आगे चीन, कोरिया और जापान तक पहुची।

बौद्ध विहार धार्मिक समारोहो और पूजा के केंद्र ही नही थे। सुविदित है कि नालंदा के बौद्ध विहार ने ज्ञान प्रसार का कितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। हो सकता है कि मध्य एशिया में भी बौद्ध मठ शिक्षा के केंद्र रहे हों। बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय साहित्य, आयुर्विज्ञान, खगोलविद्या से भी मध्य एशिया के निवासी परिचित हुए।

अजीना तेपे का विहार ईसवी संवत् की पहली शताब्दियों में मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के प्रसार का एकमात्र प्रमाण नही है। काफ़िर क़ला (आधुनिक कोलखोज़ाबाद, ताजिकिस्तान, से कुछ दूर) के नये उत्खनन में अजीना तेपे जैसा ही बौद्ध चैत्य मिला है। गुम्बदनुमा इमारत (३.४×३.४ मीटर) चारो ओर से मेहराबी छत-युक्त गलियारे से घिरी हुई है – ऐसा वास्तु-विन्यास कुषाण काल तथा आदि मध्य युग के अनेक बौद्ध स्मारको मे पाया जाता है। भित्तिचित्रों के अवशेष स्थानीय चित्रकारों के उच्च कौशल के साक्षी हैं। ये चित्रकार बौद्ध कला के नियमो, रूढ़ियों (कमल पुष्प, बुद्ध के सिर के गिर्द प्रभा-मंडल, इत्यादि) से परिचित थे।

पिछले वर्षो में बौद्ध स्थापत्य और कला के अनेक स्मारक मिले हैं। विशेषतः महत्त्वपूर्ण बात है ब्राह्मी लिपि में संस्कृत में लिखे हुए बौद्ध ग्रंथो की खोज।

तेर्मेज़ नगर के तीस किलोमीटर दूर ज़ंग तेपे नामक टीले की खुदाई में ७वीं सदी का क़िलेनुमा प्रासाद मिला है। यहीं भोजपत्र पर संस्कृत में लिखे बौद्ध ग्रंथो के १२ अंश भी मिले हैं। पुरालिपि की दृष्टि से ये 'प्रज्ञापारमिता' की गिलगित पाडुलिपियों से मिलते-जुलते हैं और इनका तिथ्यांकन ७वीं-८वीं ई० किया गया है।

विद्वानों ने बड़ी कठिनाई से इनके पूर्ण पाठ का पुनर्निर्माण किया है। ब्राह्मी के विभिन्न रूपों में लिखे अंशों को पढ़ने से पता चला है कि ये 'विनय-पिटक' के भाग हैं। इनमें संघ की सभा के बारे में, भिक्षा के बारे में, भिक्षु द्वारा निंदनीय कार्य किये जाने, आदि के बारे में बताया गया है। प्राचीन नगर मेर्व (तुर्कमानिस्तान) के खंडहरों से थोड़ी दूर हस्तलिखित संस्कृत बौद्ध ग्रंथ की खोज शोधकर्त्ताओं के लिए बहुत रोचक है। ये हस्तलिखित पत्र एक पात्र में पांचवीं सदी ई० के समानी सिक्कों तथा बुद्ध की प्रस्तर मूर्तिकाओं के साथ मिले हैं।

इस पात्र में १५० से अधिक ताड़ पत्र पाये गये, जिनमें से कुछ पर तो पृष्ठ संख्या तक पढ़ी जा सकती है। इस ग्रंथ का अनुमानित तिथ्यांकन पांचवीं-छठी सदी ई० है। आजकल म० वोरोब्योवा-देस्यातोव्स्काया के निदेशन में सोवियत शोधकर्त्ता इस हस्तलिखित ग्रंथ को प्रकाशन के लिए तैयार कर रहे हैं। इसके आरंभिक अध्ययन से पता चला है कि यह गृहस्थ बौद्धों के पढ़ने के लिए तैयार किया गया सूत्र, विनय पिटकों, इत्यादि विभिन्न बौद्ध रचनाओं और कथाओं का एक तरह का "संकलन" था। बुद्ध के जीवन की सुविदित घटनाओं का उल्लेख भी किया गया है, लेकिन वर्णन प्रायः अपूर्ण ही है और मात्र आरंभिक अंशों का ही उल्लेख किया गया है – संभवतः धर्मानुयायियों को घटनाओं की याद दिलाना ही काफ़ी था। उदाहरण के लिए, बुद्ध के दूसरे बनारस प्रवचन की कथा की चर्चा करते हुए केवल इसका आरंभ दिया गया है और बुद्ध के प्रमुख शिष्यों के नाम गिनाये गये हैं; फिर उस अवदान का हवाला दिया गया है, जहां यह कथा सविस्तार दी गई है। कुछ संक्षिप्त कथाएं जातक कथाओं से मिलती-जुलती हैं, उदाहरणतः, कछुए की कथा (जातक नं० २८३), ढोल की कथा (जातक नं० ५६), इत्यादि। सौभाग्यवश, इस ग्रंथ का कोलाफ़ोन (अंतिम पृष्ठ) बचा रहा है, जिसमें सर्वास्तिवाद की प्रमुख रचनाएं गिनाई गई हैं। इसके फलस्वरूप हम इस सम्प्रदाय के "अनुशासन नियमों" की कल्पना कर सकते हैं (इससे पहले ऐसी कोई जानकारी नहीं थी)।

इसमें लिपिकार का नाम भी दिया गया है, जो स्वयं सर्वास्तिवाद का अनुयायी था। यह तथ्य मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का स्वरूप निर्धारित करने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। सुदूर पूर्व के ग्रंथों से तथा पुरातत्वीय सामग्री से प्राप्त जानकारी के साथ इस लिखित प्रमाण को देखते हुए निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि मध्य एशिया में सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का प्रभाव काफ़ी अधिक था। इस निष्कर्ष की पुष्टि भारत के अधिक पुराने लिखित सूत्रों और पुरालेखीय सामग्री से तथा कारा तेपे की पुरातत्वीय सामग्री से भी होती है, जो यह इंगित करती है कि तेर्मेज़ के इलाके में महासांघिकों के अलावा सर्वास्तिवादी भी थे। ईसवी संवत् के आरंभ के शिलालेखों से यह ज्ञात है कि पेशावर और कश्मीर ही सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के प्रमुख केंद्र थे। प्रत्यक्षतः कश्मीर ही वह स्थान था, जहां से बौद्ध शिक्षा के अनुयायी मध्य एशिया पहुंचे। सातवीं सदी ई० में इत्सिंग ने भी कश्मीर को सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का एक

प्रमुख गढ़ माना था। बौद्ध तीर्थयात्री दिलचस्प डायरियां छोड गये हैं। इनमें मध्य एशिया के हीनयान पथी बौद्ध सम्प्रदायों का भी उल्लेख मिलता है। उदाहरणत , हम जानते हैं कि खुत्तल में हीनयान प्रचलित था। उल्लेखनीय है कि मध्य एशियाई मूल के भिक्षुओं द्वारा चीनी भाषा में अनूदित अधिसंख्य रचनाएं हीनयान से संबंधित थी। परंतु हीनयान के साथ-साथ सातवी-आठवी सदियो मे मध्य एशिया के कई इलाक़ों में महायान का भी प्रचलन था, जिनके अनुयायी, इत्सिंग के शब्दो में, बोधिसत्वों की उपासना और महायान के सूत्रो का पाठ करते थे।

चीनी तीर्थयात्रियों के अनुसार तुखारिस्तान की राजधानी बल्ख में प्राय एक सौ बौद्ध विहार थे, जिनमे लगभग तीन हज़ार भिक्षु रहते थे। इन यात्रियों के अनसार ये भिक्षु हीनयानी थे। हुएनत्सांग की डायरी में तेर्मेज़ में बौद्धों के कोई दस विहार होने का उल्लेख मिलता है, जिनमे एक हज़ार भिक्षु रहते थे। इस प्रकार लिखित जानकारी पुरातत्वीय उत्खनन की सामग्री से प्राप्त जानकारी से अच्छी तरह मेल खाती है।

उत्तर कुषाण काल के बौद्ध स्मारक तुखारिस्तान के अलावा मध्य एशिया के दूसरे भागों मे भी मिले हैं। लिखित स्रोतो, मुख्यत: चीनी ग्रथो से भी इनके अस्तित्व की पुष्टि होती है। चीनी इतिवृत्तो बेए-शी और सुय-शू मे यह बताया गया है कि कान (सोग्द) देश की आबादी बुद्ध की शिक्षा का अनुसरण करती थी। सुविख्यात बौद्ध उपदेशक संघवर्मा भी इसी देश के थे। यह भी ज्ञात है कि आठवीं सदी के आरभ में समरकद मे एक बौद्ध विहार था।

बौद्ध धर्म का सोग्दी दस्तावेज़ो पर भी निश्चित प्रभाव पडा (सोवियत विद्वान व० लीव्शित्स ने इन दस्तावेज़ों का अध्ययन करके इन्हे प्रकाशित किया है)। बेशक, सोग्द में बौद्ध स्मारक अभी तक नही मिले हैं, लेकिन पजीक़द की सामग्री को ध्यान में रखते हुए यह आशा की जा सकती है कि ये खोज लिये जायेंगे। मध्य एशिया के दूसरे इलाक़ों मे बौद्ध धर्म के प्रसार के विपुल पुरातत्वीय प्रमाण उपलब्ध हैं।

जेती-मू (सेमिरेच्ये, सप्तनद) मे दो बौद्ध मंदिरो का उत्खनन हुआ है। इनमें पहला (अक-बेशीम उत्खनन स्थली) ७६×२२ मीटर का आयताकार भवन है। चैत्य के प्रवेशद्वार के पास के एक मंडप मे दो आधार पीठिकाएं मिली हैं, जिनपर प्रत्यक्षत बुद्ध की मूर्तियां स्थापित थी। इस अनुमान का समर्थन एक विशाल मूर्ति के पाव और टाग के अवशेषो की खोज मे होता है (पांव की लंबाई ० ८ मीटर है)।

यहा पर उत्खनन कार्य के संचालक प्रो० ल० किज़्लासोव के अनुसार चैत्य में बुद्ध की कांस्य मूर्ति थी – चैत्य में आधार पीठिका के पास छोटे-छोटे कांस्य अवशेष मिले हैं।

दूसरे मंदिर का चैत्य भी काफ़ी बड़ा था – १० ५×१० मीटर (यहां उत्खनन कार्य ल० ज्याब्लिन के सचालन मे हुआ)। आलों मे आधार पीठिकाएं बची रही हैं, जिन पर, संभवत , बुद्ध की मूर्तिया रखी हुई थी। अंशों से यह पता चलता है

कि दीवारों पर चित्र बने हुए थे। भित्तिचित्रों के अवशेषो में बोधिसत्व के विशाल सिर का चित्र विशेषत: ध्यान आकर्षित करता है।

ये सामग्रियां स्पष्टत: इस बात की साक्षी हैं कि ईसवी संवत् की पहली सदियों मे मेमिरेच्ये में बौद्ध धर्म प्रचलित था। कूवा मे बौद्ध मंदिर का उत्खनन यह बताता है कि फ़रग़ना की आबादी बौद्ध धर्म से परिचित थी। यहां बुद्ध की विशाल आकृति के टुकड़े (सिर, बांह का अंश, आदि) मिलें हैं।

प्रो० लित्वीन्स्की के निदेशन में दक्षिणी ताजिकिस्तान में हाल ही के वर्षों में किये गये उत्खननों के फलस्वरूप ताजिकिस्तान की राजधानी दुशांबे से ८० किलोमीटर दूर एक बौद्ध मंदिर मिला है, जिसका तिथ्यांकन छठी-आठवीं सदी ई० किया गया है। इसके केंद्र मे वर्गाकार (४.७×४.६ मी०) चैत्य था, जिसमे एक ही अक्ष पर दो प्रवेशद्वार थे। इसके तीन ओर परिक्रमा गलियारा था, जबकि चौथी ओर एक प्रवेश-द्वार के सामने चौकोर प्रवेशमंडप था, जिससे सटा एक अहाता था। उत्खनन से यह लगता है कि वर्गाकार चैत्य के कोनो में विशेष आधार पीठिकाओं पर लोकपालों की मृण्मूर्तियां थीं, केंद्र मे, एक आले में, बैठे हुए बुद्ध की मूर्ति थी। आकृतियों की संख्या को देखते हुए इस मडप का नाम "नौ मूर्तियों का मंडप" रखा गया है। गलियारे में भिक्षु तथा गृहस्थ बौद्ध प्रदक्षिणा करते थे, आधार पीठिकाओं पर बुद्ध की मूर्तियां रखी हुई थी। गलियारे की दीवारों और मेहराबी छत पर बने चित्रों में भी यह अनु-ष्ठान प्रतिबिम्बित हुआ है, भिक्षुओं के पीछे सम्भ्रांत महिलाएं चल रही हैं, उनके हाथ मे बुद्ध को अर्पण करने के लिए कमल-पुष्प हैं। भित्तिचित्र के ऊपरी भाग में बुद्ध और उनके शिष्यो की आकृतियां बनी हुई हैं। पुराविदों द्वारा खोजे गये भित्ति-चित्रो और मूर्तियो के अवशेष स्थानीय शिल्पियो के उच्च कौशल के साक्षी हैं, जिन्होंने भारतीय और मध्य एशियाई कला-परम्पराओं का सृजनात्मक समामिलन किया।

अभी कुछ वर्ष पहले तक बाख्त्री-तुखारिस्तान के इलाक़े पश्चिम में बौद्ध धर्म के प्रचार की अंतिम सीमा माने जाते थे। लेकिन हाल ही के पुरातत्वीय कार्यों के फल-स्वरूप सदियो तक ज़रथुष्ट्र धर्म का एक गढ़ रहे मुर्ग़ाब नख़लिस्तान के सबसे बडे नगर मेर्व में बौद्ध स्मारक मिले हैं।

पार्थियाई आबादी के बीच बौद्ध धर्म के प्रचार का परोक्ष प्रमाण लिखित स्रोतो से प्राप्त यह सूचना है कि द्वितीय शती ई० में चीन में बौद्ध धर्म के सक्रिय प्रचारको मे एक उच्चत: शिक्षित पार्थियाई राजकुमार आन शी-गाओ था (यह उसके नाम का चीनी लिप्यतरण है, जिसमें आन शी अर्शाक नाम के लिए है)। प्रत्यक्षत:, ईसवी संवत् की पहली सदियों में ही बौद्ध व्यापारी आमू दरिया के बिचले मैदान में बायें तट पर पहुंचने लगे, जहां अर्शाकी साम्राज्य की पूर्वी सीमा थी, और फिर मुर्ग़ाब घाटी में भी।

बौद्ध समुदायों के इस प्रकार बढ़ने का एक प्रत्यक्ष प्रमाण है आमू दरिया के बायें तट पर काराबेकाऊल बस्ती के पास अक क़ला में मिली पक्वमृदा मूर्तिका।

पुरातत्वीय और शैली विशिष्टताओं को देखते हुए इस मूर्तिका का तिथ्यांकन दूसरी-चौथी सदी ई० किया गया है। यह ध्यान-मुद्रा में बैठे हुए बोधिसत्व की मूर्ति है। बोधिसत्व का चेहरा चौड़ा, भरा-पूरा है, आंखें अधखुली और कानों के लोलक लटके हुए। शिरोवस्त्र पर उद्भृत वृत्त बने हुए हैं, शरीर अर्धनग्न है, कंठ में माला और एक कंधे से दूसरे कंधे तक कामदार ज़ंजीर पड़ी हुई है, बांहों पर और धड़ के निचले भाग पर हल्का कपड़ा लिपटा हुआ है। मूर्तिका अच्छे सांचे से बनाई गई है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस मूर्तिका को बनाने में एक ख़राबी रह गई थी – पीठ की ओर मृदा को लपेटा देकर ढेला सा बनाकर छोड़ दिया गया था, और कुछ जगह पर इसमें परतें निकली हुई हैं। कहना न होगा कि सच्चा बौद्ध दूर देश से ख़राब मूर्तिका न लाता, बल्कि उच्च कोटि की मूर्तिका ही स्वदेश लेकर आता। प्रत्यक्षत., अक कला का बोधिसत्व यहीं पर बनाया गया था (अन्य अनेक मूर्तियों के साथ, जो हाथों-हाथ बिक गईं)। लेकिन सबसे दिलचस्प है मेर्व में दो बड़े बौद्ध स्मारकों की खोज। यहां उत्तरपार्थियाई मर्गियान के और ससानी शासक शाहपुर प्रथम के जो सिक्के मिले हैं, उन्हें देखते हुए इन दो स्मारकों में अधिक पुराने का तिथ्यांकन तीसरी सदी का मध्य किया गया है। यह संघाराम और स्तूप का समुच्चय है। यह उस विशाल नगर के दक्षिण-पूर्वी बाह्यांचल में स्थित था, जिसे यूनानी-रोमन लेखक मर्गियान एंतिओख़ कहते थे।

स्तूप तीसरी सदी के मध्य में कच्ची ईंट से बनाया गया था और इसकी ऊंची आधार पीठिका थी (१३×१३ मीटर)।

चौथी सदी के अंत और पांचवीं सदी के आरंभ में स्तूप का आमूल पुनर्निर्माण हुआ, जिससे वह लगभग ६ मीटर व्यास का बेलनाकार स्तूप बन गया, जिसका शीर्ष प्रत्यक्षतः अखंड गुम्बद के रूप में था। उत्तरी ओर से खुला और सीधा ऊपर को जाता अनेक सीढ़ियों वाला ज़ीना बनाया गया, जिसके कोने बाहर को निकले हुए थे। सामने की ओर बाड़दार प्रांगण बना। आधार पीठिका के उत्तर की ओर के कोनों पर कच्ची ईंट से दो छोटे-छोटे बेलनाकार स्तूप बनाये गये, इनके केवल गोल आधार ही बचे हैं। प्रत्यक्षतः, इसी समय बुद्ध की विशाल मृण्मूर्ति भी बनाई गई।

बाद में यह बौद्ध समुच्चय नष्ट कर दिया गया, लेकिन भक्तों ने बुद्ध मूर्ति के सिर को ध्यान से ज़मीन में दबा दिया।

बुद्ध मूर्ति के सिर की ऊंचाई ७५ सेंटीमीटर है। यह बौद्ध कला रूढ़ि के अनुसार बनाया गया था। सिर के अंदर किन्हीं टहनियों, आदि के ढांचे से मज़बूत किया गया मृदा पिंड था, उसके ऊपर अधिक घनी मृदा की परतें चढ़ाई गई थीं, जिनपर आकृति बनाई गई। केशकुंडल अलग से बना-बनाकर सिर पर चिपकाये गये थे। बुद्ध का चेहरा भरा-पूरा है, यह प्रायः वर्गीय अंडाकार रूप का है, नाक-नक़्शा सौम्य हैं, ऊपर की उभरी-उभरी, अधमुंदी पलकों तले तिरछी काटवाली आंखें हैं, पलकों से गहरी परछाईं पड़ती है। चेहरे पर रंग की तीन परतों के अवशेष हैं – गुलाबी,

पीला और लाल रंग, जो यह बताता है कि मूर्ति को समय-समय पर फिर से रंगा जाता था। केश और आंखों पर आसमानी रंग किया गया था तथा होंठों पर चटक लाल।

दूसरा बौद्ध समुच्चय मेर्व के पूर्वी परकोटे के बाहर था। इसके स्तूप के कुछ ही अंश बचे हैं। उत्खनन के समय यहां एक कलश मिला, जिसमें तरह-तरह की कई चीजें हैं। इनमें खुसरो प्रथम (५२३-५७८ ई०) के १५ सिक्के, भोजपत्र पर स्याही से ब्राह्मी लिपि में संस्कृत में भिक्षुओं के लिए लिखे उपदेश के अंश (आजकल इनका जीर्णोद्धार किया जा रहा है), नक्काशीदार अस्थि वस्तुएं, अंगूठियों के लिए अंडाकार रत्न (भारतीय कार्नेलियन, श्रीलंका का गार्नेट) तथा प्रस्तर मूर्तियों के पांच छोटे-छोटे टुकड़े हैं।

सिक्कों की मदद से इस समुच्चय के अस्तित्व के अंत का समय निर्धारित किया जा सकता है। यह छठी सदी है। लेकिन यह कहना कठिन है कि इस कलश का केंद्रीय स्तूप से कोई संबंध है या नहीं। पांचों मूर्ति-अंश गांधार कला के लाक्षणिक नमूने हैं। इन्हें कोई बौद्ध भारत से मेर्व लाया होगा या हो सकता है, कोई स्थानीय व्यापारी, जो उत्तर-पश्चिमी भारत के साथ व्यापार करता होगा और जिसने ये अंश मध्य एशिया के बौद्ध विहारों से लिये होंगे।

पंजीकंद में, जहां कई वर्षों से सोवियत पुराविद उत्खनन कार्य कर रहे हैं, भित्तिचित्रों की खोज भारत और मध्य एशिया के सांस्कृतिक संबंधों को अध्ययन के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। पंजीकंद के भित्तिचित्रों से, जिन्हें संसार भर में ख्याति मिली है, भारत, अफ़गानिस्तान और ईरान के साथ मध्य एशिया के प्राचीन संबंधों के बारे में विद्वानों को मूल्यवान सामग्री मिली है। इन भित्तिचित्रों में कई दृश्य तो भारतीय कला के प्रत्यक्ष समरूप हैं, और उत्खनन कार्यों के संचालक प्रो० अ० बेलेनी-त्स्की का यह कहना बिल्कुल सही है कि पंजीकंद के भित्तिचित्र अनेक सूत्रों द्वारा भारतीय कला से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए चौपड़ का दृश्य भरहुत की उद्भृत मूर्तियों और अजंता के भित्तिचित्रों से समानता रखता है। दिलचस्प बात यह है कि पंजीकंद में खुदाई के दौरान पासा मिला है। प्राचीन सोग्द के एक दूसरे स्थान मुग पर्वत पर भी लकड़ी का पासा मिला है।

पंजीकंद के दृश्य में प्रत्यक्षत राजा चित्रित है, उसके सिर के प्रभा-मंडल से ज्वालाएं उठ रही हैं। उसके साथ खेलने वाला भी कोई विशिष्ट व्यक्ति है उसके सिर के गिर्द भी प्रभा-मंडल है और वस्त्र भी असाधारण हैं, चोग़े के स्थान पर वह संघाटी ओढ़े है। बैठे खिलाड़ी की मुद्रा भी काफ़ी विचित्र है उसके टांगें फैला रखी हैं। प्रो० बेलेनीत्स्की इस दृश्य की तुलना एक जातक कथा से करते हैं, जिसमें राजा और मंत्री के चौपड़ खेलने का ज़िक्र है। सुविदित है कि बौद्ध प्रतिमाविज्ञान में ज्वालाएं प्रायः विशिष्ट स्थिति का, राजा का भी प्रतीक होती थीं। प्रो० बेलेनीत्स्की द्वारा प्रस्तावित व्याख्या अंतिम तो नहीं है, किंतु इसका मध्य एशिया और भारत के सांस्कृ-

तिक सबधो की सामान्य दिशा के साथ मेल बैठता है। पजीकद मे एक ऐसा भित्ति-चित्र भी मिला है, जिसमें व्याघ्रचर्मधारी "नीला नर्तक" चित्रित है और उसके पीछे त्रिशकु बना हुआ है। प्रो० बेलेनीत्स्की उचित ही यह मानते हैं कि इस "नीले नर्तक" का प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से मूल शिव का चित्रण ही है। बेशक "नीला नर्तक" पूरी तरह से शिव का मान्य चित्र प्रस्तुत नही करता, उसका चित्र शायद ही इस बात का साक्षी है कि पजीकद के इलाके मे शिवपूजक थे। "नीला नर्तक" इस बात का ज्वलत उदाहरण है कि किस प्रकार स्थानीय शिल्पियो ने पडोसी देश भारत से ग्रहण किये गये बिम्ब को अपने ढंग मे ढाला।

पजीकद को उचित ही सोग्दी चित्रकला का महासागर कहा जा सकता है। यहां

नटराज शिव। पंजीकंद। (रैखिक पुनर्कल्पन)

भित्तिचित्र भांति-भांति के भवनो – महल मे, मंदिर में, समृद्ध नगरवासियो के घरो – मे मिले हैं। पजीकद के भित्तिचित्रो में "शोक दृश्य" विशेषत उल्लेखनीय है। यह आदि मध्य युग की सोग्दी कला का और शायद सारी पूर्वी कला का ही एक रत्न है। रचना के केंद्र में मृत युवक है। उसे समाधि मे, शायद, विशेष खेमे में रखा गया है। दिवगत युवक के पीछे शोक मनाने वाली औरतें हैं, जो अपना सिर धुन रही हैं। नीचे समाधि के आधार के पास श्वेत वस्त्रधारी तीन आकृतिया हैं। इनमें दो ने मोटी मूठ वाली वस्तुए, संभवत:, मशालें पकड रखी हैं और एक बिना दस्ते का पात्र पकड़े है। इससे भी नीचे चार पुरुष और एक स्त्री बने है, तथा इनके आगे दो और आकृतियां हैं। चित्रकार ने चित्रित व्यक्तियों का शोक बहुत ही अच्छी तरह व्यक्त किया है। दुखभरे चेहरे, शोकमय आंखे, खुले बाल, बहुतो के शरीर और चेहरे पर खरोंचे व चीरे हैं। दो पुरुष कटार से अपने कानों के लोलको पर चीरा लगाते दिखाये गये हैं। एक पुरुष दिवगत युवक के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा और उसकी मृत्यु पर अपार शोक के कारण मानो अपनी नाक बींध रहा है। इस अंश से बाई ओर कुछ कम अच्छी हालत में तीन देवियों के चित्र बचे रहे हैं, एक देवी के कई हाथ हैं। उन्होंने अपने हाथ सिरो की ओर उठा रखे हैं, प्रत्यक्षत: वे भी शोक प्रकट करने वालियो की गतियां दोहरा रही हैं। कुछ शोधकर्त्ताओ का मत है कि श्वेत वस्त्रधारी लोग सोग्दी हैं, जबकि लाल और पीले-कत्थई वस्त्र पहने, उभरे गालों और तिरछी आंखों वाले लोग तुर्क हैं। यदि ऐसा है तो इसका अर्थ है कि अंत्येष्टि में स्थानीय मूल के निवासियो के साथ आप्रवासी भी भाग ले रहे हैं, जिन्होंने स्थानीय परम्पराए और विश्वास ग्रहण कर लिये हैं। सोग्दी और तुर्क, मानव और देवता किसकी मृत्यु पर शोक मना रहे हैं? इस प्रश्न पर शोधकर्त्ताओं के विचार भिन्न-भिन्न हैं। कुछ का कहना है कि इस दृश्य मे परलोक के बारे में मानीवादियो के दृष्टिकोण व्यक्त हुए हैं, जबकि दूसरे इस दृश्य में मध्य एशियाई साहित्य और कला के लोकप्रिय पात्र – सियावुश – की मृत्यु की कथा से समानता पाते हैं। सियावुश और उसकी मृत्यु की कथा को फिरदौसी के 'शाहनामा' मे भी स्थान मिला है और दसवीं सदी के बुखारा के इतिहासकार नेरशाह ने भी इसका उल्लेख किया है। लिखित स्रोतो से हम यह जानते हैं कि सोग्द मे सियावुश की पूजा का प्रचलन था, लेकिन यह कहना कठिन है कि पजीकद का शोक दृश्य सियावश की मृत्यु के कथानक से संबधित है या नही।

सभाव्य सादृश्य के तौर पर बुद्ध के निर्वाण का वर्णन इंगित किया जा सकता है, जो हम बौद्ध ग्रंथों और सर्वप्रथम महायान की रचनाओं से जानते हैं। शोक दृश्य मे मनुष्य भी और देवता भी भाग ले रहे हैं, यही नही, लोग अपने को ऐसी यत्रणा पहुचा रहे हैं कि उनके शरीर से रक्त धरती पर गिर रहा है और वहा उसकी नदी बह रही है। बेशक पजीकंद के दृश्य मे प्रत्यक्ष बौद्ध प्रतीक नही है, लेकिन वर्णन में समानता निर्विवाद है और इसलिए ध्यातव्य है, विशेषत: यदि हम पजीकद की

सोग्दी कला और भारतीय कला के बीच दूसरे सादृश्यों का होना ध्यान मे रखे।

साथ ही इस बात पर भी ज़ोर देना चाहिए कि चित्रकार ने शोक और आत्म-यंत्रणा के जो दृश्य बनाये हैं, वे इतिवृत्तात्मक हैं। अल-बरूनी ने भी लिखा था कि सोग्दी लोग शोक मनाते समय अपने चेहरे पर घाव कर लेते हैं।

वरख़्शा मे मिले महल के भित्तिचित्र बहुत रोचक हैं। यहा प्रो० व० शीश्किन ने कई वर्षों तक अनुसधान कार्य किया। वरख़्श महल के लाल कक्ष में सभी भित्तिचित्र एक कथानक मे सबंधित हैं। यहा हाथी पर सवार लोगों द्वारा अजीबोगरीब वन्य जीवों का शिकार दिखाया गया है। सारी रचना को अलग-अलग दृश्यो मे बांटा गया है। हर दीवार पर हाथी पर सवार लोग तथा भीमकाय जानवरों – चीतों, सपक्ष सिंहों, बाघों, शेरों – से उनका संघर्ष दिखाया गया है। कक्ष की लाल पृष्ठभूमि सभी दृश्यो को एक सूत्र मे पिरोती है। हाथी पर राजा और युवा सेनानी तथा महावत

एक चतुर्भुज देवता। पंजीकंद। (रैखिक पुनर्कल्पन)

बैठे हैं। वे जानवरों का निर्भीकतापूर्वक सामना कर रहे हैं। हाथी पर सवार होकर शिकार करने का विचार प्रत्यक्षत: भारत से लिया गया है, क्योंकि मध्य एशिया मे ऐसी विधि ज्ञात नही थी।

दिलचस्प बात यह है कि हाथी काफी अजीब से, बल्कि सही-सही कहा जाये, तो कुरूप भी बनाये गये हैं – धड़ बहुत लबा है और टांगे छोटी। हाथियो के बाहरी दात भी ठीक नही बनाये गये हैं, वे ऊपरी जबड़े मे नही, निचले जबडे मे निकले हुए है। सभवत: चित्रकार कभी भारत नहीं गया था, उसने कभी हाथी नही देखे थे, इसलिए विभिन्न वर्णनों के आधार पर ही उसने उनका बिम्ब बनाया था। चित्रकार ने हाथी को घोड़े जैसी लगाम के साथ दिखाया है, महावत भी गर्दन पर नही, सिर पर बैठा है। कुछ दूसरे दृश्यो में तो सवारो के लिए रकाबें तक दिखाई गई हैं।

इस भित्तिचित्र की अजंता के साथ निश्चित समानता है, वस्त्र, आभूषण, इत्यादि मिलते-जुलते हैं। लाल कक्ष मे जहां एक ही रचना को विभिन्न दृश्यो मे बाटा गया है, वहीं पूर्वी कक्ष मे या जैसा कि इसे कहा जाता है, पीले सपक्ष ऊट के कक्ष में हर दीवार पर अपने आप में सम्पूर्ण रचना चित्रित है। दक्षिणी दीवार का भित्ति-चित्र विशेषत: रोचक है। यहां पीले सपक्ष ऊटो से सुसज्जित सिंहासन पर बैठा राजा चित्रित है। उसके बाई ओर चषक लिये कुछ लोग हैं, तथा दाई ओर यज्ञ वेदी के सामने, जिसमें आग जल रही है, कुछ लोग खडे हैं। यह प्राचीन वरख्श के दरबारी जीवन का एक दृश्य है। यहां राजा शासक भी है और सर्वोच्च पुरोहित भी। सपक्ष ऊट का चित्र मध्य एशिया में मिले एक चादी के पात्र पर भी पाया गया है, यह पात्र लेनिनग्राद के हर्मिताज सग्रहालय में है। इसे ध्यान मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि उपरोक्त डिज़ाइन का आधार मध्य एशियाई ही है। वरख़्श में सभी भित्तिचित्र, मध्य एशिया के ऐसे दूसरे सभी स्मारको की ही भांति, मृदा के पलस्तर पर गोद मिले रगों से बनाये गये हैं। सूखे पलस्तर पर चित्र बनाने की यह विधि भारत (अजंता), अफ़गानिस्तान (बामियान) और दुनहुआन की सहस्रबुद्ध गुफा तक मे पाई जाती है। लेकिन कुल जमा वरख्श के भित्तिचित्र मध्य एशियाई कला ही है, जिसका मूल स्थानीय कला परम्परा मे है और जिसका सादृश्य मध्य एशिया की दूसरी कला धाराओं (पंजीकंद, बालालीक तेपे) से है। सभव है कि ये परम्पराएं कुषाण युग से, अधिक प्राचीन बाख़्त्रीय-तुखारिस्तानी कला धारा से चली आ रही हो।

मध्य एशियाई मूर्तियो की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, क्योंकि इसके कुछ नमूनो मे हम भारतीय संस्कृति का, भारत की मूर्तिकला की विभिन्न धाराओ का स्पष्ट प्रभाव पाते हैं।

वरख़्श में एक किन्नरी की मूर्ति मिली है। ऐसी ही दो मूर्तिकाएं पजीकंद मे भी मिली हैं, जहां लगता है कि वे किसी इमारत में मेहराब की सज्जा का अग थी। भारतीय कला में तो इससे काफ़ी पहले से ही किन्नरी का बिम्ब प्रचलित रहा है।
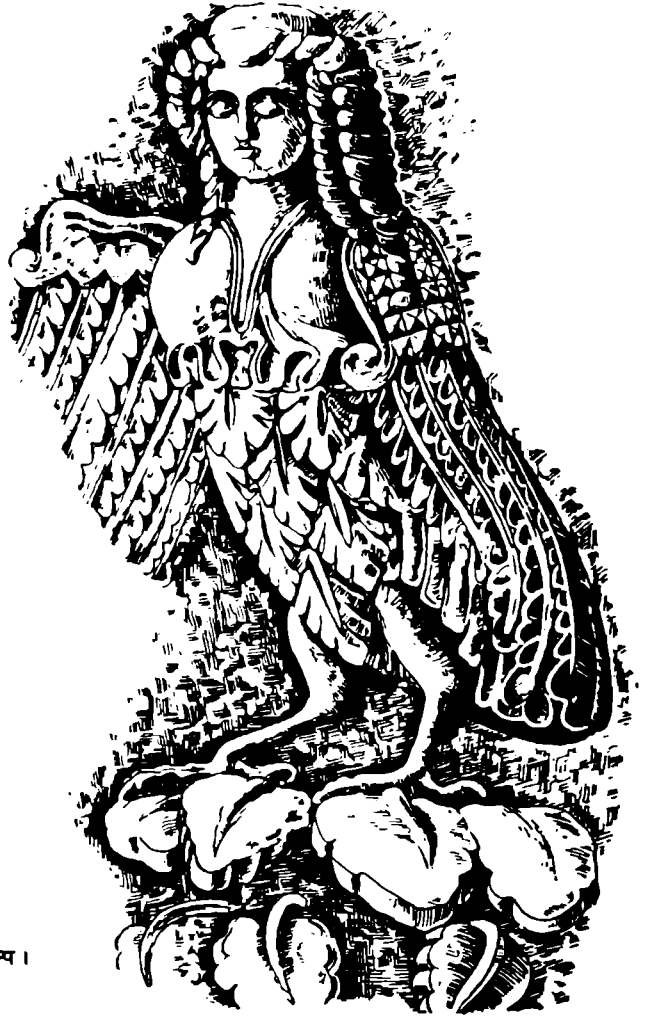
किन्नरी। गच मूर्तिशिल्प। वरख्श। (पुनर्कल्पित)

हाल ही में इलाहाबाद के पास प्राचीन भारतीय नगर कौशाम्बी के उत्खनन में महत्त्वपूर्ण खोजें हुई हैं। शक-कुषाण काल के संस्तर में सपक्ष आकृतियां मिली हैं, जिनमें किन्नरियां भी हैं। दिलचस्प बात यह है कि पंजीकंद में किन्नर-किन्नरियों की जोड़ी चित्रित है और भारतीय कला में भी ऐसे जोड़े पाये जाते हैं। सांची और भरहुत की उद्भृत मूर्तियों में ऐसे जोड़े हैं। भारतीय साहित्य में भी किन्नर और किन्नरी के जोड़े का बिम्ब प्रचलित है।

एक ओर यह अनुमान व्यक्त किया गया है कि ईसवी संवत् की पहली सदियों में किन्नरी का बिम्ब भारत से मध्य एशिया में पहुंचा, लेकिन दूसरी ओर यह भी संभव है कि यह बिम्ब ईरान और अफ़ग़ानिस्तान से, जहां यह काफ़ी पहले से प्रचलित था, मध्य एशिया में ग्रहण किया गया हो।

पंजीकंद में काष्ठ मूर्तियां पाई गई हैं और हम यह जानते हैं कि भारत में ऐसी

मूर्तियो का व्यापक प्रचलन था। पजीक़ंद में मिली नर्तकी की आकृति मे भारतीय कला के अनेक लक्षण हैं। जलवायु काष्ठ मूर्तियों को नष्ट करती रही – इसलिए इनके बहुत थोड़े मे ही नमूने अब मिलते हैं। पजीक़ंद की मूर्तियां किसी सुसंयोग से आग में पूरी तरह नष्ट नही हुईं, बस झुलसकर रह गईं और इस तरह जलवायु के विनाशकारी प्रभाव मे बच गईं।

लकड़ी पर नक्क़ाशी उल्लेखनीय है। इसमें सपक्ष सिंहों की शोभा यात्रा तथा पीठ से पीठ मिले दो जीवों के रूप में बने सिहासन पर बैठी आकृति बनी हुई है। भारतीय ललित कला में सपक्ष सिंह का चित्रण कोई विरली बात नहीं है। पाटलिपुत्र के महल के उत्खनन में सिहासनाधार मे सपक्ष सिंह मिले हैं। प्रत्यक्षत भारतीय संस्कृति मे अखामनीषी ईरान से सपक्ष सिह का बिम्ब लिया गया। था। मुमकिन है कि पजीक़ंद में मिला सपक्ष सिहो की शोभा यात्रा का दृश्य भारत से सबंधित न हो, बल्कि पूर्ववर्ती काल में ईरान के साथ मध्य एशिया के घनिष्ठ सबंधों को प्रतिबिम्बित करता है।

पंजीक़ंद के मदिर के एक आंगन के उत्खनन में पुराविदों को मिट्टी की उद्भृत मूर्तियां मिली हैं, जो आंगन की सभी दीवारो पर बनी हुई थीं। इनमें प्लावन का दृश्य, सेनानी और जल मे तैरते विभिन्न जीव अंकित हैं। मानव आकृतियों के साथ यहां सूसे, मुह खोले भयावह जीव और पास ही खड़ा मीनमानव (ट्रीटन) भी है। अतिम दो आकृतियों की व्याख्या सबसे अधिक रोचक है। मीनमानव की आकृति को यदि अलग से लिया जाये तो वह हमें प्राचीन यूनानी कला के जगत में ले जाती है, लेकिन यदि साथ वाली आकृति से जोड़कर देखा जाये, तो इसका अंतर्य दूसरा ही हो जाता है, जो भारत और अफ़ग़ानिस्तान की संस्कृति से संबधित है।

खुले मुह वाला भयावह जीव मकर ही है – भारतीय कला में सर्वाधिक प्रचलित एक मिथकीय बिम्ब। इसके साथ प्रायः ऐसा जीव चित्रित किया जाता है, जो मीनमानव की याद दिलाता है। बौद्ध कला में मकर और मीनमानव का चित्रण बहुत प्रचलित हुआ। प्रायः मकर को जल शक्ति का प्रतीक माना जाता है, यह बात पंजीक़ंद की उद्भृत मूर्तियों के सामान्य विचार से अच्छी तरह मेल खाती है। इसे देखते हुए पंजीक़ंद मे जल देवता की पूजा की चर्चा की जा सकती है। हो सकता है, मूर्तिकार का अभिप्राय जेरावशान नदी की पूजा से रहा हो, यह नदी ही सोग्द की धरती को जल प्रदान करती है। यहां सादृश्य के तौर पर भारत की वे उद्भृत आकृतियां इगित की जा सकती हैं, जिनमें गंगा-यमुना अंकित हैं। मानव आकृतियां इन नदियों की देवियो हैं। ये देवियां जल जीवों पर, जिनमें मकर भी होता है, खडी होती हैं। जेरावशान की पूजा का संकेत इसके सोग्दी नाम में भी निहित है, सोग्दी भाषा में यह नदी "नामिक" कहलाती थी, और इस शब्द का अर्थ था "गुणगान करना"।

सोग्द की चित्रकला और मूर्तिकला पर भारतीय प्रभाव सामान्य कला परम्पराओं का भी और सीधे सबंधो का भी फल है। पजीक़ंद में कुछ साल पहले एक भाड के

अंश पर संस्कृत अभिलेख मिला था – यह तथ्य इस नगर मे किसी भारतीय का आना इंगित करता है।

आदि मध्ययुगीन मध्य एशिया की और शायद सारे पूरब की ही चित्रकला का एक विलक्षण नमूना प्राचीन समरक़ंद की चित्रकला है, जिसकी खोज सोवियत विद्वानों ने पिछले वर्षो मे प्राचीन समरक़ंद की स्थली – **अफ़ासिआब** – मे की है। अपनी २५०० वी जयंती मना चुके समरक़ंद के इतिहास में अनेक स्वर्णिम पृष्ठ हैं। यह संसार के उन प्राचीनतम नगरो मे से एक है, जो आधुनिक काल तक बड़े नगर केंद्रो के रूप में बने रहे हैं।

अभी कुछ समय पहले तक हम समरक़ंद के १६वी-१७वी सदियों के वास्तुकला स्मारक देखकर ही प्रभावित होते थे, परंतु अब हम छठी-सातवीं सदियों के सोग्दी कलाकारों की कृतियो का भी रसास्वादन कर सकते है। समरक़ंद प्राचीन रोम का समसामयिक नगर है; पुराविदो ने अफ़ासिआब मे प्रथम शती ई० पू० के सास्कृतिक सस्तरो का उत्खनन किया है। चौथी सदी ई० पू० मे मरकंदा (समरकंद) ने सिकंदर महान की सेनाओ के हमले झेले थे और यूनानियों-मकदूनियों के ख़िलाफ़ स्पितामेन नामक सेनापति के नेतृत्व में सोग्दियों के सघर्ष का केंद्र बना था। छठी-सातवीं सदी ० में समरक़ंद की फिर से उन्नति हुई, इसका व्यापार और दूसरे देशों के साथ संबंध बढे। अफ़ासिआब का उत्खनन करने पर पुराविदो ने उस काल के एक वास्तु-समुच्चय के अवशेष पाये हैं। प्रत्यक्षत: यह समरक़ंद के शासक का प्रासाद था। मृदा की ३-३.५ मीटर ऊची और खूब मोटी दीवारें बची रही हैं। ११×११ मीटर आकार के एक मडप मे भित्तिचित्र मिले हैं। दक्षिणी दीवार पर विशाल चित्र है: एक भव्य कारवां एक मडप की ओर बढ़ रहा है, जिसमे कुछ लोग, प्रत्यक्षत:, पथिकों का स्वागत कर रहे हैं। कारवा के आगे-आगे सफ़ेद हाथी है, जिसकी पीठ पर पालकी है। हाथी के चित्र के कुछ अंश ही बचे हैं। हाथी की पीठ पर बेलबूटेदार झूल और गले में घटी है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पालकी मे कोई सभ्रांत महिला या शायद राजकुमारी बैठी है, उसके साथ एक दासी भी चित्रित है। हाथी के पीछे-पीछे तीन घोडे चित्रित है, जिनके ऊपर दरबारी महिलाएं सवार हैं। एक आकृति बहुत अच्छी दशा में बची रही है और हम महिला का परिधान देख सकते हैं। वह लाल क़मीज़, पीली सलवार और काले जूते पहने है। उसके कंधे पर दुपट्टा है, हाथों में चूड़ियां। एक महिला की बांह पर सोग्दी भाषा में संक्षिप्त अभिलेख है। "रानी की सखी"। सभ्रांत महिलाओ के पीछे ऊटों पर दो पुरुष हैं। इनमें एक काफ़ी जवान है, गोरे चेहरे, पतली-पतली मूछों और छोटी-सी काली दाढ़ी वाला, दूसरा सफ़ेद दाढ़ी वाला सावला वृद्ध है। इन व्यक्तियों के उच्च पद का पता इस बात से चलता है कि इनके हाथो मे दंड हैं। दोनों पुरुष अस्त्रों मे सुसज्जित हैं – उनकी कमर पर तलवारें और कटारें लटक रही हैं। यही पर भारी भेंट – घोड़ों का झुंड (इनकी टांगे चित्र के ऊपरी भाग में बची रही हैं) और श्वेत पक्षी हैं।

प्रत्यक्षत पक्षियो के चित्रण का कोई विशेष अर्थ था, क्योकि इन्हें चित्र के विन्यास मे एक केद्रीय स्थान प्राप्त है। पक्षियो के साथ दो मशस्त्र पुरुष हैं, जिनके चेहरे का निचला भाग सफ़ेद पट्टी मे ढका हुआ है। पक्षियो के पास ही पीले घोडे पर सवार व्यक्ति की विशाल आकृति है, जो खेदवश अच्छी दशा मे नही है। इसका ऊपरी भाग तो बचा ही नही है, क्योकि वह दीवार के शेष रहे भाग से उपर था। लेकिन आकृति के अश मे भी इसकी ऊंचाई की कल्पना की जा सकती है (चूकि दीवार केवल २ मीटर की ऊंचाई तक बची है, सो घुडसवार की आकृति कम से कम चार मीटर ऊची होनी चाहिए और इससे यह पता चलता है कि प्रासाद का यह मडप कितना भव्य था)। प्रत्यक्षत, शोभा यात्रा में इस घुड़सवार की स्थिति विशेष थी और यह सारा दृश्य विवाह से सबंधित था। प्रत्यक्षत:, हाथी पर सवार राजकुमारी समरकंद के शासक या उसके पुत्र के लिए ले जायी जा रही थी।

पश्चिमी दीवार पर लबे वस्त्र पहने पुरुष चित्रित हैं, उनके वस्त्र बेलबूटों से सुसज्जित है। उनपर चोच मे मोतियों की मालाएं लिये पक्षियो, सपक्ष श्वानों और सपक्ष सिहो की आकृतियां बनी हुई हैं। पुरुषो के सोने के कटिबंधो से लंबी तलवारें और कटारे लटक रही हैं। उनके चेहरे विभिन्न हैं: सावले और गोरे, युवा और प्रौढ़। कुछ चित्रित व्यक्तियो के हाथों में मालाओं या डिज़ाइनदार कपडे के टुकडों जैसी कुछ चीजें हैं। एक आकृति के श्वेत वस्त्र के दामन पर सोग्दी अभिलेख बचा रहा है, जिसमें चतागिआन के राजा द्वारा समरकंद के राजा के पास दूत भेजे जाने का उल्लेख है (चतागिआन सुर्खान दरिया की घाटी मे एक छोटा सा राज्य था)। अभिलेख के अनुसार राजा का प्रमुख सचिव दूत बनकर आया था। दूत निकटवर्ती राज्य चतागिआन मे ही नहीं, दूरवर्ती देशो से भी आये थे। एक आकृति की बांह पर सोग्दी भाषा में लिखा है "तिब्बत"। यदि दक्षिणी और पश्चिमी दीवारों के चित्रों की तुलना की जाये, तो इस अनुमान की पुष्टि होती है कि सोग्दी चित्रकारों ने समरकंद के शासक के जीवन की कोई महत्त्वपूर्ण घटना – उसका अपना या उसके उत्तराधिकारी का विवाह – चित्रित किया है। इस विवाह पर ही दूत भेटें लेकर आये है।

सोग्दी कला के विलक्षण उदाहरण – अफ़्रासिआब के भित्तिचित्र – मध्य एशिया की और सारे पूरब की ही प्राचीन संस्कृति के इतिहास मे एक नया पृष्ठ जोडते हैं।

सोग्दी अभिलेखो की खोज अत्यत महत्त्वपूर्ण है, क्योकि सोग्दी लेख अब तक बहुत कम ही मिले हैं। इन अभिलेखों की बदौलत हमें प्राचीन सोग्द के भारत और तिब्बत के भी साथ संबंधों का लिखित प्रमाण मिला है। सभवत हाथी और श्वेत पक्षी भारतीय प्रभाव में ही बनाये गये। श्वेत राजहस तो भारत में सरस्वती का वाहन माना जाता है।

मध्य एशिया और सुदूर पूर्व के अध्येताओ को अभी छठी-सातवीं सदियो मे
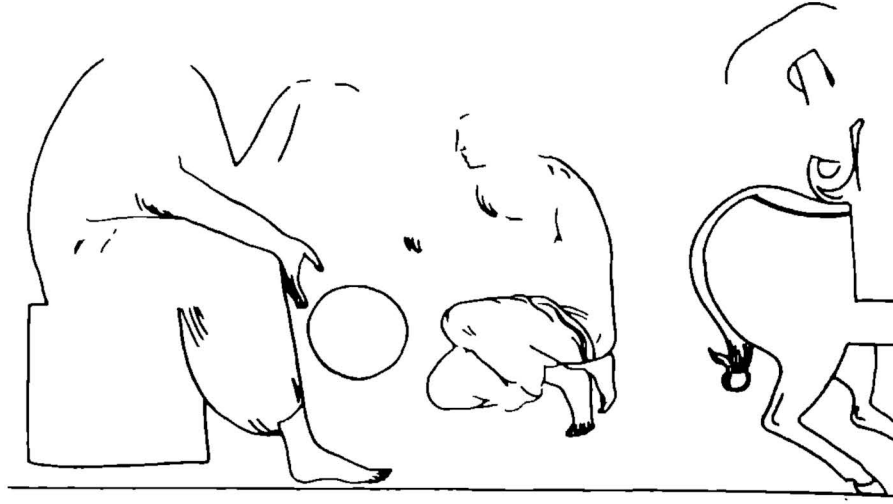
मध्य एशिया के तिब्बत के साथ सांस्कृतिक संबंधों के प्रश्न का, जिनका होना अफ़ासिआब प्रासाद के सोग्दी अभिलेख इंगित करते हैं, अध्ययन करना है।

'अफ़ासिआब की चित्रकला' नामक अपनी पुस्तक (ताशक़ंद, १९७५) में अफ़ासिआब के भित्तिचित्रों का विश्लेषण करते हुए प्रो० ल० आल्बाउम इस निष्कर्ष पर पहुचे है कि भित्तिचित्रों के कुछ अंशों में भारतीय लोग और भारतीय जीवन के दृश्य चित्रित हैं। स्त्रिया साड़ी पहने दिखाई गई हैं, हालांकि उनका चित्रण मध्य एशियाई है। हाथी पर सवार लोग दिखाये गये हैं और इन चित्रों में हाथी वरख़्श के हाथियों की तुलना में अधिक सही चित्रित किये गये हैं – प्रत्यक्षतः चित्रकार ने
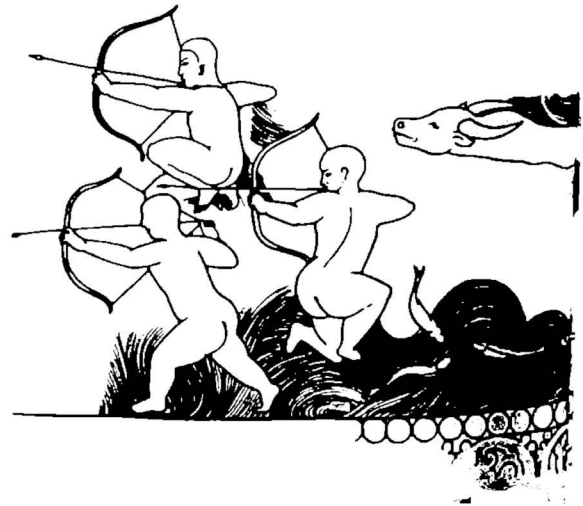
एक भारतीय पौराणिक कथा का दृश्य। अफ़ासिआब
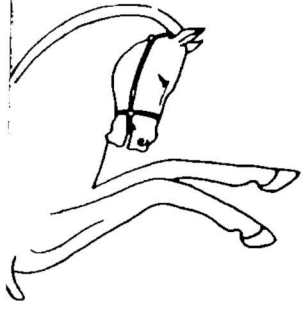
एक भारतीय पौराणिक कथा का दृश्य। अफ़ासिआब

ये विचित्र जतु देखे थे। भित्तिचित्रो मे गुलाबी और नीले कमल भी दिखाये गये हैं – प्रो० आल्बाउम के विचार मे यहा भारतीय दूत के समरकद आने का दृश्य चित्रित है। दूतमडल को एक नदी पार करते समय दिखाया गया है, जब वन्य जीव उस पर हमला करते हैं। हाथी पर सवार लोगो और वन्य जीवों का दृश्य वरख्श के भित्ति-चित्रो मे भी है। यह विषय प्राचीन भारतीय कला का एक लोकप्रिय दृश्य है।

कुल जमा अफ़ासिआब की चित्रकारी में विभिन्न देशों की कला परम्पराओ का सम्मिलन हुआ है, लेकिन इस सश्लेषण मे स्थानीय मध्य एशियाई लक्षण ही, जिनका मूल कुषाण काल मे था, प्रमुख रहे।

मध्य एशिया में सोवियत पुराविदों के नये शोधकार्यों के फलस्वरूप प्राचीन युग और आदि मध्य युग मे मध्य एशिया के अतर्राष्ट्रीय सबधों की दिशाओ और विस्तार का नया चित्र प्रस्तुत होता है। पुरातत्वीय सामग्री से भारत, सुदूर पूर्व, निकट पूर्व और ईरान के साथ तथा कालातर मे बैजतिया के साथ मध्य एशिया के घनिष्ठ संबधों के बारे मे लिखित स्रोतो से प्राप्त जानकारी मे नई जानकारी जुड़ी है।

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि मध्य एशिया ने चीन को बौद्ध धर्म से परिचित कराने मे कितनी बडी भूमिका अदा की थी। बौद्ध धर्म के माध्यम से ही भारत और मध्य एशिया की सस्कृति सुदूर पूर्व मे पहुची। मध्य एशिया के जनगण ने केंद्रीय एशिया और चीन के जनगण को यूनानी-रोमन जगत की विलक्षण उपलब्धियों से परिचित कराया, सुदूर पूर्व के जनगण की सांस्कृतिक परम्पराओं को स्वयं आत्मसात किया और भूमध्यसागर क्षेत्र के देशो तक पहुचाया। उदाहरणत., चीनियों ने मध्य एशिया से ही कुछ वनस्पतिया – लूसर्न, अगूर और शायद कपास भी – उगानी सीखी। चीनी स्रोतो से यह ज्ञात है कि पांचवी सदी ई० के आरंभ में मध्य एशिया के निवासियो ने चीनियों को रगीन कांच बनाना सिखाया था। सुदूर पूर्व के जनगण को मध्य एशियाई सभ्यता की उपलब्धियो से अपनी सस्कृति समृद्ध करने तथा मध्य एशिया के जनगण को चीन के जनगण की अनेक विलक्षण उपलब्धियों से परिचित होने मे "चीन की दीवार" कोई बाधा नही थी।

कुषाण युग मे मध्य एशिया के संबध विशेषत: व्यापक बने। कुषाण राजाओं के सिक्के कीयेव के पास, अबीसीनिया में, स्कैंडिनेविया में, रोमन साम्राज्य के नगरों में मिले हैं, उधर रोमन सम्राटो आगस्टस, टाइबेरियस, आदि के सिक्के पश्चिमी और दक्षिणी भारत के नगरों में मिले हैं। कामा नदी के मैदान में कुषाण सिक्कों की तथा उराल-पार के क्षेत्र में ख्वारज़्म की चादी की वस्तुओ की खोज से उत्तरी संबंधों का क्षेत्र इगित होता है।

"महान रेशम मार्ग" कुषाण राज्य मे होकर ही रोमन सीरिया को जाता था। काला सागर के उत्तरी तट के यूनानी नगरों को भी रास्ते यहा ख्वारज़्म से ही जाते थे। उल्लेखनीय है कि कुषाणकालीन मध्य एशिया में रोमन भांडो की नक़ल के चिकनी मिट्टी के भांड बनाये जाते थे (ऐसी नकल वाख्त्री मे भी – कारा तेपे में – तथा ख्वारज़्म और सोग्द मे भी होती थी)। सुविदित है कि भूमध्यसागर तटीय क्षेत्र के साथ मध्य एशिया के सबंध कुषाण काल से बहुत पहले ही स्थापित हो चुके थे। यहां एलिफेंटीना द्वीप के अभिलेखों की यह साक्षी स्मरणीय है कि दर्गमान नाम का एक ख्वारज़्मी ई० पू० पांचवी सदी में वहा की सेना मे योद्धा था। लिखित स्रोतों तथा पुरातत्वीय सामग्री से (सर्वप्रथम पूर्वी तुर्किस्तान के "पुराने" सोग्दी लेखों से) यह पता चलता है कि चौथी सदी ई० मे "महान रेशम मार्ग" का सारा पूर्वी भाग सोग्दियों के हाथ में था, जिन्होंने आंतरिक एशिया में अपनी बस्तियां बना ली थीं, अनेक जनगण के साथ व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध स्थापित किये थे, चीन के

भीतरी इलाक़ो को अपने कारवां भेजते थे। सोग्द का रेशम चीन और निकट पूर्व के रेशम से टक्कर लेते हुए बैज़तिया और पश्चिमी यूरोप मे पहुचा। इसका पता हाल ही मे यूरोप के गिरजो के ख़ज़ानो में ऐसे रेशमी वस्त्रों की खोज मे चला है, जिनपर सोग्दी अक्षर, शब्द अकित हैं। विशाल भूविस्तार में सोग्दी भाषा अंतर्राष्ट्रीय सम्पर्क की भाषा बन गई। उइगूर वर्णमाला, जो मगोलियाई और मचूरियाई वर्णमालाओ का आधार बनी, का मूल सोग्दी लिपि ही है।

पांचवी-आठवी सदियो मे बैज़तिया के साथ सोग्द के संबध घनिष्ठ हुए। बैज़-तियाई सिक्के मध्य एशिया मे प्रकट होने लगे। मध्य एशिया मे छठी सदी की एक बैज़तियाई तश्तरी की खोज विशेषत: रोचक है, जिस पर वीनस का चित्र बना है और सोग्दी अभिलेख है। यह भी ज्ञात है कि मध्य एशिया के राज्यो और बैज़तिया के बीच दूतो का आदान-प्रदान होता था। इनमे से एक कुस्तुतुनिया आया था और उसकी अगुवाई सोग्दवासी कर रहे थे।

वर्ष प्रति वर्ष मध्य एशिया के जनगण की मौलिक प्राचीन संस्कृति के बारे में नई-नई जानकारी प्राप्त हो रही है। बहुसख्यक पुरातत्वीय अभियान दलो का काम जारी है। इसमें कोई संदेह नही कि मध्य एशियाई सभ्यताओ के इतिहास में जो पृष्ठ अभी नही पढ़े गये हैं, वे पढ लिये जायेंगे और हम पूरब के जनगण की प्राचीन सस्कृतियो के रहस्योद्घाटन के समीप पहुंच जायेंगे। इन शोधकार्यो मे प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति के अनेक प्रश्नों को समझने मे भी मदद मिलेगी, आख़िर भारत के जनगण अति प्राचीन काल मे मध्य एशिया के जनगण के साथ घनिष्ठ सबधों से जुड़े रहे हैं। प्राचीन युग की दो महान सभ्यताओं के ऐतिहासिक-सास्कृतिक सम्पर्को का इतिहास दो देशो – सोवियत सघ और भारत – के बीच मैत्री के प्राचीन बधनो का ज्वलत प्रमाण है, उस मैत्री का जो वर्ष प्रति वर्ष सुदृढ होती जा रही है।

मध्य एशिया मे सोवियत विद्वानो की खोजों का भारतीय विद्वान उच्च मूल्यांकन करते हैं, वे सोवियत पुराविदों के प्रकाशनों की सदा प्रतीक्षा मे रहते हैं। सोवियत और भारतीय विद्वानो की भेंटे अब अक्सर आयोजित की जाती है। मध्य एशिया और भारत मे हुए अतर्राष्ट्रीय सम्मेलनो और संगोष्ठियों की फलप्रदता विशेषत: उल्लेखनीय है। इनमे दोनों देशो के विद्वान अपने क्षेत्र की मूलभूत समस्याओ पर विचार-विमर्श और भावी शोधकार्यो के परिप्रेक्ष्यों पर ग़ौर करते हैं। अक्तूबर १९७७ मे दुशाबे में ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी के केंद्रीय एशिया के इतिहास की नृजातीय समस्याओ पर अतर्राष्ट्रीय सगोष्ठी हुई, जिसमें भारतीय विद्वानों बी० बी० लाल, बी० के० थापर, आर० एस० गौड, लल्लनजी गोपाल, आदि ने भाग लिया। इस सगोष्ठी मे आर्यो की समस्या ही केंद्रीय थी, जिसे हल करते समय सर्वप्रथम मध्य एशिया और भारत की सामग्रियो को ध्यान मे रखा जाना चाहिए।

प्राचीन भारतीय सभ्यता के इतिहास के अध्ययन के लिए मध्य एशियाई सामग्री के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए १९८० मे भारतीय इतिहासकारो और पुराविदो

ने यह प्रस्ताव रखा कि भारत और मध्य एशिया के प्राचीन संबंधों का अध्ययन करने के लिए संयुक्त सोवियत-भारतीय परियोजना तैयार की जाये। भारत की ओर से इस परियोजना के संचालक सुविख्यात पुराविद प्रो० जी० आर० शर्मा हैं। आगामी दो दशकों के लिए अनुसंधानों का कार्यक्रम निर्धारित किया गया है, जिसमे संयुक्त संगोष्ठियों का आयोजन और रचनाओं का संयुक्त प्रकाशन भी शामिल है। इस परियोजना के क्रियान्वयन में पहला क़दम था फ़रवरी १९८२ मे इलाहाबाद विश्व-विद्यालय द्वारा आयोजित संगोष्ठी, जिसमें सोवियत विद्वानों ने भी भाग लिया।

निस्संदेह सोवियत और भारतीय विद्वानों के संयुक्त कार्य भारत और मध्य एशिया के जनगण के इतिहास और संस्कृति की अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याओं के हल में सहायक होंगे तथा भारत और सोवियत सघ के बीच परम्परागत मैत्री की नई अभिपुष्टि बनेंगे।

सोवियत संघ के संग्रहों में भारतीय हस्तलिखित ग्रंथ

सोवियत संघ मे प्राचीन भारतीय संस्कृति के विभिन्न पक्षों से संबंधित भारतीय हस्तलिखित ग्रथों के बहुत बड़े संग्रह हैं। इनके संकलन का काम १८ वीं सदी में ही शुरू हो गया था, लेकिन प्रमुख निधि १९वी सदी में ही पूरब के देशों में गये रूसी यात्रियों और प्राच्यविदो के प्रयत्नों से जमा की गयी। सबसे बड़ा संग्रह इवान मिना-येव के नाम से संबद्ध है, जो भारत, नेपाल और वर्मा मे अनेक अमूल्य ग्रथ, सर्वप्रथम बौद्ध और जैन ग्रंथ लाये थे। मिनायेव की वसीयत के अनुसार उनका संग्रह लेनिन-ग्राद की पब्लिक लाइब्रेरी को सौंप दिया गया था और अब ये ग्रंथ यहीं पर संरक्षित हैं। हस्तलिखित ग्रंथो का दूसरा बडा केंद्र है सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान की लेनिनग्राद शाखा। इसका संग्रह १८१८ मे स्थापित एशियाई संग्रहालय की निधि पर आधारित है। केंद्रीय एशियाई निधि भी यही संरक्षित है, इसे जमा करने में काशगर स्थित रूसी दूत न० पेत्रोव्स्की ने तथा अकादमीशियन ओल्देनबुर्ग ने बहुत बड़ी भूमिका अदा की थी।

डोर्न, बोटलिंग, मिरोनोव, ओल्देनबुर्ग और वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की की रचनाओं में भारतीय हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण और उनकी सूची दी गई है। मिरोनोव द्वारा तैयार किये गये दो सूचीपत्र (एशियाई संग्रहालय तथा पब्लिक लाइब्रेरी में उपलब्ध भारतीय ग्रथो के) तथा प्राच्यविद्या संस्थान के भारतीय हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह के बारे मे वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की का सिंहावलोकन-लेख विशेषत: महत्त्वपूर्ण हैं। स्मरणीय है कि प्राच्यविद्या संस्थान में ६०० भारतीय हस्तलिखित ग्रंथ या उनके अंश हैं और इस गिनती मे केंद्रीय एशियाई संग्रह शामिल नही है।

प्राच्यविद्या संस्थान की लेनिनग्राद शाखा की भारतीय ग्रंथ निधि मे विविधतम रचनाओ की हस्तलिखित प्रतियां हैं। इनमें वैदिक पाठ और पुराण, महाकाव्य और काव्य, वैज्ञानिक रचनाए और दर्शन ग्रंथ, जैन और बौद्ध रचनाएं, आदि हैं। अधिकांश ग्रंथ संस्कृत में हैं, लेकिन पाली ग्रंथ भी काफ़ी संख्या में हैं। हम इनमे में सर्वाधिक रोचक ग्रंथो को ही इंगित करेंगे। वैदिक रचनाओ में 'तैत्तिरीय संहिता' की एक, 'वाजसैनेय संहिता' की तीन, 'ऐतरेय आरण्यक' और 'बृहदारण्यक' पर सायण की टीका की दो हस्तलिखित प्रतिलिपियां हैं। आरंभिक उपनिषदो (उदाहरणत, 'छांदोग्य उपनिषद') से शुरू करके शंकर की रचनाओ ('आप्तवज्रशुचि उपनिषद') तक विभिन्न उपनिषदों की प्रतिलिपियां भी यहां हैं। महाकाव्यों में यहा हस्तलिखित महाभारत और रामायण हैं, जिनमें गीता की दो प्रतियां हैं। पुराणों का सग्रह विशेषत: समृद्ध है, यहां 'गरुड़पुराण', 'पद्मपुराण' 'बृहद्धर्म पुराण', आदि के विभिन्न भागों की हस्तलिखित प्रतियां हैं। ('एकादशीमाहात्म्य' नाम से विभिन्न पुराणों के अशो का जो सकलन ज्ञात है, उसकी कुछेक हस्तलिखित प्रतियां हैं।

तांत्रिक साहित्य के ग्रंथों का अलग खण्ड है, इसमे ३२ हस्तलिखित रचनाएं हैं। इनमे काली पूजा संबंधी निर्देश, दुर्गा मंत्र और विष्णु पूजा विधि, तांत्रिक सूत्रो और उनके चित्रण की संक्षिप्त रचना ('तंत्रचक्रसंग्रह'), कृष्णानन्द वागीश की प्रसिद्ध रचना 'तंत्रसार', गणेश स्तुति (गकार से आरंभ होने वाले १०० देव-नाम), फलित ज्योतिष की तालिकाएं, इत्यादि हैं।

संस्कृत ललित साहित्य (काव्य) में 'बृहत्कथामंजरी' की हस्तलिखित प्रति, कालिदास के 'रघुवंश' की दो प्रतियां, 'कुमारसम्भव' की अपूर्ण हस्तलिखित प्रति का अंश तथा इस काव्य के पहले दो सर्गों पर भरतसेन की टीका 'सुबोध' की हस्तलिखित प्रति, 'हितोपदेश' और 'शुकसप्तति' के अंश, जयदेव कृत 'गीतगोविंद' की तीन प्रतियां, भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' का अंश, वररुचि की कविताओं के सग्रह ('नीतिसार' और 'नीतिरत्न') हैं। संस्कृत काव्य-संकलन 'सुभाषितार्णव' की अद्वितीय हस्तलिखित प्रतिलिपि का अपार वैज्ञानिक महत्त्व है। इसमें १००० से अधिक श्लोक हैं और इसके पाठ से लगता है कि रचनाकार जैन था। निधि में भारतीय नाटक से संबंधित २० हस्तलिखित ग्रंथ हैं। इनमे गोपीनाथ का नाटक 'कौतुकसर्वस्व' विशेषत: उल्लेखनीय है। यह भ्रष्ट राजाओ पर तीखा व्यंग्य है, हस्तलिपि में इसकी कविताओ का संस्कृत अनुवाद हाशिये पर दिया गया है। इतिहास और काव्यशास्त्र के ग्रंथों में मम्मट कृत 'काव्यप्रकाश' ध्यान आकर्षित करता है। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियां निधि मे हैं। व्याकरण की रचनाओं और उनपर टीकाओ की ४० प्रतिलिपियां हैं। इनमे दुर्गासिंह की टीका सहित शर्ववर्मन के 'कतंत्र' नामक संस्कृत व्याकरण की तीन प्रतियां; संस्कृत व्याकरण के विभिन्न प्रश्नो से संबंधित कृतियों (जयराम, रत्नपाणि, भरतसेन की रचनाओं) की प्रतिलिपियां हैं। क्रिया उपसर्गों के बारे में रचना 'उपसर्गवृत्ति' एक तरह से 'धृतबोध' का परि-

शिष्ट है। अमरसिह के 'अमरकोश' की प्रतिलिपि तथा 'महाव्युत्पत्ति' की कतिपय प्रतिलिपियां अत्यंत मूल्यवान हैं। बौद्ध पारिभाषिक ग्रथ 'महाव्युत्पत्ति' का प्रकाशन मिनायेव ने किया था और न० मिरोनोव ने 'बौद्ध पुस्तकमाला' के १३ वें खण्ड में इसका नया सस्करण निकाला था।

निधि में ब्राह्मण दर्शन और बौद्ध दर्शन की विभिन्न रचनाओं की ५० हस्तलिखित प्रतिलिपियां हैं। इनमें पतंजलि के 'योगसूत्र' और शंकर के 'योगतारावली' (राजयोग पर रचना) की प्रतियां हैं। न्याय पर कुछ रचनाएं हैं और इनमें कमलशील के 'भावनाक्रम' की अद्वितीय हस्तलिखित प्रति, 'ब्रह्मसूत्र' का पूरा पाठ, शंकर कृत 'शारीरकभाष्य' पर वाचस्पतिमिश्र की टीका 'भामती' का एक अंश तथा शंकर की अन्य रचनाओं (जैसे कि 'आत्मबोध'), प्रसिद्ध वेदांत रचना 'अष्टावक्रगीता', आदि की बहुसंख्यक प्रतिलिपियां हैं।

वैज्ञानिक रचनाओ में शतानन्द की खगोलविद्या पर पुस्तक 'भास्वती' (११वीं शताब्दी) की दो हस्तलिखित प्रतियां तथा कंठ ग्रंथियों के अर्बुदों के बारे में आयुर्वैदिक रचना 'गलगण्डमाला' की प्रतिलिपि तथा खगोलविद्या की विभिन्न रचनाओं और पंचागों की बहुसंख्यक प्रतिया उल्लेखनीय हैं (हाशियों पर लिखी टिप्पणियों को देखते हुए लगता है कि इन प्रतियो मे कुछ गे० लेबेदेव ने जमा की थीं)। 'कृषि-पद्धति' नामक संस्कृत रचना, जो पराशर ऋषि की लिखी मानी जाती है, की हस्तलिखित प्रति अत्यत रोचक है।

निधि मे जैन काव्य ग्रथ 'चित्रसेनपद्मावतीचरित' (रचयिता नयविजय) की प्रतिलिपि भी है। यह रचना सुंदरी पद्मावती की सुविख्यात कथा का जैन रूपांतर है (सोवियत संग्रह मे जो प्रतिलिपि है, उसमें ५३६ श्लोक हैं)। बौद्ध ग्रंथों में से यहां संस्कृत और पाली में लिखित सिद्धांत ग्रंथो की हस्तलिखित प्रतियां सिंहल में टीका सहित उपलब्ध हैं। साथ ही 'मिलिंदपन्ह', 'ललितविस्तर', 'सद्धर्मपुंडरीक' जैसी रचनाएं तथा 'समंतपसादिका' (विनयपिटक पर बुद्धघोष की टीका, कम्बोजी लिपि), 'कथावत्थु-अत्थकथा', 'भिक्खुपतिमोक्ख' (सिंहल लिपि) की आंशिक प्रतियां हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हस्तलिखित ग्रथों का दूसरा बड़ा संग्रह लेनिनग्राद की राजकीय पब्लिक लाइब्रेरी में है। न० मिरोनोव की सूची में ३०४ हस्तलिखित प्रतिलिपिया गिनाई गई हैं, लेकिन यह भारतीय निधि का केवल एक अंश ही है, क्योंकि सूची का केवल पहला भाग ही प्रकाशित हुआ है। दूसरे भाग में, जो खेदवश प्रकाशित नहीं हो पाया, पाली के ग्रथ तथा उत्तरी बौद्ध ग्रंथ शामिल थे। लेकिन मिरोनोव द्वारा प्रकाशित सूची भी सारे संग्रह के स्वरूप को इंगित कर देती है और उसका अपार वैज्ञानिक महत्त्व दर्शाती है। १३० से अधिक हस्तलिखित ग्रंथो को मिरोनोव ने ब्राह्मण ग्रंथों की श्रेणी मे रखा है। इसमें दर्शन, धर्म, विज्ञान, काव्यशास्त्र, व्याकरण, आदि के विभिन्न पहलुओं पर भांति-भांति का संस्कृत साहित्य भी है।

महाकाव्य रचनाओ में रामायण के आरंभिक अंश की हस्तलिखित प्रति तथा गीता की दो प्रतियां उल्लेखनीय हैं, जिनमें एक मचित्र है (यह संस्कृतविद कोमोविच द्वारा भेट की गई थी।) इस निधि में पुराणो के बहुत से अंश भी हैं। धार्मिक ग्रंथो मे मर्वाधिक रोचक हैं काली की वंदनाओं का संग्रह और दुर्गा पूजा का ग्रंथ ज्ञानार्णव '। तात्रिक माहित्य बड़ी मंख्या में है, इसमें 'उदारकोश' भी है, जो दक्षिणमूर्ति का लिखा माना जाता है; काव्यों में 'गीतगोविंद' और कालिदास कृत 'कुमारमभव' के अंशो की हस्तलिखित प्रतिलिपियां सबमे महत्त्वपूर्ण हैं। 'वेतालपंचविंशनिका' बहुत रोचक है—यह गुणाढ्य कृत 'बृहत्कथा' के अंशों का क्षेमेन्द्र द्वारा किया गया गद्य रूपांतर है ('बृहत्कथा' की तो खेदवश अब तक कहीं भी कोई प्रति नही मिली है)। काव्यशास्त्र की रचनाओं मे केशव मिश्र का 'अलंकारशेखर' उल्लेखनीय है, यह शौद्धोधन के 'अलंकारसूत्र' की टीका है। व्याकरण की रचनाओं में से प्राकृत के प्रसिद्ध व्याकरण, चंद कृत 'प्राकृतलक्षण' की नेपाली हस्तलिखित प्रति उल्लेखनीय है। दर्शन ग्रंथो की हस्तलिखित प्रतियों में योग दर्शन की रचनाएं (उदाहरणत, 'गोरक्षय-योगशास्त्र', 'हठयोगप्रदीशिका', आदि), मीमांसा रचनाएं (अप्पयदीक्षित कृत 'नक्षत्रवादाली'; इसके २७ अध्यायों में से १५ अध्याय इस संग्रह की प्रति मे हैं), वेदांत रचनाएं (पद्मपाद कृत 'पंचपादिका'—शंकर के 'शारीरकभाष्य' की टीका, 'ब्रह्मसूत्र' पर रामानुज की टीका 'रामानुज श्रीभाष्य', मध्व की 'ब्रह्मसूत्र' पर टीका, इत्यादि) हैं। इस निधि में ज्योतिषविद्या के अनेक ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियां हैं, जैसे कि सहजपाल के 'जातकशेखर' की 'जातकपद्धति', 'मुहूर्तचिंतामणि' और 'सारसंग्रह' की, मनुष्य के विभिन्न शारीरिक लक्षणों के अनुसार उसका स्वभाव और भाग्य बताने की पुस्तक 'समुद्रिका' की प्रतियां। १४० हस्तलिखित प्रतियां जैनों से संबंधित हैं, इनमें कुछ अत्यंत मूल्यवान प्रतिलिपियां भी हैं। 'आचारांगसूत्र' की एक और 'कल्पसूत्र' की दो (इनमे एक 'कल्पलता' नामक टीका सहित) और 'सूत्रकृतांगसूत्र' की एक प्रति के साथ-साथ निधि में सूत्रों पर अनेक टीकाएं भी हैं—शीलंक कृत 'आचारटीका' ('आचारांगसूत्र' पर टीका), लक्ष्मीवल्लभ कृत 'कल्पद्रुमकलिका' ('कल्पसूत्र' पर टीका), इत्यादि। हरिभद्र कृत 'दशवैकल्पिकाबृहद्वृत्ति' की हस्तलिखित प्रतियां, दिगम्बर जैनों की संस्कृत और प्राकृत प्रार्थनाओं के संग्रह 'सामयिक' की प्रति, हेमचन्द्र की सुप्रसिद्ध रचना 'परिशिष्टपर्व' और प्राकृत गाथाओं के प्रसिद्र जैन संग्रह 'प्रवमसारोद्धार' की प्रति (कुल १६०९ गाथाओ में से इस प्रति में १६०९ हैं)—ये सब निस्संदेह रोचक हैं। कुछ दूसरे महत्त्वपूर्ण जैन ग्रथों की हस्तलिखित प्रतिलिपियों का भी उल्लेख किया जाना चाहिए। ये ग्रंथ हैं—दिम्बर जैन धर्मसिद्धांत पर श्रीवकोटि की रचना 'आराधना', सहजकुशल की रचना 'श्रुतिविचार', जो जैन धर्मग्रथो के उद्धरणों और उनपर टीकाओं का संकलन है; विद्वान ब्राह्मणों को जैन धर्म में लाने के लिए उनसे शास्त्रार्थ का निर्देश देनेवाली रचना मुनिसुंदर की

त्रैवैद्यगोष्ठी', जैन नैतिकता पर रत्नशेखर की रचना 'आचारप्रदीप', जिसमें लोक कथाओं जैसी गाथाएं भी हैं; गृहस्थ जैनो के दायित्वों के बारे में पूज्यपाद कृत 'उपासकाचार'। अन्य जैन ग्रंथो में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में लोकप्रिय रचना 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' (देवेन्द्र की टीका सहित) की हस्तलिखित प्रति, जैन रामायण – सोमसेन कृत 'पद्मरामपुराण' की प्रति तथा दिगम्बर जैनों के बीच बने सुप्रसिद्ध कथा संग्रह 'सम्यकत्वकौमुदीकथा' की दो प्रतियां है। इसके अलावा निधि में जैन पूजा विधियो, भावी जिनो की और महावीर की स्तुतियों, आदि की हस्तलिखित प्रतियां भी हैं।

बौद्ध ग्रंथो के संग्रह में भी कतिपय अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचनाओं की प्रतिलिपियां हैं: आर्यशूर कृत 'जातकमाला', अश्वघोष कृत 'बुद्धचरित', चंद्रगोमिन कृत 'शिष्य-लेख' और शांतिदेव कृत 'बोधिचर्यावतार' की प्रतियां। इनके अलावा प्रसिद्ध महायान सूत्रो, जैसे कि 'सुवर्णप्रभास' और अपरिमितायु बुद्ध के यशगान के लिए मंजुश्री के साथ बुद्ध के संवाद के रूप में लिखित 'अपरिमितायु सूत्र' की प्रतिलिपियां, महायान के दर्शन ग्रंथ रामपाल कृत 'सेकनिर्देशपंजिका' की प्रतिलिपि तथा 'मणिचूड़ावदान' (राजा ब्रह्मदत्त के पुत्र मणिचूड के रूप में बुद्ध के पूर्वजन्म की कथा) की प्रतिलिपि भी इस निधि में है।

सोवियत संघ के प्रमुख हस्तलिखित ग्रंथ संग्रहों में संरक्षित भारतीय ग्रंथों के इस मोटे-मोटे विवरण से भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतविदों के पास प्राचीन भारतीय संस्कृति के गहन अध्ययन की कितनी विशाल संभावनाएं हैं।

सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान की लेनिनग्राद शाखा में संरक्षित केंद्रीय एशियाई निधि का विशेष उल्लेख किया जाना चाहिए। इस निधि के हस्तलिखित ग्रंथ भारतविद्या के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, हालांकि इनकी खोज पूर्वी तुर्किस्तान में हुई। बात यह है कि आर्द्र जलवायु के कारण भारत में अधिकांश प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ नष्ट हो गये, सो बौद्ध धर्म का अध्ययन मुख्यतः मूल संस्कृत ग्रंथों से तिब्बती और चीनी भाषाओं में किये गये अनुवादों के आधार पर ही हुआ। जबकि केंद्रीय एशिया में उत्खनन के दौरान प्राचीन संस्कृत ग्रंथों की ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों में बनाई गई प्रतिलिपियां मिली। पुरालिपिक विशिष्टताओं के अध्ययन के आधार पर इन प्रतिलिपियों का लेखन-काल छठी-आठवी शताब्दी ई० माना गया है। बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए केंद्रीय एशिया में पाई गई इन हस्तलिखित प्रतिलिपियों का महत्त्व अपार है। केंद्रीय एशियाई निधि १९वी सदी के नौवें दशक में बनने लगी और अब यह संसार का एक सबसे बड़ा संग्रह है। बहुत बड़ी संख्या में हस्तलिखित ग्रंथ (मुख्यतः इनके अंश ही) काशगर में नियुक्त रूसी दूत न० पेत्रोव्स्की ने भेजे थे। उन्होंने ही भारतीय संस्कृति के प्राचीन ग्रंथो की खोज के लिए पूर्वी तुर्किस्तान के असाधारण महत्त्व की ओर सबसे पहले ध्यान दिया था। १८९२-१८९३ में उन्होंने अकादमीशियन ओल्देनबुर्ग को कागज, भोजपत्र और चर्म

पर लिखित ग्रथो के १०० से अधिक अंश भेजे। इनमें से कुछ ओल्देनबुर्ग ने प्रकाशित किये। १८९५ मे रूसी विज्ञान अकादमी तथा मध्य एवं पूर्वी एशिया के अध्ययन की रूसी समिति के अभियानों के फलस्वरूप एशियाई संग्रहालय को हस्तलिखित ग्रंथों के अंश बड़ी संख्या मे मिलने लगे। द० क्लेमेंत्स के नेतृत्व में रूसी अभियान दल ने तूर्फ़ान में समृद्ध संग्रह पाया, फिर म० बेरेज़ोव्स्की के अभियान दल ने तूर्फ़ान और कूचा मे कुछ ग्रंथों के अंश खोजे और अततः ओल्देनबुर्ग भी केंद्रीय एशिया के अपने दो अभियानों के दौरान ब्राह्मी लिपि में संस्कृत के २० से अधिक अंश पाने में सफल रहे।

रूसी विद्वानों के प्रयासो के फलस्वरूप एशियाई संग्रहालय में बौद्ध ग्रंथों का अत्यत मूल्यवान संग्रह बन पाया। अब लेनिनग्राद में हस्तलिखित ग्रंथों के ७०० से अधिक अंश सरक्षित हैं, लेकिन इनके बड़े भाग का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ है, हालांकि सोवियत विद्वान इन स्रोतों के अध्ययन का कार्य ज़ोरों से कर रहे हैं। यह निर्धारित करना ही बहुत कठिन है कि ये अंश किन ग्रंथों के हैं। बहुत से पाठों को पढ पाना भी कठिन है – ये ब्राह्मी लिपि के केंद्रीय एशियाई रूपांतर के भी आशुलिपि रूप में लिखे गये हैं।

केंद्रीय एशियाई निधि की सूची तैयार करने में व० वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की ने बहुत विशाल कार्य किया। अपने अल्प जीवन (१९२७-१९५६) में ही उन्होंने कतिपय अद्वितीय पाठो का प्रकाशन किया, जिनमें 'कश्यप-परिवर्त' के नये अंश, प्राचीनतम संस्कृत कोशो के अंश तथा ऊर्ध्व और कुटिल ब्राह्मी की अक्षर तालिकाएं भी थीं।

केंद्रीय एशियाई निधि मे 'सद्धर्मपुंडरीक' की विभिन्न प्रतिलिपियो के अंश हैं (इन्हे म० वोरोब्योवा-देस्यातोव्स्काया ने प्रकाशन के लिए तैयार किया है), 'शर्दुलाकर्णावदान' की हस्तलिखित प्रतिलिपि, अनेक धारणी पाठ, संस्कृत विनय के तथा प्रज्ञापारमिता पाठों के अंश, महायान सूत्रों ('महापरिनिर्वाणसूत्र') के अंश, इत्यादि हैं।

इन स्रोतों के अध्ययन से भारतविद्या समृद्ध हुई है और निस्संदेह आगे भी इसके फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण और रोचक खोजें होंगी।

निष्कर्ष

पहले रूस मे और फिर सोवियत संघ में भारतीय सभ्यता के अध्ययन के इतिहास करते हुए हमने अपने देश में प्राच्यविद्या संबंधी अनुसधानों की मूलभूत दिशाएं तथा विशिष्टताएं इगित की और बताया कि भारतविद्या के क्षेत्र में संसार भर मे हो रहे कार्यो में रूसी और सोवियत विद्वानों का क्या योगदान है।

हमारे देश के विद्वानो के रुख की लाक्षणिकता है भारत के जनगण और उनकी विलक्षण संस्कृति के प्रति गहरा आदर। ऐसा रुख दोनो देशो के जनगण के बीच मैत्री सबंधों की परम्परा से, सुदूर अतीत से चले आ रहे सम्पर्कों से जुडा हुआ है।

प्राचीन रूस में ही भारत ने विवेक और सम्पदा के देश के रूप में अपनी एक विशिष्ट छवि बना ली थी और रूसी लोक साहित्य और साहित्य मे भारतीय कथानकों को अनुपम स्थान मिल गया था। समय के साथ रूस और भारत के व्यापारिक और सांस्कृतिक सबध सुदृढ हुए। रूसी राज्य में अक्सर भारतीय लोग अपने देश की सांस्कृतिक परम्पराएं साथ लिये आने लगे। उधर रूसी यात्री भी १५वी सदी मे अनेक बार भारत गये, उसकी प्रकृति और आवादी से, रहन-सहन और भाषाओं से, रीति-रिवाजों और धर्मो से सीधे-सीधे परिचित हुए। सोवियत सघ में शामिल अनेक क्षेत्रों – मध्य एशिया, काकेशिया, बुर्यातिया, आदि – मे भारत और उसकी महान संस्कृति में रुचि बहुत पहले ही जागृत हो गई थी। ये परम्पराएं दोनो देशो के सांस्कृतिक सम्पर्को की सामान्य धरोहर का अग बनी और निस्सदेह रूस में भारत के वैज्ञानिक अध्ययन के गठन पर तथा भारतविद्या की रूसी धारा के निर्माण पर इनका प्रभाव पडा।
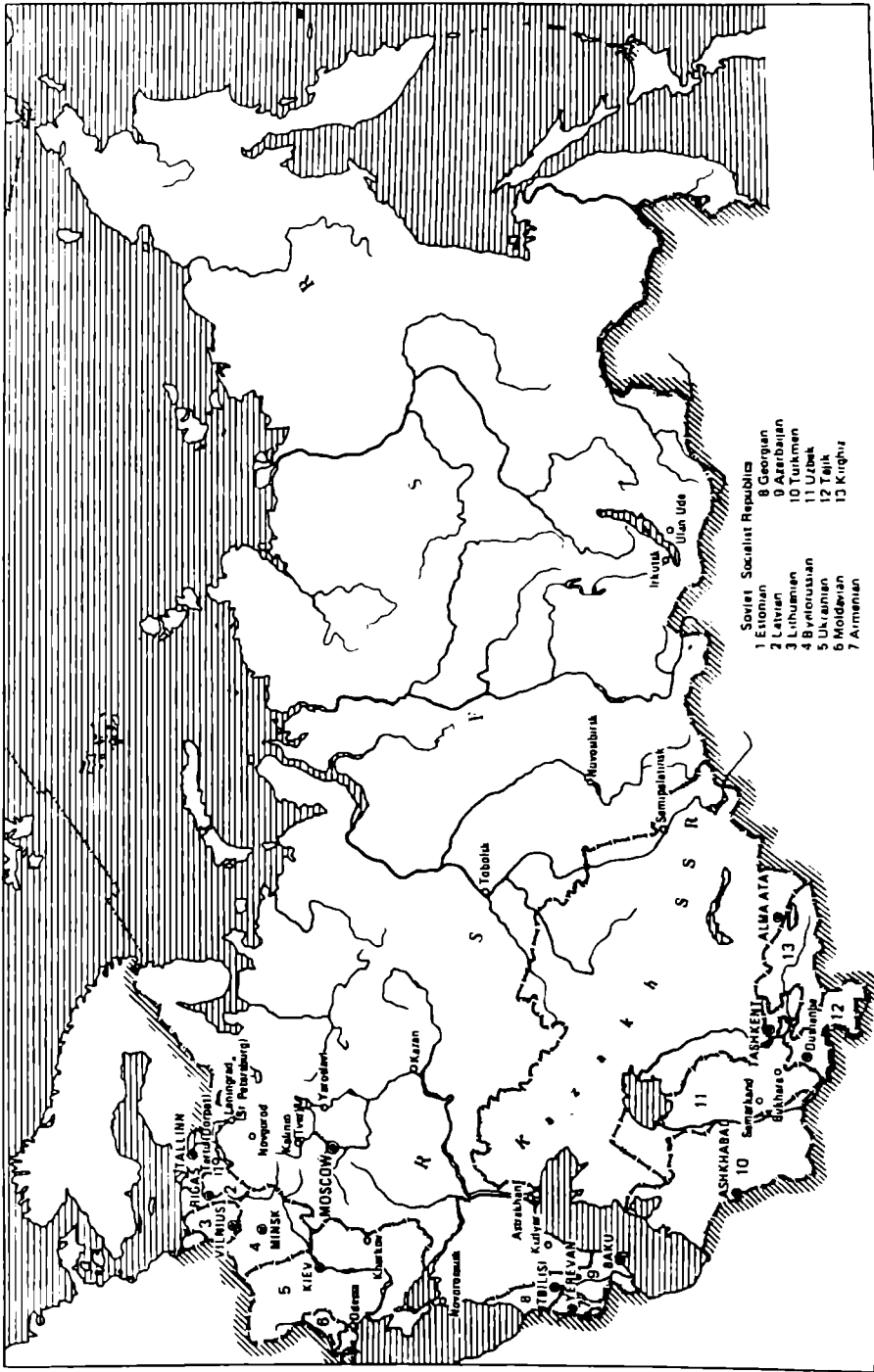
TALLINN
RIGAS
VILNIUS
Tartu (Dorpat)
Leningrad
(St Petersburg)
Novgorod
MINSK
KIEV
Kalinin
(Tver)
MOSCOW
Yaroslavl
Odessa
Kharkov
Kazan
Novorossiisk
Astrakhan
Kizlyar
TBILISI
YEREVAN
BAKU
Tobolsk
Novosibirsk
Semipalatinsk
Irkutsk
Ulan Ude
ASHKHABAD
Samarkand
Bukhara
TASHKENT
Dushanbe
ALMA ATA
R S F S R
K a z a k h S S R
Soviet Socialist Republics
1 Estonian
2 Latvian
3 Lithuanian
4 Byelorussian
5 Ukrainian
6 Moldavian
7 Armenian
8 Georgian
9 Azerbaijan
10 Turkmen
11 Uzbek
12 Tajik
13 Kirghiz

अब हम अपने देश में भारतविद्या द्वारा तय किये गये लंबे मार्ग की कल्पना अधिक स्पष्ट रूप में कर सकते हैं। १६वी सदी में रूस मे सस्कृतविद्या के पहले उत्साही प्रकट हुए। धीरे-धीरे, अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए वैज्ञानिक अध्ययन का सिलसिला शुरू हुआ। भारत मे रुचि रखने वाले पाठकों का दायरा शनैः-शनैः अधिक व्यापक हुआ। वैज्ञानिक शोधकार्य अधिकाधिक बडे पैमाने पर और योजनाबद्ध ढंग से होने लगे। रूस में प्राच्यविद्या ने प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण सफलता पाई, तथापि शोधकार्य अभी कुछ गिने-चुने विद्वानों द्वारा ही किये जाते थे, उनमे आपस मे पर्याप्त समन्वय नहीं था और काफ़ी हद तक वे एकतरफ़ा भी होते थे। महान अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद भारतविद्या के विकास को नई प्रेरणा मिली और एक नये गुणात्मक चरण का सूत्रपात हुआ। रूसी भारतविदों की श्रेष्ठ परम्पराओं का विकास करते हुए सोवियत विद्वान भारतविद्या का विकास नये आधार पर करने लगे।

रूस में प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन के इतिहास का परिचय पाने पर हम यह देखते हैं कि इतिहासविद्या की किसी भी राष्ट्रीय धारा की ही भांति, रूसी भारतविद्या मे भी शोधकार्य के अपने सामान्य सिद्धांत तथा अपनी परम्परागत दिशाएं थी। ये अनेक कारको – देश की भौगोलिक स्थिति, उसके ऐतिहासिक संबंधों, उपलब्ध अध्ययन स्रोतों और सामग्रियों, वैज्ञानिक और सामान्य सांस्कृतिक परम्पराओं – पर निर्भर थे।

रूसी विद्वान आरंभ से ही पड़ोसी देशों से भारत के संबंधों की तथा प्राचीन भारतीय सभ्यता और केंद्रीय एशिया की सभ्यताओं के परस्पर प्रभाव की समस्याओं की ओर खास ध्यान देते रहे थे। मध्य एशिया और उसके आस-पास के इलाक़ों में रूसी विद्वानों ने १८वी सदी मे ही रुचि दिखानी शुरू कर दी। बीसवी सदी की पूर्ववेला में रूसी विद्वानों ने केंद्रीय एशिया के इतिहास, नृजातिवर्णन, भाषाविज्ञान और पुरातत्व पर व्यापक अंतर्राष्ट्रीय शोधकार्य आयोजित किये। समसामयिक सोवियत विद्वान भी इन परम्पराओं का सफल विकास कर रहे हैं। मध्य एशिया के पुरातत्वीय अध्ययन मे क्रांति के बाद महत्त्वपूर्ण सफलताएं पाई गईं। १९१७ के बाद मध्य एशिया के सोवियत जनतत्रों मे बने वैज्ञानिक संगठनों ने भी मध्य एशिया के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। क्राति के पहले पडोसी देशों के साथ भारत के संबधों की समस्या को प्रायः बौद्ध धर्म के प्रचार तक ही सीमित रखा जाता था। अब इस समस्या पर कही अधिक व्यापक रूप से ग़ौर करना संभव हुआ। बौद्ध धर्म के प्रचार के बारे में भी अत्यंत मूल्यवान सामग्री प्राप्त हुई, जिस पर सोवियत विद्वान काम कर रहे हैं।

यूरोप में भी और रूस में भी सस्कृतविद्या प्रायः आरंभ से ही भारोपीय अध्ययन से जुड़ी रही है। इस दिशा में भी समसामयिक सोवियत विद्वान काफी कार्य कर रहे हैं। १९वी सदी के आरंभ की ही भांति आज भी आर्यों की उत्पत्ति की समस्या को

स्लावों के नृजातीय मूल के प्रश्न से जोड़ा जाता है। लेकिन इस समस्या पर काम करने वाले समसामयिक विद्वान बीसवीं सदी के मध्य के तुलनात्मक-ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान की उपलब्धियो का ही नहीं, प्रचुर पुरातत्वीय सामग्री का भी उपयोग कर सकते हैं।

पिछली सदी में ही रूसी विद्वान भारतीय महाकाव्यों और कथा साहित्य मे विशेष रुचि लेने लगे थे। शोधकर्त्ताओं के सम्मुख भारतीय साहित्य की अलग-अलग रचनाओं के मौखिक, लोक-साहित्यिक मूल और अस्तित्व की समस्या उत्पन्न हुई। यह रुचि अकारण ही नहीं है, यह रूस में लोक साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन और तुलनात्मक साहित्यशास्त्र के विकास से संबद्ध है। रूस उन कुछ देशों में से एक है, जहां समृद्ध मौखिक साहित्य देर तक बना रहा। साहित्य-इतिहास के और लोक साहित्य के अध्येताओं के विचारों का भारतविदों पर गहरा प्रभाव पड़ा है और उधर इस दिशा में हो रहे भारतविद्या संबंधी शोधकार्यों में अध्येता गहरी रुचि लेते रहे हैं। अनेक सोवियत भारतविदों की रचनाओं में प्राचीन भारतीय साहित्य के इतिहास के प्रति व्यापक सैद्धांतिक रुख पाया जाता है।

प्राचीन भारत की आत्मिक धरोहर पर, उसके दार्शनिक सिद्धांतों पर रूसी प्राच्यविदों ने बिना किसी पूर्वाग्रह के विचार किया, सर्वश्रेष्ठ रूसी विद्वानों की रचनाओं में यूरोपकेंद्रिक और ईसाईकेंद्रिक प्रवृत्तियां नहीं थीं। इसकी एक ज्वलंत मिसाल बौद्ध धर्म के अध्ययन के क्षेत्र में श्चेर्बात्स्की और उनके सहयोगियों, अनुयायियों के शोधकार्य हैं।

सोवियत विद्वानों का दृष्टिकोण ऐतिहासिक प्रक्रिया के मार्क्सवादी सिद्धात पर आधारित है। पश्चिम में प्रचलित दृष्टिकोणों से भिन्न सोवियत इतिहासकार प्राचीन भारत को एक पृथक तथा स्वयंसंपूर्ण सभ्यता नहीं, बल्कि प्राचीन विश्व का अभिन्न अंग मानते हैं। उनके मत में प्राचीन युग के दूसरे देशों की भांति भारत का भी विकास सामान्य ऐतिहासिक नियमसंगतियों के अनुसार हुआ है।

उल्लेखनीय है कि क्रांति के बाद ही समसामयिक भारत का और समसामयिक भारतीय सस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन आरंभ हुआ। तभी प्राचीन युग से समसामयिक काल तक भारत का बहुमुखी अध्ययन भी संभव हो पाया। भारत जैसे देश के लिए यह विशेषत: महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि एक ओर जहां इसकी समसामयिक वास्तविकता को प्राचीन परम्परा के ज्ञान के बिना नही समझा जा सकता, वहीं दूसरी ओर भारत "जीती-जागती प्राचीनता" को देखने का अद्वितीय अवसर प्रदान करता है, और प्राय: नवीनतम सामग्री के प्रकाश में ही प्राचीन पाठों को सही-सही समझना सभव होता है। क्रांतिपूर्व रूस में समसामयिक भारत के अध्ययन की कोई सुदृढ परम्परा नहीं थी। भारतविद्या मुख्यतया संस्कृतविद्या तक ही सीमित थी। प्राचीन और अर्वाचीन भारत के चहुमुखी अध्ययन की नींव महान रूसी भारतविद इवान मिनायेव ने रखी।

सोवियत इतिहासशास्त्र में सामाजिक इतिहास के अध्ययन को नितांत महत्त्व-पूर्ण माना जाता है, जबकि क्रांति से पहले विद्वान इस प्रश्न की ओर प्राय: कोई ध्यान नही देते थे। इस दिशा में सोवियत विद्वानों ने विशाल कार्य किया है और यहा यह भी कहा जाना चाहिए कि उनके निष्कर्षों का संसार भर के विद्वानों ने उच्च मूल्याकन किया है।

रूसी विद्वानों ने अपनी शोध रचनाओं में भारतीय संस्कृति के प्रति ऐतिहासिक रुख का परिचय दिया, वे हर परिघटना पर उसके क्रम-विकास, दूसरी परिघटनाओं के साथ उसके संबंधो और उसके "प्रसंग" को ध्यान में रखकर गौर करते थे। वे प्राचीन भारतीय सभ्यता के सारी मानवजाति के लिए महत्त्व पर ज़ोर देते थे। आज यह विषय विशेषत: तात्कालिक है। भारतीय सस्कृति मे रुचि सोवियत संघ में इतनी गहरी और अपार है, जितनी शायद किसी भी दूसरे देश मे नही है। पिछले कुछ वर्षो में ही सस्कृत से इतने अनुवाद प्रकाशित हुए हैं, जितने कि इससे पहले कई दशको में नही हुए थे। भारतविद्या सबंधी प्रकाशनो का महत्त्व मात्र वैज्ञानिक ही नही, सामान्य सांस्कृतिक भी है। आज हम रूस मे संस्कृतविद्या के प्रवर्तकों के ये शब्द पूरे विश्वास के साथ दोहरा सकते हैं कि "रूस को सस्कृतविद की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि गणितज्ञ की"। डेढ़ सौ साल पहले की ही भांति आज भी यह आशा की जा सकती है कि भारतीय साहित्य के अमूल्य रत्नों से परिचय से सोवियत जनगण का साहित्य ही नही, बल्कि सारी संस्कृति समृद्ध होगी।

सोवियत सघ बहुजातीय देश है और भारतविद्या का विकास केवल मास्को और लेनिनग्राद में नही, बल्कि सोवियत जनतंत्रों के नगरो मे, यथा तार्तू (एस्तो-निया), त्बिलीसी (जार्जिया), ताशकंद (उज़्बेकिस्तान), दुशांबे (ताजिकि-स्तान), अश्काबाद (तुर्कमानिस्तान), उलान-उदे (बुर्यातिया) में भी हो रहा है। सोवियत भारतविदो के दूसरे देशों के विद्वानों के साथ सक्रिय सबंध हैं, भारत के साथ सम्पर्कों को तो वे विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं।

कुल जमा यह कहा जा सकता है कि पिछले वर्षो में सोवियत भारतविदो ने प्राचीन भारतीय सभ्यता के अध्ययन मे महती सफलता पाई है। बहुमुखी शोधकार्य, उनका व्यापक विस्तार, वैज्ञानिक खोज की नई विधियों का प्रयोग, सामग्री की प्रस्तुति में वस्तुगतता – ये सोवियत भारतविद्या के विशिष्ट लक्षण हैं, जिनके साथ देश के पुराने विद्वानों की सर्वश्रेष्ठ परम्पराओं को भी सरक्षित रखा और विकसित किया जा रहा है। भारत का अध्ययन करते हुए सोवियत विद्वान इस देश के जनगण के प्रति गहरा आदर रखते हैं, संस्कृति, विज्ञान, कला के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों का उचित मूल्यांकन करते हैं। वे यह मानते हैं कि अपने सृजन से वे सोवियत संघ और भारत के जनगण को निकट लाने, दोनो देशों के बीच परम्परागत मैत्री सुदृढ़ करने का उदात्त कार्यभार पूरा कर रहे हैं।

संदर्भ-निर्देशिका

नाम-संक्षेप सूची

ВАН - Вестник Академии наук СССР
ВДИ - Вестник древней истории
ВЗ - Восточные записки
ГАИМК - Государственная Академия истории материальной культуры
ИВЛ - Издательство восточной литературы
ЗВОРАО - Записки восточного отделения Российского археологического общества
ЗКВ - Записки коллегии востоковедов при Азиатском музее АН СССР
ЖМНП - Журнал министерства народного просвещения
ОИРВ - Очерки по истории русского востоковедения
ПВ - Проблемы востоковедения
СА - Советская археология
СВ - Советское востоковедение
СНВ - Страны и народы Востока
СЭ - Советская этнография
РАИМК - Российская Академия истории материальной культуры
ABORI - Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute
BSOS - Bulletin of the School of Oriental Studies
IHQ - Indian Historical Quarterly
IIJ - Indo-Iranian Journal
JBBRAS (NS) - Journal of Bombay Branch of the Royal Asiatic Society (New Series)
JPTS - Journal of the Pali Text Society
JRAS - Journal of the Royal Asiatic Society

अध्याय १

अनुच्छेद १

Александрия. Роман об Александре Македонском по русской рукописи XV в. Ботвинник М. Н. и др. (сост.). М.-Л.. Наука, 1965. (अलेक्सांद्रिया। १५वी शताब्दी की एक रूसी हस्तलिखित प्रति मे उपलब्ध रूपांतर। मास्को-लेनिनग्राद, १९६५)

Байкова, Н. Б., *Роль Средней Азии в русско-индийских торговых связях (первая половина XVI – вторая половина XVIII в.)*. Ташкент: Наука, 1964. (बाइकोवा. न० ब०। रूस-भारत व्यापारिक संबंधो में मध्य एशिया की भूमिका। १६वी शताब्दी का पूर्वार्ध – १८वी शताब्दी का उत्तरार्ध। ताशकंद, १९६४)

Минаев, И. П., *Старая Индия. Заметки на хождение за три моря Афанасия Никитина.* Санкт-Петербург, 1881. (मिनायेव, इ० प०, पुराना भारत। 'अफ़ानासी निकीतिन की तीन सागर पार की यात्रा' पर टिप्पणियां। सेंट पीटर्सबर्ग, १८८१)

Осипов, А. М. и др., *Афанасий Никитин и его время.* М.: Учпедгиз, 1956. (ओसिपोव, अ० म० तथा अन्य, अफ़ानासी निकीतिन और उनका काल। मास्को, १९५६)

Русско-индийские отношения в XVII в. Сборник документов. М.: ИВЛ, 1958. (१७वीं शताब्दी में रूस-भारत संबंध। दस्तावेज़ संग्रह। मास्को, १९५८)

Семенов, Л. С., *Путешествие Афанасия Никитина.* М.: Наука, 1980. (सेम्योनोव, ल० स०, अफ़ानासी निकीतिन की यात्रा। मास्को, १९८०)

Сперанский, М. Н., «Индия в старой русской письменности». В сб.: *Сергею Федоровичу Ольденбургу к пятидесятилетию научно-общественной деятельности. 1882–1932.* Л.: Изд-во АН СССР, 1934. (स्पेरान्स्की, म० न०, 'प्राचीन रूसी ग्रंथों में भारत'। सेर्गेई फ्योदोरोविच ओल्देनबुर्ग अभिनंदन ग्रथ। उनके वैज्ञानिक कार्यकलाप की पचासवीं जयंती (१८८२-१९३२) पर प्रकाशित। लेनिनग्राद, १९३४)

Сперанский, М. Н., «Сказание об Индейском царстве». *Известия по русскому языку и словесности АН СССР*, т. III, 1930. (स्पेरान्स्की, म० न०, 'भारत राज्य की गाथा'। रूसी भाषा तथा साहित्य विषयक सोवियत विज्ञान अकादमी के समाचार, खण्ड ३, १९३०)

Стефанит и Ихнилат. Средневековая книга басен по русским рукописям XV–XVII вв. Л.: Наука, 1969. (स्तेफ़ानीत और इख्निलात। नीतिकथाओं की मध्ययुगीन पुस्तक, १५वीं-१७वीं शताब्दियों के रूसी हस्तलिखित ग्रथों में उपलब्ध रूपांतर। लेनिनग्राद, १९६९)

Трубачев, О. Н., «Indo-arica в Северном причерноморье». *Вопросы языкознания*, 1981, № 2.
(त्रुबाच्योव, ओ० न०, 'उत्तरी काला सागर क्षेत्र मे इंडों-आरिका'। वाङ्मीमांसा के प्रश्न, १९८१, अक २)

Ульяницкий, В. А., *Отношения России со Средней Азией и Индией в XVI–XVII вв.* М., 1889. (उल्यानीत्स्की, व० अ०, १६वीं-१७वीं शताब्दियों में मध्य एशिया और भारत के साथ रूस के संबंध। मास्को, १८८९)

Хождение за три моря Афанасия Никитина. Грекова Б. Д. и Адрианова-Перетц В. П. (сост.) М.-Л., Изд-во АН СССР, 1948. (अफ़ानासी निकीतिन की तीन सागर पार की यात्रा। मास्को-लेनिनग्राद, १९४८)

अनुच्छेद २

Антонова, К. А., «К истории русско-индийских связей. Из тетрадей Г. С. Лебедева (1795–1797 гг.).» *Исторический архив*, 1956, № 1. (अंतोनोवा, क० अ०, 'रूस-भारत संबंधों के बारे में। ग० स० लेबेदेव की डायरियों (१७९५-१७९७) से।' ऐतिहासिक दस्तावेज, १९५६, अंक १)

Воробьев-Десятовский, В. С., «Русский индианист Герасим Степанович Лебедев (1749–1817)». В кн.: *ОИРВ*, сб. II, М.: Изд-во АН СССР, 1956. (वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की, व० स०, 'रूसी भारतविद गेरासिम स्तेपानोविच लेबेदेव (१७४९-१८१७)।' रूसी प्राच्यविद्या के इतिहास के बारे में लेखों का संग्रह, २। मास्को, १९५६)

Глазами друзей. Русские об Индии. Под ред. А. В. Западнова и Е. П. Прохорова. М.: Госполитиздат, 1957. (मित्रों की दृष्टि में। भारत के बारे में रूसियों के विचार। मास्को, १९५७)

Лебедев, Г. С., *Беспристрастное созерцание системы Восточной Индии брамгенов, священных обрядов их и народных обычаев.* Санкт-Петербург, 1805. (लेबेदेव, ग० म०, पूर्वी भारत के ब्राह्मणों, उनके धार्मिक कर्मकांडों और रीति-रिवाजों के बारे में कुछ निष्पक्ष विचार। सेंट-पीटर्सबर्ग, १८०५)

Люстерник, Е. Я., Шапот, Е. Г., «О некоторых проектах организации русско-индийской торговли в XVIII в.». *УЗ ЛГУ, серия востоковедных наук*, 1960, вып. 9. (ल्युस्तेरनिक, ये० या०, शापोत, ये० ग०, '१८वीं शताब्दी में रूस-भारत व्यापार की कुछ योजनाएं।' लेनिनग्राद राज्य विश्वविद्यालय की वैज्ञानिक रचनाएं, प्राच्यविद्या माला, १९६०, अंक ९)

Русско-индийские отношения в XVIII в. Сб. документов. М.: Наука, 1965. (१८वीं शताब्दी में रूस-भारत संबंध। मास्को, १९६५)

Russian Travellers to India and Persia 1624–1798. Kotov, Yefremov, Danibegov. Delhi, 1959.

अनुच्छेद ३

Абрамян, Р. А., *Армянские источники XVIII в. об Индии.* Ереван: Изд-во АН Арм. ССР, 1968. (अब्रामयान, र० अ०, भारत के बारे में १८वीं शताब्दी के आर्मीनियाई स्रोत-ग्रंथ। येरेवान, १९६८)

Ашрафян, К. З., «К вопросу о просветительском течении среди представителей армянского купечества в Индии в 70–80-х годах XVIII в.». В кн.: *Проблемы*

истории Индии и стран среднего Востока. М.: Наука, 1972. (अशरफयान, क० ज०, '१८वी शताब्दी के आठवे-नौवे दशको मे भारत स्थित आर्मीनियाई व्यापारियो में प्रबोधनात्मक प्रवृत्तिया। भारत तथा मध्य पूर्व के देशो के इतिहास की समस्याए। मास्को, १९७२)

Булгаков, П. Г., *Жизнь и труды Беруни.* Ташкент: Фан, 1972. (बुल्गाकोव, प० ग०, बरूनी का जीवन तथा कृतित्व। ताशकद, १९७२)

Воробьев-Десятовский, В. С. «Заметка по индийской эпиграфике (к надписям храма огня в Сураханах около Баку)». В сб.: *Эпиграфика Востока,* т. IX, М.: Изд-во АН СССР, 1956. (वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की, व० म०, 'भारतीय अभिलेखो के बारे में एक टिप्पणी (बाकू के निकट सुराखानी के आतिशगाह के भित्तिलेखो के सबंध में) । ' पूर्वी अभिलेख, खण्ड ९, मास्को, १९५६)

Низамутдинов, И. Г., *Из истории среднеазиатско-индийских отношений (IX–XVIII вв).* Ташкент: Узбекистан, 1969. (निज़ामुतदीनोव, इ० ग०, मध्य एशिया-भारत सबंधो के इतिहास से (९वी-१८वी शताब्दी) । ताशक़द, १९६९)

Низамутдинов, И. Г. *Очерки истории культурных связей Средней Азии и Индии в XVI–начале XX вв.* Ташкент: Фан 1981. (निज़ामुतदीनोव, इ० ग०, १६वीं सदी से २०वी सदी के आरभ तक मध्य एशिया और भारत के सांस्कृतिक सबंधो के इतिहास के बारे मे लेख। ताशकद, १९८१)

Пигулевская, Н. В., *Византия на путях в Индию.* М.-Л.: Изд-во АН СССР, 1951 (पिगुलेव्स्कया, न० व०. भारत के मार्गो पर बैज़ंतिया। मास्को-लेनिनग्राद, १९५१)

Ставиский, Б. Я., «О международных связях Средней Азии в V–сер. VIII вв.», *ПВ*, 1960, № 5. (स्तवीस्की, ब० य०, '५वी शताब्दी से आठवी शताब्दी के मध्य तक मध्य एशिया के अतर्राष्ट्रीय सबधो के बारे मे।' प्राच्यविद्या की समस्याए, अंक ५, १९६०)

Alberuni's Commemoration Volume. Iran Society, Calcutta, 1951.

Alberuni's India. Abridged and annotated by A. H. Dani, University Press, Islamabad, 1973.

Alberuni's India. Ed. E. Sachau. Vol. I–II, London, 1888.

Seth, M. J., *Armenians in India From the Earliest Times to the Present Day.* Calcutta, 1937.

Unvala, J. M., "Inscriptions from Surahani, Near Baku", *JBBRAS (NS)*, Bombay, 26.1950.

दनिबेगश्वीली, रफ़ईल, **भारत, बर्मा तथा एशिया के अन्य देशों की यात्राएं (१७९५-१८२७) ।** मास्को प्रगति प्रकाशन, १९६६ (रूसी, हिन्दी और अंग्रेज़ी में) ।

अध्याय २

अनुच्छेद १

Веселовский, Н. И., *Сведения об официальном преподавании восточных языков в России.* Санкт-Петербург, 1879. (वेसेलोव्स्की, न० इ०, रूस में पूर्वी भाषाओं के अधिकृत अध्ययन के बारे में कुछ तथ्य। सेंट पीटर्सबर्ग, १८७९)

Григорьев, В. В., *Императорский Санкт-Петербургский университет в течение первых пятидесяти лет его существования.* Санкт-Петербург, 1870. (ग्रिगोर्येव व० व०, शाही सेंट पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के पहले पचास वर्ष। सेंट पीटर्सबर्ग, १८७०)

Дасгупта, П. К., «О первом индийском члене Российской Академии Наук (Р. Деб)», *СВ*, 1958, № 4.
(दासगुप्ता, प० क०, 'रूसी विज्ञान अकादमी का पहला भारतीय सदस्य (आर० देब) '। सोवियत प्राच्यविद्या, १९५८, अंक ४)

Зограф, Г. А., «Роберт Христианович Ленц (1808–1836)». *УЗ ЛГУ*, 1960, № 279, серия востоковедных наук, вып. 2. (ज़ोग्रफ़, ग० अ०, 'राबर्ट लेंज़ (१८०८-१८३६)'। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय की वैज्ञानिक रचनाएं, १९६०, अक २७९, प्राच्यविद्या माला, अंक २)

Крачковский, И. Ю., «Востоковедение в письмах П. Я. Петрова к В. Г. Белинскому». В кн.: *ОИРВ*. М.: Изд-во АН СССР, 1953.
'व० ग० बेलीन्स्की के नाम प० य० पेत्रोव के पत्रों में प्राच्यविद्या' रूसी प्राच्यविद्या के इतिहास के बारे में लेख, मास्को, १९५३)

Люстерник, Е. Я., *Русско-индийские экономические научные и культурные связи в XIX в.* М.: Наука, 1966. (ल्युस्तेरनिक, ये० या०, १९वीं शताब्दी में रूस-भारत आर्थिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संबंध। मास्को, १९६६)

Надель, Х. С., «Индология в Харьковском университете за полтора века». *НАА*, 1964, № 2. (नादेल, ख० स०, 'गत डेढ़ शताब्दियों में खार्कोव विश्वविद्यालय में भारतविद्या'। एशिया और अफ़्रीका के जनगण, १९६४, अंक २)

Шофман, А. С., «Русский санскритолог П. Я. Петров». В кн.: *ОИРВ*, сб. III, Москва, 1960. (शोफ़मान, अ० स०, 'रूसी संस्कृतवेत्ता प० या० पेत्रोव'। रूसी प्राच्यविद्या के इतिहास के बारे में लेख, संग्रह ३, मास्को, १९६०)

Шофман, А. С., «К. А. Коссович как востоковед (1815–1883)». В кн.: *ОИРВ*, сб. 6. М.: Изд-во АН СССР, 1963. (शोफ़मान, अ० स०, 'प्राच्यविद क० अ० कोसोविच (१८१५-१८८३)'। रूसी प्राच्यविद्या के इतिहास के बारे में लेख, संग्रह ६, मास्को, १९६३)

अनुच्छेद २

इ० प० मिनायेव की प्रमुख रचनाएं

Пратимокша-сутра. Буддийский служебник. Изд. и перев. И. Минаев. Санкт-Петербург, 1869. (प्रतिमोक्ष सूत्र। इ० मिनायेव द्वारा सम्पादित और अनूदित। सेंट-पीटर्सबर्ग, १८६९)

Очерк фонетики и морфологии языка пали. Санкт-Петербург, 1872. (पाली भाषा के स्वनविचार और रूपविचार की रूपरेखा। सेट-पीटर्सबर्ग, १८७२। अंग्रेज़ी अनुवाद के लिए देखें

Pali Grammar, A. Phonetic and Morphological Sketch of the Pali Language. With an introductory Essay on Its Form and Character by J. Minaeff, Prof. of the University St. Petersburg, 1872.

Эчерки Цейлона и Индии. Из путевых заметок русского. Санкт-Петербург, 1872. (श्रीलंका और भारत के शब्दचित्र। एक रूसी के यात्रा सस्मरण। सेट-पीटर्सबर्ग, १८७२)

«Община буддийских монахов». *ЖМИП*, ч. CCI, 1879, № 1. ('बौद्ध संघ'। जन शिक्षा मंत्रालय की पत्रिका, भाग २०१, १८७९, अंक १)

«Очерк важнейших памятников санскритской литературы». В кн.: *Всеобщая история литературы.* Под. ред. В. Корша, т. I, Санкт-Петербург, 1880, вып. I. ('संस्कृत साहित्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ'। विश्व साहित्य का इतिहास। सं० व० कोर्श। खण्ड १, सेट-पीटर्सबर्ग, १८८०, अंक १)

The Cha-Kesa-Dhātu-vaṃsa. Ed. Prof. Minaeff of St Petersburg. *JPTS*, 1885.

The Sandesa-Kathā. Ed. Prof. Minaeff, of St. Petersburg. *JPTS*, 1885.

Anagata-vaṃsa. Ed. Prof. Minaeff. *JPTS*, 1886.

Chanda-vaṃsa, Ed. Prof. Minaeff. *JPTS*, 1886.

«Буддизм. Исследования и материалы». Т. I, вып. 1, 2. *Записки историко-филологического факультета императорского Санкт-Петербургского университета*, ч. XVI, Санкт-Петербург, 1887. ('बौद्ध धर्म। अनुसंधान और सामग्रियां।' खण्ड १, अंक १,२। शाही सेंट-पीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के इतिहास तथा भाषाविज्ञान संकाय की रचनाएं, भाग १६, सेंट-पीटर्सबर्ग, १८८७)

«Спасение по учению позднейших буддистов». Под ред. И. П. Минаева, *ЗВОРАО*, т. IV, 1889 (1890). ('उत्तरकालीन बौद्ध सिद्धांतों मे मोक्ष'। इ० प० मिनायेव द्वारा सम्पादित। रूसी पुरातत्व समाज के प्राच्य विभाग की रचनाएं, खण्ड ४, १८८९/१८९०)

Petavatthu. Ed. Prof. Minaeff. *JPTS*, 1888 (1889).

Kathāvathuppakarana-Atthakathā. *JPTS*, 1889

Mahāvyutpatti. Ed. I. Minayev, 2nd Ed. with index prepared for the press by N. D. Mironov. "*Bibliotheca Buddhica*", Vol. XIII, pt. 3, St. Petersburg, 1910 (1911).

Дневники путешествий в Индию и Бирму. М.: Наука, 1955. (भारत तथा बर्मा की यात्रा की डायरियां। मास्को, १९५५। अंग्रेजी अनुवाद के लिए देखें :

Travels in and Diaries of India and Burma. Trans. by Hirendranath Sanyal. Comp. with the Russian text by Subil Bhattacharya. Language ed. Sailesh Chandra Sen Gupta. Publ. by Debi Prasad Nukhopadhyaya. Calcutta, 1960)

इ० प० मिनायेव के बारे में रचनाएं

Ольденбург, С. Ф., «Памяти Ивана Павловича Минаева». *ЗВОРАО*, Санкт-Петербург, 1897, т. 10, вып. 1–4. (ओल्देनबुर्ग, स० फ़०, 'इवान पाव्लोविच मिनायेव की स्मृति में'। रूसी पुरातत्व समाज के प्राच्य विभाग की रचनाएं, सेंट-पीटर्सबर्ग, १८९७, खण्ड १०, अंक १-४)

Schneider A., "Professor J. P. Minaeff". *IHQ*, 1934, Vol. X, No. 4.

Иван Павлович Минаев (1840–1890). Сб. статей. Под ред. Г. Котовского. М.. Наука, 1967. (इवान पाव्लोविच मिनायेव (१८४०-१८९०)। लेख-संग्रह। सं० ग० कोतोव्स्की। मास्को, १९६७)

अनुच्छेद ३

Бескровный, В. М., «Из истории изучения живых индийских языков в России в XIX в.». *Вестник ЛГУ*, 1957, № 8. (बेस्क्रोव्नी, व० म०, '१९वीं शताब्दी में रूस मे भारत की जीवित भाषाओ के अध्ययन के इतिहास से'। लेनिनग्राद राज्य विश्वविद्यालय के समाचार, १९५७, अंक ८)

Биографический словарь профессоров и преподавателей Императорского Юрьевского, бывшего Дерптского университета за 100 лет его существования. Юрьев, 1903. (शाही यूर्येव, भूतपूर्व देर्प्त विश्वविद्यालय के गत १०० वर्षों के प्रोफ़ेसरो तथा अध्यापको का जीवनवृत्त कोश। यूर्येव, १९०३)

Гольштейн, А. А., «Путевые впечатления из Индии». *Известия Императорского русского географического общества*, 1904, т. 40, № 4. (गोलश्तैन, अ० अ०, 'भारत यात्रा के अनुभव'। शाही रूसी भूगोल समाज के समाचार, १९०४, खण्ड ४०, अंक ४)

Дмитриев, Н. К., *Федор Евгеньевич Корш, 1843–1915.* М.: Изд-во МГУ, 1962. (द्मीत्रियेव, न० क०, फ्योदोर येव्गेन्येविच कोर्श, १८४३-१९१५। मास्को, १९६२)

Кудрявский, Д. Н., *Исследования в области древнеиндийских домашних обрядов.* Юрьев, 1904. (कुद्र्याव्स्की , द० न० , प्राचीन भारतीय घरेलू अनुष्ठानों से संबंधित अनुसंधान । यूर्येव , १९०४)

Мерварт, А. и Л., *Отчет об этнографической экспедиции в Индию в 1914–18 гг.* Л., 1927. (मेर्वार्त अ० और ल० , १९१४-१९१८ के भारत नृजातिवर्णन अभियान की रिपोर्ट। लेनिनग्राद , १९२७)

Миллер, В. Ф., *Очерки арийской мифологии в связи с древнейшей культурой.* т. I, *Ашвины-Диоскуры.* М., 1876. (मिल्लेर , व० फ़० , आर्य मिथक और प्राचीनतम संस्कृति के साथ उनका संबंध। एक रूपरेखा। खण्ड १, अश्विनीकुमार-डायास्कूरी। मास्को , १८७६)

Овсянико-Куликовский, Д. Н., *Опыт изучения вакхических культов индоевропейской древности в связи с ролью экстаза на ранних ступенях развития общественности.* Ч. I. *Культ божества Сома в древней Индии в эпоху Вед.* Одесса, 1884. (ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की , द० न० , भारोपीय युग के सुरादेवोपासना पथों के अध्ययन का प्रयास , आरंभिक चरणों में उन्माद की भूमिका के प्रसंग में। भाग १। प्राचीन भारत में वैदिक युग मे सोमदेव की उपासना। ओदेस्सा , १८८४)

Овсянико-Куликовский, Д. Н., *К истории культа огня у индусов в эпоху Вед.* Одесса, 1887. (ओव्स्यानिको-कुलिकोव्स्की , द० न० , वैदिक युग में हिंदुओं द्वारा अग्निपूजा के इतिहास पर कुछ विचार। ओदेस्सा , १८८७)

Фортунатов, Ф. Ф., *Самаведа-араньяка-самхита.* М., 1875. (फ़ोर्तुनातोव , फ़० फ़० , सामवेद आरण्यकसंहिता। मास्को , १८७५)

Павло Григорович Ріттер. Харків, 1966. (पाव्लो ग्रिगोरोविच रित्तेर। खार्कोव , १९६६)

Shifman, A. I., *Leo Tolstoy and India.* Sahitya Academy, Delhi, 1978.

अध्याय ३

स० ओल्देनबुर्ग की प्रमुख रचनाएं

Буддийский сборник «Гирлянда джатак» и заметки о джатаках, *ЗВОРАО*, 1893, т. 7. 'जातकमाला' और जातकों के बारे में टिप्पणियां। रूसी पुरातत्व समाज के प्राच्य विभाग की रचनाए , १८९३, खण्ड ७)

Буддийские легенды. Ч. I. Санкт-Петербург, 1896. (बौद्ध अनुश्रुतियां। भाग १। सेंट-पीटर्सबर्ग , १८९६)

«Заметки о буддийском искусстве. О некоторых скульптурных и живописных изображениях буддийских джатак». В кн.: *Восточные заметки.* Санкт-Петербург, 1895. ('बौद्ध कला के बारे में टिप्पणियां। जातक कथाओं से संबंधित कतिपय मूर्तिशिल्पों तथा चित्रों के बारे मे '। पूर्वी टिप्पणियां। सेंट-पीटर्सबर्ग , १८९५)

«Буддийские легенды и буддизм», *ЗВОРАО*, 1896, т. 9, вып. 1–4. ('बौद्ध अनुश्रुतियां और बौद्ध धर्म'। रूसी पुरातत्व समाज के प्राच्य विभाग की रचनाएं, १८९६, खण्ड ९, अंक १-४)

«Буддийское искусство в Индии». *Известия Императорской Академии Наук*, 1901, т. 14, № 2. ('भारत की बौद्ध कला'। शाही विज्ञान अकादमी के समाचार, १९०१, खण्ड १४, अंक २)

«Материалы по буддийской иконографии». В: *Сборник Музея антропологии и этнографии при Императорской АН*, Санкт-Петербург, 1901, т. I, вып. 3, 1903, вып. 4. ('बौद्ध प्रतिमाविज्ञान विषयक सामग्रियां'। शाही विज्ञान अकादमी के नृजातिविज्ञान और नृजातिवर्णन संग्रहालय का संग्रह, सेंट-पीटर्सबर्ग, १९०१, खण्ड १, अंक ३, १९०३, अंक ४)

Первая буддийская выставка в Петербурге. Петербург, 1919. (पीटर्सबर्ग में प्रथम बौद्ध प्रदर्शनी। पीटर्सबर्ग, १९१९)

«Гандхарские скульптурные памятники Государственного Эрмитажа», ЗКВ, Л., 1930, т. 5. (Совместно с Е. Г. Ольденбург). ('राजकीय हर्मिताज के संग्रह की गांधार मूर्तियां'। सोवियत विज्ञान अकादमी के एशियाई संग्रहालय के प्राच्यविद्मंडल की रचनाएं, लेनिनग्राद, १९३०, अंक ५, ये० ग० ओल्देनबुर्ग के साथ)

«Современная постановка изучения изобразительных искусств и их техники в Индии». В: *Известия Государственной Академии истории материальной культуры*, 1931, т. 8, вып. I. ('भारत की ललित कलाओं तथा उनकी तकनीक के अध्ययन की वर्तमान अवस्था'। भौतिक संस्कृति के इतिहास की राज्य अकादमी के समाचार, १९३१, खण्ड ८, अंक १)

«О документе в феодальной Индии». В: *Сообщения Государственной Академии истории материальной культуры*. М.-Л., 1932, № 9–10. ('सामंती भारत में दस्तावेज'। भौतिक संस्कृति के इतिहास की राज्य अकादमी के समाचार, मास्को-लेनिनग्राद, १९३२, अंक ९-१०)

«О некоторых новых индийских работах по истории и экономике Индии». *Библиография Востока*. Л., 1934, № 2–4. ('भारत के इतिहास तथा अर्थव्यवस्था के बारे में कुछ नयी भारतीय रचनाएं'। पूर्व विषयक ग्रंथ-सूची, लेनिनग्राद, १९३४, अंक २-४)

स० फ़० ओल्देनबुर्ग के बारे में रचनाएं

Князев, Г. А., «Первые годы С. Ф. Ольденбурга в Академии Наук. По архивным материалам». *ВАН*, 1933, № 2. (क्न्याज़ेव, ग० अ०, 'विज्ञान अकादमी में स० फ़० ओल्देनबुर्ग के पहले वर्ष। दस्तावेज़ी सामग्री के आधार पर'। सोवियत विज्ञान अकादमी के समाचार, १९३३, अंक २)

Сергею Федоровичу Ольденбургу к пятидесятилетию научно-общественной деятельности (1882–1932). Л.: Изд-во АН СССР, 1934. (सेर्गेई फ्योदोरोविच ओल्देनबुर्ग अभिनदन-ग्रथ। उनके वैज्ञानिक कार्यकलाप की पचासवी जयंती (१८८२-१९३२) पर प्रकाशित। लेनिनग्राद , १९३४)

«100 лет со дня рождения С. Ф. Ольденбурга». *ВАН*, 1964, № 3. ('स० फ़० ओल्देनबुर्ग जन्म-शताब्दी '। सोवियत विज्ञान अकादमी के समाचार , १९६४, अक ३)

अध्याय ४

फ़० इ० श्चेर्बात्स्की की प्रमुख रचनाएं

"Über das Haihayendracarita des Harikani". *Записки Императорской Академии наук, по историко-филологическому отделению*. Санкт-Петербург, 1900, т. 4, № , 9.

«Теория поэзии в Индии», *ЖМНП*, 1902, № 6, ч. 2. ('भारत मे काव्य-शास्त्र '। जन शिक्षा मत्रालय की पत्रिका , १९०२, अंक ६, भाग २। अंग्रेजी अनुवाद के लिए देखें *Papers of Th. Stcherbatsky*)

Теория познания и логика по учению позднейших буддистов. Ч. 1–2, Санкт-Петербург, 1903–1909. (उत्तरकालीन बौद्ध विद्वानो की शिक्षा में विज्ञान (संज्ञान) और न्याय सिद्धांत। भाग १-२। सेट-पीटर्सबर्ग , १९०३-१९०९)

Nyāyabindu. Буддийский учебник логики, сочинение Дармакирти и толкование на него *Nyāyabindutīkā* сочинение Дармоттары. Тиб. перевод санскритского текста издал с введ. и примечанием Ф. И. Щербатской. Т. I–II. Санкт-Петербург, 1904. (न्यायबिंदु। बौद्ध न्यायशास्त्र की पाठ्यपुस्तक , धर्मकीर्ति द्वारा रचित तथा धर्मोत्तरकृत न्यायबिदुटीका। तिब्बती अनुवाद का भूमिका तथा टिप्पणियों सहित प्रकाशन फ़० इ० श्चेर्बात्स्की द्वारा। खण्ड १-२ , सेंटपीटर्सबर्ग , १९०४)

Sphutārthā Abhidharma-košavyākhyā, the work of Yasomitra-First košasthāna. Ed. S. Levi and Th. Stcherbatsky. Petrograd, 1918, "*Bibliotheca Buddhica*", XXI.

Дармакирти. Обоснование чужой одушевленности. Перевод с тибет. Ф. И. Щербатского. Петроград, 1922 (*Памятники Индийской философии*, вып. I). (धर्मकीर्तिकृत सतानांतर-सिद्धि। तिब्बती से रूसी में अनुवाद फ़० इ० श्चेर्बात्स्की द्वारा। पेत्रोग्राद, १९२२। भारतीय दर्शन ग्रथ , अक १)

The Central Conception of Buddhism and the Meaning of the word "Dharma". Royal Asiatic Society. London, 1923 (2nd ed., Calcutta, 1956).

«К истории материализма в Индии». *ВЗ*, 1927, т. I. ('भारत में भौतिकवाद का इतिहास '। पूर्वी रचनाए , १९२७ , खण्ड १। अंग्रेजी अनुवाद के लिए देखे *Papers of Th. Stcherbatsky*)

The Conception of Buddhist Nirvāna. Leningrad, 1927.

Abhisamayālankāra-prajñāpāramitā upadeśa-śāstra. The work of Bidhisattva Maitreya, Ed., expl. and transl. by Th. Stcherbatsky and E. Obermiller. Leningrad, 1929, "*Bibliotheca Buddhica*", XXI.

Tibetan translation of the Abhidharmakośakārikān and Abhidharmakośābhasyam, works by Vasubandhu. Published by Th. Stcherbatsky. Petrograd-Leningrad, 1917–1930, Vols. 1–2, "*Bibliotheca Buddhica*", XXI.

The Buddhist Logic. Vol. I–II, Leningrad, 1930–1932, "*Bibliotheca Buddhica*", XXI, XXVI.

"The Doctrine of the Buddha". *BSOS*, Vol. 6, No. 4, London, 1932.

"The 'Dharmas' of the Buddhist and the 'Gunas' of the Samkyas". *IHQ*, Vol. X, No 4, 1934.

Madhyānta-Vibhanga. Discourse on Discrimination Between Middle and Extremes, Ascribed to Boddhisattva Maitreya and Commented by Vasubandhu and Sthaviramati. Ed. Th. Stcherbatsky. M.-L., 1936, "*Bibliotheca Buddhica*", XXX (also published in Calcutta in 1971).

Papers of Th. Stcherbatsky. "History of Materialism in India". "A Buddhist Philosopher on Monotheism", "Scientific Achievements of Ancient India", "Dharmakirti's Santanantarasiddhi". *Indian Studies (Past and Present). Soviet Indology Series*, No. 2, Calcutta, 1969.

फ़० इ० श्चेर्बात्स्की के बारे में रचनाएं

Зелинский, А. Н., «Академик Федор Ипполитович Щербатской и некоторые вопросы культурной истории кушан». *CHB*, вып. 5, М., 1967. (ज़ेलीन्स्की, अ० न०, 'अकादमीशियन फ्योदोर इप्पोलीतोविच श्चेर्बात्स्की और कुषाणकालीन सांस्कृतिक इतिहास से संबंधित कुछ समस्याएं'। पूर्व के देश और जनगण, अंक ५, मास्को, १९६७)

Кутасова, И. М., «Буддийская философия и логика в трудах академика Ф. И. Щербатского», *CB*, М., 1958. (कुतासोवा, इ० म०, 'अकादमीशियन फ़० इ० श्चेर्बात्स्की की रचनाओं मे बौद्ध दर्शन तथा न्याय'। सोवियत प्राच्यविद्या, मास्को, १९५८)

Иванов, В. В., Федор Ипполитович Щербатской. К 100-летию со дня рождения. *НАА*, 1966, № 6. (इवानोव, व० व०, 'फ्योदोर इप्पोलीतोविच श्चेर्बात्स्की, जन्मशताब्दी के अवसर पर'। एशिया तथा अफ्रीका के जनगण, १९६६, अंक ६)

Индийская культура и буддизм. Сборник статей памяти академика Ф. И. Щербатского, М.: Наука, 1972. (भारतीय संस्कृति तथा बौद्ध धर्म। फ़० इ० श्चेर्बात्स्की की स्मृति में प्रकाशित लेख-संग्रह। मास्को, १९७२)

"Fedor Ippolitovich Stcherbatsky (Obituary Notices)". *JRAS*, 1943, pt. 1.

Shastri, D. N., "Contribution of Th. Stcherbatsky to Indian Philosophy". *The Modern Review*, Vol. 93, No. 2, 1953.

Fedor Ippolitovich Scherbatskoi. Birth Centenary 1866–1966 (A Brief Biographical Note). Calcutta, National Library, 1966.

Bongard-Levin, G. M., "F. I. Scherbatskoy and Indian Culture". *Soviet Land*, No. 5–6, 1967.

आचार्य नरेन्द्रदेव, **बुद्धधर्म-दर्शन**। पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, १९५६। (हिन्दी में)

सांकृत्यायन, राहुल, **पुरातत्व निबंधावली**। द्वितीय संस्करण। इलाहाबाद : किताब महल, १९५८। (हिन्दी में)

अध्याय ५

Азиатский музей – Ленинградское отделение Института востоковедения АН СССР. М.: Наука, 1972. (एशियाई संग्रहालय – सोवियत विज्ञान अकादमी के प्राच्यविद्या संस्थान की लेनिनग्राद शाखा। मास्को, १९७२)

Азиатский музей Российской Академии Наук. 1818–1918. Петербург, 1920. (रूसी विज्ञान अकादमी का एशियाई संग्रहालय। १८१८-१९१८। पीटर्सबर्ग, १९२०)

Алаев, Л. Б., *Сельская община в Северной Индии: Основные этапы эволюции.* М.: Наука, 1981. (अलायेव, ल० ब०, उत्तरी भारत का ग्राम समुदाय विकास के मुख्य चरण। मास्को, १९८१)

Алексидзе, Э. Г., *Модальные частицы в санскрите.* Тбилиси: Мецниереба, 1973. (अलेक्सीद्ज़े, ए० ग०, संस्कृत के प्रकारतावोधक निपात। त्बिलीसी, १९७३)

Аникеев, Н. П., *О материалистических традициях в индийской философии (Древность и ранее средневековье).* М.: Наука, 1965. (अनिकेयेव, न० प०, भारतीय दर्शन मे भौतिकवादी परम्पराए। प्राचीन और आदि मध्ययुग। मास्को, १९६५)

Базиянц, А. П. и др., *Азиатский музей – Институт востоковедения АН СССР. 1818–1968.* М.: Наука, 1969. (बाजियान्त्स, अ० प० तथा अन्य, एशियाई संग्रहालय – सोवियत विज्ञान अकादमी का प्राच्यविद्या सम्थान। १८१८-१९६८। मास्को, १९६९)

Библиография Индии. Бирман Д. А. и др. (сост.). М.: Наука, 1976. (भारत विषयक ग्रंथ-सूची। मास्को, १९७६)

Библиография Индии. 1968–1975. Сосина Н. Н., Тансыкбаева С. И. (сост.). М.: Наука, 1982. (भारत विषयक ग्रंथ-सूची। १९६८-१९७५। मास्को, १९८२)

Бонгард-Левин, Г. М., *Индия эпохи Маурьев.* М.: Наука, 1973. (बोंगार्द-लेविन, ग० म०, मौर्य काल का भारत। मास्को, १९७३)

Бонгард-Левин, Г. М., *Древнеиндийская цивилизация. Философия, наука, религия.* М.: Наука, 1980. (बोंगार्द-लेविन, ग० म०, प्राचीन भारतीय सभ्यता। दर्शन, विज्ञान, धर्म। मास्को, १९८०)

Бонгард-Левин, Г. М., Ильин, Г. Ф., *Древняя Индия. Исторический очерк.* М.: Наука, 1969. (बोंगार्द-लेविन, ग० म०, इल्यीन, ग० फ़०, प्राचीन भारत। ऐतिहासिक रूपरेखा। मास्को, १९६९)

Борисковский, П. И., *Древнекаменный век Южной и Юго-Восточной Азии.* Л., 1971. (बोरिस्कोव्स्की, प० इ०, दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया का पुराप्रस्तर युग। लेनिनग्राद, १९७१)

Вертоградова, В. В., *Пракриты.* М.: Наука, 1978. (वेर्तोग्रादोवा, व० व०, प्राकृत भाषाएं। मास्को, १९७८)

Вертоградова, В. В., *Структурная типология среднеиндийских фонологических систем.* М.: Наука, 1967. (वेर्तोग्रादोवा, व० व०, मध्य भारतीय स्वनप्रक्रिया प्रणालियों के संरचनात्मक प्ररूप। मास्को, १९६७)

Володарский, А. И., *Ариабхата.* М.: Наука, 1977. (वोलोदार्स्की, अ० इ०, आर्यभट। मास्को, १९७७)

Володарский, А. И., *Очерк истории средневековой индийской математики.* М., 1977. (वोलोदार्स्की, अ० इ०, मध्ययुगीन भारतीय गणित के इतिहास के बारे में कुछ लेख। मास्को, १९७७)

Воробьев-Десятовский, В. С., *Развитие личных местоимений в индоарийских языках.* М.-Л.: Изд-во АН СССР, 1956. (वोरोब्योव-देस्यातोव्स्की, व० स०, भारतीय आर्य भाषाओं में पुरुषवाचक सर्वनामों का विकास। मास्को-लेनिनग्राद, १९५६)

Восточный театр. Л., 1929. (पूरब का रंगमंच। लेनिनग्राद, १९२९)

Гафуров, Б. Г., Мирошников, Л. И., *Изучение цивилизаций Центральной Азии: (опыт международного сотрудничества по проекту ЮНЕСКО).* М.: Наука, 1976. (ग़फ़ूरोव, ब० ग०, मिरोश्निकोव, ल० इ०, मध्य एशिया की सभ्यता का अध्ययन। यूनेस्को की परियोजना के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रयास। मास्को, १९७६)

Гринцер, П. А., *Древнеиндийская проза (Обрамленная повесть).* М.: ИВЛ, 1963. (ग्रींत्सेर, प० अ०, प्राचीन भारतीय गद्य। कथा के अंदर कथा। मास्को, १९६३)

Гринцер, П. А., *Древнеиндийский эпос.* М.: Наука, 1976. (ग्रींत्सेर, प० अ०, प्राचीन भारतीय महाकाव्य। मास्को, १९७६)

Гринцер, П. А., *Бхаса*. М.: Наука, 1979. (ग्रीत्सेर, प० अ०, भास। मास्को, १६७६)

Гусева, Н. Р., *Джайнизм*. М., Наука, 1968. (गूसेवा, न० र०, जैन धर्म। मास्को, १६६८)

Гусева, Н. Р., *Индуизм: История формирования. Культовая практика*. М.: Наука, 1977. (गूसेवा, न० र०, हिंदू धर्म इतिहास और अनुष्ठान। मास्को, १६७७)

Драматургия и театр Индии. Под ред. И. С. Рабиновича и Е. П. Челышева. М., ИВЛ, 1961. (भारत की नाट्यकला और रंगमंच। मास्को, १६६१)

Елизаренкова, Т. Я., *Аорист в «Ригведе»*, М.: ИВЛ, 1960. (येलिज़ारेन्कोवा, त० य०, ऋग्वेद मे अनिर्दिष्ट काल। मास्को, १६६०)

Елизаренкова, Т. Я., *Исследования по диахронической фонологии индоарийских языков*. М.: Наука, 1974. (येलिज़ारेन्कोवा, त० य०, भारतीय आर्य भाषाओं की कालक्रमिक स्वनप्रक्रिया का अध्ययन। मास्को, १६७४)

Елизаренкова, Т. Я., *Грамматика ведийского языка*. М.: Наука, 1982. (येलिज़ारे-न्कोवा, त० य०, वैदिक भाषा का व्याकरण। मास्को, १६७२)

Ильин, Г. Ф., «Вопрос об общественной формации в древней Индии в советской литературе». *ВДИ*, 1950, № 2. (इल्यीन, ग० फ़०, 'सोवियत साहित्य में प्राचीन भारत की सामाजिक विरचना का प्रश्न'। प्राचीन इतिहास के समाचार, १६५०, अंक २)

Ильин, Г. Ф., «Шудры и рабы в древнеиндийских сборниках законов», *ВДИ*, 1950, № 2. (इल्यीन, ग० फ़०, 'प्राचीन भारतीय स्मृतियों में शूद्र और दास'। प्राचीन इतिहास के समाचार, १६५०, अंक २)

Ильин, Г. Ф., «Особенности рабства в древней Индии». *ВДИ*, 1951, № 1. (इल्यीन, ग० फ़०, 'प्राचीन भारत में दासप्रथा की विशिष्टताएं'। प्राचीन इतिहास के समाचार, १६५१, अंक १)

Ильин, Г. Ф., *Древний индийский город Таксила*. М.: ИВЛ, 1958. (इल्यीन, ग० फ़०, प्राचीन भारतीय नगर तक्षशिला। मास्को, १६५८)

Индийская культура и буддизм. Под ред. Н. И. Конрада и Г. М. Бонгард-Левина. М.: Наука, 1972. (भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म। मास्को, १६७२)

Индия в древности. Под ред. В. В. Струве и Г. М. Бонгард-Левина. М.: Наука, 1964. (प्राचीन युग में भारत। मास्को, १६६४)

Искусство Индии. Под ред. С. И. Тюляева. М.: Наука, 1969. (भारत की कला। मास्को, १६६६)

История и культура древней Индии. Под ред. В. Рубена и др. М.: ИВЛ, 1963. (प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति। मास्को, १९६३)

Касты в Индии. Под ред. Г. Г. Котовского. М.: Наука, 1965. (भारत में जाति-व्यवस्था । मास्को, १९६५)

Кочергина, В. А., *Начальный курс санскрита.* М.: Изд-во АН СССР, 1956. (को-चेर्गिना, व० अ०, संस्कृत की आरंभिक पाठ्यपुस्तक। मास्को, १९५६)

Кочергина, В. А., *Санскритско-русский словарь.* М.: Изд-во Русский язык, 1978. (कोचेर्गिना, व० अ०, संस्कृत-रूषी शब्दकोशम्। मास्को, १९७८)

Кузнецова, Н. А., Кулагина, Л. М., *Из истории советского востоковедения. 1917–1967.* М.: Наука, 1970. (कुज्नेत्सोवा, न० अ०, कुलागिना, ल० म०, सोवियत प्राच्य-विद्या के इतिहास से। १९१७-१९६७। मास्को, १९७०)

Культура древней Индии. Под ред. А. В. Герасимова. М.: Наука, 1975. (प्राचीन भारत की संस्कृति। मास्को, १९७५)

Литература и культура древней и средневековой Индии. Под ред. Г. А. Зографа, В. Г. Эрмана. М.: Наука, 1979. (प्राचीन और मध्ययुगीन भारत का साहित्य तथा संस्कृति। मास्को, १९७९)

Литературы Индии. А. А. Дехтярь (сост.). М.: Наука, 1973. (भारत के साहित्य। मा-स्को, १९७३)

Массон, В. М., *Средняя Азия и Древний Восток.* М., 1964. (मस्सोन, व० म०, मध्य एशिया और प्राचीन पूरब। मास्को, १९६४)

Милибанд, С. Д., *Библиографический словарь советских востоковедов.* М.: Наука, 1975. (मिलिबंद, स० द०, सोवियत प्राच्यविदों का जीवनवृत्त कोश। मास्को, १९७५)

Миронов, Н. Д., *Каталог индийских рукописей Российской публичной библиотеки.* Вып. I, Петроград, 1918. (मिरोनोव, न० द०, रूसी पब्लिक लाइब्रेरी की भारतीय पांडुलिपियों की सूची। भाग १, पेत्रोग्राद, १९१८)

Миронов, Н. Д., *Каталог индийских рукописей Азиатского музея Академии наук.* Вып. I, Петроград, 1914. (मिरोनोव, न० द०, विज्ञान अकादमी के एशियाई सग्रहालय की भारतीय पांडुलिपियो की सूची। भाग १, पेत्रोग्राद, १९१४)

Мифы народов мира. Под ред. С. А. Токарева. Т. I, М.: Сов. энциклопедия, 1980. (विश्व के जनगण के मिथक। मास्को, १९८०)

Невелева, С. Л., *Мифология древнеиндийского эпоса (Пантеон).* М.: Наука, 1975. (नेवेलेवा, स० ल०, प्राचीन भारतीय महाकाव्य के मिथक (देवगण)। मास्को, १९७५)

Невелева, С. Л., *Вопросы поэтики древнеиндийского эпоса: эпитет и сравнение.* М.: Наука, 1979. (नेवेलेवा, स० ल०, प्राचीन भारतीय महाकाव्य के काव्यशास्त्रीय पहलू : रूपक और उपमा। मास्को, १९७९)

Осипов, А. М., *Краткий очерк истории Индии до X в.* М.: Изд-во МГУ, 1948. (ओसिपोव, अ० म०, दसवीं सदी के भारत के इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा। मास्को, १९४८)

Очерки по социально-экономической истории Индии. М.: Наука, 1973. (भारत के सामाजिक और आर्थिक इतिहास पर निबंध। मास्को, १९७३)

Памятники искусства Индии в собраниях музеев СССР. С. И. Тюляев (сост.) М.: Изогиз, 1956. (सोवियत संघ के संग्रहालयों में भारतीय कलाकृतियां। मास्को, १९५६)

игулевская, Н. В., *Византия на путях в Индию. Из истории торговли Византии с Востоком в IV–VI вв.* М.: Изд-во АН СССР, 1951. (पिगुलेव्स्कया, न० व०, भारत के मार्गों पर बैज़तिया। मास्को, १९५१)

Проблемы истории Индии и стран Среднего Востока. Под ред. Г. Г. Котовского. М.: Наука, 1972. (भारत तथा मध्यपूर्व के देशों के इतिहास की समस्याएं। मास्को, १९७२)

Проблемы истории, языков и культуры народов Индии. Под ред. Г. А. Зографа, В. Н. Топорова. М.: Наука, 1974. (भारत के जनगण के इतिहास, भाषा तथा संस्कृति की समस्याए। मास्को, १९७४)

Розенберг, О. О., *Проблемы буддийской философии. Введение в изучение буддизма.* Ч.П., Петроград, 1918. (रोज़ेनबर्ग, ओ० ओ०, बौद्ध दर्शन की समस्याएं। बौद्ध धर्म प्रवेशिका। खण्ड २, पेत्रोग्राद, १९१८)

Самозванцев, А. М., *Теория собственности в древней Индии.* М.: Наука, 1978. (सामोज़्वान्त्सेव, अ० म०, प्राचीन भारत में स्वामित्व का सिद्धांत। मास्को, १९७८)

Санскрит и древнеиндийская культура. Ч. I–II. М.: Наука. 1979. (संस्कृत और प्राचीन भारतीय संस्कृति। भाग १-२। मास्को, १९७९)

Семенцов, В. С., *Проблемы интерпретации брахманической прозы: ритуальный символизм.* М.: Наука, 1981. (सेमेन्त्सोव, व० स०, ब्राह्मण ग्रंथो की व्याख्या की समस्याएं: कर्मकाण्डीय प्रतीकार्थ। मास्को, १९८१)

Серебряков, И. Д., *Древнеиндийская литература.* М.: ИВЛ, 1963. (सेरेब्र्याकोव, इ० द०, प्राचीन भारतीय साहित्य। मास्को, १९६३)

Серебряков, И. Д., *Очерки древнеиндийской литературы.* М.: Наука, 1971. (सेरेब्र्याकोव, इ० द०, प्राचीन भारतीय साहित्य के बारे मे कुछ लेख। मास्को, १९७१)

Смирнов, К. Ф., Кузьмина, Е. Е., *Происхождение индоиранцев в свете новейших*

археологических открытий. М.: Наука, 1977. (स्मिर्नोव, क० फ़०, कुज़्मिना, ये० ये०, नवीनतम पुरातत्वीय खोजो के प्रकाश में भारतीय-ईरानियों की उत्पत्ति। मास्को, १९७७)

Сулейкин, Д. А., «Основные вопросы периодизации истории древней Индии». *Ученые записки Тихоокеанского института,* 1949, вып. II. (सुलैकिन, द० अ०, 'प्राचीन भारत के इतिहास के कालानुक्रम के मूलभूत प्रश्न'। प्रशांत महासागर संस्थान के वैज्ञानिक नोट, १९४९, अंक २)

Темкин, Э. Н., *Мировоззрение Бхамахи и датировка его трактата «Кавьяланкара».* М.: Наука, 1975. (त्योम्किन, ए० न०, भामह का विश्वदृष्टिकोण और उनके ग्रंथ 'काव्यालंकार' का काल निर्धारण। मास्को, १९७५)

Тюляев, С. И., *Искусство Индии.* М.: Наука, 1968.(त्युल्यायेव, स० इ०, भारत की कला। मास्को, १९६८)

Штейн, В. М., *Экономические и культурные связи между Китаем и Индией в древности (до III в. н. э.).* М.: ИВЛ, 1960. (श्तैन, व० म०, प्राचीन काल में चीन और भारत के आर्थिक तथा सांस्कृतिक संबंध। मास्को, १९६०)

Щетенко, А. Я., *Древнейшие земледельческие культуры Декана.* Л.: Наука, 1968. (श्चेतेन्को, अ० य०, दक्खिन की प्राचीन खेतिहर संस्कृतियां। लेनिनग्राद, १९६८)

Щетенко, А. Я., *Первобытный Индостан.* М.: Наука, 1979. (श्चेतेन्को, अ० य०, प्रागैतिहासिक हिन्दुस्तान। मास्को, १९७९)

Эрман, В. Г., *Калидаса.* М., Наука, 1976. (एर्मन, व० ग०, कालिदास। मास्को, १९७६)

Эрман, В. Г., *Очерк истории ведийской литературы.* М.: Наука, 1980. (एर्मन, व० ग०, वैदिक साहित्य के इतिहास की रूपरेखा। मास्को, १९८०)

Anikeev, N. P., *Modern Ideological Struggle for the Ancient Philosophical Heritage of India.* Calcutta, 1968.

Barannikov, A. P., "Soviet Indology". *Oriental and Islamic Studies in World Universities.* Hyderabad, 1955.

Belenicky, A. M., *Zentralasien.* München-Geneva-Paris: Nagel Verlag, 1968.

Bongard-Levin, G. M., *Studies in Ancient India and Central Asia.* Calcutta, 1971.

Bongard-Levin, D. M., "Buddhist Studies in the USSR and New Archaeological Excavations in Soviet Central Asia". *East Asian Cultural Studies.* Vol. XII, No. 1–4, 1973.

Bongard-Levin, G. M., "Sanskrit Studies in the USSR". *Sanskrit Studies Outside India.* Weimar, 1979, pt. 1–2.

Bongard-Levin, G. M., "Sanskrit Studies in the USSR". *Sanskrit Studies Outside India (1979–1980)*. Delhi: Rashtriya sanskrit samstha. 1981.

Bongard-Levin, G. M., "New Buddhist Sanskrit Texts from Central Asia: an Unknown Fragment of the Mahayana Mahaparinirvanasutra". *The Journal of the International Association of Buddhist Studies*, Vol. 4, No. 2, 1981.

Bongard-Levin, G. M., Grantovsky, E. A., *Origin of Aryans (From Scythia to India)*. Delhi: Arnold Heinemann, 1980.

Bongard-Levin, G. M., Tyomkin, E. N., "Fragment of an Unknown Manuscript of the Saddharmapundarika from N. F. Petrovsky's Collection". *IIJ*, Vol. VIII, No. 4, 1965.

Bongard-Levin, G. M., Tyomkin, E. N., *New Buddhist Texts from Central Asia*. Moscow: Nauka, 1967.

Bongard-Levin, G. M., Tyomkin, E. N., "Fragment of the Saka Version of the Dharmasharira-sutra From the N. F. Petrovsky's Collection". *IIJ*, Vol. X, No. 4, 1969.

Bongard-Levin, G. M., Vigasin, A. A., "Society and State in Ancient India". *IHR*, Vol. 5, No. 1–2, 1979.

Bongard-Levin, G. M., Vorobyeva-Desyatovskaya, M. I., Tyomkin, E. N., "A Fragment of the Sanskrit Sumukha-dharani". *IIJ*, Vol. X, No. 2–3, 1967.

Central Asia in the Kusban Period. Vol. I–II, Moscow: Nauka, 1974–1975.

Elizarenkova, T. Y. "An Approach to the Description of the Contents of the Rigveda", *Melanges d'indianisme a la mémoire de Louis Renou*. Paris: E. de Boccard, 1968.

Elizarenkova, T. Y., "Concerning a Peculiarity of the Rigvedic Vocabulary". *ABORI Diamond Jubilee Volume*, Poona, 1978.

Elizarenkova, T. Y., "To the interpretation of the spell Atharvaveda VI. 117". *Dr. Dharmendranath Shastri Felicitation Volume*, 1981.

Elizarenkova, T. Y., Toporov, V. N., *The Pali Language*. Moscow: Nauka, 1976.

Elizarenkova, T. Y., Toporov, V. N., "Vedic Vanku". *Ludwik Sternbach Felicitation Volume*, Lucknow, 1979.

Guber, A. A., *Study of India in the Soviet Union*. Moscow: Nauka, 1954.

Ivanov V. V., Toporov, V. N., *Sanskrit*. Moscow: Nauka, 1968.

Kochergina, V. A., "Sanskrit Studies in the Soviet Union". *Journal of the Bihar Research Society*, Vol. 44, Patna, 1958.

Knorozov, Y. V., Albedil, M. F., Volchok, B. Y., *Proto-Indica: 1979*. Report on the Investigation of the Proto-Indian Texts. Moscow: Nauka, 1981.

Litvinsky, B. A., *Outline History of Buddhism in Central Asia.* Moscow: Nauka, 1968.

Masson, V. M., Sarianidy, V. I., *Central Asia. Turkmenia before the Achaemenids.* Vol. I, London: Thames and Hudson, 1972.

Proto-Indica, 1968. Brief Report on the Investigation of the Proto-Indian Texts. Moscow: Nauka, 1968.

Proto-Indica, 1970 (Report on the Investigation of the Proto-Indian Texts). Moscow: Nauka, 1970.

Proto-Indica, 1972 (Report on the Investigation of Proto-Indian Texts). Vol. I–II, ed. by Y. V. Knorozov. Moscow: Nauka, 1972.

Proto-Indica, 1973 (Report on the Investigation of Proto-Indian Texts). Ed. Y. V. Knorozov. Moscow: Nauka, 1975.

Serebryakov, I. D., "Sketches of Ancient Indian Literature". *Indian Studies: Past and Present,* Vol. 13, No. 4, Calcutta, 1972.

Suleykin, D. A., "Fundamental Problems of the Periodisation of Ancient India". *Medieval India Quarterly.* Issue I, Aligarh, 1958.

अतोनोवा, को० अ०, बोगर्द-लेविन, ग्रि० म०, कोतोव्स्की, ग्रि० ग्रि०, **भारत का इतिहास। संक्षिप्त रूपरेखा।** मास्को प्रगति प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९८१, द्वितीय संस्करण १९८४।

कोरोत्स्काया, आ०, **भारत के नगर। एक ऐतिहासिक सिंहावलोकन।** मास्को रादुगा प्रकाशन, १९८५।

अध्याय ६

Альбаум, Л. И., *Балалык-тепе. К истории материальной культуры и искусства Тохаристана.* Ташкент: АН Узбекской ССР, 1960. (आल्बाउम, ल० इ०, बालालीक तेपे। तुखारिस्तान की भौतिक संस्कृति और कला के इतिहास के बारे में कुछ विचार। ताशक़ंद, १९६०)

Альбаум, Л. И., «Раскопки буддийского комплекса Фаяз-тепе» В кн.: *Древняя Бактрия.* Л.: Наука, 1974. (आल्बाउम, ल० इ०, 'फ़याज़ तेपे के बौद्ध स्मारक-समूह का उत्खनन'। प्राचीन बाख्त्री। लेनिनग्राद, १९७४)

Альбаум, Л. И., *Живопись Афрасиаба.* Ташкент: Фан, 1975. (आल्बाउम, ल० इ०, अफ़ासिआब की चित्रकला। ताशक़ंद, १९७५)

Бактрийские древности. Под ред. В. М. Массона, Л.: Наука, 1976. (बाख्त्रीय पुरावशेष। लेनिनग्राद, १९७६)

Беленицкий, А. М., *Монументальное искусство Пенджикента. Живопись. Скульптура*, М.: Искусство, 1973. (बेलेनीत्स्की, अ० म०, पजीकद की स्मारक कला। चित्रकला। मूर्तिशिल्प। मास्को, १६७३)

Буддийские пещеры Кара-тепе в Старом Термезе. Осн. итоги работ 1963–1964 гг. М.: Наука. 1969. (पुराने तेर्मेज़ मे कारा तेपे की बौद्ध गुफाएं। १६६३-६४ के उत्खननो के मुख्य परिणाम। मास्को, १६६६)

Буддийский культовый центр Кара-тепе в Старом Термезе. Осн. итоги работ 1965–1971 гг. М.: Наука, 1972. (पुराने तेर्मेज़ मे कारा तेपे का बौद्ध धार्मिक स्थल। १६६५-७१ के उत्खननो के मुख्य परिणाम। मास्को, १६७२)

Гафуров, Б. Г., *Кушанская эпоха и мировая цивилизация*. М.: Наука, 1968. (गफ़ूरोव, ब० ग०, कुषाण युग और विश्व सभ्यता। मास्को, १६६८)

Гафуров, Б. Г., *Таджики. Древнейшая, древняя и средневековая история*. М.: Наука, 1972. (गफ़ूरोव, ब० ग०, ताजिक। आदि, प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहास। मास्को, १६७२)

Древняя Бактрия. Предварительные сообщения об археологических работах на юге Узбекистана. Под ред. В. М. Массона. Л.: Наука, 1974. (प्राचीन बाख्त्री। दक्षिणी उज़्बेकिस्तान मे किये गये पुरातत्वीय अनुसधान की आरभिक रिपोर्ट। लेनिनग्राद, १६७४)

Древняя Индия. Историко-культурные связи. Отв. ред. Г. М. Бонгард-Левин. М.: Наука, 1981. (प्राचीन भारत। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक सबंध। मास्को, १६८१)

Живопись древнего Пянджикента. Под ред. А. Ю. Якубовского и М. М. Дьяконова, М.: Изд-во АН СССР, 1954. (प्राचीन पजीकद की चित्रकला। मास्को, १६५४)

Заднепровский, Ю. А., *Древнеземледельческая культура Ферганы*. М.-Л.: Изд-во АН СССР, 1962. (ज़ाद्नेप्रोव्स्की, यू० अ०, फरगना की प्राचीन खेतिहर संस्कृति। मास्को-लेनिनग्राद, १६६२)

Индия в древности. Под ред. В. В. Струве и Г. М. Бонгард-Левина, М.: Наука, 1964. (प्राचीन काल मे भारत। मास्को, १६६४)

Кошеленко, Г. А., *Культура Парфии*. М.: Наука, 1966. (कोशेलेंको, ग० अ०, पार्थिया की संस्कृति। मास्को, १६६६)

Лившиц, В. А., *Юридические документы и письма (Согдийские письма с горы Муг*, вып. II). М.: ИВЛ, 1962. (लीव्शित्स, व० अ०, विधिक दस्तावेज़ तथा पत्र• (मूग पर्वत के सोग्दी दस्तावेज़, अक २)। मास्को, १६६२)

Литвинский, Б. А., *Древние кочевники «Крыши мира»*. М.: Наука, 1972. (लित्वीन्स्की, ब० अ०, "दुनिया की छत" के प्राचीन खानाबदोश। मास्को, १६७२)

Литвинский, Б. А., Зеймаль, Т. И., *Аджина-Тепа. Архитектура, живопись, скульптура.* М.: Искусство, 1971. (लित्वीन्स्की, ब० अ०, जेइमाल, त० इ०, अजीना तेपे। वास्तुकला, चित्रकला तथा मूर्तिकला। मास्को, १९७१)

,Мандельштам, А. М., *Памятники эпохи бронзы в Южном Таджикистане.* Л: Наука, 1968. (मंदेलश्ताम, अ० म०, दक्षिणी ताजिकिस्तान के कांस्ययुगीन अवशेष। लेनिनग्राद, १९६८)

Массон, В. М., *Страна тысячи городов.* М.: Наука, 1966. (मस्सोन, व० म०, हज़ार नगरो का देश। मास्को, १९६६)

Новые находки на Кара-тепе в Старом Термезе. Осн. итоги работ в 1972–1973 гг. Под ред. Б. Я. Ставинского. М., 1975. (पुराने तेर्मेज़ में कारा तेपे पर नयी खोजें। मास्को, १९७५)

Пугаченкова, Г. А., *Халчаян. К проблеме художественной культуры Северной Бактрии.* Ташкент: Фан, 1966. (पुगाचेन्कोवा, ग० अ०, ह़लचयन। उत्तरी बाल्त्री की कला से संबधित समस्याओं पर कुछ विचार। ताशक़ंद, १९६६)

Пугаченкова, Г. А., *Скульптура Халчаяна.* М.: Искусство, 1970. (पुगाचेन्कोवा, ग० अ०, हलचयन का मूर्तिशिल्प। मास्को, १९७०)

Пугаченкова, Г. А., Искусство Бактрии эпохи Кушан, Москва, 1979. (पुगाचेन्कोवा, ग० अ०, कुषाणयुगीन बाल्त्री की कला। मास्को, १९७९)

Пугаченкова, Г. А. и др., *Дальверзин-тепе – кушанский город на юге Узбекистана.* Ташкент: Фан, 1978. (पुगाचेन्कोवा, ग० अ० तथा अन्य, दक्षिणी उज़्बेकिस्तान का कुषाणयुगीन नगर दल्वेर्ज़िन तेपे। ताशक़ंद, १९७८)

Ранов, В. А., *Каменный век Таджикистана.* Душанбе: АН Таджикской ССР, 1965. (रानोव, व० अ०, पाषाणकालीन ताजिकिस्तान। दुशांबे, १९६५)

Скульптура и живопись древнего Пянджикента. Под ред. А. М. Беленицкого и Б. Б. Пиотровского. М.: Изд-во АН СССР, 1959. (प्राचीन पजीक़द की चित्रकला और मूर्तिशिल्प। मास्को, १९५९)

Средняя Азия в древности и средневековье. История и культура. Под ред. Б. Г. Гафурова и Б. А. Литвинского. М.: Наука, 1977. (प्राचीन और मध्ययुगीन मध्य एशिया। इतिहास और संस्कृति। मास्को, १९७७)

Ставиский, Б. Я., Кушанская Бактрия: Проблемы истории и культуры. Москва, 1977. (स्तवीस्की, ब० य०, कुषाण बाल्त्री इतिहास और संस्कृति की समस्याएं। मास्को, १९७७)

Ставиский, Б. Я. и др., *Советская археология Средней Азии и кушанская пробле-*

ма. Аннотированная библиография. Т. I–II. М.: Наука, 1958. (स्तवीस्की, ब० य० तथा अन्य, सोवियत पुरातत्व और कुषाण समस्या। सटिप्पण ग्रंथ-सूची। खण्ड १-२। मास्को, १६६८)

Толстов, С. П., *Древний Хорезм.* М., 1948. (तोल्स्तोव, स० प०, प्राचीन ख्वारज्म। मास्को, १६४८)

Толстов, С. П., *По древним дельтам Окса и Яксарта.* М.: ИВЛ, 1962. (तोल्स्तोव, स० प०, आमू और सीर दरियाओ के प्राचीन मुहानो में। मास्को, १६६२)

Тревер, К. В., *Памятники греко-бахтрийского искусства.* М.-Л.: Изд-во АН СССР, 1940. (त्रेवेर, क० व०, यूनानी-बाख्त्रीय कलाकृतियां। मास्को-लेनिनग्राद, १६४०)

Шишкин, В. А., *Варахша.* М.: Изд-во АН СССР, 1963. (शीश्किन, व० अ०, वरख्शा। मास्को, १६६३)

नाम-निर्देशिका

पाठकों से

प्रगति प्रकाशन को इस पुस्तक की विषय-वस्तु, अनुवाद और डिज़ाइन के संबंध में आपकी राय जानकर और आपके अन्य सुझाव प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता होगी। अपने सुझाव हमें इस पते पर भेजें :

प्रगति प्रकाशन,
१७, ज़ूबोव्स्की बुलवार,
मास्को, सोवियत संघ